आचार्य श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० २८

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित

लब्धिसार-क्षपणासार

(सिद्धान्तबोधिनी–कर्मक्षपणबोधिनी हिन्दी टीका समन्वित)

सम्पादक :
स्व. ब्र. पं. रतनचन्द मुख्तार
सहारनपुर (उ.प्र.)

प्रकाशक :
दशमप्रतिमाधारी ब्र. लाडमल जैन
आचार्य श्री शिवसागर ग्रन्थमाला
शान्तिवीरनगर–श्रीमहावीरजी

आचार्य श्री शिवसागर दि. जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं. २८

लब्धिसार-क्षपणासार
(श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती)

वाचना प्रमुख—
प. पू. आ क. १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

सम्पादन एवं टीका—
स्व ब्र पं रतनचन्द मुख्तार

द्रव्यप्रदाता—श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी–जयपुर

मूल्य—स्वाध्याय

प्रथमावृत्ति : १००० प्रति
भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा
वी नि सम्वत् २५०६

प्राप्तिस्थान—
१. श्री शान्तिवीर नगर, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)
२. श्री रामचन्द्रजी कोठारी
कोठारी भवन–चौड़ा रास्ता
सिनेमा के सामने–जयपुर-३

मुद्रक—
नेमीचन्द बाकलीवाल
बाकलीवाल प्रिण्टर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राजस्थान)

"प्रकाशकीय निवेदन"

दिगम्बर जैन साहित्य में सर्वप्रथम ग्रन्थरूप से सूत्रनिबद्ध लिपिबद्ध सैद्धान्तिक कृति षट्खण्डागम सूत्र है। जिन्हे धरसेनाचार्य तक (परम्परा से ह्रासोन्मुख रूपेण) आगत अल्पतम एक देश अंगज्ञान को स्वयं धरसेनाचार्य से प्राप्त कर पुष्पदन्त-भूतबली आचार्यद्वय ने ग्रन्थरूप मे सुरक्षित किया था। लगभग इन्ही के समकालीन गुणधराचार्य ने कषायपाहुड़ नामक ग्रन्थ गाथासूत्र मे निबन्ध किया था। इन्ही दो ग्रन्थों पर धवल-जयधवल एवं महाधवल (महाबन्ध) टीकाएं विस्तारपूर्वक वीरसेन स्वामी ने लिखी हैं। इन्ही के आधार से श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यदेव ने चामुण्डराय के निमित्त गोम्मटसार (जीवकाण्ड–कर्मकाण्ड) तथा लब्धिसार–क्षपणासार ग्रन्थत्रयी की रचना की है।

जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता से लगभग ४० वर्ष पूर्व सस्कृत टीकाओ एव पं. टोडरमलजी की हिन्दी टीका सहित शास्त्राकार रूप से ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। वर्तमान मे ये ग्रन्थ अनुपलब्ध भी थे तथा इनकी हिन्दी टीका ढुंढारी भाषा मे थी। अत. आधुनिक हिन्दी से परिचित अध्येताओं को इन ग्रन्थों के स्वाध्याय का यथोचित लाभ नही मिल पा रहा था। इसी को दृष्टिपथ में रखते हुए प पू आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की स्मृति मे स्थापित ग्रन्थमाला से चारो अनुयोग सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशन योजना के अन्तर्गत करणानुयोग से सम्बन्धित इन ग्रन्थो का प्रकाशन भी पिछले ८-९ वर्षो से निरन्तर चल रहा है। नेमिचन्द्राचार्य द्वारा विरचित त्रिलोकसार ग्रन्थ की माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव द्वारा रचित सस्कृत टीका सहित आ. विशुद्धमती माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका के प्रकाशन से ग्रन्थमाला ने नेमिचन्द्र भारती का प्रकाशन प्रारम्भ किया था और उस भारती के ही ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रकाशन आर्यिका आदिमती माताजी की हिन्दी टीका सहित अभी दो वर्ष पूर्व ही हुआ है। आर्यिकाद्वय आचार्य श्री शिवसागरजी की ही दीक्षित विदुषी शिष्याए है।

अब नेमिचन्द्र भारती का तृतीय चरण लब्धिसार–क्षपणासार के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका करणानुयोग मर्मज्ञ स्व. ब्र. पं. रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर निवासी ने की है। पंडितजी ने ग्रन्थमाला से प्रकाशित होने वाले अन्य कई ग्रन्थो का भी सम्पादन किया है। त्रिलोकसार और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीकाओ का वाचन भी आपके सान्निध्य मे ही हुआ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की वाचना के अवसर पर प पू. आ. क. श्री श्रुतसागरजी महाराज के

आगे संज्वलनलोभ सम्बन्धी कृष्टियोंकी निक्षेपणविधि बताते हैं—

ओक्कड्डिदइगिभागं पल्लासंखेज्जखंडदिगिभागं ।
देदि सुहुमासु किट्टिसु फड्डयगे सेस बहुभागं ॥२८४॥

अर्थ—(सज्वलनलोभके द्रव्यको अपकर्षण भागहार द्वारा भाजितकर उसमें से) एक भाग अपकर्षित द्रव्य है । इसको पल्यके असख्यातवेभागसे खण्डितकर उसमे से एक भागको सूक्ष्मकृष्टियोमे देता है, शेष बहुभागको स्पर्धकोमे देता है ।

विशेषार्थ—सज्वलनलोभके सर्व सत्त्वरूप द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से एक भागप्रमाण द्रव्यको पुन पल्यके असख्यातवेभागका भाग दिया । उसमेसे बहुभागप्रमाण द्रव्यको पृथक् रखकर एक भागप्रमाण द्रव्यको सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमाता है । **"अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे"**[1] इत्यादि करणसूत्र विधान द्वारा उस एक भागप्रमाण द्रव्यमे कृष्टियोके प्रमाणरूप कृष्टचायामका भाग देने से मध्यधनका प्रमाण आता है । इस मध्यधनको एक कम कृष्टिआयामके आधेसे हीन दो गुणहानिका भाग देने पर चयका प्रमाण प्राप्त होता है[2] । उस चयप्रमाणको दोगुणहानिसे गुणा करने पर आदिवर्गणाके द्रव्यका प्रमाण आता है । इतने द्रव्यको तो प्रथमकृष्टिमे निक्षिप्त करता है जिससे प्रथमकृष्टि उत्पन्न होती है । यह प्रथमकृष्टि प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोमे जघन्यकृष्टि है । तथा इससे द्वितीयादि कृष्टियोमे एक-एक चयप्रमाण हीन द्रव्य निक्षिप्त करता है । इसप्रकार एककम कृष्टिआयामप्रमाण चयोसे हीन प्रथमकृष्टिप्रमाण द्रव्यको अन्तिम कृष्टिमे निक्षिप्त करता है । अब इन कृष्टियोमे शक्तिका प्रमाण कहते है—

पूर्व स्पर्धकोके जघन्यवर्गमें अनुभागके अविभागप्रतिच्छेदोके प्रमाण को कृष्टिआयामका जो प्रमाण है उतनीबार अनन्तका भाग देने पर प्राप्त लब्धके बराबर प्रथमकृष्टिमे अनुभागके अविभागप्रतिच्छेद हैं तथा द्वितीयादि कृष्टिमे क्रमसे अनन्तगुणे

---

१. "अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे मज्झिमधणमागच्छदि" यह पूरा करणसूत्र है इसका अभिप्राय यह है कि सर्वधनको अध्वानसे खण्डित करने पर मध्यमधन आता है । अत. विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य — गुणहानि आयाम = मध्यमधन (गो क गा १५९ की टीका)
या (अध्वान) या (अध्वान)

२ "त रूऊणद्धाणद्धेगूणेण णिसेयभागहारेण मज्झिमधणमवहरिदे पचय" (ल सा गा ७१-७२) —अर्थात् मध्यधनमे एक कम गच्छका आधा दो गुणहानि (निषेक भागहार) मे से घटाने पर जो आवे उसका भाग देने पर चय आता है । अर्थात् चय=मध्यधन÷[दो गुणहानि—(गच्छ-१)।२]

अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद है। इसलिये एककम कृष्टिआयाममात्र बार अनंतसे गुणा करने पर अन्तिमकृष्टिमे पाये जाने वाले वे अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी जघन्यवर्गके अनन्तवेभागप्रमाण है। इसप्रकार प्रथम समयमें की गई सूक्ष्मकृष्टि होती है।

अपकर्षित किये गये द्रव्यमे बहुभागरूप जो द्रव्य पृथक् स्थापित किया था उनके द्रव्यको पूर्वमे सत्तारूप पाये जाने वाले पूर्वस्पर्धक सम्बन्धी नानागुणहानिमे निक्षिप्त करता है। "दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा" इत्यादि करणसूत्र विधानसे उस बहुभागप्रमाण द्रव्यको अनुभाग सम्बन्धी साधिक डेढगुणहानिका भाग देने पर जो लब्धरूप द्रव्य प्राप्त हो उसको प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणामे निक्षिप्त करता है। तथा द्वितीयादि वर्गणाओमे एक चयहीन क्रम सहित द्रव्य निक्षिप्त करता है। द्वितीयादि गुणहानियोकी वर्गणाओके क्रमसे पूर्वगुणहानिसे आधा-आधा द्रव्य निक्षिप्त करता है। इसप्रकार सूक्ष्मकृष्टिकरण कालके प्रथमसमयमे अपकर्षितद्रव्यको निक्षिप्त करता है। यहा अन्तिमकृष्टिमें निक्षिप्त द्रव्यसे पूर्वस्पर्धककी जघन्य वर्गणामे निक्षिप्तद्रव्य अनन्तगुणा हीन जानना।

'कृश' तनुकरणे धातुके आश्रयसे 'कर्षणं कृष्टि.' अर्थात् कर्मपरमाणुओकी अनुभागशक्तिका कृश करना—घटाना कृष्टि है। अथवा 'कृश्यत इति कृष्टि.' के अनुसार प्रतिसमय पूर्व स्पर्धककी जघन्य वर्गणासे भी अनन्तगुणी हीन अनुभागरूप वर्गणाको कृष्टि कहते है।

अब द्वितीयादि समयोंमें निक्षेपणका कथन करते हैं—

पडिसमयमसंखगुणा दव्वादु असंखगुणविहीणकमे।
पुव्वगहेट्ठा हेट्ठा करेदि किट्टिं स चरिमोत्ति ॥२८५॥

अर्थ—असख्यातगुणे-असख्यातगुणे अपकर्षित द्रव्यमे से प्रतिसमय की गई कृष्टिका प्रमाण पूर्व-पूर्व कृष्टियोके प्रमाणसे असख्यातगुणा घटता होता है। यह क्रम अन्तिम समय तक जाता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालके प्रथम समयमें जो कृष्टियां की गई वे अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण होकर एक स्पर्धककी वर्गणाओके अनन्तवे भागप्रमाण है तथा वे बहुत है। पुनः तदनन्तर समयमे प्रथम समयवर्ती

कृष्टियोके नीचे जो अपूर्वकृष्टियां उत्पन्न की जाती हैं वे उनसे असख्यातगुणी हीन जानना चाहिए। इसप्रकार कृष्टिकरण कालका अन्तिमसमय प्राप्त होने तक प्रतिसमय जो अपूर्वकृष्टिया रची जाती है वे अनन्तरपूर्ववर्ती कृष्टियोसे असख्यातगुणो हीन होती हैं, क्योकि अपकर्षित समस्त द्रव्यके असख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यको ही अपूर्वकृष्टियोमे आगमानुसार सिंचित कर शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको उपरिम पूर्वकी कृष्टियोमे और स्पर्धकोमे अपने-अपने विभागानुसार विभाजितकर निषेकोकी रचना करता है।

प्रथम समयमे कृष्टियोंमे सबके जोड़रूपसे निक्षिप्त हुआ द्रव्य अपकर्षित किये गए समस्त द्रव्यके असख्यातवेभागप्रमाण होकर सबसे अल्प हो जाता है। तदनन्तर दूसरे समयमे विशुद्धिके माहात्म्यवश असख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकर उसमेसे असख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यको ग्रहणकर पूर्वानुपूर्वीरूपसे स्थित कृष्टियोमे सिंचित किया जाने वाला द्रव्य पूर्वके द्रव्यसे असख्यातगुणा होता है, क्योकि तत्काल अपकर्षित किये जाने वाले द्रव्यमे से कृष्टियोमे दिये जाने वाले द्रव्यकी उसीके प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति देखी जाती है। इसीप्रकार अन्तिमसमयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयोमे भी प्ररूपणा करना चाहिए[1]।

अथानन्तर कृष्टिगत द्रव्योंके विभागका निर्देश करते हैं—

हेट्ठासीसे उभयगदव्वविसेसे य हेट्ठकिट्टिम्मि।
मज्झिमखंडे दव्वं विभज्ज विदियादि समयेसु ॥२८६॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके द्वितीय समयमे अपकर्षित द्रव्यको १. अधस्तन शीर्ष विशेषोमे २ उभयद्रव्य विशेषोमे ३ अधस्तनकृष्टियोमे ४ मध्यम खण्डोमे। इसप्रकार चारप्रकारके विभागसे निक्षिप्त करता है।

विशेषार्थ—पूर्वसमयमे की गई कृष्टियोमे से प्रथमकृष्टिमे बहुत परमाणु हैं। द्वितीयादि कृष्टियोमे एक-एक चयसे हीन क्रम लिये परमाणु हैं। यहां पूर्वकृष्टियो मे सम्भावित चयका प्रमाण लाकर द्वितीयकृष्टिमे एक चय, तृतीयकृष्टिमे दो चय, चतुर्थकृष्टिमे तीन चय ऐसे क्रमसे एक-एक बढते हुए चयप्रमाण परमाणु उन द्वितीयादि कृष्टियोमे मिलाने पर सर्वकृष्टिया प्रथमकृष्टिके समान हो जाती है इसप्रकार जितना

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ २०८-२०९।

द्रव्य (पूर्वकृत कृष्टियोको समद्रव्यवाली बनानेके लिए) दिया गया उसका नाम अध-स्तनशीर्ष विशेष द्रव्य है[1]। जिस देय द्रव्य के देने से समस्त पूर्वकृष्टिया प्रथमकृष्टिके समान हो जाती है, उस देय द्रव्य को प्राप्त करनेका विधान बताते है—

पूर्व समयमें जो कृष्टिमे द्रव्य दिया उनको पूर्वसमयमे कृतकृष्टिके प्रमाणमात्र गच्छका का, भाग देने पर मध्यमधन आता है। उसे एक कम गच्छके आधे से हीन दोगुणहानिसे भाजित करने पर एक चय (विशेष) का प्रमाण आता है। वहा एक

१. विशेषार्थ गत उक्त कथनका स्पष्टीकरण अकगणितीय दृष्टिसे सदृष्टि बनाकर निम्न प्रकार किया जा सकता है—
मानाकि प्रथमसमयकी पूर्वकृष्टिया ८ है। तथा असख्यात=२ मानने पर द्वितीय समयमे की गई कृष्टिया ८÷२=४ हुई। मानाकि प्रथम समयमे की गई कृष्टियोके लिए अपकृष्टद्रव्य १६०० परमाणु हैं तथा द्वितीय समयमे कृष्टियो के लिए अपकृष्टद्रव्य ३९२० परमाणु हैं। ऐसी स्थितिमे प्रथमसमयकृत कृष्टिया इसप्रकार बनेगी—

प्रथमसमयमें की गई कृष्टियां

१४४	चरमकृष्टि
१६०	
१७६	
१९२	
२०८	
२२४	
२४०	द्वितीयकृष्टि
२५६	प्रथमकृष्टि

यहा चयका प्रमाण १६ है अतः यहा द्वितीय-कृष्टिमे ३२ अर्थात् दो चय, तृतीयकृष्टिमे ४८ अर्थात् तीन चय इत्यादि। इसप्रकार मिलाने पर प्रथम समयकी आठो कृष्टियो मे द्रव्य क्रमशः २५६-२५६ अर्थात् प्रत्येक कृष्टिमे समान हो जाता है। इसी को निम्न सदृष्टिमें दिखाया है—

यहां चय का प्रमाण=१६

पूर्वकृष्टि	अधस्तन शीर्ष वि. द्रव्य	परिणामतः सर्वत्र समद्रव्य
१४४ +	सातचय =	२५६
१६० +	छ. चय =	२५६
१७६ +	पाच चय =	२५६
१९२ +	चार चय =	२५६
२०८ +	तीन चय =	२५६
२२४ +	दो चय =	२५६
२४० +	एक चय =	२५६
२५६ +	=	२५६

पूर्वकृष्टिद्रव्य+अधस्तन विशेषद्रव्य (चयधन)
=१६००+ २८, चयधन अर्थात् ४४८
=२०४८[२५६×८=२०४८
सर्वत्र समद्रव्य]

चयको आदिरूप स्थापित करना, क्योकि द्वितीयकृष्टिमे एक चय देना है। एक चय उत्तर (आगे) स्थापित करना, क्योकि, तृतीयादि कृष्टियोमे क्रमशः एक-एक चय अधिक देना है। तथा एककम पूर्वकृष्टि प्रमाण गच्छ स्थापित करना चाहिए, क्योकि प्रथमकृष्टि मे चय नही मिलाना है। ऐसे स्थापित करके "पदमेगेणविहीण" इत्यादि श्रेणिव्यवहाररूप गणितसूत्र से एक कम गच्छको दो का भाग देकर, उसको (लब्धको) उत्तरसे (जो कि एक चयरूप है, उससे) गुणा करके उसमे प्रभव अर्थात् आदिके एक चयको मिलानेपर तथा फिर गच्छसे गुणा करने पर चयधन प्राप्त होता है। अकसदृष्टि की अपेक्षा—जैसे एक कम कृष्टिप्रमाण गच्छ ७, इसमे से एक घटाने पर छ आये। ६ मे २ का भाग देनेपर ३ आये। इसे चय (१६) से गुणा करनेपर ४८ आये। इसमे प्रभव (एक चय यानी १६) को मिलाने पर ६४; पुनः इसको गच्छ (७) से गुणा करने पर ४४८ चयधन होता है। इस विधानसे जो प्रमाण आवे उतना अधस्तन शीर्ष विशेषद्रव्य जानना[1]। अब जो पूर्वकृष्टिमे से प्रथमकृष्टिका प्रमाण था उसीके समान

---

१. अब इसके (पूर्वकृष्टिके) नीचे अपूर्वकृष्टिकी रचना करता है वे ४ हैं तथा वे प्रथमपूर्वकृष्टिके तुल्य-तुल्य ही है अर्थात् २५६-२५६ परमाणु प्रमाण हैं अतः द्वितीय समयमे अधस्तन कृष्टिद्रव्य २५६×४=१०२४ हुआ; तब सदृष्टि इसप्रकार होगी—

प्रमाण लिये जो विवक्षित समयमें अपूर्वकृष्टिकी उनमें समान प्रमाण लिये समपट्टिका-रूप द्रव्य देना चाहिए, इसका ही नाम अधस्तनकृष्टिद्रव्य है। इस द्रव्यको देनेपर अपूर्वकृष्टियां प्रथमपूर्वकृष्टिके समान हो जाती है। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्वोक्त पूर्वकृष्टि सम्बन्धी चयको दो गुणहानि से गुणा करने पर पूर्वकृष्टियो में से प्रथमकृष्टिके द्रव्यका प्रमाण आता है सो एक कृष्टिका द्रव्य इतना है तो समस्त अपूर्वकृष्टियोंका कितना होगा ? ऐसे त्रैराशिकसे उस प्रथमपूर्वकृष्टिके द्रव्यको समस्त अपूर्वकृष्टिके प्रमाण से गुणा करनेपर अधस्तनकृष्टिका द्रव्यप्रमाण होता है। यहां, प्रथम समयमें की गई कृष्टियोके प्रमाणको असंख्यातगुणे अपकर्षणभागहारका भाग देने पर द्वितीय समयमें की गई कृष्टियोका प्रमाण होता है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त अधस्तनशोर्षविशेषद्रव्य और अधस्तनकृष्टि द्रव्य देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि समान प्रमाण लिये हो गई।

वहां अपूर्वकृष्टिकी प्रथमकृष्टिसे लगाकर ऊपर-ऊपर अपूर्वकृष्टि स्थापित करके फिर उनके ऊपर प्रथमादि पूर्वकृष्टि स्थापित करनी चाहिए। इसप्रकार स्थापित करके चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ करने के लिये[1] सर्वकृष्टि सम्बन्धी सम्भवचयका प्रमाण लाकर अन्तकी पूर्वकृष्टिमे एक चय, उसके नीचे उपान्त्य-पूर्वकृष्टि में दो चय; ऐसे क्रमसे एक-एक चय अधिकाधिक करते हुए प्रथम अपूर्वकृष्टि पर्यन्त देना। इसीका नाम उभयद्रव्यविशेषद्रव्य है। इसे देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि के चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ होता है। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्व समयमे कृष्टिमे जो द्रव्य दिया था और इस विवक्षित समयमे जो कृष्टिमें देने योग्य द्रव्य है, इन दोनोको मिलानेपर जो द्रव्यप्रमाण हुआ उसको पूर्वापूर्व (पूर्व-अपूर्व) कृष्टियोके योगरूप गच्छसे विभक्त करनेपर मध्यमधन प्राप्त होता है। इसको एककम गच्छके आधेसे हीन दोगुण हानिसे विभक्त करनेपर यहाके चयका (विशेषका)

१. अब इनकी समान द्रव्यरूप स्थितिको मिटाकर चय घटता क्रमरूप गोपुच्छ को करने के लिए निम्नानुसार द्रव्य मिलाते है—

प्रमाण आता है। अब एकचय को स्थापितकर और एक चय उत्तर (आगे) स्थापित कर तथा पूर्व-अपूर्वकृष्टिप्रमाण गच्छ स्थापितकर "पदमेगेणविहीण" इत्यादि सूत्रके अनुसार एककम गच्छके आधेको चयसे गुणित करके उसमें चय मिलाकर उसको चयसे गुणित करने पर सर्व उभय द्रव्य विशेष द्रव्य होता है तथा जो विवक्षित समयमें कृष्टिरूप परिणमावने योग्य द्रव्य अपकृष्ट किया उसमें से अधस्तनशीर्ष विशेषद्रव्य, अधस्तनकृष्टिद्रव्य और उभयद्रव्यविशेषद्रव्य घटाने पर; अवशिष्ट रहे द्रव्यको समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियोमे समान भाग करके देना? इसीका नाम मध्यमखण्डद्रव्य है। इसको देने पर उस अपकृष्टद्रव्यकी समाप्ति होती है तथा समस्त पूर्वापूर्वकृष्टियोमे चय घटते क्रमरूप

	पूर्वद्रव्य+मिलाया जानेवाला द्रव्य=गोपुच्छाकारता		
	सर्वत्रसम द्रव्य +	उभयद्रव्य-विशेषद्रव्य =	गोपुच्छाकारता
चरमपूर्वकृष्टि —	२५६ +	एक चय	२७२
द्विचरम पूर्वकृष्टि—	२५६ +	दो चय	२८८
	२५६ +	तीन चय	३०४
	२५६ +	चार चय	३२०
	२५६ +	पाच चय	३३६
	२५६ +	छह चय	३५२
	२५६ +	सात चय	३६८
प्रथमपूर्वकृष्टि —	२५६ +	आठ चय	३८४
	२५६ +	नौ चय	४००
	२५६ +	दस चय	४१६
	२५६ +	ग्यारह चय	४३२
प्रथम अपूर्वकृष्टि—	२५६ +	बारह चय	४४८

उभयद्रव्यविशेषद्रव्य =१ चय+२ चय+३चय+४ चय+५ चय+६ चय +७ चय +८ चय +९ +१०चय+११ चय+१२ चय= ७८चय=७८×१६=१२४८अत: उभयद्रव्यविशेषद्रव्य=१२४८ इसे मिलाने पर सर्वत्र प्रथम अपूर्वकृष्टि से लगाकर चरम पूर्वकृष्टि पर्यन्त गोपुच्छाकार द्रव्य हो जाता है वह नीचे लगी सदृष्टिके अनुसार है →

सर्वगोपुच्छाकारता	
२७२	— चरमपूर्वकृष्टि
२८८	
३०४	
३२०	
३३६	
३५२	
३६८	
३८४	— प्रथमपूर्वकृष्टि
४००	—चरमअपूर्वकृष्टि
४१६	
४३२	
४४८	—प्रथमअपूर्वकृष्टि

ज्यो का त्यों द्रव्य रहता है। इसका प्रमाण बतलाते है[1]–विवक्षित समयमें अपकृष्टद्रव्यको पल्यके असख्यातवेभागका भाग देने पर एक भागमात्र द्रव्य कृष्टिमें देने योग्य है। इसमें से पूर्वोक्त तीन प्रकारका द्रव्य घटाने पर किंचिदून हुआ। (यही किंचिदून द्रव्य मध्यमखंड द्रव्य है।) इतना द्रव्य सकलकृष्टियोमे देना है तो एककृष्टिमें कितना देना होगा? ऐसी त्रैराशिकविधि करके उस द्रव्यमे पूर्व-अपूर्वकृष्टियोके प्रमाणका भाग देने पर एककृष्टिमें

---

१ अब द्वितीय समयमे अपकृष्ट द्रव्य ३९२० मे से अधस्तनशीर्षविशेषद्रव्य ४४८, अधस्तनकृष्टिद्रव्य १०२४, उभयद्रव्यविशेषद्रव्य १२४८, इन तीनोको घटानेपर ३९२०–(४४८+१०२४+१२४८) =१२०० शेष रहे। ये शेष बचे १२०० परमाणुप्रमाण द्रव्य ही मध्यमखण्डद्रव्य है: इसे समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियों में (८+४=१२ कृष्टियोमे) समान खण्ड करके देने पर सभी को अर्थात् प्रत्येककृष्टिको १००-१०० द्रव्य प्राप्त होता है। उसे मिलाने पर रचना ऐसी है—

२७२+१०० = ३७२	— चरमपूर्वकृष्टि
२८८+१०० = ३८८	
३०४+१०० = ४०४	
३२०+१०० = ४२०	
३३६+१०० = ४३६	
३५२+१०० = ४५२	
३६८+१०० = ४६८	
३८४+१०० = ४८४	— प्रथमपूर्वकृष्टि
४००+१०० = ५००	— चरमअपूर्वकृष्टि
४१६+१०० = ५१६	
४३२+१०० = ५३२	
४४८+१०० = ५४८	— प्रथमअपूर्वकृष्टि

नोट—यहा इतना स्मरण रखना चाहिये कि उभयद्रव्यविशेषद्रव्य निकालनेके लिए यहां निम्नविधि है—
सकल अपकृष्टद्रव्य = १६०० + ३९२०= ५५२०। सकल अपकृष्टद्रव्य ÷ सकलकृष्टियां ५५२० ÷ १२=४६० मध्यमधन

यहा एक गुणहानि=१७$\frac{१}{२}$ (गुणहानि वस्तुस्थित्या खण्डरूप नही होती पर सदृष्टि या दृष्टान्त तो सदृष्टि या दृष्टान्त ही ठहरा; वह दार्ष्टान्तिसे सर्वदेश साम्य नही रखता, ऐसा जानना चाहिये) क्योकि ५४८ रूप प्रथमकृष्टि १७$\frac{१}{२}$ स्थानो को पार करनेके बाद उसके आगे एकस्थान जाने पर आधी रह जाती है; अतः १७$\frac{१}{२}$ स्थान, गुणहानिका प्रमाण होगा। यथा ५१२ कर्मपरमाणुरूप प्रथम निषेकसे ८ स्थान के बाद नवमस्थानमे जाकर २५६ रह जाते हैं तो वहा गुणहानिका प्रमाण ८ होता है। वैसे ही यहा पर ५४८ रूप प्रथमकृष्टि चयहीन होती हुई ऐसे जाती है—५४८, ५३२, ५१६ ५००, ४८४, ४६८, ४५२, ४३६, ४२०, ४०४, ३८८, ३७२, ३५६, ३४०, ३२४, ३०८, २९२, २७६....... ....।

देने योग्य एकखण्डका प्रमाण प्राप्त होता है। इसको सर्वकृष्टिके प्रमाणसे गुणित कर देनेपर सर्व मध्यमखण्ड द्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार यहा विवक्षित द्वितीय समयमे कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमे बुद्धिकल्पनासे अधस्तनशीर्षविशेष आदि चार प्रकारके द्रव्य भिन्न-भिन्न स्थापित किये। ऐसे ही यहा पर तृतीयादि समयोमे कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमे विधान जानना। अथवा आगे क्षपकश्रेणिके वर्णनमे अपूर्वस्पर्धकका, बादरकृष्टिका या सूक्ष्मकृष्टिका वर्णन करते हुए ऐसे विधान कहेगे; वहा ऐसा ही अर्थ

अब यहा द्रव्य चयहीन होकर जाता हुआ अठारहवें स्थानमे २७६ होता है। हमे ५४८ का आधा २७४ अभीष्ट है। चू कि एकस्थान आगे पीछे जाने पर (अर्थात् १८ वें से १७ वे या १७ वें से १८ वे को जाने पर) १६ (एक चय) की कमी या वृद्धि होती है, तो २ मात्र परमाणुकी हीनता के लिए कितना स्थान आगे जाना पडेगा ? उत्तर होगा $\frac{१}{१६} \times \frac{२}{१} = \frac{२}{१६} = \frac{१}{८}$ स्थान। अर्थात् २७६ से $\frac{१}{८}$ स्थान आगे जाने पर वही कृष्टिका परमाणु परिमाण २७४ हो जाता है जो कि ५४८ से ठीक आधा है तो २७४ परमाणुवाला स्थान १८$\frac{१}{८}$ वा हुआ, इसलिये इससे एक स्थान पूर्व अर्थात् १७$\frac{१}{८}$ वें स्थान मे ही एक गुणहानि पूरी हो गई ऐसा जानना चाहिए, (क्योकि जहा द्रव्य आधा रह जाय उससे एक स्थान (पूरा-पूरा) पहले जाने पर जो निषेक स्थित हो वही प्रथम गुणहानिका चरमस्थान होता है) अतएव दो गुणहानि = १७$\frac{१}{८}$ × २ = ३४$\frac{१}{४}$

अब मध्यधन—एककम गच्छका आधासे न्यून दो गुणहानि = चय

अर्थात् ४६० − ३४$\frac{१}{४}$ − $\frac{११}{२}$ = चय

" ४६० − ३४$\frac{१}{४}$ − ५$\frac{१}{२}$ = चय

" ४६० − ३९$\frac{३}{४}$ = चय

" $\frac{४६०}{१} \times \frac{४}{१११५}$ = चय

" $\frac{४६०}{१} \times \frac{४}{१११५}$ = १६ (चय)

अब सूत्रानुसार एककम गच्छ ११ का आधा ५$\frac{१}{२}$ से चय १६ को गुणा करने पर ८८ आये। चय मिलाने पर ८८ + १६ = १०४ आये। १०४ × गच्छ (१२) = १२४८ आये। यही उभयद्रव्यविशेष-द्रव्य है। शेष सुगम है।

जानना चाहिए । जहां विशेष हो वहा विशेष जानना चाहिए । यहा संदृष्टिकी अपेक्षा चयहीन क्रम लिये पूर्वकृष्टि आदि की रचना निम्न प्रकार होती है—
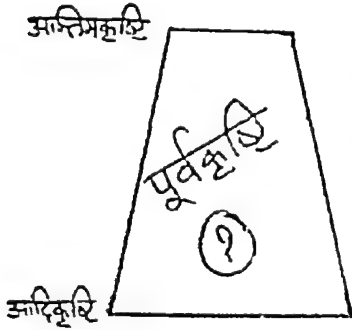
पूर्वकृष्टिरचना

पूर्वकृष्टियोमे अधस्तनशीर्षद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि की रचना इसप्रकार होती है }—
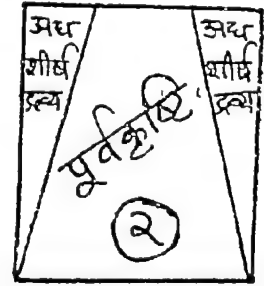
अधस्तनशीर्षद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि रचना के नीचे ही अधस्तन-कृष्टिद्रव्यद्वारा अपूर्वकृष्टिकी समपट्टिकारचना निम्नप्रकार होती है—
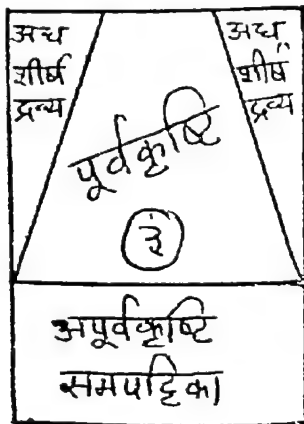
संदृष्टि न० ३ मे उभयद्रव्यविशेषद्रव्य मिलाने पर सदृष्टिकी आकृति निम्न प्रकार होती है । इसे गुपुच्छाकृति कहते हैं —
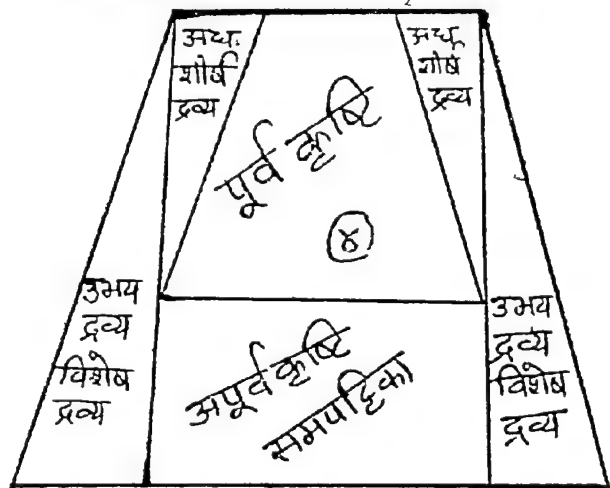
वत्सल आचार्य श्री यतिवृषभ ने उन गाथाओ पर चूर्णिसूत्रो की रचना की। कषायपाहुड ग्रन्थ की रचना का मूलस्रोत दृष्टिवाद अग के १४ पूर्व रूप भेदो मे पाचवे पूर्व के बारह वस्तु अधिकारो मे २० प्राभृत हैं, उन २० प्राभृतो मे से तीसरा पेज्जदोस पाहुड है अर्थात् तृतीय प्राभृत को अवलम्बन कर ही कषायपाहुड़ ग्रन्थ की रचना हुई है।

इस ग्रन्थ मे १५ अधिकार हैं और उन पन्द्रह अधिकारो मे मात्र मोहनीय कर्म सम्बन्धी कथन किया गया है शेष सात कर्म सम्बन्धी कथन नही पाया जाता है। पन्द्रह अधिकारो मे से १० वे अधिकार मे दर्शन मोह की उपशामना, ग्यारहवें अधिकार मे दर्शन मोह की क्षपणा, बारहवे अधिकार मे समयासयम लब्धि, तेरहवें अधिकार मे चारित्रलब्धि, चौदहवे अधिकार मे चारित्रमोह की उपशामना और पन्द्रहवे अधिकार मे चारित्रमोह की क्षपणा का विवेचन है। १० से १५ तक इन छह अधिकारो के चूर्णिसूत्र से श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की रचना की है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य इस लोकाकाश मे सर्वत्र व्याप्त हैं। पुद्गल द्रव्य की २३ वर्गणाए हैं, जिनमे से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा इन पाच वर्गणाओ को जीव अपनी योगशक्ति के द्वारा ग्रहण करता है। पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति योग कहलाती है।[1] कर्म वर्गणाए आठ प्रकार की हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमे से जो ज्ञानावरणीय के योग्य द्रव्य है वही मिथ्यात्वादि प्रत्ययो के कारण पाच ज्ञानावरणीय रूप से परिणमन करता है अन्य रूप से परिणमन नही करता, क्योकि वह अन्य के अयोग्य होता है। इसी प्रकार सभी कर्मों के सम्बन्ध मे कहना चाहिए। अन्तर का अभाव होने से कार्मणवर्गणा आठ प्रकार की हैं ऐसा उपदेश नही पाया जाता है।[2] कर्म और आत्मा का परस्पर सश्लेष सम्बन्ध होकर दो पने के त्याग पूर्वक एकरूपता हो जाना सो बन्ध है।[3]

निश्चयनय मे न बन्ध है न मोक्ष है, क्योकि बन्ध व मोक्ष पर्यायें हैं, और निश्चयनय पर्यायो को ग्रहण नही करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने समयसार ग्रन्थ मे भी कहा है—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

—निश्चय नय से जीव न तो अप्रमत्त (मुक्त) और न ही प्रमत्त (संसारी) होता है। एक ज्ञायक भाव है, वह वही है। अत निश्चयनय मे न संसार अर्थात् कर्मबन्ध है और न ही मोक्ष अर्थात् कर्मक्षय है।

---

१. पुग्गल विवाइ देहोदयेण मण वयण काय जुत्तस्स। जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम कारणं जोगो॥ २१६ गो. जी का॥
२. णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादि पच्चएहि पंच णाणावरणीय-सरूवेण परिणमति ण सरूवेण। कुदो ? अप्पाओग्गत्तादो। एव सव्वेसि कम्माणं वत्तव्वं। ध. पु. १४ पृ. ५५२।
३. संश्लेषलक्षणे बन्धे सति। स सि. ५।३३ बंधो णाम दुभाव परिहारेण एयत्तावत्ती। ध. पु १३ पृ. ७।

द्रव्य संग्रह में भी कहा है—

शुद्ध निश्चयनय से जीव के बन्ध ही नही है तथा बन्धपूर्वक होने से मोक्ष भी नही है ।[1]

जब निश्चयनय मे बन्ध व मोक्ष ही नही तो मोक्षमार्ग कैसे सम्भव है अर्थात् निश्चयनय से मोक्षमार्ग भी नही है । बन्धपूर्वक मोक्ष और मोक्षमार्ग के उपदेश के लिए ही षट्खण्डागम और कषायपाहुड ग्रन्थो की रचना हुई । यद्यपि ये दोनो ग्रन्थ करणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि इनमे करण अर्थात् आत्म-परिणामो की तरतमता का सूक्ष्म-दृष्टि से कथन पाया जाता है तथापि इन दोनो ग्रन्थो मे आत्म-विषयक कथन होने से वास्तव मे ये अध्यात्म ग्रन्थ हैं ।[2]

पूर्वबद्ध कर्मोदय से जीव के कषायभाव होते हैं और इन कषाय भावो से जीव के कर्मबन्ध होता है । बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव अनुकूल मिलने पर द्रव्य कर्म उदय मे (स्वमुख से) आकर अपना फल देता है ।[3] यदि बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव अनुकूल नही मिलता तो कर्म (स्वमुख से) उदय मे न आकर अपना फल नही देता । जिन बाह्य द्रव्यादि के मिलने पर कषायोदय हो जावे ऐसे द्रव्य आदि के सयोग से अपने को पृथक् रखे यही हमारा पुरुषार्थ हो सकता है । जैसे—अणुव्रत ग्रहण द्वारा देश संयम हो जाने पर अप्रत्याख्यान क्रोध आदि कषाय तथा अनादेय, दुर्भग, अयश कीर्ति आदि कर्मोदय रुक जाता है । चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार हम स्वय को उन द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से बचा सकते है जिनके मिलने पर कषायादि उदय मे आते हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नामकरण—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व पाच लब्धिया होती हैं तथा अनन्तानुबन्धी की विसयोजना, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, उपशम चारित्र व क्षायिक चारित्र से पूर्व तीनों करणलब्धि होती है । देश सयम और सकलसयम से पूर्व अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो करणलब्धिया होती है । इन लब्धियो का कथन प्रस्तुत ग्रन्थ मे विस्तार पूर्वक होने से इस ग्रन्थ का लब्धिसार गौण्य पद नाम है तथा चारित्र मोह की क्षपणा का कथन होने से अथवा आठो कर्मो की क्षपणा का कथन होने से दूसरे ग्रन्थ का क्षपणासार सार्थक नाम है । इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार यह नामकरण विषय विवेचन की प्रधानता से किया गया है ।

ग्रन्थकर्ता—

लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती है । आपने पुष्पदन्त-भूतवलि आचार्य द्वारा विरचित षट्खडागम सूत्रो का गम्भीर मनन पूर्वक पारायण किया था । इसी कारण आपको सिद्धान्त चक्रवर्ती उपाधि प्राप्त थी । आपने स्वयं भी गो क. की[4] गाथा ३९७ मे सूचित किया है कि—जिस प्रकार भरतक्षेत्र के छह खडो को चक्रवर्ती निर्विघ्नतया जीतता है उसी प्रकार प्रज्ञा रूपी चक्र के द्वारा मेरे द्वारा भी छह खड (प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ—षट्खण्डागम) निर्विघ्न-तया साधित किये गये हैं अर्थात् जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और

---

१. वन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति तथा बन्धपूर्वकमोक्षोऽपि । गा. ५७ की टीका ।

२. 'एदं खंडगंथमज्झप्पविसय' 'पयदाए अज्झप्पविज्जाए' घ पु १३ पृ. १३६ ।

३. कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं । सर्वार्थसिद्धि ६/३६ ।

४. जह चक्केण य चक्की छक्खडं साहिय आविग्घेण ।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ।।

[illegible] षट्खण्डागम ग्रन्थ को मैंने अपने बुद्धिवैभव से सिद्ध किया है। षट्खण्डागम के अति-रिक्त [illegible] (चूर्णिसूत्र सहित) तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थो के भी आप पारगामी विद्वच्छि-रोमणि आचार्य थे। इन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थो के साररूप मे आपने गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार क्षपणासार तथा त्रिलोकसारादि ग्रन्थो का प्रणयन किया है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि लब्धिसार-क्षपणासार की रचना का मूलस्रोत ग्रन्थ कसायपाहुड ग्रन्थ रहा है। गुणधराचार्य कृत इस ग्रन्थ पर चूर्णिसूत्र यतिवृषभाचार्य ने रचे और चूर्णिसूत्र समन्वित कषायपाहुड की ६०००० श्लोक प्रमाण वाली जय धवला टीका लिखी गई है। इतने विशालकाय ग्रन्थ के एक तिहाई भाग (१०वें १५वे तक ६ अधिकार) को ६५३ गाथाओ मे समर्पित किया जाना ही नेमिचन्द्राचार्य के बुद्धि वैभव का उद्घोष करता है। यह कोई साधारण कार्य नहीं है।

ग्रन्थकर्ता का समयकाल—

गोम्मटसार ग्रन्थ की कर्णाटकीय आदि वृत्ति के कर्ता केशववर्णी आदि अपने प्रारम्भिक कथन मे लिखते हैं कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अनेक उपाधि विभूषित चामुण्डराय के लिए प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ (षट्खण्डागम) के आधार पर गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की। स्वय [illegible]देव ने ही गो क. की अन्तिम प्रशस्ति मे राजा गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय जयकार किया है। चामुण्डराय गगनरेश श्री राचमल्ल के प्रधानमन्त्री एव सेनापति थे। चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण शक स ९०० तदनुसार वि स १०३१ मे पूर्ण किया था। राचमल्ल का राज्य-काल वि स १०४१ तक रहा है ऐसा ज्ञात होता है। बाहुबली चरित मे गोम्मटेश की प्रतिष्ठा का समय वि स १०३७-३८ बतलाया है। गोम्मटेश की प्रतिष्ठा मे स्वय नेमिचन्द्राचार्य उपस्थित थे। इससे नेमिचन्द्राचार्य का काल विक्रम की ११वी शताब्दी सिद्ध होता है।

ग्रन्थकर्ता के गुरु—

त्रिलोकसार की अन्तिम[1] गाथा मे श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने आपको अभय-नन्दि गुरु का शिष्य कहा है। इसके अतिरिक्त आचार्य वीरनंदि, इन्द्रनन्दि तथा कनकनन्दि का भी [illegible] साथ उल्लेख किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्न गाथा के प्रकाश मे ग्रन्थ-कर्ता के दीक्षा गुरु का आभास मिलता है गाथा इस प्रकार है—

> जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहि मुत्तिण्णो।
> वीरिंदणंदिवच्छो णमामि त अभयणंदि गुरु ॥४३६॥

वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि का वत्स जिनके चरणप्रसाद से अनन्त ससाररूपी सागर से उत्तीर्ण हो गया उन अभयनन्दि गुरु को मैं (नेमिचन्द्र) नमस्कार करता हू। अनन्त ससार रूपी सागर से [illegible] का अभिप्राय दीक्षा मे ही है। अतः ऐसा लगता है कि उनके दीक्षागुरु अभयनदि हैं। इस प्रकार श्री नेमिचन्द्राचार्य ने इन्द्रनन्दि वीरनन्दि आदि आचार्यों का भी गुरु रूप मे स्मरण किया है।

---

1. इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
   रइओ तिलोयसारो खमंतु बहुसुदाइरिया ॥१०१८॥

विषय परिचय—

लब्धिसार की प्रथम ८८ गाथाओं मे क्षयोपशम-विशुद्धि-देशना प्रायोग्य एवं करण रूप पाच लब्धियो का सविस्तर वर्णन करते हुए प्रथम तीन लब्धियो का स्वरूप मात्र एक-एक गाथा मे ही कर दिया है। प्रायोग्य लब्धि के अन्तर्गत ३४ बन्धापसरण और उन अपसरणो मे बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो का कथन १५ गाथाओ मे किया गया है। इसके पश्चात् सात गाथाओ द्वारा प्रायोग्यलब्धि मे उदय व सत्त्व योग्य प्रकृतियो का कथन किया है। तदनन्तर ५६ गाथाओ मे करणलब्धि के विवेचन को प्रारम्भ करते हुए अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण लब्धियो का कथन किया है। इसके पश्चात् गाथा १०९ तक उपशम सम्यक्त्व आदि के प्रकरण मे होने वाले अनुभाग काण्डकादि कालो का अल्पबहुत्व तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरने आदि का सर्व कथन पाया जाता है। गाथा ११० से दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा का कथन प्रारम्भ होता है उसके अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसयोजना का कथन गाथा ११२-११६ तक किया गया है। तदनन्तर गाथा १६६ तक क्षायिक सम्यक्त्व का प्रकरण है। १६७वी गाथा से प्रारम्भ होकर गाथा १८८ तक देशसयमलब्धि का कथन सविस्तर किया गया है। देश सयमलब्धि अधिकार के पश्चात् गाथा १८९ से सकलसयमलब्धि का वर्णन प्रारम्भ हुआ है। तदनन्तर गाथा २०५ से चारित्र मोहोपशामनाधिकार प्रारम्भ हुआ है, उसके अन्तर्गत १४ गाथाओ द्वारा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का कथन है। गाथा २२० से ३९१ तक श्रेण्यारोहण और श्रेण्यावरोहण की अपेक्षा उपशम चारित्र का सविस्तर कथन आचार्यदेव ने किया है। इस प्रकार लब्धिसार ग्रन्थ मे सर्व ३९१ गाथाओ मे पंचलब्धियो का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् ३९२ से ६५३ तक ३६१ गाथाओ द्वारा क्षपणासार मे चारित्रमोहनीय कर्म की क्षपणा के सविस्तर कथन पूर्वक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों के क्षय का विधान बताते हुए नाम-गोत्र-वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मों के क्षय का विधान निरूपित किया गया है। इसके साथ ही केवली समुद्घात, योग निरोध, अर्हन्त व सिद्ध भगवान के सुख का भी विवेचन भी प्रसग प्राप्त होने से किया गया है।

इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार मे प्रतिपादित विषय का परिचय अति सक्षिप्त में दिया गया है विस्तृत विवेचन ग्रन्थ अध्येता स्वयं अध्ययन कर ग्रन्थ से जानने मे सक्षम होगे अत. प्रस्तावना मे विस्तारपूर्वक विषय परिचय 'पिष्ट पेषण' के भय से नही दिया गया है।

लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की प्रस्तुत टीका एवं उसके आधार—

लब्धिसार की सिद्धान्त बोधिनी एवं क्षपणासार की कर्म क्षपणबोधिनी टीका, इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की नवीन टीका का यह नामकरण किया गया है। यद्यपि पंडित प्रवर टोडरमलजी की सुबोध हिन्दी टीका सहित लब्धिसार की सस्कृतवृत्ति युक्त लब्धिसार का प्रकाशन 'जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था' कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था जो इस समय उपलब्ध नही है। संस्कृत वृत्तिकार ने प्राय: जयधवल टीका का अनुसरण किया है। हिन्दी टीकाकार के समक्ष जयधवल टीका नही थी अत पडितजी ने सस्कृत वृत्ति का मात्र हिन्दी अनुवाद किया है। लब्धिसार का प्रकरण जयधवल पु १२ व १३ मे चूर्णिसूत्र समन्वित जयधवला टीका के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। हां! गाथा ३०८ से ३९१ तक का प्रकरण, जिसमे उपशम श्रेणि से गिरने तथा मानादि कषायो व स्त्रीवेदादि सहित उपशम श्रेणि आरोहण का कथन भी पाया जाता है

उसका जयधवला टीका मे जो वर्णन है वह अभी प्रकाशित नही है। कषायपाहुड भाग १४ जो कि अभी प्रकाश्य है उसमे प्रकाशित होगा। अतः लब्धिसार की इस प्रस्तुत टीका मे पंडित टोडरमलजी की हिन्दी टीका तथा सस्कृतवृत्ति के साथ-साथ ज ध पु १२ व १३ आधार रही है, किन्तु गाथा ३०८ से ३९१ तक की टीका जयधवल मूल (फलटन से प्रकाशित) के आधार से लिखी गई है।

क्षपणासार की कोई सस्कृत टीका नही है। हा ! माधवचन्द्र त्रैविद्य देव द्वारा रचित सस्कृत क्षपणासार की दो प्रतिया जयपुर भण्डार से प्राप्त हुई थी जो कि स्वतत्र रचना है अतः वह स्वतत्र कार्य की अपेक्षा रखता है। सम्भव है प टोडरमलजी के समक्ष यह क्षपणासार रहा हो जो उनकी क्षपणासार टीका का अवलम्बन रहा हो। गाथा ४७३ की टीका मे उन्होने अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखा है कि—"इस गाथा का अर्थ रूप व्याख्यान क्षपणासार विषै किछु किया नही और मेरे जानने मे भी स्पष्ट न आया तातै इहा न लिख्या। बुद्धिमान होइ सो याका यथार्थ अथ होइ सो जानहू।" इन पक्तियो के प्रकाश मे मेरे अनुमान से एक तथ्य प्रगट होता है कि पडित प्रवर टोडरमलजी के समक्ष क्षपणासार की हिन्दी टीका सहित कोई प्रति होना चाहिए। अन्यथा वे ऐसा क्यो लिखते कि इस गाथा का अर्थ रूप व्याख्यान 'क्षपणासार विषै किछु किया नाही'। माधवचन्द्र त्रैविद्य देव द्वारा रचित क्षपणासार सस्कृत भाषा का स्वतत्र ग्रन्थ है वह अर्थ रूप व्याख्यान (टीका) तो है नही। खैर ! जो भी हो यह है अनुसधान का विषय। मेरे द्वारा अनुमानित प टोडरमलजी के समक्ष विद्यमान क्षपणासार की भाषानुवादित उस टीका के कर्ता ने भी जयधवल मूल टीका का आश्रय लिया है यह स्पष्ट है।

क्षपणासार की कर्मक्षपणबोधिनी नामा इस नवीन टीका को भी मैने फलटन से प्रकाशित जयधवल मूल (शास्त्राकार) के आधार से ही लिखा है, क्योकि क्षपणासार से सम्बन्धित इस विषय की जयधवला टीका हिन्दी अनुवाद सहित सभवत १५-१६ वे भाग के रूप मे मथुरा से अभी तक प्रकाशित नही हुई हैं प्रकाशनाधीन हैं।

आत्म निवेदन—

उक्त नवीन टीका करने की प्रेरणा मुझे आ क. श्री श्रुतसागरजी महाराज से प्राप्त हुई। सन् १९६३ से तो मैं निरन्तर उनके सान्निध्य मे जाता रहा हू। इसी शृ खला मे सन् १९७१-७२ मे त्रिलोकसार की नवीन टीका (आर्यिका विशुद्धमतीजी द्वारा लिखित) के वाचनावसर पर मुझे भी जाने का प्रसग प्राप्त हुआ था। ६ वर्ष पश्चात् सन् १९७८ मे पुन गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 'सिद्धान्तज्ञानदीपिका' नामा नवीन हिन्दी टीका (आर्यिका आदिमतीजी विरचित) की वाचना के अवसर पर आ. क श्री के सान्निध्य का लाभ मिला और उस टीका के सम्पादनत्व का भार भी मुझ पर आया। उक्त वाचना के अवसर पर ही जयपुर निवासी श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी ने आ क श्री के समक्ष अपनी हार्दिक मनोभावना ब्र लाडमलजी के माध्यम से व्यक्त की थी कि "लब्धिसार-क्षपणासार की भी शुद्ध आधुनिक हिन्दी मे नवीन टीका लिखी जानी चाहिए उसके प्रकाशन का अर्थ भार मैं स्वय वहन करू गा।" कोठारीजी की इस भावना को देखते हुए मुझे प्रेरणा मिली और उसी समय मैंने आ क श्री को अपनी स्वीकृति प्रदान की थी। लगभग १ वर्ष के परिश्रम से मैं इस नवीन टीका को लिख पाया और इसकी वाचना के लिए चातुर्मास प्रवास मे मैं आ क श्री के सान्निध्य मे पहु चा। वाचना के अनन्तर ही फिर मुझे गोम्मटसार जीवकाण्ड की नवीन टीका लिखने

के लिए पू. महाराज श्री की प्रेरणा मिली जिसे मैंने शिरोधार्य किया। इन दिनो मै उसी (गोम्मट-सार जीवकाण्ड को) टीका की लिख रहा हूं।

सन् १९३५ तदनुसार वि. सं. १९९१ मे विद्वज्जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व. माणिकचन्द्रजी कौन्देय 'न्यायाचार्य' दस लक्षण पर्व पर सहारनपुर पधारे थे। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होने उपशम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया किन्तु ज्ञान के अल्पक्षयोपशमवश उनके द्वारा आगमानुमोदित वह व्याख्या मैं समझ नही पाया। हा! इतना अवश्य समझ सका कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही मेरा आत्म हित हो सकता है। शास्त्र प्रवचन के अनन्तर मैंने पडितजी से पूछा कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय और उसका स्वरूप जैन दर्शन के किस ग्रन्थ मे विस्तार पूर्वक मिल सकता है? मेरे इस प्रश्न का सहजिक उत्तर देते हुए पडितजी बोले आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित **'लब्धिसार-क्षपणासार'** ग्रन्थ मे सम्यग्दर्शन की विस्तृत प्ररूपणा की गई है। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे 'अंधे को दो आखे ही मिल गई हो' उक्ति के अनुसार मुझे निधि प्राप्ति ही हुई हो। सहारनपुर मे उन दिनो मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध नही थे। अतः हस्तलिखित लब्धिसार-क्षपणासार से स्वाध्याय प्रारम्भ किया। कई दिनो तक विषय स्पष्ट नही हुआ फिर भी मन में निराशा नही हुई और बार-बार के प्रयत्न से सफलता मिली। कुछ दिनो के पश्चात् तो वकालात का कार्य छोड़कर जैन सिद्धान्त के विभिन्न ग्रंथो का (धवल-जयधवल-महाधवल, गोम्मटसार-समयसार-प्रवचनसार-त्रिलोकसारादि) अपने लघुभ्राता नेमिचन्द्र वकील के साथ स्वाध्याय किया।

मुझे अत्यन्त हर्ष है कि जिस ग्रन्थ के अध्ययन से मुझे सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में विस्तृत जान-कारी मिली उसी ग्रन्थ की टीका लिखने का जीवन के अन्तिम चरणो मे सुअवसर मिला। यह अत्यन्त सुखद संयोग है। पू. आ. क. श्री श्रुतसागरजी महाराज का अत्यन्त कृतज्ञ हू कि जिन्होने टीका की वाचना को उपयोग पूर्वक श्रवणकर यथायोग्य सुझाव दिये। उन्ही की प्रेरणा एवं आशी-र्वाद से मैं इस कार्य को करने में सक्षम हो सका हू। आगे भी इसी प्रकार जिनवाणी सेवा मे मेरा जीवन व्यतीत हो इसी मगल भावना से विराम लेता हूं। आशा है ब्र. लाडमलजी के सद्प्रयत्न से इस टीका का शीघ्र प्रकाशन होगा।

दीपावली
वि. स २०३६
निवाई

रतनचन्द जैन मुख्तार
सहारनपुर (उ प्र.)

विशेष : ग्रन्थ की यह प्रस्तावना स्व. मुख्तार साहब ग्रन्थ की नवीन टीका की वाचना के अवसर पर जब निवाई चातुर्मास से आये थे तभी वाचना के अनन्तर ही लिख गये थे। एक वर्ष के पश्चात् उनका स्वर्गवास ही हो गया। अत्यन्त खेद रहा कि वे इस ग्रन्थ के प्रकाशन को नहीं देख सके। उनके द्वारा लिखित उसी प्रस्तावना को अब ग्रन्थ प्रकाशन के साथ यहां प्रकाशित किया जा रहा है।

(प्रकाशकीय टिप्पणी)

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित

क्षपणासार

(कर्मक्षपण बोधिनी हिन्दी टीका समन्वित)

सम्पादक :

स्व. ब्र. प. रतनचन्द्र मुख्तार

सहारनपुर (उ प्र)

क्षपणासार विषयानुक्रमणिका

क्षपणाधिकार चूलिका—

❖

क्षपणासार

कर्मक्षपण बोधिनी हिन्दी टीका समन्वित

"मंगलाचरणम्"

मुणियपरमत्थवित्थरमुणिवरवीरेहिं सिद्धविज्जेहिं ।
जा संथुआ भयवदी पसियउ सुयदेवया मज्झं ।।१।।

सुसुदेवयाए भत्ती सुदोवजोगोवभाविओ सम्मं ।
आवहइ णाणसिद्धिं णाणफलं चावि णिव्वाणं ।।२।।

तो सुअदेवयमिणमो तिक्खुत्तो पणमियूण भत्तीए ।
वोच्छामि जहासुत्तं चरित्तमोहस्स खवणविहिं ।।३।।[1]

तिकरणमुभयोसरणं कमकरणं खवणदेसमंतरयं ।
संकम अपुव्वफड्डयकिट्टीकरणाणुभवणखमणाए ।।१।।३९२।।

[2]गुणसेढी गुणसंकमठिदिरसखंडाण णत्थि पढमम्हि ।
पडिसमयमणंतगुणं विसोहि वड्ढीहिं वड्ढदि हु ।।२।।३९३।।

[3]सत्थाणमसत्थाणं चउविट्ठाणं रसं च बंधदि हु ।
पडिसमयमणंतेण य गुणभजियकमं तु रसबंधे ।।३।।३९४।।

---

१. ज० ध० मूल पृष्ठ १९३९ से उद्धृत ।
२. ल० सा० गाथा ३७ भी इसी प्रकार है ।
३. ल० सा० गाथा ३८ के समान ।

[1]पल्लस्स संखभागं मुहुत्तअंतेण ओसरदि बंधे।
संखेज्जसहस्साणि य अधापवत्तम्हि ओसरणा ॥४॥३९५॥
[2]आदिमकरणद्धाए पढमट्ठिदिबंधदो दु चरिमम्हि।
संखेज्जगुणविहीणो ठिदिबंधो होदि णियमेण ॥५॥३९६॥

अर्थः—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीनकरण; बंधापसरण और सत्त्वापसरण ये दो अपसरण तथा क्रमकरण, आठ (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण) कषाय और १६ प्रकृतियोकी क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, सक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण, कृष्टिकरण, कृष्टिअनुभवन इसप्रकार चारित्रमोहकी क्षपणामे अधिकार जानना ॥१॥

पहले अधःप्रवृत्तकरणमें गुणश्रेणि, गुणसंक्रम, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात सम्भव नही है अत. जीव समय-समयप्रति अनन्तगुणे क्रमसहित विशुद्धताकी वृद्धिद्वारा वर्धमान होता है ॥२॥

जो जीव समय-समयप्रति प्रशस्तप्रकृतियोका अनन्तगुणेक्रम से चतु.स्थानिक अनुभागबन्ध करता है और अप्रशस्तप्रकृतियोका अनन्तवे भागरूप क्रमसे द्विस्थानिक बन्ध करता है ॥३॥

पूर्वस्थितिबन्धमेसे पल्यका असंख्यातवाभागमात्र स्थितिबन्ध घटाते हुए एक अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त प्रतिसमय समानबन्ध होता है सो यह एक स्थितिबन्धापसरण हुआ ऐसे सख्यातहजार स्थितिबधापसरण अधःप्रवृत्तकरणमे होते हैं ॥४॥

इसप्रकार स्थितिबंधापसरण होनेसे अधःप्रवृत्तकरणकालमें प्रथमसमयसम्बन्धी जो स्थितिबन्ध है उससे सख्यातगुणा हीन स्थितिबन्ध अन्तसमयमे नियमसे होता है। ऐसे इस अध.प्रवृत्तकरणमे आवश्यक होते हैं ॥५॥

विशेषार्थः—कषायोपशामना (चारित्रमोहोपशामना) अधिकारके पश्चात् चारित्रमोहक्षपणाधिकार प्रारम्भ होता है। दर्शनमोहक्षपणाकी अविनाभावी यह चारित्र-

---

१. ल० सार गाथा ३९ के समान।

२. देखो ल० सार गाथा ४०। तथा ध० पु० ६ पृ० २२३।

मोहक्षपणा है, क्योंकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना क्षपकश्रेणीका आरोहण असम्भव है। दर्शनमोहकी क्षपणा भी अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना पुरस्सरा है अर्थात् अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना हो चुकनेपर ही दर्शनमोहकी क्षपणा सम्भव है, अन्यथा दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ हो नही सकती। इसका कथन दर्शनमोहक्षपणाधिकारमे हो चुका है ग्रन्थविस्तारके भयसे उनका यहां पुन: कथन नही किया गया है। अनन्तानुबन्धीकी विसयोजनासम्बन्धी और दर्शनमोहक्षपणासम्बन्धी क्रियाविशेष समाप्त हो जानेपर क्षपकश्रेणिपर आरोहणके लिए प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमें साता व असाताबन्धके प्रावर्त (परिवर्तन) सहस्रोबार करके प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमे सहस्रोबार गमनागमन करके क्षपकश्रेणिकी प्रायोग्यविशुद्धिसे विशुद्ध होकर क्षपकश्रेणि चढनेवालेके पूर्वमें अध:-करणादि तीन विशुद्धपरिणामकालोकी एक पक्ति होती है, क्योंकि इनके बिना उपशमन व क्षपणक्रियाका होना असम्भव है। अध करणादि तीन विशुद्धपरिणामकालोमे प्रथम अध:प्रवृत्तकरणकाल, द्वितीय अपूर्वकरणकाल और तृतीय अनिवृत्तिकरणकाल है। [1]इन तीनोमेसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। ये तीनोकाल परस्पर सबधित है और ऊर्ध्वरूप एक श्रेण्याकारसे विरचित हैं। दर्शनमोहकी उपशामनामे अध:प्रवृत्तकरण आदिका लक्षण तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओंका कथन किया गया है वैसी ही प्ररूपणा यहा भी करना चाहिए, क्योकि दोनोमे कोई विशेषता नही है, किन्तु क्षपकश्रेणिसे पूर्व उपशामना आदिमें होनेवाले अध प्रवृत्तकरण आदिके कालसे क्षपकश्रेणि सम्बन्धी अध:प्रवृत्तकरण-आदिका काल [2]असख्यातगुणा हीन है, क्योकि खड्गधाराके समान शुद्धतर परिणामोमें चिरकालतक ठहरना सम्भव नही है। उपशामनादिसम्बन्धी परिणामोसे क्षपकश्रेणि-सम्बन्धी परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध पाए जाते है। सातिशयअप्रमत्त नामक सप्तमगुण-स्थानमें क्षपकश्रेणिसम्बन्धी अध:प्रवृत्ताकरण होता है।

---

१. एदासिं च पादेक्कमतोमुहुत्तपमाणावच्छिण्णाण समयभावेणेगसेढीए विरइदाणं लक्खणविहाणं जहा दसणमोहोवसामणाए अधापवत्तादिकरणाणि णिरु भियूण परूविद तहा एत्थ वि परूवियव्व, विसेसाभावादो। णवरि हेट्ठिमासेसकिरियासु पडिबद्धअधापवत्तादिकरणद्धाहिंतो एत्थ-तणअधापवत्तकरणादिअद्धाओ असखेज्जगुणहीणाओ सुद्धयरपरिणामेसु खग्गधारासरिसेसु चिर-कालमवट्ठाणासंभवादो। (जयधवल मूल पृ० १९३९)।

२. किन्तु ध० पु० १२ पृ० ७८ पर गाथा न० ८ में यह काल सख्यातगुणा हीन कहा है।

अध:प्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्ध होता हुआ स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघातके बिना ही अपने कालमें सख्यातहजार स्थितिबधापसरणोंको करता है, अप्रशस्तप्रकृतियोके द्विस्थानिक अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध करता है और प्रशस्तप्रकृतियोका प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणा चतुर्स्थानिक अनुभागबन्ध करता है[1]। इसप्रकार बन्ध करता हुआ अध.प्रवृत्तकरणके कालको क्रमसे व्यतीतकर चरमसमयको प्राप्त होता है। अध प्रवृत्ताकरणके अन्तिमसमयमें 'आत्मविशुद्धिके द्वारा बढता है' इसे आदि करके प्रस्थापनासम्बन्धी निम्न चार गाथासूत्रोकी विभाषा की जाती है[2]।

संकामणपट्ठवगस्स परिणामो केरिसो भवे। जोगे कसाय उवजोगो लेस्सा वेदो य को भवे ॥१॥
काणि वा पुव्वबद्धाणि के वा अंसे णिबंधदि। कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो ॥२॥
के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा। अंतरं वा कहिं किच्चा के के संकामगो कहिं ॥३॥
किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा। ओवट्टेदूण सेसाणि क ठाणं पडिवज्जदि[3] ॥४॥

अर्थ:—सक्रमण प्रस्थापकके अर्थात् कषायकी क्षपणापर आरूढ[4] चारित्रमोहादि कर्मकी प्रकृतियोको अन्य प्रकृतिरूप संक्रमित करता है। उसके परिणाम किसप्रकारके होते हैं? (उसके परिणाम इसप्रकारके होते हैं, ऐसी प्ररूपणाको विभाषा कहते हैं।) उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं और कषायोका क्षपण प्रारम्भ करनेके भी अन्तर्मुहूर्त पहलेसे अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्ध होते आ रहे हैं। शुभपरिणाम कहनेसे अशुभपरिणामका निषेध हो जाता है। शुभपरिणामकी प्रणालीबिना इतने विशुद्धपरिणामोंका होना असम्भव है।

योग कौनसा होता है? कषायोकी क्षपणा करनेवाला चारो मनोयोगोमे से किसी एक मनोयोगवाला अथवा चारो वचनयोगोंमे से एक वचनयोगवाला अथवा औदारिककाययोगी होता है, इन ९ योगोंके अतिरिक्त अन्ययोग सम्भव नही है।

---

१. विसोहीए सुहाणमणुभाग वुड्ढि मोत्तूण पयारतरासभवादो। (जयधवल मूल पृ० १९४१)।

२. जयधवल मूल पृ० १९३९–४०।

३. कुछ पाठान्तरके साथ कषायपाहुड़ सुत्त पृ० ६१४–१५ गा० ९१ से ९४ तक।

४. सकामणपट्ठवगो कसायक्खवणाए आढवगो त्ति वुत्त होदि (जयधवल मूल पृष्ठ १९४१)।

शंका:—क्षपकके मनोयोग तो सम्भव है, क्योंकि छद्मस्थके ध्यानावस्थामें मनकी एकाग्रता होती है, किन्तु चारों वचनयोग कैसे सम्भव है, क्योंकि ध्यानावस्थामें समस्त बहिरङ्गव्यापार रुक जाता है, जिसका वचनप्रवृत्तिके साथ विरोध है।

समाधानः—यह दोष नही है, क्योकि ध्यानयुक्तके भी अवक्तव्यरूपसे वचन-योगकी प्रवृत्तिके विप्रतिषेधका अभाव है। इसीप्रकार औदारिककाययोग भी सम्भव है, क्योंकि ध्यानावस्थामें उसके सम्बन्धसे जीवप्रदेशोंका परिस्पदन संभव है।

कषाय कौनसी होती है? क्रोध-मान-माया और लोभ इन चारकषायरूप परिणामोंमें से किसी एक कषायरूप प्रवृत्तिका विरोध नही है।

शंका:—कषायरूप परिणाम वर्धमान होते हैं या हीयमान होते हैं?

समाधानः—कषायपरिणाम हीन होते हैं, वर्धमान नही, क्योकि विशुद्धपरि-णामोंका वर्धमानकषायपरिणामोसे विरुद्ध स्वभाव है[1]।

उपयोग कौनसा होता है? अर्थात् अर्थग्रहणरूप आत्मपरिणाम उपयोग है, वह साकार व अनाकारके भेदसे दो प्रकारका है। मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवल इन पांचज्ञानरूप व कुमति-कुश्रुत-विभङ्ग इन तीन कुज्ञानरूप इसप्रकार आठभेदवाला साकारोपयोग और चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलरूप चार प्रकारका अनाकार उपयोग होता है। क्षपकश्रेणि चढनेवालेके एक श्रुतज्ञानोपयोग होता है, क्योंकि पृथक्त्ववितर्कवीचार सज्ञक प्रथम शुक्लध्यानके अभिमुख चौदह या दस अथवा नौ पूर्वधारीके श्रुतज्ञानोपयोग अवश्यभावी है। द्वितोय उपदेशानुसार श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन इन चारमे से कोई एक उपयोग होता है, क्योकि वह *अन्तरोय* (*अन्य*) नही है, मात्र कारणरूप है मतिज्ञानके होनेपर चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शनके होनेमे भी कोई विरोध नही आता, क्योंकि चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शनके बिना मतिज्ञान नही हो सकता।

शंका:—मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन इन चार उपयोगोके समान अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञान और अवधिदर्शन भी क्यों नही होते?

समाधानः—ऐसी आशंका नही करनी चाहिए, क्योकि इस सूत्रके द्वारा उनका विरोध कर दिया गया है तथा एकाग्रचितानिरोध लक्षणरूप ध्यानसे अवधिज्ञानादिका विरुद्ध स्वभाव है।

---

१. जयधवल मूल पृ० १६४१–१६४२।

लेश्या कौनसी होती है ? नियमसे शुक्ल ही होती है, क्योंकि सुविशुद्धलेश्या-की कारणभूत मन्दतमकषायके उदयमें शुक्ललेश्याकी प्रवृत्ति पाई जाती है, अन्य लेश्याओकी नही। शुक्ललेश्या भी वर्धमान है हीयमान नही है, क्योकि प्रतिसमय कषायानुभागस्पर्धक अनन्तगुणे हीनरूपसे उदयमेआनेसे शुभलेश्यारूप परिणामोमे वृद्धिके अतिरिक्त हानि होना असम्भव है[1]।

वेद कौनसा होता है ? स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद इन तीनो वेदोंमेसे कोई एक वेद होता है, क्योकि तीनो वेदोके उदयके साथ श्रेणि चढनेके प्रतिषेधका अभाव है अर्थात् तीनो वेदोमे से किसी भी वेदोदयके साथ क्षपकश्रेणि चढ सकता है। इतनी विशेषता है कि द्रव्यसे पुरुषवेदके साथ ही श्रेणि चढ़ सकता है, क्योकि अन्य-द्रव्यवेदके साथ श्रेणि चढनेका विरोध है। यहापर गति आदिकी भी विभाषा करनी चाहिए, क्योकि यह देशामर्सक सूत्र है। इसप्रकार प्रथमगाथाकी विभाषा समाप्त हुई आगे द्वितीयगाथाकी विभाषा इसप्रकार है—

दूसरी प्रस्थापन गाथाका प्रथमपद—कौन-कौनकर्म पूर्वबद्ध हैं ? यहांपर प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्मका अनुमार्गण करना चाहिए। सर्वप्रथम प्रकृतिसत्कर्म अनुमार्गणके लिए यहापर दर्शनमोहनीय, अनन्तानु-बन्धीचतुष्क और तीन आयुके अतिरिक्त शेष कर्मप्रकृतियोका सत्कर्म है। इतनी विशेषता है कि आहारकशरीर व आहारकअङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करप्रकृतिका सत्त्व भजितव्य है, क्योकि इनका सर्व जीवोमे नियमरूपसे होनेका अभाव है। आयुकर्मके अतिरिक्त जिन प्रकृतियोका सत्कर्म है उनका स्थिति सत्कर्म अन्त कोडाकोडीसागर प्रमाण है। अनुभाग-सत्कर्म भी अप्रशस्तप्रकृतियोका द्विस्थानिक और प्रशस्त प्रकृतियोका चतु स्थानिक है। सर्वप्रकृतियोका प्रदेशसत्कर्म अजघन्य-अनुत्कृष्ट है। किन-किन कर्माशोको बाधता है ? यहापर भी प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका अनुमार्गण करना चाहिए[2]। कितनी प्रकृतियां उदयावलीमे प्रवेश करती हैं ? सभी मूलप्रकृतियां उदयावलीमें आती हैं (प्रवेश करती है), किन्तु जो उत्तरप्रकृतियां विद्यमान हैं वे उदय या अनुदय (पर-मुखउदय) स्वरूपसे उदयावलीमे प्रवेश करती है। कितनी प्रकृतियां उदीरणास्वरूपसे उदयावलीमे प्रवेश करती है ? आयु और वेदनीयकर्मको छोड़कर जितने भी वेदन

---

१. जयधवल मूल पृ० १९४३। २. जयधवल मूल पृ० १९४४।

किये जानेवाले (स्वमुख उदयस्वरूप) कर्म हैं वे उदीरणारूपसे उदयावलिमें प्रवेश करते हैं। पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणका तो नियमसे उदय है। निद्रा और प्रचला-का कदाचित् अवक्तव्य उदय है। साता व असातावेदनीयमें से किसी एकका, चार संज्वलनकषायोमें से, तीन वेदोमें से और दोयुगलो (हास्य-रति व अरतिशोक) में से किसी एकका नियमसे उदय है। भय व जुगुप्साका कदाचित् उदय है और कदाचित् उदय नहीं है। मनुष्यायु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर, छह संस्थानो-में से किसी एक संस्थानका, औदारिकशरीरअगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, अगुरुलघु आदि चार (अगुरुलघु-उपघात-परघात-उच्छ्वास) प्रशस्त व अप्रशस्तविहायोगतिमे से किसी एकका, त्रसचतुष्क (त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक), स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग और सुस्वर-दुःस्वरमें से किसी एकका, आदेय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, पांच अन्तराय (दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्यान्तराय) का नियमसे वेदक होता है। यहांपर अन्यप्रकृतियोंका उदय सम्भव नही है। इनमेंसे साता-असाता-वेदनीय और मनुष्यायुको छोड़कर शेषका उदीरक होता है अर्थात् शेष कर्मोंकी उदीरणा होती है[1]।

शंकाः—यहां आयु व वेदनीयकर्मकी उदीरणा सम्भव क्यों नही है ?

समाधानः—नही होती, क्योकि वेदनीय व आयुकर्मकी उदीरणा प्रमत्तसंयत-गुणस्थानसे आगे सम्भव नही है।

(तृतीयगाथा) कौन-कौन कर्मांश बन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा पहले व्युच्छिन्न हो जाते हैं ? यहांपर ज्ञानावरणकर्मकी पांचों प्रकृतियोका बन्ध होता है अतः ज्ञाना-वरणकर्मकी एक भी प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति नही कही गई है। दर्शनावरणकर्मकी स्त्यानगृद्धित्रिककी पूर्वमें ही बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, क्योंकि सासादनसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानके आगे इनका बन्ध असम्भव नही है। वेदनीयकर्ममें से असातावेदनीयकर्मकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, क्योंकि प्रमत्तसंयतगुणस्थानसे ऊपर असातावेदनीयके बन्धका अभाव है। मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, बारहकषाय, अरति, शोक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये १७ प्रकृतियां बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती है, क्योंकि पूर्वमें ही इन प्रकृतियोकी यथा सम्भव अधस्तन गुणस्थानोमें बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। आयुकर्मकी सभी प्रकृतियां

---

१. जयधवल मूल पृ० १९४५।

बन्धसे व्युच्छिन्न हैं, क्योकि उनके बन्धकारणोंको उल्लंघकर क्षपकश्रेणिके अध.प्रवृत्त-करणसम्बन्धी तत्प्रायोग्य विशुद्धिमे वर्तन कर रहा है। नामकर्मकी परिवर्तमान सभी अशुभप्रकृतियोकी पूर्वमे ही बन्धसे व्युच्छित्ति हो जाती है। नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियादि चार जाति, पाच अशुभसस्थान, पांच अशुभसहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति नामकर्मकी ये प्रकृतिया यथासम्भव नीचले गुणस्थानोमे बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं। नामकर्मकी केवल इतनी ही प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति नही होती, किन्तु मनुष्यगतिद्विक, औदारिकद्विक, वज्रवृषभनाराचसहनन इन शुभ प्रकृतियोकी असयतसम्यग्दृष्टियोके भी बधव्युच्छित्ति देखी जाती है। आतप और उद्योत इन दो शुभ प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति यथाक्रम मिथ्यादृष्टि व सासादनगुणस्थानमे हो जाती है। वहांपर (क्षपकश्रेणिमे) नामकर्मकी इतनी प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति पायी जाती है। गोत्रकर्ममे नीचगोत्र बन्धसे व्युच्छिन्न है, क्योकि सासादनगुणस्थानसे आगे इसका बन्ध नही होता है। अन्तरायकर्मकी एकभी प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न नही है। उदयसे व्युच्छिन्नप्रकृतिया निम्नप्रकार हैं– स्त्यानगृद्धित्रिक पूर्वमे ही उदयसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं। यहापर निद्रा और प्रचला उदयसे व्युच्छिन्न नही होतीं, क्योंकि उनका उदय क्षीणकषाय गुणस्थानके द्विचरमसमयतक सम्भव है। शेष मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, १२ कषाय, मनुष्यायुके अतिरिक्त तीन आयु, नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति और इनके प्रायोग्य अर्थात् नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय-विकलेंद्रियजाति, वैक्रियकशरीर, वैक्रियकअंगोपाग, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म-साधारणशरीर, आहारकद्विक, वज्रवृषभनाराचसहननको छोडकर शेष पाचसहनन मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अशुभत्रिक (दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति), अपर्याप्त, नीचगोत्र ये प्रकृतियां उदयसे पूर्वमे ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं[1]। तीर्थङ्करप्रकृतिकी कदाचित् उदयव्युच्छित्ति होती है कदाचित् नही[2]।

कहा पर अन्तरकरके किन-किन कर्मोंको कहां संक्रामण करता है? यह अधःप्रवृत्ताकरणसयत यहां अन्तर नही करता, किन्तु अपूर्वकरणकालको उलंघकर

---

१. कर्मप्रकृतियोका क्षय १४वें गुणस्थान तक है अत: क्षपणाका यह प्रकरण १४वें गुणस्थानतक जानना। इसी अपेक्षा तीर्थङ्करप्रकृतिका स्यात् उदय और स्यात् अनुदय कहा है।

२. जयधवल पृ० १९४६–४७।

अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत होनेपर अन्तर करता है और वही पर चारित्रमोहकी प्रकृतियोका यथावसर सक्रामक होगा।

(चतुर्थगाथा) कषायोंकी क्षपणा करनेवाला किस-किस स्थिति और अनुभाग-विशिष्ट कौन-कौनसे कर्मोका अपवर्तन करके किस-किस स्थानको प्राप्त कराता है, शेष-कर्म किस स्थिति तथा अनुभागको प्राप्त होते हैं ? इस चतुर्थगाथाके द्वारा यह प्रश्न किया गया है कि स्थितिविशेषमे वर्तन करनेवाले कर्मोका अनुभागकाण्डकघात हो जाने-पर अवशेष अनुभाग कितना रह जाता है ? यहां स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डक-घातकी सूचना इस पृच्छा द्वारा की गई है। अध.प्रवृत्तकरणके चरमसमयतक स्थितके स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात सम्भव नही है, किन्तु अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयसे अनन्तरसमयमें अपूर्वकरणके प्रवेश हो जानेपर दोनो काण्डकघातकी प्रवृत्ति होती है।

शङ्का:—यदि ऐसा है तो अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी विशुद्धिकी प्राप्ति निरर्थक हुई, क्योकि स्थिति व अनुभागकाण्डकघातरूप कार्यविशेषकी अनुपलब्धि है।

समाधानः—ऐसी शका नही करना चाहिए, क्योकि स्थिति व अनुभागघातके हेतुभूत अपूर्वकरण परिणामोकी उत्पत्तिमे ये (अध.प्रवृत्तिकरणके) परिणाम निमित्त-रूपसे देखे जाते है। इसप्रकार इन चार मूल गाथाओंकी विभाषामे अधःप्रवृत्तकरणकाल समाप्त हो जाता है[1]।

अथानन्तर अपूर्वकरणका वर्णन करते हैं—

[2]गुणसेढी गुणसंकम ठिदिखंडमसत्थगाण रसखंडं।
विदियकरणादिसमए अण्णं ठिदिबंधमारवई ॥६॥३९७॥

अर्थः—द्वितीय अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागखण्डन होता है तथा अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयमें जो स्थितिबन्ध होता था उससे पल्यके असंख्यातवेभाग मात्र घटते हुए अन्य स्थिति-बन्धको प्रारम्भ करता है, क्योकि यहा एक स्थितिबंधापसरण होनेके कारण इतने प्रमाण स्थितिबन्धको घटाता है।

---

१. जयधवल मूल पृ० १९४१ से १९४८ तक।   २. ल० सा० गा० ५३ के समान।

विशेषार्थः—अधःप्रवृत्तकरण समाप्त होनेके अन्तरसमयमें अपूर्वकरणगुणस्थानमें प्रवेश करता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे स्थिति-काण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ होता है, क्योंकि अपूर्वकरणकी विशुद्धिका स्थिति व अनुभागकाण्डकघातके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है[1]।

[2]गुणसेढीदीहत्तं अपुव्वचउक्कादु साहियं होदि।
गलिदवसेसे उदयावलिबाहिरदो दु णिक्खेओ ॥७॥३९८॥

अर्थः—यहा गुणश्रेणिआयामका प्रमाण अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्प-राय और क्षीणकषाय इन चारों गुणस्थानोके कालसे साधिक है, सो अधिकका प्रमाण क्षीणकषायगुणस्थानके कालके सख्यातवेभागमात्र है अत. उदयावलिसे बाहर गलिताव-शेषरूप जो यह गुणश्रेणिआयाम है उसमे अपकर्षण किये हुए द्रव्यका निक्षेपण होता है।

विशेषार्थ.—परिणामविशेषके कारण असख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यका अप-कर्षण करके गुणश्रेणिआयाममे निक्षेपण करता है[3]।

[4]पडिसमयं उक्कट्टदि असंखगुणिदक्कमेण संचदि य।
इदि गुणसेढीकरणं पडिसमयमपुव्वपढमादो ॥८॥३९९॥

अर्थः—प्रथमसमयमे अपकर्षण किए हुए द्रव्यसे द्वितीयादि समयोमे असंख्यात-गुणा क्रम लीए हुए प्रतिसमय द्रव्यका अपकर्षण करता है और सिंचित अर्थात् उदयावली, गुणश्रेणीआयाम और उपरितनस्थितिमे निक्षेपण करता है। इसप्रकार अपूर्वकरणगुण-स्थानके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय गुणश्रेणि होती है।

पडिसमयमसंखगुणं दव्वं संकमदि अप्पसत्थाणं।
बंधुज्झियपयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु ॥९॥४००॥

अर्थः—अपूर्वकरणगुणस्थानके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय असख्यातगुणे-क्रमसे युक्त (यहा जिनका बन्ध नही होता) अप्रशस्तप्रकृतियोका जो द्रव्य है वह (यहां

---

१ जयधवल मूल पृष्ठ १९४८। २ लब्धिसार गाथा ५३ के समान।
३. जयधवल मूल पृष्ठ १९५१। ४. लब्धिसार गाथा ७४ के समान।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है ऐसी) स्वजातीय प्रकृतियोमें संक्रमण करता है अर्थात् तद्रूप परिणमन कर जाता है ।

विशेषार्थः—यह गुणसङ्क्रमण अबन्धरूप अप्रशस्तप्रकृतियोंका ही होता है, अन्यमें गुणसङ्क्रमणकी प्रवृत्ति असभव है[1] । जैसे—असातावेदनीयप्रकृतिका द्रव्य साता-वेदनीयरूप परिणमन करता है, इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोका भी जानना ।

[2]ओऽवट्टणा जहण्णा आउलियाऊणिया तिभागेण ।
एसा ट्ठिदिसु जहण्णा तहाणुभागे सणंतेसु ॥१०॥४०१॥

अर्थः—जघन्य अपवर्तनाका प्रमाण त्रिभागसे हीन आवलिप्रमाण है । यह जघन्यअपवर्तना स्थितिके विषयमे ग्रहण करना चाहिए, किन्तु अनुभागविषयक जघन्य अपवर्तना अनन्तस्पर्धकोंसे प्रतिबद्ध है ।

विशेषार्थः—यद्यपि इस गाथामे स्थितिसम्बन्धी अपकर्षणकी जघन्यअति-स्थापनाका कथन किया गया है, तथापि देशामर्षक होनेसे स्थिति अपकर्षण-उत्कर्षण-सम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेपका कथन करना चाहिए । अनुभागके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि जबतक अनन्तस्पर्धक अतिस्थापनारूपसे निक्षिप्त नही हो जाते तब तक अनुभागविषयकअपवर्तनाकी प्रवृत्ति नही होती है[3] ।

उदयसे लेकर एकसमय अधिक आवलिप्रमाण स्थितिवाले निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर समयकम आवलिका दो·त्रिभाग ($\frac{2}{3}$) तो अतिस्थापना है और शेष नीचेका समयाधिक आवलिका त्रिभाग निक्षेप है । स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी यह जघन्य-अतिस्थापना व निक्षेपका प्रमाण है । उससे अनन्तरउपरिमनिषेक (उदयावलिके बाहर द्वितीयनिषेक) का अपकर्षण होनेपर निक्षेप तो पूर्ववत् समयकम आवलिके त्रिभागसे

---

१. जयधवल मूल पृ० १९५१ ।

२ यह गाथा क० पा० की गाथा १५२ के समान है तथा यह धवल पु० ६ पृष्ठ ३४६ तथा क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७४ पर भी है । यद्यपि क्षपणासार मे 'उव्वट्टणा' यह पाठ था, किन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है अत: उसके स्थान पर 'ओवट्टणा' यह शुद्ध उक्त आधारसे रखा गया है । ज० ध० मूल पृ० २००२ पर भी यह गाथा दी गई है ।

३. जयधवल मूल पृ० २००२, क० पा० सु० पृष्ठ ७७४ ।

समयाधिक है, किन्तु अतिस्थापना पूर्वसे एकसमय बढ जाती है। उपरितन-उपरितन-स्थितिवाले निषेकोंके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर जघन्यनिक्षेपको अवस्थितकरके अति-स्थापना एक-एकसमयके क्रमसे तब तक बढानी चाहिए जबतक समयाधिकत्रिभाग निक्षेपके ऊपर एक आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना नहीं हो जाती। उसके पश्चात् आवलिप्रमाण अतिस्थापनाको अवस्थितकरके एक-एकसमयके प्रमाणसे निक्षेपको तब तक बढाना चाहिए जबतक उत्कृष्टनिक्षेप हो जावे। उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण समयाधिक दो आवलिकम उत्कृष्टस्थितिप्रमाण है जो इसप्रकार है– कषायकी उत्कृष्टस्थिति चालीसकोडाकोड़ोसागरप्रमाण बांधकर पुनः बधावलिकाल वितानेपर ४० कोड़ाकोड़ी-सागरकी उत्कृष्टस्थिति एक आवलिप्रमाण कम होगई। बधावलिके व्यतीत हो जानेपर अग्रस्थितिके द्रव्यको अपकर्षणकर अग्रस्थितिके नीचे एक आवलिप्रमाण अतिस्थापना छोड़कर नीचे उदयस्थितिपर्यन्त वह अपकर्षण किया हुआ द्रव्य दिया जाता है। इस-प्रकार बन्धावलि, अग्रस्थिति, अतिस्थापनावलि अर्थात् समयाधिक दो आवलिप्रमाणको कर्मस्थितिमेसे कम करनेपर स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण होता है[1]।

मानाकि उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण १००० समय है, आवलिका प्रमाण १६ समय है। स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप व अतिस्थापना इसप्रकार है—उदया-वलिके १६ समय, उदयावलिके अनन्तर ऊपर १७वे निषेकका अपकर्षणकरके उदयावलिमें देना है। एकसमयकम आवलि (१६–१=१५) का दो त्रिभाग ($१५ \times \frac{२}{३}$) १० समय अर्थात् ७वें निषेकसे १६ वें निषेकतक अतिस्थापना है और एकसमय अधिक त्रिभाग ($१५ \times \frac{१}{३} + १ = ६$) ६ समय निक्षेप है अर्थात् प्रथमनिषेकसे छठे निषेकतक निक्षप है। १८वें समयसम्बन्धी निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर पूर्ववत् प्रथम ६ निपेक तो निक्षेप हैं और ७वें निषेकसे १८वें निषेकतक ११ निषेक अतिस्थापनारूप हैं। इसी-प्रकार १९वे निषेकका अपकर्षण होनेपर १२ निषेक और २०वे निषेकका अपकर्षण होनेपर १३ निषेक अतिस्थापनारूप होते है, किन्तु निक्षेप पूर्ववत् ६ समय ही है। इस-प्रकार एक-एकसमय बढते २३वे निषेकसम्बन्धी द्रव्यका अपकर्षण होनेपर अतिस्थापना १६ समयप्रमाण एकआवलि हो जाती है, किन्तु निक्षेप प्रथम ६ समय प्रमाण है। २४वे निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर अतिस्थापना तो पूर्ववत् १६ समयप्रमाण और निक्षेप एकसमय बढ जाता है अर्थात् प्रथमसात निषेकोमें द्रव्यसिंचित किया जाता है। इसके

---

१. जयधवल मूल पृ० २००२–२००४ तक।

आगे अतिस्थापनाका प्रमाण तो अवस्थित उपरितनएकआवलिप्रमाण है और निक्षेप एक-एकसमय बढ़ता जाता है।

उत्कृष्ट निक्षेप—उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण १००० समय है। १६ समय बन्धावलिके व्यतीत होनेपर स्थिति १०००−१६=९८४ समयप्रमाण शेष रह जाती है। ९८४वे समयवाले निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर ९७८ से ९८३ तक १६ निषेक तो अतिस्थापनारूप हैं और प्रथमनिषेकसे ९७७ निषेकतक निक्षेप हैं। यह उत्कृष्ट निक्षेपकी अङ्कसन्दृष्टि है।

शंकाः—क्षपकश्रेणिके कथनमे सांसारिक अवस्थाके उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण बतलाना असम्बद्ध है। फिर क्यो यह कथन किया गया ?

समाधानः—प्रसङ्गवश अपकर्षणसम्बन्धी यह कथन किया गया। इस प्ररूपणामें कोई दोष नही है। यहां अल्पबहुत्व इसप्रकार है—[1]एकसमयकम आवलिके तृतीय-भागसे एक समयाधिक (६) जघन्यनिक्षेपका प्रमाण है जो सबसे स्तोक है, इससे अधिक जघन्यअतिस्थापना है जिसका प्रमाण एकसमयकमआवलिके दो त्रिभाग (१०) है। इससे विशेष अधिक उत्कृष्ट अतिस्थापनावलि (१६) प्रमाण है। उत्कृष्टनिक्षेप इससे असंख्यातगुणा है, क्योकि वह समयाधिक दोआवलिकम उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है।

अनुभागविषयक अपकर्षणसम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट निक्षेप व अतिस्थापना-का प्रमाण जानना चाहिए। स्थिति-अनुभागविषयक उत्कर्षणसम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेपका कथन आगे किया जावेगा अतः यहां नही किया है।

[2]संकामेदुक्कड्डुदि जे अंसे ते अवट्ठिदा होंति।
आवलियं से काले तेण परं होंति भजिदव्वा ॥११॥४०२॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २००४।

२. यह गाथा क० पा० की १५३ वी गाथाके समान है, किन्तु 'दुक्कट्टदि' और 'भजियव्व' के स्थान पर क्रमशः दुक्कड्डुदि' और 'भजिदव्वा' पाठ है जो शुद्धप्रतीत होते हैं अतः यहा शुद्धपाठ क० पा० के अनुसार ही प्रयुक्त किये है। यह गाथा धवल पु० पृष्ठ ३४६ पर भी पाई जाती है। तथा जयधवल मूल पृष्ठ २००५, क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७७ पर भी है।

अर्थ.—जो कर्मप्रदेश सक्रमित व उत्कर्षित किये जाते है वे एक आवलिकालतक अवस्थित रहते हैं उसके पश्चात् अनन्तरसमयमे भजितव्य है ।

विशेषार्थः—पर प्रकृतिमे संक्रामित प्रदेशाग्र तथा स्थित व अनुभागकी अपेक्षा उत्कर्षित प्रदेशाग्र आवलिप्रमाण कालतक निरुपक्रमभावसे अवस्थित रहते है । आवलिमात्र कालतक अन्यक्रियारूप परिणामके बिना जहापर जिसरूपसे प्रदेशाग्र निक्षिप्त किये जाते हैं वहांपर उसीरूपसे निश्चलभावसे अवस्थित रहते हैं । आवलिकाल व्यतीत होनेके अनन्तर समयमे या उससे ऊपरवर्ती समयोमे भजितव्य होते है । सक्रमावलिप्रमाणकाल के व्यतीत हो जानेपर उसके अनन्तरवर्ती वे कर्मप्रदेश सक्रमण, उत्कर्षण, वृद्धि-हानि व अवस्थित क्रियाके लिए भजितव्य हैं, क्योंकि आवलिकालके पश्चात् तद्रूप प्रवृत्तिके प्रतिषेधका अभाव है ।

जो प्रदेशाग्र परप्रकृतिरूपसे सक्रमण करते हैं वे आवलिकालपर्यन्त अपकर्षण, उत्कर्षण व सक्रमणके लिए शक्य नही है । जो प्रदेशाग्र स्थिति या अनुभागमे उत्कर्षण को प्राप्त होते हैं वे भी आवलिकालतक अपकर्षण, उत्कर्षण या सक्रमणके लिए शक्य नही है । आवलिकालपर्यन्त निरुपक्रमभावके पश्चात् अपकर्षण आदि क्रियाके लिए भजितव्यभावकी प्ररूपणा मन्दबुद्धिवालोको समझानेके लिए की गई है[1] ।

[2]ओक्कड्डदि जे अंसे से काले ते च होंति भजिदव्वा ।
वड्ढीए अवट्ठाणे हाणीए संकमे उदए ॥१२॥४०३॥

अर्थः—जो कर्मप्रदेशाग्र अपकर्षित किये जाते हैं वे अनन्तर अगले समयमें वृद्धि-हानि, अवस्थान, सक्रमण व उदयके लिए भजितव्य हैं ।

विशेषार्थः—उत्कर्षित प्रदेशाग्र या परप्रकृतिरूप संक्रमितप्रदेशाग्र आवलिप्रमाण कालतक निरुपक्रम भावसे अवस्थित रहते है ऐसा नियम है, किन्तु ऐसा नियम अपकर्षितप्रदेशाग्र सम्बन्धमें नही है । अपकर्षितप्रदेशाग्र दूसरे समयमे ही सक्रमण व

---

१. जयधवल मूल पृ० २००५ ।

२. यह गाथा कषायपाहुडकी १५४वी गाथा है (क० पा० सु० पृष्ठ ७७७ व धवल पु० ६ पृष्ठ ३४७). किन्तु वहा 'उक्कट्टदि' व 'अवठाण' के स्थानपर क्रमशः 'ओक्कड्डदि' और 'अवट्ठाणे' ये पाठ दिये गए हैं जो कि शुद्ध प्रतीत होते हैं अत. उन शुद्ध पाठोको ही यहापर रखा गया है ।

उदीरणा होना सम्भव है अर्थात् जिन कर्मप्रदेशाग्रोंका स्थिति व अनुभागमें अपकर्षण होता है वे अनन्तरसमयमें ही वृद्धि हानि-अवस्थान व सक्रमणके लिए भजनीय है, अनन्तरसमयमें अपकर्षितप्रदेशाग्रमेसे कुछ तो पुनः अपकर्षित हो जाते है अपकर्षण नहीं होता, कुछ प्रदेशाग्रोकी वृद्धि होती है और कुछकी वृद्धि नहीं होती। अपकर्षित-प्रदेशाग्रोमेसे कुछ प्रदेशाग्र अपने स्थानपर स्थित रहते हैं और कुछ अन्यक्रियाको प्राप्त हो जाते है। इसीप्रकार सक्रमण व उदयके विषयमे भी योजना करनी चाहिए। अप-कर्षितप्रदेशाग्रकी दूसरे समयमे पुनः अपकर्षण आदिरूप प्रवृत्ति होनेमे कोई बाधा नहीं है। कर्म प्रदेशाग्रका स्थितिमुखसे या अनुभागमुखसे ही अपकर्षण होता है, अन्यप्रकारसे अपकर्षण नही होता, ऐसा जानना चाहिए[1]।

[2]एक्कं च ट्ठिदिविसेसं तु असंखेज्जेसु ट्ठिदि विसेसेसु।
वड्ढेदि हरस्सेदि व तहाणुभागे सणंतेसु ॥१३॥४०४॥

अर्थः—एक स्थितिविशेषको असख्यात स्थितिविशेषोमे बढ़ाता भी है और घटाता भी है। इसीप्रकार अनुभागविशेषको अनन्त अनुभागस्पर्धकोमे बढाता और घटाता है।

विशेषार्थः—एकस्थितिविशेषके उत्कर्षण होनेपर असंख्यात स्थितिविशेषोमें वृद्धि होती है, क्योकि उत्कर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप भी आवलिके असख्यातवेभाग है उससे कममे नही। एक स्थितिविशेषके अपकर्षण होनेपर असख्यातस्थितिविशेषोमे ह्रास होता है इससे कममे नही। गाथा अनुसार अपकर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप भी आवलीका तृतीयभाग है। अनुभागसम्बन्धी स्पर्धककी एकवर्गणामे उत्कर्षण या अप-कर्षण होनेपर नियमसे अनन्त अनुभागस्पर्धकोमे वृद्धि या ह्रास होता है। इससे अनु-भागविषयक अपकर्षण-उत्कर्षणमें जघन्य व उत्कृष्ट निक्षेपका प्रमाण बतलाया गया है।

स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिसे एसकमय अधिक स्थितिबन्ध होनेपर, स्थिति-सत्कर्मकी अग्रस्थितिका उत्कर्षण नही होता, क्योकि अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव

---

१. जयधवल मूल पृ० २००६।

२. यह गाथा कसायपाहुडकी गाथा १५६वी के समान है (क० पा० सु० पृष्ठ ७७८ व धवल पु० ६ पृष्ठ ३४७), किन्तु क० पा० सु० मे 'ठिदि' और 'रहस्सेदि' के स्थानपर क्रमशः 'ट्ठिदि' और 'हरस्सेदि' पाठ है अतः क० पा० के आधारसे ही पाठ परिवर्तित किया गया है।

होनेसे उत्कर्षण होनेका विरोध है। इसीकारणसे दोसमय आदि अधिक-अधिक स्थिति-बन्ध होनेपर उत्कर्षण नही होता। आवलिप्रमाण अधिक स्थितिबन्ध होनेपर स्थिति-सत्कर्मकी अग्रस्थितिका उत्कर्षण नही होता, क्योकि जघन्य अतिस्थापना होते हुए भी निक्षेपका अभाव होनेसे उत्कर्षणका प्रतिषेध है। यदि स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिसे एकआवलि और एकआवलिके असख्यातवेभागअधिक स्थितिका बन्ध हो तो अग्रस्थिति-का उत्कर्षण हो सकता है, क्योकि अग्रस्थितिका उत्कर्षण होनेपर आवलिप्रमाण जघन्य अतिस्थापना करके आवलिके असख्यातवेभागप्रमाण जघन्य निक्षेपमे निक्षिप्त होता है और यह निक्षेप आवलिके असख्यातवेभागको आदि करके एक-एकसमय वृद्धिसे निरन्तर उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त होनेतक बढता है। स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिकी अपेक्षा ओघ-उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त नही होता, किन्तु उदयावलिसे बाहर अनन्तरस्थितिके प्रदेशाग्रका उत्कर्षण होनेपर उत्कृष्टनिक्षेपका ग्रहण करना चाहिए, क्योकि उसीमे ओघउत्कृष्ट-निक्षेप सभव है अर्थात् जघन्यनिक्षेपसे लेकर उत्कृष्टनिक्षेपतक सर्वस्थान निक्षेप स्वरूप हैं।

सर्व कर्मोका अपना-अपना उत्कृष्टस्थितिबन्ध होनेपर आगमअविरोधसे उत्कृष्ट-निक्षेप सम्भव है, किन्तु उदाहरणरूपसे कषायके उत्कृष्टनिक्षेपका कथन इसप्रकार है— ४० कोडाकोड़ीसागरप्रमाण कषायकी उत्कृष्टस्थितिबन्ध होनेपर एकसमय अधिक आवलि और चारहजारवर्षकम ४० कोड़ाकोड़ीप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप है। कषायका उत्कृष्टस्थिति-बन्ध करके बन्धावलि व्यतीतकर अन्तिम निषेकमेसे प्रदेशाग्रका अपकर्षणकर नीचे निक्षिप्त करता है। इसप्रकार निक्षिप्यमान उदयावलिसे बाहर द्वितीयस्थितिमे निक्षिप्त प्रदेशाग्रको उत्कर्षण करनेके लिए ग्रहण करता है। उस प्रदेशाग्रको तदनन्तर समयमें बन्ध होनेवाली ४० कोड़ाकोडीसागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिके ऊपर उत्कर्षण करता हुआ ४००० वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आबाधाकालका उल्लंघनकरके इससे उपरिमनिषेकस्थितियो मे ही निक्षिप्त करता है। इसप्रकार उत्कृष्ट आबाधाकालसे हीन ४० कोडकोड़ीसागर-प्रमाण चारित्रमोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति ही उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण होता है, किन्तु एकसमयाधिक बन्धावलिकालसे उक्त कर्मस्थितिको कमकरना चाहिए, क्योकि निरुद्ध समयप्रबद्धकी सत्त्वस्थितिका समयाधिक बन्धावलिकाल प्रमितकाल नीचे ही गल चुका है। इसप्रकार समयाधिक आवलि और ४००० वर्षोंसे हीन ४० कोड़ा-कोडीसागरोपम उत्कृष्ट निक्षेपका प्रमाण है शेष अनुत्कृष्ट निक्षेपस्थानोको उपायविधिसे जानना चाहिए।

आबाधाकालसे ऊपर जितनी भी स्थितियां हैं उनका उत्कर्षण होनेपर जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अतिस्थापनावलि प्रमाण है, क्योकि अन्य प्रकार होना असम्भव है। आबाधाकालसे अधस्तनवर्ती सत्कर्म स्थितियोंका उत्कर्षण होनेपर अतिस्थापना किसी स्थितिकी तो एकआवलि, किसी स्थितिकी एकसमय अधिक आवलि, किसी स्थितिकी दो समय अधिक आवलि और किसीकी तीनसमय अधिक आवलि है। इसप्रकार निरन्तर एकसमय अधिकतक बढना चाहिए जबतक उदयावलिसे बाहर अनन्तरस्थितिकी सर्वोत्कृष्ट अतिस्थापना प्राप्त नही होती।

शंका:—उत्कृष्ट अतिस्थापनाका प्रमाण कितना है?

समाधान:—जिसकर्मकी जो उत्कृष्ट आबाधा है वह एकसमय अधिक आवलिसे हीन आबाधा उस कर्मकी उत्कृष्ट अतिस्थापना है। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर उत्कृष्ट आबाधा होती है और उसीके एकसमयअधिक आवलिकम उत्कृष्टआबाधा ही उत्कृष्टअतिस्थापना होती है। उदयावलिसे बाहर अनन्तर स्थितिका उत्कर्षण होनेपर उत्कृष्टअतिस्थापना प्राप्त होती है[1]।

क्षपककी प्ररूपणाके अवसरमे संसारअवस्थासम्बन्धी उत्कर्षणकी अर्थपद प्ररूपणा की गई है, क्योकि क्षपकश्रेणिमे सत्कर्मसे अधिक स्थितिबन्ध न होनेसे उत्कर्षण प्ररूपणा सम्भव नही है[2]। जिसप्रकार उत्कर्षण-विषयक जघन्य-उत्कृष्टनिक्षेप और अतिस्थापनाका प्रमाण बतलाया है, उसीप्रकार अपकर्षणसम्बन्धी निक्षेप और अतिस्थापनाका भी जान लेना चाहिए। अब उन्ही उत्कर्षण-अपकर्षणसम्बन्धी अल्पबहुत्वको कहते है—

(१) उत्कर्षण की जानेवाली स्थितिका जघन्यनिक्षेप सबसे स्तोक है, क्योकि वह आवलिके असख्यातवेंभागप्रमाण है। (२) इससे अपकर्षणकी जानेवाली स्थितिका जघन्य निक्षेप असख्यातगुणा है, क्योंकि उसका प्रमाण एकसमय अधिक आवलिका त्रिभाग प्रमाण है। (३) इससे अपकर्षणसम्बन्धी जघन्यअतिस्थापना कुछकम दोगुणी है, क्योंकि इसका प्रमाण एकसमयकम आवलिका दो त्रिभाग है और जघन्यनिक्षेपका प्रमाण समयाधिक त्रिभाग प्रमाण है इसलिए जघन्य अतिस्थापना दो समयकम दुगुणी है अतः विशेष अधिक है[3]। (४) अपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्ट अतिस्थापना और निर्व्या-

१ जयधवल मूल पृष्ठ २००७ से २०११ तक। २. जयधवल मूल पृष्ठ २००८।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०११।

घातकी अपेक्षा उत्कर्षण सम्बन्धी जघन्यअतिस्थापना ये दोनो परस्परतुल्य होते हुए भी पूर्वसे विशेष अधिक हैं, क्योकि वे दोनो आवलिप्रमाण है और समय अधिक आवलिके त्रिभाग प्रमाण पूर्वसे विशेष अधिक है। (५) उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्ट अतिस्थापना संख्यातगुणी है, क्योकि इसका प्रमाण समयाधिक आवलिकम उत्कृष्ट आबाधा है । (६) व्याघातकी अपेक्षा अपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टअतिस्थापना असख्यातगुणी है, क्योकि वह एकसमयकम उत्कृष्टस्थितिकाण्डकप्रमाण है। (७) उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेप विशेष अधिक है। विशेषका प्रमाण अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर है, क्योकि इसका प्रमाण समय अधिक आवली और उत्कृष्ट आबाधासे हीन ४० कोड़ाकोड़ी सागरोपममात्र उत्कृष्टस्थिति है। (८) अपकर्षणविषयक उत्कृष्टनिक्षेप विशेष अधिक है। विशेषका प्रमाण सख्यातावलि हैं, क्योकि यहापर एकआवलिसे हीन उत्कृष्ट आबाधाका प्रवेश सम्मिलित हो जाता है। (९) उत्कृष्टस्थिति एकसमयअधिक दोआवलिप्रमाण विशेष अधिक है, क्योकि समयाधिक अतिस्थापनावलिके साथ बन्धावलि भी सम्मिलित हो जाती है[1]।

[2]पल्लस्स संखभागं वरं पि अवरादु संखगुणिदं तु ।
पढमे अपुव्वखवगे ठिदिखंडपमाणयं होदि ॥१४॥४०५॥

अर्थः—क्षपक अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिखण्ड अर्थात् स्थितिकाण्डकायामका जघन्य और उत्कृष्टप्रमाण यद्यपि पल्यके सख्यातवेंभागमात्र है तथापि जघन्यसे उत्कृष्टका प्रमाण सख्यातगुणा है।

विशेषार्थः—जिसके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है उसके जघन्यस्थितिकाण्डकघात होता है और सख्यातगुणे स्थितिसत्कर्मवालेके उत्कृष्टस्थितिकाण्डकघात होता है। यद्यपि जघन्यस्थितिकाण्डकघातसे उत्कृष्टकाण्डकघात सख्यातगुणा है तथापि दोनोंका प्रमाण पल्योपमका सख्यातवाभाग है[3]। जिसप्रकार दर्शनमोहकी उपशामनामें, दर्शनमोहकी क्षपणामें तथा कषायोपशामनामें (उपशमश्रेणी) अपूर्वकरणका प्रथमस्थिति-

---

१. जयधवल मूल पृ० २०१२।

२. देखो धवल पु० ६ पृष्ठ ३४४, जयधवल मूल पृ० १९४९, क० पा० सु० पृष्ठ ७४१-४२।

३. क० पा० सुत पृष्ठ ७४१ सूत्र ४६।

काण्डकघात जघन्यसे पल्योपमका संख्यातवांभाग और उत्कृष्टसे सागरोपम पृथक्त्व-प्रमाण होता है। इसीप्रकार असयत, सयतासंयत् व संयतके अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना-सम्बन्धी अपूर्वकरणका प्रथमस्थितिकाण्डकघात जघन्यसे पल्योपमका संख्यातवांभाग और उत्कृष्ट सागरोपमपृथक्त्व होता है, किन्तु चारित्रमोह क्षपणाके अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकघात जघन्य और उत्कृष्ट दोनो ही पल्योपमका सख्यातवांभागप्रमाण होकर भी जघन्यसे उत्कृष्टका प्रमाण सख्यातगुणा है।

क्षपकश्रेणि अपूर्वकरणमें दो व्यक्तियोने एक साथ प्रवेश किया। उनमें एकके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है और दूसरेका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है। जिसके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है उसके प्रथमस्थितिकाण्डकसे, सख्यातगुणे स्थितिसत्कर्म-वालेका प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातगुणा है[1]। एक तो दर्शनमोहका क्षपण करके उपशमश्रेणि चढकर पुनः क्षपकश्रेणिसम्बन्धी प्रथमसमयवर्ति अपूर्वकरण हुआ और दूसरा उपशमश्रेणि चढा पुनः वहांसे उतरकर दर्शनमोहका क्षयकरके क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ हो प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण हुआ, इनमेसे पहलेकी अपेक्षा दूसरे व्यक्तिका स्थिति-सत्कर्म सख्यातगुणा हीन है। अथवा एक दर्शनमोहका क्षयकरके क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हुआ और दूसरा दर्शनमोहका क्षयकर उपशमश्रेणीपर चढ़कर क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हुआ; प्रथमकी अपेक्षा द्वितीयका स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणाहीन है और प्रथमका सख्यात-गुणा है, क्योंकि इसके उपशमश्रेणिसम्बन्धी स्थितिघातका अभाव है। जिसके स्थिति-सत्कर्म सख्यातगुणा हीन है उसके प्रथमस्थितिकाण्डकघातसे दूसरेका प्रथमस्थितिकाण्डक-घात सख्यातगुणा है, क्योकि स्थितिसत्कर्मके अनुसार स्थितिकाण्डकघातकी प्रवृत्ति होनेमे कोई बाधा उपस्थित नही होती। इसीप्रकार, द्वितीय, तृतीयादि अपूर्वकरणके चरमस्थितिकाण्डकतक जघन्यसे उत्कृष्ट संख्यातगुणा जानना चाहिए। यदि स्थिति-सत्कर्म एक दूसरेसे विशेषहीन व विशेष अधिक है तो अपूर्वकरणमें स्थितिकाण्डकघात भी विशेष हीन व विशेष अधिक होता है।

अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें पल्यके सख्यातवेंभाग प्रमाणवाला स्थितिकाण्डक-घात, अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनन्तबहुभागवाला अनुभागकाण्डकघात और पल्यके संख्यातवें-भाग प्रमाणवाला स्थितिबन्धापसरण होता है। अधःप्रवृत्तकरणके चरमस्थितिबन्धसे अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे अन्यस्थितिबन्ध पल्यके संख्यातवेभाग हीन होता है। अपूर्व-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४१ सूत्र ४७। जयधवल मूल पृ० १९४९।

करणके प्रथमसमयमे परिणामविशेषके कारण असंख्यातसमयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्यका अपकर्षणकर उदयावलिसे बाहर अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणकषायके कालोसे विशेष अधिककालमें गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता है न बधनेवाले अप्रशस्तकर्मोका गुणसंक्रमण होता है। अपूर्वकरणके द्वितीयादि समयोमें गुणश्रेणि असंख्यातगुणी है, क्योकि जितने द्रव्यका प्रथमसमयमें अपकर्षण किया था; द्वितीयादि समयोमे असंख्यातगुणेक्रमसे द्रव्यका अपकर्षणकर; शेष-शेष (गलितावशेष) गुणश्रेणि आयाममे निक्षेप करता है, विशुद्धि भी प्रतिसमय अनन्तगुणे क्रमसे बढती है, प्रथमसमयमे अन्य कोई विशेषता नही है। यह क्रम प्रथम अनुभागकाण्डकके समाप्त होने तक है। अनन्तर अगले समयमें शेष अनुभागका अनन्त बहुभाग घातनेके लिए अन्य अनुभागकाण्डकको प्रारम्भ करता है इसप्रकार प्रथमस्थितिकाण्डक कालके भीतर अन्य-अन्य संख्यातहजार अनुभागकाण्डकघात होते हैं[1]।

[2]आउगवज्जाणं ठिदिघादो पढमादु चरिमठिदिसंतो।
ठिदिबंधो य अपुव्वे होदि हु संखेज्जगुणहीणो ॥१५॥४०६॥

अर्थः—आयुकर्म बिना शेष सातकर्मोका स्थितिकाण्डकायाम, स्थितिसत्त्व और स्थितिबन्ध ये तीनो अपूर्वकरण के प्रथमसमयमे जो पाये जाते हैं उनसे अपूर्वकरणके चरमसमयमे संख्यातगुणे कम होते हैं।

विशेषार्थः—प्रत्येक स्थितिकाण्डकघातमे स्थितिसत्कर्म हीन होता जाता है। स्थितिकाण्डकायाम (एकस्थितिकाण्डकघातके द्वारा जितनी स्थितिका घात होता है वह स्थितिकाण्डकायाम है) स्थितिसत्त्वका अनुसरण करनेवाला है। स्थितिकाण्डकघात द्वारा स्थितिसत्कर्मकी हानि होनेपर स्थितिकाण्डकायाम भी हीन होता जाता है। प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणके द्वारा स्थितिबन्ध घटता जाता है। अपूर्वकरणकालमे हजारो स्थितिकाण्डकघात व स्थितिबन्धापसरण होते हैं अतः अपूर्वकरणके चरमसमयमें इन हजारो स्थितिकाण्डकघात द्वारा स्थिति सत्कर्मका घात होकर संख्यातगुणा हीन रह जाता है, स्थिति सत्कर्मका अनुसरण करनेवाला स्थितिकाण्डकायाम भी संख्यातगुणा

---

1. यह विशेषार्थ जयधवल मूल पृ० १९४८-१९५२ के आधारसे लिखा गया है।
2. जयधवल मूल पृष्ठ १९५०। यह गाथा लब्धिसारकी गाथा ७८ के समान है।

हीन हो जाता है। हजारों स्थितिबन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध विशेष हीन होता हुआ अपूर्वकरणके चरमसमयमें स्थितिबन्ध भी सख्यातगुणा हीन होने लगता है[1]।

[2]अंतोकोड़ाकोड़ी अपुव्वपढमम्हि होदि ठिदिबंधं
बंधादो पुण सत्तं संखेज्जगुणं हवे तत्थ ॥१६॥४०७॥

अर्थः—अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण अर्थात् पृथक्त्वलक्षकोटिसागर प्रमाण है तथा स्थितिसत्त्व भी यद्यपि अन्तःकोटाकोटी प्रमाण है तथापि स्थितिबन्धसे सख्यातगुणा है।

विशेषार्थः—क्षायिकसम्यग्दृष्टिके स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण हो जाता है, किन्तु बन्धसे सत्त्व संख्यातगुणा होता है वही प्रवृत्ति यहांपर भी पाई जाती है।

[3]एक्केक्कट्ठिदिखंडयणिवडणठिदिओसरणकाले ।
संखेज्जसहस्साणि य णिवडंति रसस्स खंडाणि ॥१७॥४०८॥

अर्थः—एक-एक स्थितिखण्डके पतन होनेमें अथवा एक स्थितिबन्धापसरणके कालमें संख्यातहजार अनुभागकाण्डकका पतन होता है।

विशेषार्थः—एकस्थितिकाण्डकका काल और एक स्थितिबन्धापसरणकाल समान होते है। स्थितिकाण्डककी अन्तिमफालिका पतन होनेपर स्थितिकाण्डककाल समाप्त होता है और अन्तिमफालिके पतन होनेपर ही स्थितिघात होता है, द्विचरमफालि के पतन होने तक स्थितिघात नहीं होता इसीप्रकार एक स्थितिबन्धापसरणके प्रथमसमय जितना स्थितिबन्ध प्रारम्भ किया था उतना ही स्थितिबन्ध चरमसमयपर्यन्त होता रहता है। स्थितिबन्धापसरणके चरमसमयके पतन होनेपर, अन्य स्थितिबन्ध स्थिति घटकर होने लगता है। एकस्थितिकाण्डक और एकस्थितिबन्धापसरण इन दोनोंका काल तुल्य है।

---

१. ज० ध० मूल पृष्ठ १९५१।

२. धवल पु० ६ पृष्ठ ३४५; क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४२ सूत्र ५५। ज० ध० मूल पृष्ठ १९५१।

३. यह गाथा ल० सार गाथा ७९ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ २२८; ज० ध० मूल पृष्ठ १९५२।

अपूर्वकरणके प्रथम अनुभागकाण्डकका अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जानेपर तदनन्तर समयमें अन्य अनुभागकाण्डक प्रारम्भ हो जाता है जिसके द्वारा पूर्वघातित शेष अनुभागके अनन्त बहुभागका घात होता है। प्रथमस्थितिकाण्डक कालके भीतर पुन. पुनः संख्यातहजार अनुभागकाण्डकके पतनके साथ अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिकाण्डकका और प्रथमस्थितिबन्धापसरणका भी पतन होता है। इसप्रकार तीनोका पतन एक साथ होता है अर्थात् तीनोका पतन समकालीन है[1]।

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा रसस्स खंडाणि।
सुहपयडीणं णियमा णत्थित्ति रसस्स खंडाणि ॥१८॥४०९॥

अर्थः—अशुभ प्रकृतियोके अनुभागकाण्डकका प्रमाण अनन्तबहुभागमात्र है तथा प्रशस्तप्रकृतियोका अनुभागखण्ड नियमसे नही होता है, क्योकि विशुद्धपरिणामोके द्वारा शुभप्रकृतियोका अनुभागघात सम्भव नही है।

विशेषार्थः—पूर्वमे जो अनुभाग था उसको अनन्तका भाग देनेपर उसमेसे बहुभागमात्र प्रथमअनुभागकाण्डकमे घटाता है अवशेष एकभागमात्र अनुभाग रहता है उसको अनन्तका भाग देनेपर उसमेसे बहुभाग द्वितीय अनुभागकाण्डकमें घटाता है, अवशेष एकभागप्रमाण अनुभाग रहता है, यह क्रम अन्तिम अनुभागकाण्डकपर्यन्त क्रम जानना। इसप्रकार अप्रशस्तप्रकृतियोका अनुभागखण्ड करणविशुद्धिके द्वारा यहा होता है। अनुभागकाण्डक सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है—एकप्रदेशगुणहानिस्थानमें स्पर्धक स्तोक है, अतिस्थापना अनन्तगुणी है, निक्षेप अनन्तगुणे, अनुभागकाण्डकके द्वारा घाता जानेवाला अनुभाग अनन्तगुणा है[2]।

पढमे छट्ठे चरिमे भागे दुग तीस चदुर वोच्छिण्णा।
बंधेण अपुव्वस्स य से काले बादरो होदि ॥१९॥४१०॥

अर्थः—अपूर्वकरणके प्रथमभागमे दो प्रकृतियां, छठे भागमें ३० प्रकृतियां और अन्तिमभागमे ४ प्रकृतिया बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्वकरणसे अनन्तरसमयमें बादर साम्पराय होता है।

---

१. जयधवल मूल पृ० १९५२।　　२. जयधवल मूल पृ० १९४८।

विशेषार्थः—हजारों स्थितिबन्धापसरणके व्यतीत हो जानेपर अपूर्वकरणके सातभागोमेसे प्रथमभाग समाप्त होता है उससमय निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है । यह कथन अनुत्पादानुच्छेदकी अपेक्षा है, किन्तु उपपादानुच्छेदकी अपेक्षा प्रथमभागके अन्तसमयमें निद्रा-प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है । प्रथमभागके समाप्त होते ही निद्रा और प्रचलाका गुणसंक्रमण होने लगता है, क्योंकि क्षपक या उपशमश्रेणिमे जिन अप्रशस्तप्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है उनकी गुणसंक्रमणके अतिरिक्त अन्य पर्याय सम्भव नही है । अपूर्वकरणकालके सातभागोंमेसे छह भाग व्यतीत हो जानेपर परभवसम्बन्धी प्रकृतियोकी बन्धसे व्युच्छित्ति हो जाती है ।

शंकाः—परभवसम्बन्धी प्रकृतियां कौन-कौनसी हैं ?

समाधानः—देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास) प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थङ्कर ये तीस प्रकृतियां परभवसम्बन्धी हैं ।

शंकाः—इनकी परभविक संज्ञा क्यों है ?

समाधानः—परभवसम्बन्धी देवगतिके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं, अतः इनकी परभविक संज्ञा है । यशस्कीर्तिका बन्ध भी देवगतिके साथ होता है और उसकी भी परभविक सज्ञा है, किन्तु उसकी बन्धव्युच्छित्ति यहा नही होती, क्योकि यशस्कीर्तिके बन्धके साथ ऊपरितन विशुद्धिका विरोध नही है । यशस्कीर्तिका बंध सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके अन्तसमयपर्यन्त होता है उससे आगे इसके बन्धका अभाव है ।

उसके बाद हजारों स्थितिबन्धापसरण हो जानेपर अपूर्वकरणका चरमसमय प्राप्त होता है । अपूर्वकरणके चरमसमयमें स्थित हास्य, रति, भय और जुगुप्साकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है उसी समय छह नोकषायकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है । उसके अनन्तर समयमे बादरसाम्पराय अर्थात् अनिवृत्तिकरणको प्राप्त हो जाता है ।

अब आगे अनिवृत्तिकरणका कथन करते हैं—

अणियट्टस्स य पढमे अण्णं ठिदिखंडपहुदिमारवई ।
उवसामणा णिधत्ती णिकाचणा तत्थ वोच्छिण्णा ॥२०॥४११॥

अर्थः—अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें अन्य ही स्थितिखण्डादिक प्रारम्भ करता है उनमे अपूर्वकरणके अन्तिम समयवर्ती स्थितिकाण्डकायामसे भिन्न ही स्थितिकाण्डकायाम, इसके पश्चात् अवशिष्ट जो अनुभाग उसका अनन्तबहुभागमात्र अन्य ही अनुभागकाण्डक होता है और अपूर्वकरणके अन्तिमसमयके स्थितिबन्धसे पल्यके सख्यातवें-भागमात्र घटता हुआ अन्य ही स्थितिबन्ध यहां होता है तथा यही अप्रशस्तोपशम, निधत्ति व निकाचनारूप तीन करणोकी व्युच्छित्ति भी हुई है। अतः अब सर्व कर्म उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण करने योग्य हुए हैं।

निवृत्तिः व्यावृत्तिः—परिणामोकी विसदृशता; इसरूप निवृत्ति जिसमे न हो वह अनिवृत्ति कहलाता है। नानाजीवोके एकसमयसम्बन्धी परिणामोंमे व्यावृत्तिका अभाव होनेसे प्रतिसमय एक-एक परिणाम होता है वह अनिवृत्तिकरण है[1]।

बादरपढमे पढमं ठिदिखंडं विसरिसं तु विदियादि।
ठिदिखंडयं समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि ॥२१॥४१२॥
पल्लस्स संखभागं अवरं तु वरं तु संखभागहियं।
घादादिमठिदिखंडो सेसा सव्वस्स सरिसा हु ॥२२॥४१३॥

अर्थः—अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें जो प्रथमस्थितिखण्ड है सो तो विस[दृश] है, नानाजीवोके समान नही है तथा जो द्वितीयादि स्थितिखण्ड हैं वे समानकालमें स[र्व] जीवोके समान हैं। प्रथम स्थितिखण्ड जघन्यसे तो पल्यका सख्यातवांभाग तथा उत्कृ[ष्ट] इससे सख्यातवाभाग अधिक है और अवशेष द्वितीयादि स्थितिखण्ड सभी जीवों[के] समाव हैं।

विशेषार्थः—त्रिकालसम्बन्धी समानसमयवर्ती सर्व अनिवृत्तिकरणवालोंके प[रि]णाम सदृश होते हैं इसलिए प्रथमस्थितिकाण्डकघात सदृश ही होता है ऐसा निश्चय न करना चाहिए, किन्तु प्रथमस्थितिकाण्डकघातमे जघन्य व उत्कृष्टके भेदसे विसदृश सम्भव है। किन्हीके विसदृश होता है और किन्हीके सदृश होता है। जघन्य प्रथ[म] स्थितिकाण्डकघातसे उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डकघात सख्यातवेभाग अधिक है।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ १९५३ व १९५५।

शंका:—सदृश परिणामवाले अनिवृत्तिकरणका प्रथमस्थितिकाण्डकघात विसदृश कैसे सम्भव है ?

समाधान:—सदृश परिणाम होते हुए भी स्थिति सत्कर्ममें विशेषता होनेसे प्रथमस्थितिकाण्डकमें विभिन्नता सम्भव है। दो जीव एक साथ क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ हुए उनमेसे एकका स्थिति सत्कर्म संख्यातभाग अधिक है और दूसरेका संख्यातभागहीन है। जिसका स्थिति सत्कर्म सख्यातभाग अधिक है उसके अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथम-स्थितिकाण्डकघातसे लेकर अनिवृत्तिकरणसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकपर्यन्त सर्वस्थिति-काण्डकघात दूसरे जीवके स्थितिकाण्डकघातोसे संख्यातभाग अधिक होता है। जिसका स्थिति सत्कर्म संख्यातभाग अधिक है उस जीवके अपूर्वकरणके घातसे शेष बचा हुआ स्थिति सत्कर्म जितना विशेष अधिक होता है उसको अनिवृत्तिकरणके प्रथमस्थिति-काण्डकघातद्वारा ग्रहण करता है इसलिए अनिवृत्तिकरणका उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डक-घात संख्यातवांभाग अधिक होता है।

शंका:—यदि किसीका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हो तो उसका प्रथम उत्कृष्ट-काण्डकघात संख्यातगुणा होगा ?

समाधान:—उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातगुणा नहीं हो सकता, क्योंकि संख्यातगुणा स्थितिसत्कर्म असम्भव है।

शंका:—संख्यातगुणास्थितिसत्कर्म असम्भव क्यो है ?

समाधान:—अपूर्वकरणके चरमसमयमें घात किया हुआ स्थितिसत्कर्म जो अवशेष रहता है वह उत्कृष्ट भी जघन्यसे सख्यातवेभाग अधिक होनेका नियम है। इसलिए अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी जघन्यस्थितिकाण्डकसे उत्कृष्टस्थितिकाण्डक संख्यातभाग अधिक है। इसीप्रकार प्रथम अनुभागकाण्डक भी विसदृश होता है।

प्रथमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेपर त्रिकालवर्ति अनिवृत्तिकरणकालमें वर्तन करनेवाले सर्व जीवोके घातसे शेष बचा हुआ स्थिति सत्कर्म समान ही होता है, क्योंकि समान परिणामके द्वारा घात होकर शेष बचा हुआ है। समान स्थितिसत्कर्म-सम्बन्धी द्वितीयादि स्थितिकाण्डक भी समान होते हैं, क्योंकि कारणकी समानता होने-पर कार्य समान होते हैं, समान कार्यको छोड़कर अन्यकार्य असम्भव है। इसीप्रकार

द्वितीयादि अनुभागकाण्डक भी सदृश होते हैं, क्योंकि द्वितीयादि अनुभागकाण्डकमें नानापन असम्भव है। प्रथमस्थितिकाण्डकके नाश होनेपर अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश हुए तुल्यकाल हुआ है उन सबका स्थितिसत्कर्म तुल्य होता है और एकका द्वितीयस्थिति-काण्डक अन्य सब सामान्यकालवालोंके द्वितीयस्थितिकाण्डकके समान होता है उसके आगे तृतीयादि स्थितिकाण्डक तृतीयादि स्थितिकाण्डकोंके तुल्य होते हैं[1]।

उदधिसहस्सपुधत्तं लक्खपुधत्तं तु बंध संतो य।
अणियट्टीसादीए गुणसेढीपुव्वपरिसेसा ॥२३॥४१४॥

अर्थः—पूर्वमें जो स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोडीसागरप्रमाण था वह अपूर्वकरण में होनेवाले संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरणोसे घटते हुए अनिवृत्तिकरणके प्रथम-समयमे स्थितिबन्ध पृथक्त्वहजारसागरप्रमाण हो जाता है तथा पूर्वमे जो अन्तकोड़ा-कोडीसागरप्रमाण स्थितिसत्त्व था वह अपूर्वकरणमे होनेवाले सख्यातहजार स्थितिकाण्डक-घातोके द्वारा घटते हुए पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण हो जाता है। जघन्य या उत्कृष्ट परिणामोके कारण जो जघन्य या उत्कृष्ट गुणश्रेणीनिक्षेप अपूर्वकरणमे प्रारम्भ किया था वह गुणश्रेणिआयाम अपूर्वकरणका काल व्यतीत होनेके पश्चात् जितना शेष रहा वही यहां जानना। समय-समयप्रति असख्यातगुणे क्रमसहित पूर्ववत् गुणश्रेणी और गुण-सक्रमण वर्तता है। ये सब प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरणके आवश्यक हैं। तदनन्तर-कालमे ये उपर्युक्त ही आवश्यक होते हैं, विशेषता केवल यह है कि यहां गुणश्रेणि असंख्यातगुणी होती है, शेष-शेष (गलितावशेष) मे निक्षेप होता है, विशुद्धि अनन्तगुणी वृद्धिरूप है[2]।

आगे स्थितिबन्धापसरणका क्रम कहते हैं—

[3]ठिदिबंधसहस्सगदे संखेज्जा बादरे गदा भागा।
तत्थासण्णिस्सट्ठिदिसरिसं ठिदिबंधणं होदि ॥२४॥४१५॥

---

१. जयधवल मूल पृ० १९५४।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १९५५। क० पा० सु० पृष्ठ ७४३-४४ सूत्र ७५ से ७७।

३. यह गाथा ल० सा० गाथा २२८ के समान है। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४४ सूत्र ८१।

अर्थः—इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जानेपर अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातबहुभाग तो व्यतीत हो जाते है तथा एकभाग शेष रहनेके अवसरमें असञ्ज्ञी-ञ्चेन्द्रियकी स्थितिके समान स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थः—उपर्युक्त आवश्यकोका पालन करते हुए अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जानेपर प्रथमअनुभागकाण्डक निर्लेपित होता है तथा शेष अनुभागके अनन्तबहुभागको घात करनेवाला अन्य अनुभागकाण्डक होता है अवशिष्ट आवश्यकोमे कोई अन्तर नही होता। सख्यातहजारअनुभागकाण्डकोके व्यतीत हो जानेपर प्रथमस्थितिकाण्डक व प्रथमस्थिति-बन्धापसरण व अन्य अनुभागकाण्डक एकसाथ समाप्त होते है। इसप्रकार अनुक्रम लीये एक स्थितिबन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध घटनेसे एक स्थितिबन्ध होता है ऐसे संख्यात-हजार स्थितिबन्ध होनेपर अनिवृत्तिकरणके कालका सख्यात बहुभाग व्यतीत होनेपर एक भाग अवशेष रहा वहां असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रियके समान स्थितिबन्ध होता है, वह इस-प्रकार है—एक हजारसागरके $\frac{4}{7}$ वां भागमात्र मोहनीयका, $\frac{3}{7}$ वां भाग ज्ञानावरणादि चारकर्मोका और $\frac{2}{7}$ वां भाग नाम-गोत्र कर्मका स्थितिबन्ध होता है। चालीस, तीस व बीस कोड़ाकोड़ीसागर स्थितिकी अपेक्षा चारित्रमोहको चालीसीय, ज्ञानावरणादि चार-कर्मोको तीसीय एव नाम-गोत्रको बीसिय जानना चाहिए[1]।

[2]ठिदिबंधसहस्सगदे पत्तेयं चदुरतियविएइंदी।
ठिदिबंधसमं होदि हु ठिदिबंधमणुक्कमेणेव ॥२५॥४१६॥

अर्थः—पूर्वोक्तक्रम लीये सख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर अनुक्रमसे चतु-रिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके समान स्थितिबन्ध होता है। इनमें चतु-रिन्द्रियके समान तो १०० सागर, त्रीन्द्रियके समान ५० सागर, द्वीन्द्रियके समान २५ सागर, एकेन्द्रियके समान एकसागरका $\frac{4}{7}$ वां भाग मोहनीयका, $\frac{3}{7}$ वां भाग ज्ञाना-वरणादि चार तीसीय कर्मोका, $\frac{2}{7}$ भागमात्र नाम-गोत्र बीसिय कर्मोका स्थितिबंध होता है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीके ७० कोड़ाकोड़ीसागर स्थितिवाले मिथ्यात्वकर्मका क्रमसे एक, पचीस, पचास, सौ और एकहजार सागरका

---

१. जयधवल मूल पृ० १९५६।
२. यह गाथा ल० सा० गाथा २२९ के समान है, किन्तु 'सहस्स' के स्थानपर 'पुधत्त' पाठ है। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४४ सूत्र ८२-८३।

स्थितिबन्ध होता है तो क्रमशः चालीस, तीस व बीस कोड़ाकोड़ीरूप उत्कृष्टस्थितिवाले मोहनीय, ज्ञानावरणादि चार और नाम व गोत्रकर्मका कितना बन्ध होगा ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर पूर्वोक्त स्थितिबन्धका प्रमाण प्राप्त होता है। यही त्रैराशिकक्रम आगे भी जानना[1]।

[2]एइंदियट्ठिदीदो संखसहस्से गदे हु ठिदिबंधे।
पल्लेकदिवड्ढदुगं ठिदिबंधो वीसियतियाणं ॥२६॥४१७॥

अर्थः—एकेन्द्रियके समान स्थितबन्धसे आगे संख्यातहजार स्थितिबन्ध जानेपर नाम-गोत्रका (वीसियका) एक पल्य, तीसीयाकर्मोंका १½ पल्य और मोहनीयका दो पल्य स्थितिबन्ध होता है[3]।

तक्काले ठिदिसंतं लक्खपुधत्तं तु होदि उवहीणं।
बंधोसरणा बंधो ठिदिखंडं संतमोसरदि ॥२७॥४१८॥

अर्थः—उस कालमें कर्मोंका स्थितिसत्त्व पृथक्त्वलक्षसागरप्रमाण होता है सो अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्धसे सख्यातगुणाक्रम जानना "स्थितिवधापसरणके द्वारा स्थितिबन्ध घटता है और स्थितिकाण्डकोसे स्थितिसत्त्वकम होता है" ऐसा सर्वत्र जानना।

विशेषार्थः—जिस समय नाम व गोत्रकर्मका पल्योपमको स्थितिवाला बन्ध होता है उस समय अल्पबहुत्व इसप्रकार है—नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है। इससे पूर्वके स्थितिबन्ध भी इसी अल्पबहुत्व विधानसे व्यतीत होते हैं[4]।

[5]पल्लस्स संखभागं संखगुणूणं असंखगुणहीणं।
बंधोसरणे पल्लं पल्लासंखं असंखवस्संति ॥२८॥४१९॥

---

१. जयधवल मूल पृ० १९५६।
२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३० के समान है। क० पा० सु० पृ० ७४४ सूत्र ८४-८५-८६।
३. जयधवल मूल पृ० १९५६।
४. जयधवल मूल पृष्ठ १९५६-५७। क० पा० सुत पृ० ७४४ सूत्र ८७ से ९३।
५. यह गाथा ल० सा० गा० २३१ के समान है।

अर्थः—अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिबन्धसे जबतक पल्यमात्र स्थितिबन्ध होता है तबतक स्थितिबन्धापसरणका प्रमाण पल्यके संख्यातवेंभाग है उसके पश्चात् पल्यके असंख्यातवेंभागरूप स्थितिबन्धपर्यन्त पल्यके संख्यात बहुभागवाले स्थितिबन्धापसरण होते हैं अर्थात् प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणमें स्थितिबन्ध पल्यका संख्यातबहुभाग घटता हुआ होता है। दूरापकृष्टिसे लेकर जबतक संख्यातहजारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है वहां प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण द्वारा पल्यका असंख्यातबहुभाग घटता स्थितिबन्ध होता है।

एवं पल्लं जादा वीसीया तीसीया य मोहो य।
पल्लासंखं च कमं बंधेण य वीसियतियाओ ॥२६॥४२०॥

अर्थः—इसप्रकार (२० कोड़ाकोड़ीसागरकी स्थितिवाले) बीसीयकर्मोंका पल्यमात्र स्थितिबन्ध होनेतक वीसीयकर्मोंसे डेढगुना तीसीयका और दोगुणा मोहका स्थितिबन्ध है, ऐसा ही क्रम जानना। इसके अनन्तर एक स्थितिबन्धापसरण होनेसे वीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध तो संख्यातगुणाकम होता जाता है।

पल्यको संख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभाग घटानेसे एकभागमात्र स्थितिबन्ध रहता है तथा अन्य कर्मोंका जबतक पल्यमात्र स्थितिबन्ध नहीं हो जाता उससे पूर्वबन्धसे पल्यका संख्यातवेंभागमात्र विशेषसे हीन स्थितिबन्ध होता है। यहां वीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध स्तोक है उससे ज्ञानावरणादि चार तीसीयोंका स्थितिबन्ध तुल्य होकर संख्यातगुणा है क्योंकि वीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध तो पल्यके संख्यातवेंभाग और तीसीयकर्मोंका साधिक पल्यमात्र है एवं तीसीयोंसे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है इसप्रकार अल्पबहुत्व जानना। इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर ज्ञानावरणादि तीसीयकर्मोंका पल्यमात्र स्थितिबन्ध हो जाता है। तीसीयकर्मोंके स्थितिबन्धसे तीसराभाग अधिक मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है, क्योकि तीसीयका पल्यमात्र स्थितिबन्ध होता है, तो चालीसीयका कितना स्थितिबन्ध होता है इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर त्रिभाग अधिक पल्यमात्र मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध प्राप्त होता है। इसके अनन्तर तीसीयकर्मोंका एक स्थितिबन्धापसरण द्वारा पूर्व स्थितिबन्धसे पल्यका संख्यताबहुभागमात्र घटता अर्थात् संख्यातगुणा घटता स्थितिबन्ध होता है। यहां नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक उससे तीसीयोंका संख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थितिबन्ध होता है।

इस अनुक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर मोहनीयकर्मका पल्यमात्र स्थितिबन्ध होता है। यहा छह कर्मोंका स्थितिबन्ध पल्यके सख्यातवेंभागमात्र है ऐसे बीसीय, तीसीय और मोहनीयका पल्यमात्र स्थितिबन्ध होनेका क्रम जानना तथा इसके अनन्तर जब मोहनीयकर्मका पल्यके संख्यातबहुभागवाला एक स्थितिबन्धापसरण होता है तब सातो ही कर्मोका स्थितिबन्ध पल्यके सख्यातवेंभागमात्र हो जाता है यहां नाम-गोत्रका स्तोक उससे तीसीयकर्मोंका सख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका स्थिति-बन्ध सख्यातगुणा जानना। इस अनुक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर नाम व गोत्रकर्मका दूरापकृष्टि[1] नामक पल्यके संख्यातवेभागवाला अन्तिम स्थितिबन्ध होता है। इसके अनन्तर पल्यका असख्यात बहुभागमात्र एक स्थितिबधापसरण होनेसे जब नाम व गोत्रका पल्यके असंख्यातवेभागमात्र स्थितिबन्ध होता है वहां अन्यकर्मोंका पल्यके सख्यातवेंभागमात्र ही स्थितिबन्ध है, क्योकि दूरापकृष्टिका उलघन होनेसे इनके स्थितिबन्ध पल्यके सख्यातवेंभागप्रमाण और स्थितिबन्धापसरण पल्यके सख्यातबहुभाग-

---

१. सखेज्जसहस्समेत्तेसु ठिदिखडएसु गदेसु तदो हेट्ठा दूरयरमोइण्णस्स दूरावकिट्टिसण्णिद सव्व-पच्छिम पलिदोवमस्स सखेज्जभागपमाण ठिदिसतकम्ममवसिट्ठ होदि। किं कारणमेदस्स ठिदिविसेसस्स दूरावकिट्टिसण्णा जादा त्ति चे? पलिदोवमट्ठिदिसतकम्मादो सुट्ठु दूरयरमोसारिय सव्वजहण्णपलिदोवमसखेज्जभागसरुवेणावट्ठाणादो। पल्योपमस्थितिकर्मणोऽधस्तादूदूरतरमप-कृष्टत्वादतिकृशत्वाच्च दूरापकृष्टिरेषा स्थितिरित्युक्त भवति। अथवा दूरतरमपकृष्यतेऽस्याः स्थितिकरण्डकमिति दूरापकृष्टि.। इत. प्रभृत्यसख्येयान् भागान् गृहीत्वा स्थितिकाण्डकघात-माचरतीत्यतो दूरापकृष्टिरिति यावत्। अर्थात्

सख्यातहजार स्थितिकाण्डकोके जानेपर उससे नीचे बहुत दूर गये हुए जीवके दूरापकृष्टि सज्ञा-वाला सबसे अन्तिम पल्योपमके संख्यातवेंभागप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहता है।

शंकाः—इस स्थितिकी दूरापकृष्टि सज्ञा किस कारणसे है?

समाधानः—क्योकि पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मसे अन्यन्त दूर उतरकर सबसे जघन्य पल्योपम-के सख्यातवेंभागरूपसे इसका अवस्थान है। पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मसे नीचे अत्यन्त दूरतक अपकर्षित की गई होनेसे और अत्यन्त कृश-अल्प होनेसे यह स्थिति दूरापकृष्टि है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अथवा इसका स्थितिकाण्डक अत्यन्त दूरतक अपकर्षित किया जाता है इसलिए इसका नाम दूरापकृष्टि है। यहासे लेकर असख्यातबहुभागोको ग्रहणकर स्थितिकाण्डकघात किया जाता है अत: यह दूरापकृष्टि कहलाती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

मात्र ही है। यहाँ नाम व गोत्रका सबसे स्तोक उससे ज्ञानावरणादि चार तीसियकर्मोंका असंख्यातगुणा उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थितिबन्ध जानना। इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर ज्ञानावरणादि (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय) तीसीयकर्मोका स्थितिबन्ध दूरापकृष्टिका उलंघनकरके जब पल्यके असंख्यातवें-भागमात्र हो जाता है। तब नाम व गोत्रकर्मका स्तोक उससे तीसीयकर्मोका असंख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका असंख्यातगुणा स्थितिबन्ध है। इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर दूरापकृष्टिको उलघकर मोहनीयकर्मका भी पल्यके असंख्यातवेभाग स्थितिबन्ध हो जाता है। यहां सभी कर्मोंका पल्यके असंख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होता है। इसीप्रकार बीसीय, तीसीय और चालीसीयकर्मोका पल्यके असख्यातवेभाग-मात्र स्थितिबन्ध क्रमसे होता है[1]।

[2]उदधिसहस्सपुधत्तं अब्भंतरदो दु सदसहस्सस्स।
तक्काले ठिदिसंतो आउगवज्जाण कम्माणं ॥३०॥४२१॥

अर्थः—उस मोहनीयकर्मका पल्यके असंख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होनेके कालमें आयुबिना अन्यकर्मोका स्थितिसत्त्वपृथक्त्व हजारसागर प्रमाण होता है सो पृथक्त्वहजार शब्दसे यहां लक्षके भीतर यथासम्भव प्रमाण जानना। पहले पृथक्त्वलक्ष-सागरका स्थितिसत्त्व था सो संख्यातहजार स्थितिकाण्डकघातोंके द्वारा यहां इतना शेष रहा है।

शंकाः—स्थितिबन्धमें जिसप्रकार असंख्यातगुणा क्रम हो गया था उसीप्रकार स्थितिसत्त्वमें असंख्यातगुणा क्रम क्यो नही हुआ ?

समाधानः—स्थितिसत्त्वमें असंख्यातगुणा क्रम नही हुआ, क्योंकि स्थितिबन्ध से स्थितिसत्त्व असख्यातगुणा है अतः सदृश अपवर्तन सम्भव नही है[3]।

[4]मोहगपल्लासंखट्ठिदिबंधसहस्सगेसु तीदेसु।
मोहो तीसिय हेट्ठा असंखगुणहीणयं होदि ॥३१॥४२२॥

---

१. ज० ध० मूल पृष्ठ १९५९ से १९५६। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४५-४६-४७ सूत्र ९४ से १२४।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४७ सूत्र १२५; ध० पु० ६ पृष्ठ ३५२। ३. ज० ध० मूल पृष्ठ १९६०।

४. यह गाथा ल० सार गाथा २३३ के समान है। क० पा० सुत्त पृ० ७४७ सूत्र १३० से १३३; धवल पु० ६ पृष्ठ ३५२।

अर्थः—मोहनीयकर्मका पल्यके असंख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होनेके कालमें नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक, उससे असंख्यातगुणा ज्ञानावरणादि चार-तीसीयकर्मोंका और उससे असख्यातगुणा मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध होता है। इस-प्रकारके अल्पबहुत्वसहित सख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर नाम व गोत्रकर्मका स्तोक उससे मोहनीयकर्मका असख्यातगुणा तथा उससे भी असख्यातगुणा ज्ञानावरणादि चार तीसीयकर्मोंका, ऐसे अन्यप्रकार स्थितिबन्ध होता है। यहां विशुद्धताके निमित्तसे तीसीय-कर्मोंके नीचे अतिअप्रशस्त मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेषघातके वशसे असंख्यातगुणा कम हो जाता है[1]।

[2]तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठादु।
एक्कसराहे मोहे असंखगुणहीणयं होदि ॥३२॥४२२॥

अर्थः—पूर्व गाथोक्त अल्पबहुत्वके क्रमसहित उतने ही संख्यातहजार स्थिति-बन्ध होनेपर एक ही बार अन्यप्रकारसे स्थितिबन्ध होता है वहां मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, नाम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और उससे ज्ञानावरणादि चारों तीसीयकर्मों-का असंख्यातगुणा स्थितिबन्ध होता है। यहां विशुद्धताके बलसे अति अप्रशस्तमोहका स्थितिबन्ध वीसीयकर्मोंके नीचे असख्यातगुणा कम हो जाता है[3]।

[4]तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वेदणीय हेट्ठादु।
तीसियघादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥३३॥

अर्थः—इसप्रकार उपर्युक्त क्रमसे उतने ही सख्यातहजारस्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर अन्य ही प्रकार स्थितिबन्ध होता है। तब मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, उससे नाम व गोत्रका असंख्यातगुणा और उससे तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा तथा

---

१. जयधवल मूल पृ० १९६०।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३४ के समान है। क० पा० सु० पृ० ७४७ सूत्र १३४ से १३६; धवल पु० ६ पृष्ठ ३५२।

३ जयधवल मूल पृष्ठ १९६०।

४. यह गाथा लब्धिसार गाथा २३५ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३; क० पा० सुत्त पृ० ७४७-४८ सूत्र १३७ से १४० तक।

उससे असंख्यातगुणा वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है। यहां विशुद्धता होनेसे तीसीय-कर्मोमें भी वेदनीयकर्मसे नीचे अप्रशस्त तीन घातियाकर्मोका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थितिबन्ध हो जाता है[1]।

[2]तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठा दु।
तीसियघादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥३४॥४२५॥

अर्थः—इसी उपर्युक्तक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर पूर्व-स्थितिबन्धसे अन्यप्रकार स्थितिबन्ध होता है तब मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, उससे तीन घातियाकर्मोका असंख्यातगुणा, उससे नाम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और उससे साधिक वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है। यहां विशुद्धताके बलसे वीसीय (नाम-गोत्र) कर्मोके नीचे अतिअप्रशस्त तीन घातियाकर्मोका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थिति-बन्ध होता है[3]।

[4]तक्काले वेदणियं णामागोदादु साहियं होदि।
इदि मोहतीसवीसियवेदणियाणं कमो बंधे ॥३५॥४२८॥

अर्थः—उस (विशुद्धतावश अप्रशस्त तीन घातियाकर्मोका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थितिबन्धके) कालमे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध नाम व गोत्रके स्थितिबन्धसे साधिक है अर्थात् नाम व गोत्रके स्थितिबन्धसे आधाप्रमाण अधिक (१½ गुणा) है, क्योंकि वीसीयकर्मोके स्थितिबन्धसे तीसीयकर्मोका स्थितिबन्ध डेढगुणा त्रैराशिकविधीसे सिद्ध होता है। इसप्रकार मोहनीय, तीसीय, वीसीय और वेदनीयकर्मका क्रमसे बन्ध सो ही क्रमकरण जानना। नाम और गोत्रकर्मसे वेदनीयका डेढगुणा स्थितिबन्धरूप क्रमसे अल्पबहुत्व होना ही क्रमकरण कहलाता है।

अथानन्तर स्थितिसत्त्वापसरणका कथन करते हैं:—

बंधे मोहादिकमे संजादे तेत्तियेहिं बंधेहिं।
ठिदिसंतमसण्णिसमं मोहादिकमं तहा संते ॥३६॥४२७॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ १९६०-६१।
२. यह गाथा ल० सार गा० २२६ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३; क० पा० सु० पृष्ठ ७४८ सूत्र १४१ से १४८ तक। ३. जयधवल मूल पृ० १९६१।
४. यह गाथा ल० सा० गाथा २२७ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३।

अर्थ —मोहादिके क्रम लीये जो क्रमकरणरूप बन्ध हुआ उससे आगे इसी-क्रमसे उतने ही सख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर असंज्ञीपञ्चेन्द्रियके समान स्थितिसत्त्व होता है तथा उससे आगे जिसप्रकार मोहादिकसम्बन्धी स्थितिबन्धका व्याख्यान क्रम-करणपर्यन्त किया गया है वैसे ही स्थितिसत्त्वका व्याख्यान अनुक्रमसे जानना ।

विशेषार्थ —यहा पल्यस्थितिपर्यन्त पल्यका सख्यातवाभागमात्र, उससे दूराप-कृष्टिपर्यन्त पल्यका सख्यातबहुभागमात्र, उससे आगे सख्यातहजारवर्ष स्थितिपर्यन्त पल्यका असख्यातबहुभागमात्र आयाम लीये जो स्थितिबन्धापसरण हैं उनके द्वारा स्थितिबन्धघटनेका कथन किया था उसीप्रकार यहा उतने आयामसहित स्थितिकाण्डको-के द्वारा स्थितिसत्त्वका घटना होता है । जिसप्रकार क्रमकरणमे सख्यातहजार स्थिति-बन्धका व्यतीत होना कहा था वैसे यहा भी कहते हैं और वही उतने स्थितिकाण्डकोका व्यतीत होना कहेगे, क्योकि स्थितिबन्धापसरणका और स्थितिकाण्डकोत्करणका काल समान है तथा क्रमकरणके प्रकरणमे स्थितिबन्ध कहा था उसके स्थानपर स्थितिसत्त्व कहना तथा अल्पबहुत्व, त्रैराशिकादि विशेषकथन बन्धापसरणवत् ही जानना चाहिए । स्थितिसत्त्वके क्रमका कथन निम्नप्रकार है—

[1]प्रत्येक सख्यातहजारकाण्डक व्यतीत हो जानेपर क्रमसे असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान ही कर्मोका स्थिति-सत्त्व भी एकहजार, सौ, पचीस व एकसागरप्रमाण होता है तथा सख्यातहजार स्थिति-काण्डक व्यतीत होनेपर वीसीय (नाम-गोत्र) कर्मोंका एकपल्य, तीसीय (ज्ञानावरणादि चार) कर्मोका डेढपल्य और मोहनीयकर्मका दो पल्य स्थितिसत्त्व होता है । इससे आगे पूर्वसत्त्वका सख्यातबहुभागमात्र एककाण्डक होनेसे वीसीयकर्मोका पल्यके सख्यातवेंभाग-मात्र स्थितिसत्त्व हो जाता है । उस कालमे बीसीयकर्मोंका सबसे स्तोक, वीसीयकर्मोके स्थितिसत्त्वसे तीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा और मोहनीयकर्मका विशेष अधिक है । इस क्रमसे पृथक्त्वस्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर तीसीयकर्मोका पल्य-मात्र और मोहनीयकर्मका त्रिभाग अधिक पल्यमात्र स्थितिसत्त्व जानना । इसके आगे एककाण्डकके होनेपर तीसीयकर्मोका स्थितिसत्त्व भी पल्यके सख्यातवेंभागमात्र हो जाता है तब वीसीयकर्मोका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक तीसीयकर्मोका उससे सख्यातगुणा और

१. ज० ध० मूल पृष्ठ १९६१ । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४८-७४९ सूत्र १४६ से १६३ ।

उससे भी संख्यातगुणा स्थितिसत्त्व मोहनीयकर्मका जानना। इसक्रमसे पृथक्त्व (बहुतसे) स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व पल्योपममात्र हो जाता है[1]। एककाण्डकके पूर्ण हो जानेपर मोहनीयकर्मका भी पल्यके संख्यातवेभागमात्र स्थितिसत्त्व हो जाता है। उसीकालमें सातो कर्मोंका स्थितिसत्त्व पल्यके सख्यातवेभागमात्र हो जाता है वहां वीसीयकर्मोका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक, तीसीयकर्मोका सख्यातगुणा और उससे भी संख्यातगुणा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व होता है। इसके आगे इसक्रमसहित संख्यात-हजार स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर वीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिको उलंघकर पल्यके असख्यातवेभागमात्र हो जाता है उससमय वीसीयकर्मोका सबसे स्तोक उससे तीसीयकर्मोका असख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थिति-सत्त्व होता है। इससे आगे इसक्रमसे [2]पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर तीसीय-कर्मोका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिको उलंघकर पल्यके असंख्यातवेभागमात्र होता है तब नाम व गोत्रकर्मका स्थितिसत्त्व सबसे कम चार तीसीयकर्मोका स्थितिसत्त्व परस्पर तुल्य और असख्यातगुणा है तथा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व सख्यातगुणा है। पुनः स्थितिकाण्डकपृथक्त्वके पश्चात् मोहनीयकर्मका भी स्थितिसत्त्व पल्योपमके असंख्यातवें-भागमात्र हो जाता है[3] तब सभी कर्मोंका स्थितिसत्त्व पल्यके असख्यातवेंभागमात्र होता है उससमयमे बीसीयकर्मोका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक उससे तीसीय (ज्ञानावरणादि चार) कर्मोका असख्यातगुणा और उससे भी असंख्यातगुणास्थितिसत्त्व मोहनीयकर्मका है। इसक्रमसे सख्यातहजार स्थितिकाण्डक बीतजानेपर नाम व गोत्रकर्मका सबसे स्तोक उससे मोहनीयकर्मका असख्यातगुणा एवं उससे असख्यातगुणा स्थितिसत्त्व चार तीसीय-कर्मोका होता है[4]। इसक्रमके द्वारा पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मोहनीयकर्म-का सबसे स्तोक उससे नाम-गोत्रकर्मका असख्यातगुणा, और उससे ज्ञानावरणादि चार तीसीयकर्मोका असख्यातगुणा स्थितिसत्त्व होता है। इसीक्रमसे पृथक्त्व स्थिति-काण्डक व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक, उससे बीसीयकर्मोका असख्यातगुणा, उससे तीनघातियाकर्मोका असंख्यातगुणा, उससे भी असंख्यातगुणा

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४९ सूत्र १६४। जयधवल मूल पृष्ठ १९६२।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४९ सूत्र १७०। जय ध० मूल पृष्ठ १९६२।
३. क० पा० सुत्त पृ० ७४९-५० सूत्र १७१ से १७४। ज० ध० मूल पृष्ठ १९६२।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५० सूत्र १७८-१८१। जयधवल मूल पृष्ठ १९६२।

स्थितिसत्त्व वेदनीयकर्मका होता है। इसक्रमसे पृथक्त्व स्थितिकाण्डकोंके बीत जानेपर मोहनीयकर्म स्थितिसत्त्व सबसे कम है, उससे तीन घातियाकर्मोका असख्यातगुणा, उससे नाम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और विशेष अधिक स्थितिसत्त्व वेदनीयकर्मका होता है। इसप्रकार अन्तमें नाम व गोत्रके स्थितिसत्त्वसे वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व साधिक हो जाता है। तब मोहादिकर्मके क्रमसे स्थितिसत्त्वका क्रमकरण होता है[1]।

[2]तीदे बंधसहस्से पल्लासंखेज्जयं तु ठिदिबंधे।
तत्थ असंखेज्जाणं उदीरणा समयबद्धाणं ॥३७॥४२८॥

अर्थ.—इस क्रमकरणसे आगे सख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर पल्यके असख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होता है तब असंख्यात समयप्रबद्धोंको उदीरणा होती है[3]।

विशेषार्थ:—यहांसे पूर्वमें अपकर्षण किये हुए द्रव्यको उदयावलिमें देनेके लिए असंख्यातलोकप्रमाणभागहार सम्भव था वहा समयप्रबद्धके असख्यातवेंभागमात्र उदीरणा-द्रव्य था उसका नाशकरके अब परिणामोकी विशुद्धताके कारण सर्ववेद्यमान कर्मोंका उदीरणारूप द्रव्य असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण हो जाता है।

इसप्रकार स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्वसम्बन्धी क्रमकरणका कथन पूर्णकरके ८ कषाय व १६ प्रकृतियोंका क्षपणकरणाधिकार प्रारम्भ करते हैं—

[4]ठिदिबंधसहस्सगदे, अट्ठकसायाण होदि संकमगो।
ठिदिखंडपुधत्तेण य, तट्ठिदिसंतं तु आवलियविद्धं ॥३८॥

---

१. क० पा० सु० पृ० ७५० सूत्र ८२ से १९२ जयधवल मूल पृष्ठ १९६२-६३।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३८ के समान है। जयधवल मूल पृष्ठ १९६३। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५१ सूत्र १९३-१९४। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५५।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५१ सूत्र १९३-९४।

४ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५१ सूत्र १९५ से १९७। जयधवल मूल पृष्ठ १९६३। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५५-५६। अट्ठकसायाणमपच्छिमट्ठिदिखंडए चरमफालिसरूवेण णिल्लेविदे तेसिमावलियपविट्ठ-संतकम्मस्सेव समयूणावलियमेत्तणिसेगपमाणस्स परिसेससत्तसिद्धीए णिव्वाहमुवलभादो। (जय-धवल मूल पृ० १९६३)

अर्थः—तत्पश्चात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर आठ (अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४) कषायोंका पृथक्त्वस्थितिखण्डसम्बन्धी कालके द्वारा संक्रमण होता है तथा उच्छिष्टावलीमात्र स्थितिसत्त्व शेष रह जाता है।

विशेषार्थः—असंख्यातसमयप्रबद्धमात्र उदीरणा होनेसे लगाकर संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानक्रोध-मान-माया व लोभरूप आठ कषायोंका संक्रमण होता है। यहांपर प्रकृतिरूप संक्रमणके द्वारा क्षपणाका प्रारम्भ होना संक्रमण जानना। ये उपर्युक्त आठकषाय अप्रशस्त थे अतः प्रथम ही इनकी क्षपणा सम्भव है। इन कषायोंके द्रव्यमेंसे कुछ द्रव्य तो क्षपणाके प्रारम्भके प्रथमसमयमें, कुछ द्रव्य द्वितीय समयमें इसप्रकार समय-समयप्रति एक-एक फालिका सक्रमण होते हुए अन्तर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी फालियोंके द्वारा प्रथमकाण्डकका संक्रमण होता है। इसप्रकार ये कर्म परमुखसे नष्ट होते हैं, सो अन्यप्रकृतिरूप होकर जिसका नाश होता है वही परमुखनाश कहलाता है। मोहनीयकर्मरूप राजा की सेनाकी नायकरूप इन आठ कषायोंका अन्तिमकाण्डकसम्बन्धी अन्तिमफालिके नाश होनेसे अवशिष्ट स्थितिसत्त्व कालकी अपेक्षा आवलीमात्र रहता है और निषेकोंकी अपेक्षा एकसमयकम आवलिप्रमाण रहता है, क्योंकि अन्तिमकाण्डकघातके समय प्रथमनिषेकका संक्रमण स्वमुख उदयसहित किसी सञ्ज्वलनकषायमें होता है तथा उदयावली को प्राप्त निषेकका काण्डकघात नहीं होनेसे एकसमयकम आवलिमात्र निषेक अन्तिमफालिके साथ नष्ट नहीं होता है। प्रतिसमय स्तुविकसंक्रमणद्वारा प्रत्येकनिषेक संज्वलनरूप परिणमनकरके विनाशको प्राप्त होता है।

[1]ठिदिबंधपुधत्तगदे सोलसपयडीण होदि संकमगो।
ठिदिखंडपुधत्तेण य तट्ठिदिसंतं तु आवलिपविट्ठं ॥३६॥४३०॥

अर्थः—तत्पश्चात् पृथक्त्वस्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर सोलह (स्त्यानगृद्धित्रिक, नरकद्विक, तिर्यञ्चगतिद्विक, एकेन्द्रियादि चारजाति, आतप, उद्योत, स्थावर,

1. क० पा० सुत्त पृ० ७५१ सूत्र १९७–९८। जयधवल मूल पृ० १९६३-६४। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५६। एत्थ णिरयतिरिक्खगईपाओग्गणामाओ त्ति वुत्ते णिरयगइणिरयगइपाओग्गाणुपुव्वीतिरिक्खगइतिरिक्खगईपाओग्गाणुपुव्वीएइन्दियवीइंदियतीइंदियचउरिंदियजादि आदावुज्जोवथावरसुहुमसाहारणणामाण तेरसण्ह पयडीणं गहणं कायव्व (जयधवल मूल पृष्ठ १९६४)

सूक्ष्म, साधारण) प्रकृतियोका स्थितिसत्त्व पृथक्त्वस्थितिखण्डोके कालद्वारा परप्रकृति-रूप संक्रमण होता है, उच्छिष्टावलीप्रमाण स्थितिसत्त्व शेष रह जाता है।

विशेषार्थः—इसके उपर पृथक्त्वस्थितिबन्ध बीत जानेपर निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि ये तीन दर्शनावरणकर्मकी और नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च-गति-तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चारजाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण ये १३ नामकर्मकी इन १६ प्रकृतियोका संक्रमण द्वारा क्षपणाका प्रारम्भ करते हैं। समय-समय-प्रति इनके द्रव्यको पूर्वोक्तप्रकार एक-एकफालिका संक्रमण होनेपर प्रथमकाण्डकघात होकर पृथक्त्व स्थितिकाण्डको द्वारा संक्रमण होता है वहा अन्तिमकाण्डकघात होते हुए अवशेष स्थितिसत्त्व कालापेक्षा आवलिमात्र और निषेकापेक्षा समयकम आवलिमात्र रहता है। इसप्रकार इनका उदयवलीसे बाहर सर्वनिषेकोका द्रव्य स्वजातीय अन्य-प्रकृतियोमे संक्रमण होकर क्षयको प्राप्त होती हैं[1]। अपनी जातिकी अन्यप्रकृतियोकी स्वजाती कहते हैं। जैसे—स्त्यानगृद्धित्रिककी स्वजातीय दर्शनावरणकी अन्यप्रकृति हैं इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोके सम्बन्धमे भी जानना। यहा पृथक्त्व शब्द विपुलतावाची है[2]। इसप्रकार यहा मोहनीयकर्मकी तो आठ प्रकृतियोका नाश होनेसे नामकर्मकी १३ प्रकृतिया, दर्शनावरणकर्मकी तीन प्रकृतियोका नाश हो जानेपर छह प्रकृतिका और नामकर्मकी १३ प्रकृतिका नाश हो जानेसे ८० प्रकृतिका सत्त्व रह जाता है ज्ञानावरण, वेदनीय, गोत्र और अन्तरायकर्ममे किसी प्रकृतिका नाश नही होता है।

क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीव सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त होकर जिससमय क्षपणविधि प्रारम्भ करता है उससमय अधःप्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमे अपूर्वकरणगुणस्थानवाला होता है, वह एक भी कर्मका क्षय नही करता किन्तु प्रत्येक समयमे असख्यातगुणितरूपसे कर्मप्रदेशोकी निर्जरा करता है। एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक-एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर सख्यातहजार स्थिति-काण्डकोका घात करता है और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है तथा उनसे सख्यातहजारगुणे अनुभागकाण्डकोका घात करता है; क्योकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरणकालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल सख्यातगुणा है ऐसा सूत्र वचन है।

---

१. जयधवल पृ० १९६३–६४। क० पा० सुत्त पृ० ७५१ सूत्र १९८–९९।
२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ४२ व २२५।

इसप्रकार अपूर्वकरणगुणस्थानसम्बन्धी क्रियाको करके अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहां भी अनिवृत्तिकरणकालके सख्यातबहुभागको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक घातादि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमें सख्यातवांभाग शेष रहनेपर स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति आदि नामकर्मकी १३ ऐसे उपर्युक्त १६ प्रकृतियोंका क्षय करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत करके प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोका एक साथ क्षय करता है। यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है, किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश तो इसप्रकार है कि पहले आठकषायोंके क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्मप्रकृतियां क्षयको प्राप्त होती है। ये दोनो ही उपदेश सत्य है ऐसा कितने हो आचार्योंका मत है, किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता, क्योकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है तथा दोनों कथन प्रमाण हैं यह वचन भो घटित नही होता है, क्योंकि "एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नही होना चाहिए" ऐसा न्याय है।

शंका:—नानाजीवोके नानाप्रकारकी शक्तियां सम्भव है; इसमें कोई विरोध नहीं आता है। अत: कितने ही जीवोंके आठ कषायोके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलहकर्मोंके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए उनका आठकषायोंका क्षय हो जानेके पश्चात् सोलहकर्मोंका क्षय होता है, क्योंकि "जिस क्रमसे कारण मिलते है उसी क्रमसे कार्य होता है" ऐसा न्याय है तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलहकर्मोके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है तदनन्तर आठ कषायोके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए पहले १६ कर्मप्रकृतियां नष्ट होती हैं पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होनेपर आठकषायें नष्ट होती हैं अत: पूर्वोक्त दोनों उपदेशोमे कोई विरोध नही आता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं।

समाधानः—किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता, क्योंकि अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवाले जितने भी जीव है वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्यकालसम्बन्धी किसी एकसमयमे विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामवाले ही होते हैं इसीलिए उन जीवोकी गुणश्रेणी निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है। यदि एकसमयस्थित अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवालोंको विसदृश परिणामवाला कहा जाता है तो जिसप्रकार एकसमयस्थित अपूर्वकरणगुणस्थानवालोंके विसदृश परिणाम होते है अतएव उन्हे अनि-

वृत्त यह सज्ञा प्राप्त नही हो सकती है उसीप्रकार इन परिणामोको भी अनिवृत्तिकरण यह सज्ञा प्राप्त नही हो सकेगी और असंख्यातगुणश्रेणीके द्वारा कर्मस्कन्धोके क्षपणके कारणभूत परिणामोको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योकि, उन परिणामोका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नही पाया जाता है।

शंका:—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणों का अनुमान किया जाता है ? अर्थात् ९वें गुणस्थानमे प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा, स्थितिकाण्डकघातआदि अनेक कार्य देखे जाते हैं इसलिए उनके साधनभूत परिणाम भी अनेकप्रकारके होने चाहिए।

समाधान:—यह कहना भी नही बनता, क्योंकि एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है।

शंका:—वहां भी मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परन्तु उसकी शक्तियोंमें एकपना नही बन सकता। यदि मुद्गरकी शक्तियोमे भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी उत्पत्ति होगी।

समाधान:—यदि ऐसा है तो यहां भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणसक्रमण गुणश्रेणी शुभप्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारणभूत परिणामोमे नानापना रहा आवे तो भी एकसमयमे स्थित नानाजीवोके परिणाम सदृश ही होते हैं अन्यथा उन परिणामोके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नही बन सकता है।

शंका:—यदि ऐसा है तो एक समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरणगुणस्थान वालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जावेगी।

समाधान:—यह कोई दोष नही, क्योकि यह बात तो हमें इष्ट ही है।

शंका:—प्रथमस्थितिकाण्डक और प्रथम अनुभागकाण्डकोकी समानताका नियम तो नही पाया जाता है इसलिए उक्त कथन घटित नही होता है।

समाधान:—यह दोष कोई दोष नही है; क्योकि, प्रथमसमयमें घातकरके शेष बचे हुए स्थितिकाण्डकोका और अनुभागकाण्डकोका एकप्रमाण नियम देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि अल्पस्थिति और अल्प-अनुभागका विरोधी परिणाम उससे

अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नही हो सकता है, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखनेमें नहीं आता, किन्तु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एकसमयमें स्थित सम्पूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रदेश-बन्ध योगके निमित्तसे होता है, परन्तु अनिवृत्तिकरणके एकसमयवर्ती उन सर्व जीवोंके योगकी सदृशताका कोई नियम नही पाया जाता। जिसप्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है, उसप्रकार अनिवृत्तिकरण-मे योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है। इसलिये समान (एक) समयमें स्थित अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवाले सम्पूर्ण जीवोके सदृशपरिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात तथा उनका बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है।

शङ्का:—इसप्रकार समान समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरणगुणस्थान-वालोंके स्थितिखण्ड और अनुभागखण्डोके समानरूपसे पतित होनेपर घात करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहनेपर और प्रकृतियोके अपना-अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके नही छोड़नेपर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोके पहले आठकषायोंके नष्ट हो जानेपर सोलहप्रकृतियोंका नाश होता है यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? इस-लिए दोनों प्रकारके वचनोंमेसे कोई एकवचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथावादी नही होते अत: उनके वचनोमें विरोध नही होना चाहिए।

समाधान:—यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु ये जिनेन्द्रदेवके वचन न होकर इस युगके आचार्योंके वचन हैं अत: उन वचनोंमें विरोध होना सम्भव है।

शङ्का:—तो फिर इस युगके आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान:—नहीं, क्योंकि जिनका अर्थरूपसे तीर्थङ्करोंने प्रतिपादन किया है और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थरचना की ऐसे बारहअङ्ग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आ रहे हैं, किन्तु कालप्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अगोंको धारण करनेवाले योग्यपात्रके अभावमें उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं। इसलिये

जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठबुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे, जिन्होने गुरुपरम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उससमय अवशिष्ट रहे हुए अङ्गसम्बन्धी अर्थको पोथियोमे लिपिबद्ध किया अतएव उनमे असूत्रपना नही आ सकता।

शङ्काः—यदि ऐसा है, इन दोनो वचनोको द्वादशाङ्गका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जावेगा ?

समाधानः—दोनोमेसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किन्तु दोनोको सूत्रपना प्राप्त नही हो सकता है, क्योंकि उन दोनों वचनोमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

शङ्काः—उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधानः—यह कोई दोष नही, क्योंकि दोनो प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है, किन्तु दोनो प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नही होती है अर्थात् बनी रहती है।

शङ्काः—दोनो प्रकारके वचनोमेसे किस वचनको सत्य माना जावे ?

समाधान—इस बातको केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता, क्योकि इस समय उसका निर्णय नही हो सकता है, इसलिए पापभीरु वर्तमानकालके आचार्योंको दोनोका संग्रह करना चाहिए, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जावेगा।

अथानन्तर देशघातिकरणका कथन करते हैं—

[1]ठिदिबंधपुधत्तगदे मणदाणा तत्तियेवि ओहिदुगं।
लाभं च पुणोवि सुदं अचक्खुभोगं पुणो चक्खू ॥४०॥४३१॥
पुणरवि मदिपरिभोगं पुणरवि विरयं कमेण अणुभागो।
बंधेण देसघादी पल्लासंखं तु ठिदिबंधो ॥४१॥४३२॥

१. ये दोनो गाथाएँ ल० सा० गाथा २३९-४० के समान हैं। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५१-५२ सूत्र २०० से २०५। जयधवल मूल पृ० १९६४-६५। धवल पु० ६ पृष्ठ २५६-२५७।

अर्थः—(सोलह प्रकृतियोंके संक्रमणसे आगे) पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मनःपर्ययज्ञानावरण और दानान्तराय कर्मोका अनुभागबन्ध देशघातिरूप हो जाता है पुनः इतने ही स्थितिबन्ध बीत जानेपर अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण-रूप अवधिद्विक और लाभान्तरायका अनुभागबन्ध देशघातिरूप हो जाता है। इसीप्रकार पृथक्त्वस्थितिबन्धोंको पुनः पुनः व्यतीतकर क्रमशः श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और भोगान्तराय इन तीन कर्मोका पश्चात् चक्षुदर्शनावरणका फिर मतिज्ञानावरण एवं उपभोगान्तराय इन दोनोंकर्मोका पुनः वीर्यान्तरायकर्मका अनुभागबन्ध देशघाति हो हो जाता है, किन्तु स्थितिबन्ध पल्योपमके असंख्यातवेभागप्रमाण ही होता है। इसप्रकार प्रकृतिगत अनुभाग स्तोक होनेसे देशघातिबन्ध होनेका यह क्रम है। यहां स्थितिबन्ध यथासम्भव पल्यका असंख्यातवांभागमात्र ही जानना।

आगे अन्तरकरणका कथन करते हैं—

[1]ठिदिखंडसहस्सगदे चदुसंजलणाण णो कसायाणं।
एयट्ठिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरं कुणदि ॥४२॥४३३॥

अर्थः—देशघातिकरणके आगे संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जाने-पर एकस्थितिकाण्डकोत्कीरणकालके द्वारा चार संज्वलन और नव नोकषायका अन्तर करता है अन्यका अन्तर नही होता है।

विशेषार्थः—अधस्तन और ऊपरितनवर्ती निषेकोंको छोड़कर अन्तर्मुहूर्तमात्र बीचके निषेकोंका परिणाम विशेषके द्वारा अभाव करना अन्तरकरण कहलाता है[2]। [विरह-शून्य और अभाव ये एकार्थवाची हैं] यहां अन्तरकरणकालके प्रथमसमयमें पहले की अपेक्षा अन्यप्रमाणसहित स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक और स्थितिबन्धका प्रारम्भ एक साथ होता है तथा एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणका जितना काल है उतने कालके द्वारा अन्तरकरणका कार्य पूर्ण करता है। इसकालके प्रथमादि समयोंमें उन निषेकोके द्रव्यको अन्य निषेकोंमें निक्षेपण करता है[3]।

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५२ सूत्र २०६ से २०८। ध० पु० ६.पृ० ३५७।

२. जयधवल पु० १२ पृष्ठ २७२।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १९६५।

[1]संजलणाणं एक्कं वेदाणेक्कं उदेदि तद्दोण्हं ।
सेसाणं पढमट्ठिदिं ठवेदि अंतोमुहुत्तमावलियं ॥४३॥४३४॥

अर्थः—सञ्ज्वलनचतुष्कमेसे कोई एक और तीनो वेदोंमेसे कोई एक इसप्रकार उदयरूप दो प्रकृतियोकी तो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिति स्थापित करता है । इनके विना जिनका उदय नही पाया जाता ऐसी ११ प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति आवलिप्रमाण स्थापित करता है ।

विशेषार्थः—जो पुरुषवेद और क्रोधके उदयसहित श्रेणी मांडता है वह इन दोनोकी प्रथमस्थिति तो अन्तर्मुहूर्तमात्र तथा अन्य प्रकृतियोकी आवलिमात्र प्रथमस्थिति करता है सो वर्तमानसमयसम्बन्धी निषेकसे लेकर प्रथमस्थितिप्रमाण निषेकोको नीचे छोड़कर इनके ऊपर गुणश्रेणी शीर्षसे सहित प्रथमस्थितिसे सख्यातगुणे निषेकोका अन्तर करता है । स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और छह नोकषायका जितना क्षपणाकाल है उतने प्रमाण पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति है, जो कि सबसे स्तोक है, उससे सज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थिति विशेष अधिक है, जो कि संज्वलनक्रोधके क्षपणाकालप्रमाणसे विशेष अधिक है । उदयस्वरूप और अनुदयस्वरूप सभी नोकषायोकी अन्तिमस्थिति सदृश ही होती है, क्योंकि द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकका सर्वत्र सदृशरूपसे अवस्थान होता है, किन्तु अधस्तन प्रथमस्थिति विसदृश है, क्योंकि उदयरूप प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त है और अनुदयप्रकृतियोकी प्रथमस्थिति आवलिमात्र है[2] ।

[3]उक्कीरिदं तु दव्वं संते पढमट्ठिदिम्हि संथुहदि ।
बंधेवि य आवाधमदित्थिय उक्कट्टदे णियमा ॥४४॥४३५॥

अर्थः—अन्तररूप निषेकोके द्रव्यको सत्त्वमेसे अपकर्षणकरके प्रथमस्थितिमें निक्षेपण करता है और जिन कर्मोंका बन्ध होता है उनके अपकर्षितद्रव्यको आबाधा छोड़कर बन्धरूप निषेकोमे भी निक्षेपण करता है ।

---

१. यह गाथा ल० सा० गाथा २४२ के समान है, किन्तु "तद्दोण्हं" के स्थानपर वहां "तं दोण्ह" यह पाठ है । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५२ सूत्र २०९ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५७ ।
२. जयधवल मूल पृ० १९६५ ।
३. क० पा० सुत्त पृ० ७५२-५३ सूत्र २१० से २१४ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५८ ।

विशेषार्थः—जिससमय अन्तरकरणका आरम्भ होता है उसीसमय पूर्वके स्थिति-बन्ध, स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक समाप्त हो जानेके कारण अन्य स्थितिबन्धको असख्यातगुणहानिरूपसे आरम्भ होता है और अन्य स्थितिकाण्डक पल्यके असंख्यातवें-भागप्रमाणसे और अनुभागकाण्डक अनन्त बहुभागरूपसे होता है। हजारों अनुभाग-काण्डकोंके व्यतीत होनेपर अन्य अनुभागकाण्डक, वही स्थितिकाण्डक, वही स्थितिबन्ध और अन्तरका उत्कीरणकाल एक साथ सम्पन्न होते हैं, क्योंकि तत्काल होनेवाले स्थिति-बन्ध और स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालके समान अन्तरकरणोत्कीरणकाल होता है अर्थात् अन्तररूप निषेकोंके द्रव्यको फालिरूपसे ग्रहणकर अन्य निषेकोंमें देता है। फालियां अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती हैं, फालियोंके द्वारा द्रव्य असंख्यातगुणित क्रमसे ग्रहण होता है।

अतर करनेवाला जीव जिनकर्मोंको बांधता है और वेदता है उन कर्मोंकी अंतर-स्थितियोमेसे उत्कीर्ण होनेवाले प्रदेशपुञ्जको अपनी प्रथमस्थितिमें निक्षिप्त करता है और आबाधाको छोड़कर द्वितीयस्थितिमें भी निक्षिप्त करता है, किन्तु अन्तरसम्बन्धी स्थितियोंमें निक्षिप्त नही करता है, क्योंकि उनके कर्मपुञ्जसे स्थितियां रिक्त होनें-वाली हैं अत: उनमें निक्षेप होनेका विरोध है। (जब तक अन्तरसम्बन्धी द्विचरमफालि है तब तक स्वस्थानमें भी अपकर्षणसम्बन्धी अतिस्थापनावलिको छोड़कर अन्तरसम्बन्धी स्थितियोमें प्रवृत्त रहता है ऐसा कितने हो आचार्य व्याख्यान करते हैं, किन्तु सूत्रमें इसप्रकारकी सम्भावना स्पष्टरूपसे निषिद्ध है।

जो कर्म न बधते हैं और न वेदन किये जाते हैं ऐसी छह नोकषायोंके उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशपुञ्जको अपनी स्थितियोमें नहीं देता, किन्तु बन्धनेवाली प्रकृतियोकी द्वितीयस्थितिमें बन्धके प्रथमनिषेकसे लेकर उत्कर्षण द्वारा सीचता है। बंधनेवाली और नही बधनेवाली जिनप्रकृतियोकी प्रथमस्थिति है उनमें भी यथासम्भव अपकर्षण और परप्रकृतिसमस्थितिसक्रम द्वारा सीचता है, किन्तु स्वस्थानमे निक्षिप्त नही करता है। जो कर्म बन्धते नहीं, किन्तु वेदे जाते हैं जैसे स्त्रीवेद और नपुसकवेद, उनकी अन्तर-सम्बन्धी स्थितियोंके प्रदेशपुञ्जको ग्रहणकर अपनी-अपनी प्रथमस्थितिमें अपकर्षण और परप्रकृतिसक्रमण द्वारा आगमानुसार निक्षिप्त करता है तथा बन्धकी द्वितीयस्थितिमें उत्कर्षणकरके सिंचित करता है।

जो कर्म केवल बन्धको प्राप्त होते हैं वेदे नहीं जाते जैसे परोदयकी विवक्षामें पुरुषवेद और अन्यत्र संज्वलनका उनको अन्तरसम्बन्धी स्थितियोंमेंसे उत्कीर्ण होनेवाले

प्रदेशपुञ्जका उत्कर्षणवश अपनी द्वितीयस्थितिमें संचार होता है, क्योंकि उदयसहित बधनेवाली प्रकृतियोकी प्रथम व द्वितीयस्थितिमे तथा अनुदयरूप बधनेवाली प्रकृतियोकी द्वितीयस्थितिमे सचार विरुद्ध नही है। इस क्रमसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण फालिरूपसे प्रति-समय असख्यातगुणी श्रेणीद्वारा उत्कीरण होनेवाला अन्तर अन्तिमफालिके उत्कीर्ण होने-पर पूरा उत्कीर्ण हो जाता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि अन्तरसम्बन्धी अन्तिमफालिका पतन हो जानेपर सब द्रव्य प्रथम और द्वितीयस्थितिमे सक्रमित होता है। यथा—प्रथम-स्थितिसे सख्यातगुणी स्थितियोको ग्रहणकरके आबाधाके भीतर अन्तरको करता है और गुणश्रेणिके अग्रभागके अग्रभागमेसे असख्यातवेभागको खण्डित करता है तथा उससे ऊपरकी सख्यातगुणी अन्यस्थितियोको भी अन्तरके लिए ग्रहण करता है[1]।

अब संक्रमणकरण का कथन करते हैं—

[2]सत्त करणाणि यंतरकदपढमे ताणि मोहणीयस्स।
इगिठाणियबंधुदओ तस्सेव य संखवस्सठिदिबंधो ॥४५॥४३६॥
तस्साणुपुव्विसंकम लोहस्स असंकमं च संढस्स।
आवेत्तकरणसंकम छावलितीदेसुदीरणदा ॥४६॥४३७॥

अर्थ.—अन्तर करनेकी क्रिया समाप्त हो जानेके पश्चात् अनन्तर प्रथम सात-करण होते है—(१-२) मोहनीयकर्मका एक स्थानीय अर्थात् लतारूप अनुभागका बन्ध व उदय (३) मोहनीयकर्मका सख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध (४) मोहनीयकर्मकी प्रकृतियो का आनुपूर्वीसक्रमण (५) सज्वलन लोभका असक्रमण (६) नपुंसकवेदका आयुक्त-करण सक्रमण (७) छह आवलियोके बीत जानेपर उदीरणा[3]।

विशेषार्थः—अन्तरकरणक्रिया समाप्तिका जो काल है उसीसमयमे ये सात-करण युगपत् प्रारम्भ होते हैं—(१) मोहनीयकर्मका एक स्थानीय (लतारूप) अनुभाग-

---

१ जयधवल पु० १३ पृष्ठ २५३ से २६२।

२ ये दोनो गाथाए कुछ अन्तर के साथ ल० सार गा० २४८ व २४९ के समान हैं। क० पा० सु० पृष्ठ ७५३ सूत्र २१५। पर तत्र "आवेत्तकरण" इत्यस्य स्थाने "आजुत्तकरण" इति पाठो। ध० पु० ६ पृष्ठ ३५८; तत्रापि 'आउत्तकरण" इति पाठो स च उपयुक्तो प्रतिभाति।

४. जयधवल मूल पृष्ठ १९९६-९७।

बन्ध प्रारम्भ हो जाता है, इससे पूर्व देशघाति द्विस्थानीयरूप (लता, दारु रूपसे) मोहनीय कर्मका अनुभागबन्ध होता था अब परिणामोंके माहात्म्यवश घटकर वह एक स्थानीय (लतारूप) हो जाता है। (२) पहले मोहनीयकर्मके अनुभागका उदय द्विस्थानीय (लता, दारु) देशघातिरूपसे होता था अन्तरकरणके अनन्तर ही एक स्थानीयरूपसे (लतारूपसे) परिणत हो गया। (३) मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध पहले असंख्यातवर्षप्रमाण होता था वह घटकर अब संख्यातहजारवर्षप्रमाणवाला हो गया। (४) मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसंक्रम यथा-स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके प्रदेशपुञ्जको पुरुषवेदमें ही नियमसे संक्रान्त करता है। पुरुषवेद और छह नोकषायके प्रदेशपुञ्जको सञ्ज्वलनक्रोधमें संक्रान्त करता है, अन्य किसीमें संक्रान्त नहीं करता। सञ्ज्वलनक्रोधको संज्वलमानमें ही, संज्वलनमानको संज्वलनमायामें ही और संज्वलनमायाको सञ्ज्वलनलोभमें निक्षिप्त करता है। पहले चारित्रमोहनीयरूप प्रकृतियोंका आनुपूर्वीके बिना संक्रम होता था, किन्तु इस समय इस प्रतिनियत आनुपूर्वीसे प्रवृत्त होता है। (५) पहले आनुपूर्वीके बिना लोभसञ्ज्वलनका भी शेष संज्वलन और पुरुषवेदमे प्रवृत्त होनेवाला सक्रम होता था, किन्तु यहां आनुपूर्वीसंक्रमका प्रारम्भ होनेपर प्रतिलोभसंक्रमका अभाव होनेसे रुक गया। यहांसे लेकर संज्वलन लोभका संक्रमण नहीं होता। यद्यपि आनुपूर्वीसंक्रमसे ही यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है तो भी मन्दबुद्धिजनोंके अनुग्रहके लिए पृथक् निर्देश किया गया। (६) नपुंसकवेदका क्षपक आयुक्तकरणके[1] द्वारा नपुंसकवेदकी क्षपणक्रियामें उद्यत होता है। जैसे पहले सर्वत्र ही समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद ही उदीरणाके लिए शक्य रहता आया है इसप्रकार यहां शक्य नहीं है, किन्तु अन्तर किये जानेके प्रथमसमयसे लेकर जो कर्म बंधते हैं वे कर्म छह आवलियोंके व्यतीत होनेके बाद उदीरणाके लिए शक्य होते हैं बंधसमयसे लेकर जबतक पूरी छह आवलियां व्यतीत नहीं होती तब तक उनकी उदीरणा होना शक्य नहीं है[2]।

---

१. आयुक्तकरण, उद्यतकरण और प्रारम्भकरण ये तीनों एकार्थक हैं। यहासे लेकर नपुंसकवेदकी क्षपणा प्रारम्भ हो जाती है। (जयधवल पु० १३ पृष्ठ २७२) "तत्थ णवुसयवेदस्स आउत्तकरणसंकामगो त्ति भणिदे णवुसयवेदस्स खवणाए अब्भुट्ठिदो होदूण पयट्टो त्ति भणिदं होदि" (जयधवल मूल पृष्ठ १९९७)।

२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ २६४ से २६७ तक।

[1]संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णउंसयं चेव ।
सत्तेव णोकसाए णियमा कोहम्हि संछुहदि ॥४७॥४३८॥
[2]कोहं च छुहदि माणे माणं मायाए णियमसा छुहदि ।
मायं च छुहदि लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥४८॥४३९॥

अर्थ —स्त्रीवेद और नपुंसकवेदसम्बन्धी द्रव्य तो पुरुषवेदमें ही संक्रमण करता है अन्यत्र नही । पुरुषवेद और हास्यादि छह ये सात नोकषायोका द्रव्य संज्वलनक्रोधमें सक्रमण करता है । क्रोधकषायका द्रव्य मानमें ही संक्रमण करता है, मानकषायका द्रव्य मायामें, मायाका द्रव्य लोभमे सक्रमण करता है । इसप्रकार सक्रमणके द्वारा अन्य-रूप परिणमनकर स्वय नाशको प्राप्त होता है, यही आनुपूर्वीसक्रमण जानना । प्रतिलोभ अर्थात् अन्यथा प्रकार सक्रमण अब नही होता है ।

[3]ठिदिबंधसहस्सगदे संढो संकामिदो हवे पुरिसे ।
पडिसमयमसंखगुणं संकामगचरिमसमओत्ति ॥४९॥४४०॥

अर्थः—हजारो स्थितिबंधापसरण व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेदका सक्रमण पुरुषवेदमे हो जाता है । चरमसमयतक प्रतिसमय असख्यातगुणे द्रव्यका सक्रमण होता है और चरमसमयमे सर्वसक्रमण द्वारा नपुंसकवेदका सम्पूर्णद्रव्य पुरुषवेदमे सक्रान्त हो जाता है ।

विशेषार्थः—अन्तरकरणके अनन्तरसमयसे लगाकर संख्यातहजार स्थितिबंध व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेद पुरुषवेदमे सक्रमित होता है । नपुंसकवेदकी क्षपणाके प्रथमसमयसे समय-समयप्रति असख्यातगुणे क्रमसे सक्रमकालके अन्तसमयमे नपुसकवेद-के द्रव्यका पुरुषवेदमे सक्रमण होता है सो समय-समयमे जितना द्रव्य संक्रमित होता है वह फालि है और अन्तर्मुहूर्तमात्र फालियोका समूहरूप काण्डक है । इसप्रकार गुण-सक्रमणरूप अनुक्रमसे सख्यातहजारकाण्डक व्यतीत होनेपर अन्तसमयमे जो अन्तिम-

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गाथा १३८ के समान है । जयधवल मूल पृष्ठ १९८८ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५९ ।

२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गाथा १३९ के समान । जयधवल मूल पृष्ठ १९८९ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १९६७ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५९ ।

काण्डककी अन्तिमफालि है उसको सर्वसंक्रमणके द्वारा संक्रमाता है। इसप्रकार नपुंसकवेदको पुरुषवेदरूप परिणमाकर नाशको प्राप्त कराता है। ऐसा अर्थ स्त्रीवेदकी क्षपणा आदिमें भी लगाना चाहिए।

[1]बंधेण होदि उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ।
गुणसेढि असंखेज्जापदेसग्गेण बोधव्वा ॥५०॥४४१॥

अर्थः—बधसे उदय अधिक होता है और उदयसे संक्रम अधिक होता है। इसप्रकार प्रदेशाग्रकी अपेक्षा गुणश्रेणि असख्यातगुणी जानना चाहिए। (गुणकाररूपसे पंक्तिकी अपेक्षा गुणश्रेणिका प्रयोग हुआ है।)

विशेषार्थः—'प्रदेश' शब्दसे परमाणुरूप द्रव्य जानना। यहां समयप्रबद्ध बधता है उसमें ७का भाग देनेपर मोहनीयकर्मको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसमें कषाय व नोकषायरूप द्रव्यप्राप्तिके लिए पुनः दोका भाग देनेसे नोकषायरूप पुरुषवेदका जितना द्रव्य प्राप्त होता है उतने प्रमाण तो प्रदेशोंका बन्ध होता है तथा सर्वसत्तारूप पुरुषवेदसंबधी द्रव्यमें गुणश्रेणी आदिके द्वारा दिये गये द्रव्यसहित इससमय उदय आने योग्य निषेकका द्रव्य असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण है सो उतने प्रदेशोंका उदय होता है। ये प्रदेश बंधप्रदेशोको अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं। सर्वद्रव्यको गुणसंक्रमणका भाग देनेसे जो प्रमाण आता है, उतने प्रदेशोंका सक्रमण होता है सो ये प्रदेश भी उदयप्रदेशोंकी अपेक्षा असख्यातगुणे हैं। इसप्रकार एक ही कालमे होनेवाले बन्ध, उदय व सक्रमणकी अपेक्षा अल्पबहुत्व कहनेसे गुणसंक्रमणरूप द्रव्यका प्रमाण जाना जाता है।

जिन प्रकृतियोंका अधःप्रवृत्तसक्रमण होता है उनका भी संक्रमण द्रव्य असख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण होनेसे उदयद्रव्यकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है।

शङ्काः—उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे अधःप्रवृत्तसंक्रमणभागहार असंख्यातगुणा है अतः अधःप्रवृत्तसंक्रमणद्रव्य उदयद्रव्यसे असंख्यातगुणा नहीं हो सकता।

समाधानः—अपकर्षित किया हुआ सभी द्रव्य गुणश्रेणिमे नही दिया जाता उसका असख्यातवांभागप्रमाण द्रव्य दिया जाता है अतः उदयद्रव्यसे संक्रमणद्रव्य असंख्यातगुणा है[2]।

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६९ गा. १४४ के समान। ध० पु० ६ पृ०३५९। ज० ध० मूल पृ० १९६४।
२. जयधवल मूल पृष्ठ १९६५।

ँगुणसेढिअसंखेज्जा पदेसअग्गेण संकमो उदओ।
से काले से काले भज्जो बंधो पदेसग्गे ॥५१॥४४२॥

अर्थ:—प्रदेशाग्रकी अपेक्षा सक्रमण और उदय उत्तरोत्तर कालमें असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे होते हैं, किन्तु प्रदेशाग्रमे बन्ध भजनीय है।

विशेषार्थ:—अन्तरकरणकी समाप्तिके पश्चात् प्रथमसमयमें प्रदेशोदय अल्प होता है, तदनन्तरसमयमे असख्यातगुणा होता है। इसी क्रमसे उत्तरोत्तर समयोंमें असख्यातगुणितक्रमसे प्रदेशोका उदय होता रहता है। जैसी प्ररूपणा उदयसम्बन्धी है वैसी ही गुणसक्रमणकी भी है। प्रथमसमयमें प्रदेशोंका संक्रमण अल्प होता है तदनन्तरसमयमे असख्यातगुणे प्रदेशोंका सक्रमण होता है। उत्तरोत्तर समयोंमें असख्यातगुणितक्रमसे प्रदेशोका सक्रमण होता है। पूर्व समयमे जितने प्रदेशोका बन्ध हुआ उससे अनंतर समयमे असख्यातगुणित प्रदेशवन्धका नियम नही है। प्रदेशबन्ध कदाचित् चतुर्विधवृद्धिसे (असख्यातवेंभागवृद्धि, सख्यातवेंभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि) बढ़ भी सकता है, कदाचित् चतुर्विध हानिरूपसे (असंख्यातवेंभागहानि, सख्यातवेंभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि) घट भी सकता है और कदाचित् तदवस्थ भी रह सकता है अर्थात् जितने प्रदेशोका पूर्वसमयमें बन्ध हुआ था उतने ही प्रदेशोका उत्तरसमयमें भी वन्ध होता है। अध प्रवृत्तसक्रमणमें असंख्यातगुणाक्रम नही है मात्र विशेषअधिक या विशेषहीन होती है।

प्रदेशवन्ध योगके कारण होता है। क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेवालेके योगकी वृद्धि-हानि और अवस्थान ये तीनो अवस्थायें सम्भव हैं, क्योंकि वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमके अनुसार योगमे हानि-वृद्धि और अवस्थान होता है। योगस्थान असख्यात हैं, क्योंकि जीवप्रदेश असंख्यात हैं अत. योगमें अनन्तवेंभागवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, अनन्तवेंभागहानि और अनन्तगुणहानि सम्भव नही है। इसीलिये षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिके स्थानपर चतुर्विध हानि-वृद्धि कही गई है[२]।

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७७२ गाथा १४९ के समान। ध० पु० ६ पृ० ३६०। ज० ध० मूल पृष्ठ १९९९।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १९९९।

[1]इदि संढं संकामिय से काले इत्थिवेदसंकमगो ।
अण्णं ठिदिरसखंडं अण्णं ठिदिबंधमार[2]वई ॥५२॥४४३॥
थी अद्धा संखेज्जाभागेपगदे तिघादिठिदिबंधो ।
वस्साणं संखेज्जं थी संकंतापगद्धंते ॥५३॥४४४॥
ताहे संखसहस्सं वस्साणं मोहणीयठिदिसंतं ॥पूर्वा.गा.५४॥४४५॥

अर्थः—इसप्रकार नपुंसकवेदको संक्रमाकर तदनन्तरकालमें स्त्रीवेदका संक्रामक प्रथमसमयवर्ती आयुक्तक्रियाके द्वारा होता हैं । उससमयमें अन्यस्थितिकाण्डक, अन्य ही अनुभागकाण्डक और अन्य स्थितिबन्धका प्रारम्भ करता है । पश्चात् (स्थितिकांडकपृथक्त्वसे) स्त्रीवेदके क्षपणकालका संख्यातवांभाग व्यतीत होनेपर तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष प्रमाणवाला होता है, तत्पश्चात् (स्थितिकाण्डक पृथक्त्वके द्वारा) स्त्रीवेदका जो शेष स्थितिसत्त्व है वह सब क्षपणाके लिये ग्रहण हो जाता हैं । (शेष कर्मोंके स्थितिसत्त्वका असंख्यातबहुभाग क्षपणाके लिए ग्रहण हो जाता है । उस समय मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातहजार वर्षप्रमाण हो जाता है । शेषकर्मोंका स्थितिसत्त्व पल्यके असंख्यातवेंभागप्रमाण है) अन्तिम स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर संक्रम्यमान स्त्रीवेद संक्रान्त हो जाता हैं । इसप्रकार पुरुषवेदमें संक्रान्त होकर स्त्रीवेदका क्षय हो जाता है ।

विशेषार्थः—अप्रशस्त होनेके कारण नपुंसकवेदके पश्चात् स्त्रीवेदकी क्षपणा प्रारम्भ करता है । उस समय पूर्वमें तीनघातियाकर्मोंका जो स्थितिबन्ध असख्यातवर्षका होता था वह घटकर संख्यातवर्षका रह जाता है[3] ।

[4]से काले संकमगो सत्तण्हं णोकसायाणं ॥५४॥उत्तरार्ध॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५३-५४ सूत्र २१७ से २२३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६०-६१ । जयधवल मूल पृष्ठ १९६७-६८ ।

२. "ठिदिबंधमारवई" इत्यस्यस्थाने 'ठिदिबंधमारभदि' इति पाठो प्रतिभाति ।

३. जयधवल मूल पृ० १९६७-६८ ।

४. क०पा० सुत्त पृ० ७५४ सूत्र २२४से २३२ । ध. पु. ६ पृष्ठ ३६१ । ज. ध. मूल पृष्ठ १९६८-६९ ।

ताहे मोहो थोवो संखेज्जगुणं तिघादिठिदिबंधो ।
तत्तो असंखगुणियो णामदुगं साहियं तु वेयणियं ॥५५॥

ताहे असंखगुणियं मोहादु तिघादिपयडिठिदिसंतं ।
तत्तो असंखगुणियं णामदुगं साहियं तु वेयणियं ॥५६॥

अर्थः—स्त्रीवेदकी क्षपणाके अनन्तरसमयमें (प्रथमसमयवर्ती) सात नोकषाय (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) का संक्रामक होता है। उस प्रथमसमयमे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध स्तोक, तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा, नामद्विक (नाम-गोत्र) कर्मोंका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक अर्थात् डेढगुणा है। उसी प्रथमसमयमे मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व स्तोक, तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व असख्यातगुणा, नामद्विक (नाम-गोत्र) का स्थितिसत्त्व असख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मका स्थितिसत्कर्म सख्यातवर्षका हो जानेपर भी तीन घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातवर्षप्रमाण नही होता इसीलिए स्थितिसत्कर्मका अल्पबहुत्व पूर्वके समान है[1]।

[2]सत्तण्हं पढमट्ठिदिखंडे पुण्णे दु मोहठिदिसंतं ।
संखेज्जगुणविहीणं सेसाणमसंखगुणहीणं ॥५७॥४४८॥

अर्थः—सात (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) प्रकृतियोका प्रथमस्थितिकाण्डकघात पूर्ण होनेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा हीन और शेषकर्मोंका स्थितिसत्त्व असख्यातगुणाहीन हो जाता है।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मकी भेदरूप नव नोकषायोमे से नपुंसक व स्त्रीवेदका संक्रमणद्वारा क्रमश. क्षय हो जानेपर शेष सात नोकषायोका घात करनेके लिये स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरणादिका प्रारम्भ होता है। स्थिति-

1. जयधवल मूल पृष्ठ १९९९।
2. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३३-३४। ध० पु० ६ पृष्ठ ३६१। जयधवल मूल पृष्ठ १९९९।

काण्डकघातके द्वारा स्थितिसत्कर्मके बहुभागका घात होते-होते एकभाग शेष रह जाता है। मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातवर्षप्रमाण है। अतः प्रथमस्थितिकाण्डकघातकी अन्तिमफालिका पतन होनेपर मोहनीयकर्मसम्बन्धी स्थितिसत्त्वके संख्यातबहुभाग घात हो जानेपर शेष स्थितिसत्त्व संख्यातगुणाहीन अर्थात् संख्यातवेंभाग रह जाता है। शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम और गोत्र इनछह कर्मोके स्थिति-सत्कर्मका असंख्यातबहुभाग उसी (प्रथम) स्थितिकाण्डकघातके द्वारा घाता जानेसे शेष स्थितिसत्त्व असंख्यातवेंभागहीन अर्थात् असंख्यातवेंभाग रह जाता है। इनछह कर्मोंका स्थितिसत्त्व, मोहनीयकर्मके स्थितिसत्त्वसे असंख्यातगुणा होनेके कारण (गाथा ५६) असंख्यातवर्षप्रमाण है। अतः स्थितिसत्त्वका बहुभाग अर्थात् असंख्यातबहुभागका घात प्रथमस्थितिकाण्डककी अन्तिमफालिके पतनके समय हो जाता है।

[1]सत्तण्हं पढमट्ठिदिखंडे पुण्णेति घादिठिदिबंधो।
संखेज्जगुणविहीणं अघादितियाणं असंखगुणहीणं॥५८॥४४६॥

अर्थ:—सातकर्मोका प्रथमस्थितिकाण्डक पूर्ण होनेपर घातियाकर्मोका स्थिति-बन्ध संख्यातगुणाहीन और तीन अघातियाकर्मोंका असंख्यातगुणाहीन हो जाता है।

विशेषार्थ:—सात (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) नो-कषायको क्षय करनेके लिए अन्यस्थितिकाण्डक, अन्यस्थितिबन्धापसरण और अन्य ही अनुभागकाण्डकका प्रारम्भ होता है। स्थितिकाण्डकके द्वारा स्थितिसत्त्वका घात होता है, स्थितिबन्धापसरणसे स्थितिबन्ध घटता है और अनुभागकाण्डकके द्वारा अप्रशस्त (अशुभ-पाप) प्रकृतियोंके अनुभागका घात होता है। हजारों अनुभागकाण्डकोंके हो जानेपर एक स्थितिकाण्डकपूर्ण होता है और अन्तिम अनुभागकाण्डकघात व स्थिति-काण्डक युगपत् समाप्त होते है। एक स्थितिकाण्डकका काल और स्थितिबन्धापसरणका काल परस्पर तुल्य है। सात नोकषायोके स्थितिसत्त्वका घात करनेके लिए जो प्रथम-स्थितिकाण्डक प्रारम्भ हुआ था उसके पूर्ण होनेपर अर्थात् प्रथमस्थितिकाण्डककाल समाप्त होनेपर प्रथमस्थितिबन्धापसरणद्वारा स्थितिबन्धका बहुभाग घट जाता है अर्थात् प्रथमस्थितिबन्धापसरण पूर्ण होनेपर जो स्थितिबन्ध होता है वह पूर्वस्थितिबन्धका

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३५-३६। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६१। ज० ध० मूल पृष्ठ १९९९।

संख्यातवांभागमात्र होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनघातिया-कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षमात्र होता था अतः प्रथमस्थितिकाण्डककाल पूर्ण होने-पर प्रथमस्थितिबन्धापसरणके द्वारा घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध सख्यातबहुभाग घटकर संख्यातगुणा हीन अर्थात् सख्यातवेंभाग हो जाता है। इसीप्रकार प्रथमस्थितिकाण्डक-काल पूर्ण होनेपर उसी प्रथमस्थितिबन्धापसरणके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातबहुभाग घटकर असंख्यातगुणाहीन अर्थात् असख्यातवेंभाग हो जाता है। अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध असख्यातवर्षप्रमाण होता था इसलिए उनमें असख्यातबहुभागका स्थितिबन्धापसरण होता है। यहा 'प्रथमस्थिति-काण्डक पूर्ण होनेपर' ये शब्दमात्र प्रथमस्थितिकाण्डककाल अन्तर्मुहूर्त है इस बातके द्योतक हैं; कारणके द्योतक नही, क्योंकि स्थितिकाण्डकद्वारा स्थितिबन्ध नही घटता। यदि कहा जाय कि स्थितिकाण्डकसे स्थितिसत्त्व और बन्ध दोनोका घात होता है तो स्थितिबन्धापसरणका कोई कार्य ही नहीं रहेगा।

[1]ठिदिबंधपुधत्तगदे संखेज्जदिमं गदं तदद्धाए।
एत्थ अघादितियाणं ठिदिबंधो संखवस्सं तु ॥५९॥४५०॥

अर्थः—पृथक्त्व स्थितिबन्धापसरणोंके हो जानेपर सात नोकषायके क्षपणा-कालका संख्यातवांभाग व्यतीत हो जाता है तब तीनअघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षवाला हो जाता है।

विशेषार्थः—पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इनसात नोकषायोके क्षपणाकालका सख्यातवांभाग व्यतीत हो जानेपर तब नाम व गोत्र, वेद-नीय इन तीनअघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वबन्धापसरणोके द्वारा असंख्यातवर्षसे घटकर संख्यातहजारवर्षप्रमाण हो जाता है। इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणके द्वारा असंख्यातवर्ष घटता है। इसप्रकार सर्वकर्मोंका स्थिति-बन्ध संख्यातवर्ष होने लगता है।

[2]ठिदिखंडपुधत्तगदे संखाभागा गदा तदद्धाए।
घादितियाणं तत्थ य ठिदिसंतं संखवस्सं तु ॥६०॥४५१॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३७। ध० पु० ६ पृष्ठ ३६१। जयधवल मूल पृष्ठ १९६९।
२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३८। ध पु. ६ पृष्ठ ३६१-६२। ज. ध. मूल पृष्ठ १९६९-७०।

अर्थः—पृथक्त्वस्थितिखण्डोंके हो जानेपर सात नोकषायोंके क्षपणाकालका संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जाता है उससमय तीनघातिया कर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातवर्षप्रमाण रह जाता है।

विशेषार्थः—अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष हो जानेके पश्चात् जब [1]पृथक्त्व अर्थात् बहुत स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जाते हैं और पुरुषवेद व हास्यादिछह नोकषायोंके क्षपणाकालका संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जाता है तथा संख्यातवांभाग शेष रह जाता है उससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिसत्कर्म संख्यातवर्षप्रमाण रह जाता है। जो स्थितिसत्त्व पूर्वमें असंख्यातवर्षवाला था वह स्थितिकाण्डकोंके द्वारा घातित होकर संख्यातवर्षमात्र रह जाता है, क्योंकि सात नोकषायके क्षपणकालमें संख्यातहजारवर्ष आयामवाला भी स्थितिकाण्डक होता है। यहांसे लेकर तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) घातिया कर्मोंके प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण और स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर स्थितिबन्ध एवं स्थितिसत्त्व संख्यातगुणे हीन होते जाते हैं। स्थितिकाण्डकायाम व स्थितिबन्धापसरणका विषय भी संख्यातगुणा है। स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर नाम, गोत्र व वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणाहीन हो जाता है। इस क्रमसे तबतक जाते हैं जबतक कि सात नोकषायोंके संक्रामकका अन्तिमस्थितिबन्ध होता है।

पडिसमयं असुहाणं रसबंधुदया अणंतगुणहीणा।
बंधोत्ति य उदयादो तदणंतरसमय उदयोथ ॥६१॥४५२॥

अर्थः—अशुभप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध व अनुभाग उदय प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन होता है। अनुभागउदयसे अनुभागबन्ध अनन्तगुणाहीन होता है, किन्तु इस बन्धसे अनन्तरसमयमें होनेवाला उदय अनन्तगुणाहीन होता है।

विशेषार्थः—अशुभप्रकृतियोंके अनुभागका उदय पूर्वसमयमें बहुत होता है। इससे अनन्तर उत्तरसमयमें अनुभागोदय अनन्तगुणाहीन होता है। इसप्रकार आगे-आगेके समयोंमें अनुभागका उदय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन होता है। अर्थात्

१. यहां पृथक्त्व शब्द विपुलवाची है।

अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन श्रेणिरूपसे वेदन (उदय) होता है[1]।

[2]विवक्षितसमयमे अप्रशस्तप्रकृतियोंका जो अनुभागबन्ध होता है वह स्तोक है, उसीसमयमे बन्धसे अनुभागोदय अनन्तगुणा होता है अर्थात् अनुभागोदयसे अनुभागबन्ध अनन्तगुणाहीन होता है, क्योकि अनुभागोदय चिरतनसत्त्वके अनुरूप है अर्थात् पूर्वबद्ध अनुभागका उदय विवक्षितकालमे होता है और पूर्वबद्ध अनुभागसत्कर्म विवक्षितसमयमें बधनेवाले अनुभागसे अनन्तगुणा होता है। अन्तिमसमयमे बद्ध अनुभागसे वही उदयागत गोपुच्छाका अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा है, उससे द्विचरमसमयमे होनेवाला अनुभागबन्ध अनन्तगुणा है, उससे वही उदयागत गोपुच्छाका अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा है। इसप्रकार अपूर्वकरणके प्रथमसमयपर्यंत क्रमसे नीचे उतरना चाहिए[3]।

विवक्षितसमयमे अनन्तर उत्तरसमयमे अशुभप्रकृतिका जो अनुभागोदय है वह विवक्षितसमयके अनुभागबन्धसे अनन्तगुणाहीन है। इसप्रकार अपूर्वकरणके प्रथमससयसे लेकर अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्तितक ले जाना चाहिए।

[4]बंधेण होदि उदओ अहियो उदयेण संकमो अहियो।
गुणसेढि अणंतगुणा बोधव्वा होदि अणुभागे ॥६२॥४५३॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० गाथा १४६ का पूर्वार्ध एवं सूत्र ३५६। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ "अणुभागबन्धो अणुभागउदओ च समय पडि असुहाण कम्माणमणतगुणहीणो"। जयधवल मूल पृष्ठ १६६६।

२. "वट्टमाणसमयपबद्धादो वट्टमाणसमए उदओ अणंतगुणो त्ति दट्ठव्वो। किं कारण? चिराण सत सत्त्वत्तादो।" (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ टि० न० ३ व जयधवल मूल पृष्ठ १६६६)

३. जयधवल पु० ५ पृष्ठ १४६। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० सूत्र ३४६ से ३५२ व गाथा १४५ का उत्तरार्ध। "से काले उदयादो एव भणिदे णिरुद्धसमयादो तदणतरोवरिमसमए जो उदओ अणुभागविसओ, तत्तो एसो सपहिसमयपबद्धो अणतगुणो त्ति दट्ठव्वो। कुदो एव च समए समए अणुभागोदयस्स विसोहिपाहम्मेणाणतगुणहाणीए ओवट्टिज्जमाणस्स तहाभावोववत्तीए। (जयधवल मूल पृष्ठ १६६६, धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ टि० न० ३)

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ गाथा १४३। धवल पु० ६ पृ० ३६२। जयधवल मूल पृष्ठ १६६३।

अर्थः—बन्धसे अधिक उदय और उदयसे अधिक संक्रमण होता है। इसप्रकार अनुभागके विषयमें अनंतगुणित गुणश्रेणि जानना चाहिए अर्थात् यहां अधिकका प्रमाण अनन्तगुणा है।

विशेषार्थः—अनुभागकी अपेक्षा तत्काल होनेवाला बन्ध अल्प है, बन्धसे उदय अनन्तगुणा है जो कि चिरंतनसत्त्वके अनुभागस्वरूप है, उदयसे संक्रमण अनन्तगुणा है, क्योंकि अनुभागसत्त्व अनन्तगुणाहीन होकर उदयमें आता है, किन्तु चिरंतनसत्त्वका संक्रमण तदवस्थरूपसे ही परप्रकृतिमें संक्रमित होता है। यह अल्पबहुत्वका कथन घातियाकर्मसम्बन्धी है।

[1]गुणसेढि अणंतगुणेणूणा य वेदगो दु अणुभागो।
गणणादियंतसेढी पदेसअग्गेण बोधव्वा ॥६३॥४५४॥

अर्थः—अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन गुणश्रेणिरूपसे वेदक होता है, किन्तु प्रदेशाग्रकी अपेक्षा गणनातिक्रान्त अर्थात् असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे वेदक जानना चाहिए।

विशेषार्थः—विवक्षितसमयमें अनुभागोदय बहुत होता है। इसके अनन्तरसमयमें अनुभागका उदय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन जानना चाहिए[2]। प्रदेशोदय विवक्षित समयमें अल्प होता है, इसके अनन्तरसमयमें असंख्यातगुणा होता है। इसीप्रकार उत्तरोत्तर समयोंमें सर्वत्र असंख्यातगुणा प्रदेशोदय जानना चाहिए[3]।

---

१. गुणसेढि अणतगुणेणूणाए वेदगो दु अणुभागे। गणणादियंतसेढी पदेसअग्गेण बोद्धव्वा ॥१४६॥ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७०। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३। जयधवल मूल पृष्ठ १९९६।

२. अस्सि समए अणुभागुदयो बहुगो। से काले अणंतगुणहीणो। एव सव्वत्य। (क० पा० सुत्त सूत्र ३५६ पृष्ठ ७७०) तदो समए समए अणंतगुणहीणमणंतगुणहीणमपसत्थकम्माणमणुभागमेसो वेदयदि त्ति गाहा पुव्वद्धे समुदयत्थो। (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ टि० नं० १)। जयधवल मूल पृष्ठ १९९७।

३. पदेसुदयो अस्सि समए थोवो। से काले असंखेज्जगुणो। एवं सव्वत्थं॥ क० पा० सुत्त सूत्र ३५७ पृष्ठ ७७०। गणणादियंतसेढी एवं भणिदे असखेज्जगुणाए सेढीए पदेसग्गमेसो समयं पडि वेदेदि त्ति भणिदं होई। (धवल पु० ६ पृ० ३६३ टि० नं० १)

[1]बंधोदएहिं णियमा अणुभागो होदि णंतगुण हीणो ।
से काले से काले भज्जो पुण संकमो होदि ॥६४॥४५५॥

अर्थ.—तदनन्तरकालमें बन्ध और उदयकी अपेक्षा अनुभाग नियमसे अनन्त-गुणितहीन होता है, किन्तु संक्रमण भजनीय है ।

विशेषार्थः—विवक्षितसमयमे अनुभागबन्ध बहुत होता है और तदनन्तर उत्तरसमयमे विशुद्धिके कारण अनन्तगुणितहीन होता है । इसप्रकार प्रतिसमय अनन्त-गुणितहीन होता जाता है । तथैव अनुभागउदयकी भी प्ररूपणा करनी चाहिए अर्थात् विवक्षितसमयमें अनुभागोदय बहुत होता है और उससे अनन्तरसमयोमें प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन होता जाता है । यद्यपि पूर्वमे भी यह कथन किया जा चुका है तथापि सरलतापूर्वक बोध हो जावे इसलिए पुनः कथन किया गया अतः पुनरुक्तदोषको शका नही करना चाहिए । जबतक अनुभागकाण्डकका पतन नही होता अर्थात् जबतक एक-अनुभागकाण्डकका उत्कीरण होता है, तबतक अवस्थितअनुभागसंक्रमण होता रहता है । अनुभागकाण्डकका पतन होनेपर अन्य अनन्तगुणाहीन अनुभागसक्रमण होता है, क्योकि अनुभागकाण्डकके द्वारा अनन्तबहुभाग अनुभागका घात हुआ है ।

[2]संकमणं तदवट्ठं जाव दु अणुभागखंडयं पडिदि ।
अण्णाणुभागखंडे आढंते णंतगुणहीणं ॥६५॥४५६॥

अर्थः—अनुभागकाण्डकघातके पतन होनेतक तदवस्थ अर्थात् अवस्थितसक्रमण होता है, अन्य अनुभागखडके प्रारम्भ होनेपर पूर्वसे अनन्तगुणा घटता अनुभागसंक्रमण होता है ।

---

१. क० पा० सुत्त पृ० ७७२ गाथा १४८ एवं सूत्र ३६५ से ३६६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ । जय-धवल मूल पृष्ठ १९९८-९९ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७२ पर "संकमो जाव अणुभागखंडयमुक्कीरेदि ताव तत्तिगो तत्तिगो अणु-भागसकमो । अण्णम्हि अणुभागखंडए आडत्ते अणतगुणहीणो अणुभागसंकमो ।" सूत्र ३६९ । "जाव अणुभागखडयं पादेदि ताव अवट्ठिदो चेव संकमो भवदि, अणुभागखंडए पुण पदिदे अणु-भागसंकमो अणतगुणहीणो जायदि त्ति ।" (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ टि० नं० २), जयधवल मूल पृष्ठ १९९८ ।

विशेषार्थः—अनुभागकाण्डकका काल अन्तर्मुहूर्त है, अनुभागकाण्डककालमें प्रतिसमय एक-एक फालिका पतन होता है। फालिपतनसे यद्यपि फालीप्रमाण कर्म-प्रदेशोंका अनुभाग अनन्तगुणाहीन हो जाता है, किन्तु शेष कर्मप्रदेशोमे उतना ही रहता है। अनुभागकाण्डकके शेष सर्व कर्मप्रदेशोंका अन्तिमफालिद्वारा ग्रहण होता है अतः अन्तिमफालिके पतनके समय सर्वप्रदेशोंमेसे अनुभागघात होकर अनन्तगुणाहीन हो जाता है। जबतक अन्तिमफालीका पतन नही होता तबतक अनुभागकाण्डककालमे अनुभाग-सत्कर्म उतना ही रहता है इसलिए अनुभागसंक्रमण भी उतना ही अवस्थितरूपसे होता रहता है। अनुभागकाण्डककी अन्तिमफालीके पतन होनेपर अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा-हीन हो जानेसे अनुभागसंक्रमण भी अनन्तगुणाहीन होता है। यही क्रम अन्य अनुभाग-काण्डकोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

[1]सत्तण्हं संकामगचरिमे पुरिसस्स बंधमडवस्सं।
सोलस संजलणाणं संखसहस्साणि सेसाणं ॥६६॥४५७॥

अर्थः—सातकर्मोंके संक्रमणके अन्तिमसमयमें पुरुषवेदका आठवर्षप्रमाण, संज्वलनकषायोंका १६ वर्षप्रमाण एवं शेष छहकर्मोंका संख्यातहजारवर्षप्रमाण स्थिति-बन्ध होता है।

विशेषार्थः—पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन सात नोकषायरूप कर्मोंके संक्रामक अर्थात् क्षपकके अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षसे यथाक्रम घटकर पुरुषवेदका आठवर्षप्रमाण, सञ्ज्वलन क्रोध-मान-माया व लोभका १६ वर्षप्रमाण और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम व गोत्र इन घातिया-अघातियारूप छहकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है। यहांपर पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे पुरुषवेदका यह आठवर्षवाला जघन्यस्थिति बन्ध होता है तथा शेषकर्मोंका जघन्यस्थितिबन्ध अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय होता है। इन उपर्युक्त पुरुषवेदादि सातकर्मोंका क्षय क्रोधसञ्ज्वलनमें संक्रमणके द्वारा होता है अतः गाथामें 'क्षपक' के स्थानपर 'संक्रामक' शब्दका प्रयोग किया गया है। यहांपर संक्रामकका अभिप्राय क्षपकसे ही है।

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २४३-४४-४५। ध. पु. ६ पृष्ठ ३६३। ज० ध० मू० पृष्ठ १६७०।

[1]ठिदिसंतं घादीणं संखसहस्साणि होंति वस्साणं ।
होंति अघादितियाणं वस्साणमसंखमेत्ताणि ॥६७॥४५८॥

अर्थः—उसीसमय घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है और अघातियाकर्मोंका असख्यातवर्ष होता है।

विशेषार्थः—सात नोकषायरूप कर्मोंका संक्रमणवाले जीवके अन्तिमसमयमें मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चारघातिया कर्मोंका स्थितिसत्कर्म संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है, क्योंकि घातियाकर्म होनेसे अतिअप्रशस्त है अतः स्थिति-खण्डके द्वारा इनकी अधिक स्थितिका घात होता है। नाम-गोत्र और वेदनीय इनतीन-अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है, क्योंकि अघातिया होनेके कारण घातियाकर्मोंकी अपेक्षा इनका स्थितिघात अल्प होता है।

[2]पुरिसस्स य पढमट्ठिदि, आवलिदोसुवरिदासु आगाला ।
पडिआगाला छिण्णा, पडिआवलियादुदीरणदा ॥६८॥४५९॥

अर्थः—पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दोआवलिमात्र शेष रह जानेपर आगाल व प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है और मात्र प्रत्यावलि शेष रह जानेपर उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है।

विशेषार्थः—प्रथम और द्वितीयस्थितिके प्रदेशपुञ्जोंके उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषयसंक्रमको आगाल व प्रत्यागाल कहते हैं। द्वितीयस्थितिके प्रदेशपुंजका प्रथमस्थितिमें आना आगाल तथा प्रथमस्थितिके प्रदेशपुञ्जका प्रतिलोमरूपसे द्वितीय स्थितिमें जाना प्रत्यागाल है। इसप्रकार पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक दो-आवलियां शेष रहनेतक आगाल और प्रत्यागाल होते हैं। पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें आवलि और प्रत्यावलिमात्रके शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल उपपादानुच्छेदके द्वारा व्युच्छिन्न हो जाते हैं अथवा परिपूर्ण आवलि और प्रत्यावलिके शेष रहनेपर

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २४६-४७। ध० पु० ६ पृ० ३६३। ज० ध० मूल पृष्ठ १९७१।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २४९, धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४। जयधवल मूल पृष्ठ १९७१। यह गाथा ल० सार गाथा २६४ के समान है।

आगाल-प्रत्यागाल होकर पुनः तदनन्तरसमयमें एकसमयकम दोआवलि शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल अनुपपादानुच्छेदके द्वारा व्युच्छिन्न हो जाते हैं, यह उक्त गाथाका अभिप्राय है, क्योंकि उत्पादानुच्छेदका आश्रयलेकर सद्भावके अन्तिमसमयमें ही उसके अभावका विधान गाथामें किया गया है। यहींसे पुरुषवेदकी गुणश्रेणी भी नहीं होती। [1]प्रत्यावलिमें से ही असंख्यातसमयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है[2]।

पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक आवलि शेष रहनेपर जघन्यस्थिति-उदीरणा होती है[3]। अर्थात् पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति जब समाप्त हो जाती है और मात्र उदयावलि एवं उसके ऊपर तदनन्तर एक निषेक रह जाता है उससमय उदयावलिसे बाह्य एकनिषेककी स्थिति एकसमयअधिक उदयावलिमात्र है। तदनन्तरसमयमें वह निषेक भी उदयावलिमें प्रवेश कर जाता है तब पुरुषवेदकी उदीरणा भी व्युच्छिन्न हो जाती है और वह चरमसमयवर्ती सवेदी होता है। उदयावलिप्रमाण निषेकोंका प्रतिसमय परमुखउदय होता रहता है, स्वमुखउदय नहीं होत।

[4]अंतरकदपढमादो कोहे छण्णोकसाययं छुहदि।
पुरिसस्स चरिमसमए पुरिसवि एणेण सव्वयं छुहदि ॥६९॥४६०॥
समऊणदोण्णिआवलिपमाणसमयप्पबद्धणवबंधो।
बिदिये ठिदिये अत्थि हु पुरिसस्सुदयावली[5] च ॥७०॥४६१॥

---

१. उदयावलिसे बादकी (ऊपरकी) आवलिको प्रत्यावलि कहते हैं।

२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ २८५-८६।

३. "समयाहियाए आवलियाए सेसाए जहण्णिया ठिदि उदीरणा" (क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५०; धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४; जयधवल मूल पृष्ठ १९७१)

४. "अंतरादो दु समयकदादो पाए छण्णोकसाए कोधे सछुहदि" ॥२४८। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५। "अंतरादो पढमसमयकदादो पाए छण्णोकसाए कोहे संछुहदि।" (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४) "तदो चरिमसमयपुरिसवेदओ जादो। ताधे छण्णोकसाया संछुद्धा। पुरिसवेदस्स जाओ दो-आवलियाओ समयूणाओ एत्तिगा समयपबद्धा विदियट्ठिदीए अत्थि, उदयट्ठिदी च अत्थि, सेसं पुरिसवेदस्स सतकम्म सव्वं संछुद्ध।" (क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५१ से २५३; धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४; जयधवल मूल पृष्ठ १९७१-७२)

५. 'उदयावली' इत्यस्यस्थाने 'उदयट्ठिदि' इति पाठो वर्तते ध० पु० ६ पृष्ठ ३६४ एवं क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५३, (जयधवल मूल पृष्ठ १९७२)।

अर्थः—अन्तरकृत अर्थात् अन्तरकरण कर चुकनेके पश्चात् प्रथमसमयसे लेकर छह नोकषायोंको संज्वलनक्रोधमें स्थापित करता है। पुरुषवेदके अन्तसमयमें छह नोकषायोंका सर्वद्रव्य संक्रमणको प्राप्त हो चुकता है और उसीसमय पुरुषवेदका भी पुरातन सर्वद्रव्य सज्वलनक्रोधमें सक्रान्त हो जाता है, किन्तु एकसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध द्वितीयस्थितिमें है और उदयावलि भी है।

विशेषार्थः—अन्तरकरण करनेकी क्रिया समाप्त हो जानेके पश्चात् प्रथमसमय में अथवा अन्तरकृत दूसरे समयमें (अन्तरकृत प्रथमसमयके पश्चात्का दूसरासमय) आनुपूर्वीक्रमसे सक्रमणके नियमानुसार छह नोकषायोको संज्वलनक्रोधमे संक्रमण करता है अन्यत्र सक्रमण नहीं करता है। सवेदभागके द्विचरमसमयमें पुरुषवेदकी सत्तामें स्थित पुरानेकर्मोंका और छह नोकषायोंकी अन्तिमफालिका सर्वसंक्रमद्वारा क्रोधसञ्ज्वलनमें सक्रमण करता है। तदनन्तरवेदका अनुभव करनेवाला सवेदभागके चरमसमयसे लेकर एकसमयकम दोआवलि कालतक पुरुषवेद और चारसञ्ज्वलन इन पांचप्रकृतियोकी सत्तावाला होता है[१], क्योंकि पुरुषवेदका एकसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावली (उदयावली) का द्रव्य शेष है।

दोसमयकम दोआवलियोंमें जितने समयप्रबद्ध होते हैं उतने समयप्रबद्ध प्रथमसमयवर्ती अपगतवेदीके होते हैं।

शंका—दोआवलियोमे किसकारणसे दोसमयकम किये गए हैं ?

समाधानः—अपगतवेदीके प्रथमसमयसे लेकर आगेकी एकआवलिप्रमाणकाल अपगतवेदकी प्रथमावलि है और इससे आगेकी दूसरी आवलिप्रमाणकाल उसकी दूसरी आवलि है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अपगतवेदसे है। उस द्वितीयावलिके त्रिचरमसमयतक अन्तिमसमयवर्ती सवेदीके द्वारा बांधा गया कर्म दिखाई देता है, क्योंकि एकसमयकम दोआवलिके अतिरिक्त और अधिककालतक विवक्षित नवकसमयप्रबद्धका अवस्थान नही पाया जाता। अपगतवेदीके एकसमयकम एकावलिकालतक नवकसमयप्रबद्ध निर्लेप नही होता अर्थात् तदवस्थ रहता है, क्योंकि बन्धावलिकालमें उसका अन्यप्रकृति संक्रमण नही होता तथा संक्रमणका प्रारम्भ होनेपर भी एकसमयकम एकआवलिप्रमाण कालमें

---

१. जयधवल पु० २ पृ० २३४-३५।

भी वह निर्लेप नहीं होता, क्योंकि संक्रमणावलिके अन्तिमसमयमें उसका अभाव पाया जाता है इसलिए अपगतवेदीकी द्वितीयआवलिके तृतीयसमयतक वह समयप्रबद्ध पाया जाता है तथा उस द्वितीयआवलिके द्विचरमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि सवेदीके अन्तिमसमयसे गिननेपर वहां पूरी दोआवलियां पाई जाती हैं। उपान्तसमयवर्ती सवेदीने जो पुरुषवेदकर्म बांधा है वह अपगतवेदीके द्वितीयआवलिके चतुःचरमसमयतक दिखाई देता है और त्रिचरमसमयमें अकर्मपनेको प्राप्त होता है, क्योकि अपगतवेदीकी दोसमयकम प्रथमावलिसे बंधावलि बिताकर प्रथम आवलिके द्विचरमसमयमें इस नवकसमयप्रबद्धका संक्रमण प्रारम्भ होता है एवं अपगतवेदीको द्वितीयआवलिके त्रिचरमसमयमें वह नवकसमयप्रबद्ध अकर्मभावको प्राप्त होता है। बन्धसमयसे लेकर यहांतक गिननेपर पूरी दो आवलियां हो जाती हैं। जो कर्म सवेदीने त्रिचरमसमयमें बांधा है वह अपगतवेदीके द्वितीयआवलिके पंचमचरमसमयतक दिखाई देता है। जो पुरुषवेदकर्म सवेदीने अपने चतुर्थ समयमें बांधा है वह अपगतवेदीकी द्वितीयआवलिके षष्ठम चरमसमयतक दिखाई देता है। इसीप्रकार अन्तिमआवलिके प्रथमसमयतक ले जाना चाहिए। सवेदभागकी अन्तिमआवलिके प्रथमसमयमें जो पुरुषवेदकर्म बधा है वह अपगतवेदीकी प्रथमआवलिके अन्तिमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि कर्मबन्धके समयसे गिनती करनेपर अपगतवेदीकी प्रथमआवलिके अन्तिमसमयमें बन्धावलि और संक्रमावलि इसप्रकार वहांतक पूरी दोआवलियोंका प्रमाण पाया जाता है एवं नवकसमयप्रबद्ध एकसमयकम दोआवलिसे अधिककालतक नही रहता है, क्योंकि और अधिककालतक इसके रहनेका निषेध है। सवेदीने अपनी द्विचरमावलिके प्रथमसमयमें जो कर्म बाधा है वह सवेदीके अन्तिमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि नवकबन्धके समयसे लेकर गिनती करनेपर वहां पूर्ण दोआवलियां पाई जाती हैं। जो कर्म सवेदीकी उसी द्विचरमावलिके द्वितीयसमयमें बधा है वह अपगतवेदीके प्रथमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि नवकबन्धके समयसे लेकर अपगतवेदके प्रथमसमयमें पूर्ण दोआवलियां पाई जाती हैं।

इसप्रकार सवेदभागकी द्विचरमावलिके प्रथम और द्वितीयसमयमें बन्धको प्राप्त हुए समयप्रबद्ध अपगतवेदके प्रथमसमयमें नहीं हैं; किन्तु सवेदभागकी दोसमयकम द्विचरमावलि और चरमावलिसम्बन्धी सर्व समयप्रबद्ध पाए जाते हैं[1], क्योकि सवेद-

1. जयधवल पु० ६ पृष्ठ २९३ से २९७ तक।

भागको द्विचरमावलिके दूसरे समयमें बंधा समयप्रबद्ध अवेदभागके प्रथमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है अत: गाथा ७०में सवेदभागकी द्विचरमावलीके प्रथमसमयप्रबद्धको कमकरके ही "समऊण दोण्णि आवलिय" अर्थात् एकसमयकम दोआवलि कहा गया है।

अथानन्तर अश्वकर्णकरणका स्वरूप कहते हैं—

[1]से काले ओवट्टणिउव्वट्टण अस्सकण्ण आदोलं।
करणं तियसण्णगदं संजलणरसेसु वट्टिहिदि ॥७१॥४६२॥

अर्थः—(अन्तिमसमयवर्ती पुरुषवेदके) "से काले" अनन्तरसमयमें अपवर्तन-उद्वर्तन, अश्वकर्णकरण, आदोलकरण ऐसा तीन नामवाला करण सज्वलनकषायके अनुभागमें प्रवृत्त होता है।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण, आदोलकरण, अपवर्तनोद्वर्तनकरण ये तीनों एकार्थक नाम हैं। अश्वकर्ण अर्थात् घोड़ेके कानके समान जो क्रोधसंज्वलनसे लोभसंज्वलनतक अनुभागस्पर्धक क्रमसे हीयमान होते हुए चले जाते हैं उनको अश्वकर्णकरण कहते हैं। आदोल हिंडोलेको कहते हैं, जिसप्रकार हिंडोलेके स्तम्भ और रस्सीके अन्तरालमें घोड़ेके कान सदृश त्रिकोणाकार दिखता है। इसीप्रकार यहां भी क्रोधादि संज्वलनकषायोके अनुभागका सन्निवेप भी क्रमसे घटता हुआ दिखता है अत: इसे आदोलकरण भी कहते हैं। क्रोधादिकपायोका अनुभाग क्रोधसे लोभकषायपर्यन्त हानिरूप और लोभसे क्रोध-

---

१. किन्तु धवल पु० ६ पृ० ३६४ पर टिप्पण नं० ५ मे "से काले ओवट्टणि उव्वट्टण अस्सकण्ण आदोल" इति। गाथाके पूर्वार्धका यह पाठ शुद्ध प्रतिभासित होता है। अत: लब्धिसार-क्षपणासार मुद्रितप्रतिमे छपे "से काले ओवट्टणिउट्टण अस्सकण्ण आदोल" के स्थानपर उपर्युक्त शुद्ध पाठ ही दिया है। 'अस्सकण्णकरणे त्ति वा आदोलकरणे त्ति ओवट्टण-उव्वट्टणकरणे त्ति वा तिण्णि णामाणि अस्सकण्णकरणस्स" क० पा० सुत्त पृ० ७८७ सूत्र ४७२। जयधवल मूल पृ० २०२२।

तक वृद्धिरूप अर्थात् हानि-वृद्धिरूप दिखाई देनेके कारण इसे अपवर्तनोद्वर्तनकरण भी कहते हैं[1]।

छह नोकषायका द्रव्य और पुरुषवेदका प्राचीनसत्कर्म सर्वसंक्रमणद्वारा क्रोधमें संक्रांत हो जानेके अनन्तरसमयमें प्रथमसमयवर्ती अवेदी होता है उसी समयमें प्रथमसमयवर्ती अश्वकर्णकरणकारक होता है अर्थात् क्रोधसे लोभतक चारों संज्वलनकषायोंका अनुभाग-क्रमसे हीयमान हो जाता है। क्रोधके अनुभागसे मानका अनुभाग हीयमान, मानसे मायाका अनुभाग हीयमान और मायासे लोभका अनुभाग हीयमान हो जाता है।

[2]ताहे संजलणाणं ठिदिसंतं संखवस्ससयसहस्सं।
अंतोमुहुत्तहीणो सोलसवस्साणि ठिदिबंधो ॥७२॥४६३॥

अर्थः—'ताहे' वहां अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें संज्वलनकषायोंका स्थिति-सत्त्व संख्यातहजारवर्ष है और स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम सोलहवर्ष है।

विशेषार्थः—यद्यपि सात नोकषायोके क्षपणकालमें सर्वत्र संज्वलनकषायोंका स्थितिसत्त्व सख्यातहजारवर्ष ही था, किन्तु अश्वकर्णकरण करनेके प्रथमसमयमें वह संख्यात-सहस्र स्थितिकाडकोसे संख्यातगुणितहानिके द्वारा पर्याप्तरूपसे घटकर उससे संख्यातगुणित-हीन हो जाता है। सवेदके अतिमसमयमे चारोंसंज्वलनकषायोंका स्थितिबध पूर्ण १६वर्षप्रमाण था वह स्थितिबध वहीपर समाप्त हो जाता है। अश्वकर्णकरणके अर्थात् अवेदके प्रथमसमयमें

---

१. अश्वस्य कर्णः अश्वकर्णः, अश्वकर्णवत्करणमश्वकर्णकरणम्। यथाश्वकर्णः अग्रात्प्रभृत्यामूलात् क्रमेण हीयमानस्वरूपो दृश्यते, तथेदमपि करण क्रोधसज्वलनात्प्रभत्यालोभसंज्वलनाद्यथाक्रम-मनन्तगुणहीनानुभागस्पर्धकसंस्थानव्यवस्थाकरणमश्वकर्णकरणमिति लक्ष्यते। संपहि आदोलन-करणसण्णाए अत्थो वुच्चदे–आदोलं णाम हिंदोलमादोलमिवकरणमादोलकरणं। यथा हिदो-लत्थभस्स वरत्ताए च अतराले तिकोणं होदूण कण्णायारेण दीसइ, एवमेत्थ वि कोहादिसंजल-णाणमणुभागसण्णिवेसो कमेण हीयमाणो दीसइ त्ति एदेण कारणेण अस्सकण्णकरणस्स आदोल-करणसण्णा जादा। एवमोवट्टण-उव्वट्टणकरणेत्ति एसो वि पज्जायसद्दो अणुगयट्ठो दट्ठव्वो, कोहादिसंजलणाणमणुभागविण्णासस्स हाणिवड्ढिसरूवेणावट्ठाणं पेक्खियूण तत्थ ओवट्टणुव्वट्टण-सण्णाए पुव्वाइरिएहिं पयट्टिवेदत्तादो। क॰ पा॰ सुत्त पृ० ७५५–५६। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४ टिप्पण नं० ५।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७८८ सूत्र ४७४-७५। ध. पु. ६ पृष्ठ ३६५। ज. ध. मूल पृष्ठ २०२२-२३।

अन्यस्थितिबन्ध प्रारम्भ होता है। प्रत्येक स्थितिबन्धमें अन्तर्मुहूर्तस्थितिका अपसरण होता है अतः अवेदके प्रथमसमयमें अन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १६ वर्षका होता है[1]। तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध व सत्त्व संख्यातहजारवर्ष है। तीन अघातिया-कर्मोंका स्थितिबन्ध सख्यातहजारवर्ष और सत्त्व असंख्यातवर्ष है।

[2]रससंतं [3]आगहिदं खंडेण समं तु माणगे कोहे।
मायाए लोभेवि य अहियकमा होंति बंधेवि ॥७३॥४६४॥

अर्थ—अश्वकर्णकरणको प्रारम्भ करनेवालेने अनुभागखण्डके द्वारा अनुभाग-को घातकरनेके लिए जिस अनुभागसत्त्वको ग्रहण किया है वह अनुभागसत्त्व मान, क्रोध, माया और लोभमे विशेषअधिक क्रमसे हैं। अनुभागबन्धभी इसी क्रमसे होता है।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरणको प्रारम्भ करनेवालेने जिस अनुभागसत्त्वमे से अनुभागखण्डनको ग्रहण किया है, उसकालमें (अवेदीके प्रथमसमयमे) उस अनुभागसत्त्व-का यह अल्प बहुत्व है[4]—अनुभागसत्त्व मानमे स्तोक, क्रोधमे विशेषअधिक, मायामें विशेषअधिक और लोभमे विशेषअधिक है अर्थात् अनिवृत्तिकरण नामक ९वें गुणस्थानके अवेदभागके प्रथमसमयमें जब अश्वकर्णकरणका प्रारम्भ होता है और अनुभागको घात-करनेके लिए अनुभागकाण्डकको (आगहिद) ग्रहण करता है उसके साथ रहनेवाला अनुभागसत्त्व इसप्रकार है—मानमें अनुभागसत्त्व स्तोक, उससे क्रोधका अनुभागसत्त्व विशेषअधिक, उससे मायाका अनुभागसत्त्व विशेषअधिक और उससे लोभका अनुभाग-

---

१. "चरिमसमयसवेदस्स ठिदि बधो सजलाण संपुण्णसोलसवस्समेत्तो तम्मि चेव पज्जवसिदो। तदो ट्ठिदिबधे समत्ते पढमसमय अवेदो अण्ण ट्ठिदिबंधमाढवेइमाणो सजलाणाणं पुव्विल्लट्ठिदिबधादो अतोमुहूत्तूणं ट्ठिदिबधमाढवेइ एत्तो पाए सजलणाण ट्ठिदिबधोऽपसरणस्स अतोमुहुत्तपमाणत्तादो।" (जयधवल पु० १३ पृ० २८९-९०)

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७८८ सूत्र ४७६-४८०। ध० पु० ६ पृष्ठ ३६५। जयधवल मूल पृष्ठ २०२३।

३. "अणुभागसंतकम्म सह आगाइदेण माणे थोवं ॥४७६॥ क.पा. सुत्त पृष्ठ ७८८।" "अणुभागसत-कम्म आगइदेण सह माणे थोवं, कोहे विसेसाहियं, मायाए विसेसाहिय, लोभे विसेसाहिय" (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६५)

४. धवल पु० ६ पृष्ठ ३६५ टि० नं० २। जयधवल मूल पृष्ठ २०२३।

सत्त्व विशेषअधिक होता है। यहां विशेषअधिकका प्रमाण अनन्त अविभागप्रतिच्छेद है। अनुभागका यह अल्पबहुत्व अन्तदीपक है, इससे नीचे भी संज्वलनके अनुभाग-सत्कममें अल्पबहुत्वका यही विधान है और अनुभागबन्ध भी इसी अल्पबहुत्व विधिके क्रमसे होता है।

[1]रसखंडफड्डयाओ कोहादीया हवंति अहियकमा।
अवसेसफड्डयाओ लोहादि अणंतगुणिदकमा ॥७४॥४६५॥

अर्थः—अनुभागखण्डके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धक क्रोधादि कषायोंमें विशेष-अधिक क्रमसे होते हैं, किन्तु घात होनेके पश्चात् शेष रहे स्पर्धक लोभादिकषायोंमें अनन्तगुणितक्रमसे होते है।

विशेषार्थः—**शङ्का**:—अश्वकर्णकरणसे नीचे अशेष अनुभागकाण्डकोंमें मानके स्पर्धक स्तोक, उससे विशेषअधिक क्रोधके, इससे विशेषअधिक मायाके और इससे विशेषअधिक लोभके स्पर्धक प्रवृत्त होते है, क्योंकि अनुभागसत्त्वके अनुसार अनुभाग-काण्डकघातोमें अल्पबहुत्व होता है, किन्तु अश्वकर्णकरणसम्बन्धी अनुभागकाण्डकमें क्रोधके स्पर्धक सबसे स्तोक और उससे मानसे लोभपर्यन्त स्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे क्यों ग्रहण किए गये ?

समाधानः—अश्वकर्णकरणमें घातसे बचे हुए शेष अनुभागका लोभसे अनन्त-गुणा मायाका, मायासे अनन्तगुणा मानका और मानसे अनन्तगुणा क्रोधका, ऐसा क्रम होता है जो गाथामें कथित अनुभागके द्वारा ही सम्भव है अन्यप्रकार घातके द्वारा संभव नहीं है। अथवा अपूर्वस्पर्धक विधानके पश्चात् क्षय होनेवाले कर्मोमें जिनका मन्दउदय होकर घात होता है उनके अनुभागसत्कर्मका बहुत घात होता है। लोभका सबसे अंतमें घात होनेसे उसका मन्दतम उदय होकर घात होता है अतः अश्वकर्णकरणके प्रथम-समयमे लोभके अधिकस्पर्धक घातके लिए ग्रहण होते हैं उससे पूर्व मायाका मन्दतर उदय होकर घात होता है और उससे भी पूर्व मानका मन्दउदय होकर घात होता है। क्रोधका सर्वप्रथम घात होनेसे उसके अनुभागका मानके समान मन्दउदय होकर घात नहीं होता, किन्तु मानकी अपेक्षा विशेषअधिक अनुभागके साथ घात होता है। इसलिए

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७८८ सूत्र ४८१-८८। ध० पु० ६ पृष्ठ ३६५। ज० ध० मूल पृष्ठ २०२३-२४।

अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें अनुभागखण्डके लिए ग्रहण किए गये स्पर्धक क्रोधके स्तोक, मानके विशेषअधिक, उससे मायाके विशेषअधिक और उससे लोभके विशेषअधिक इस-क्रमसे होते हैं।

क्रोधमे जितना अनुभाग छोड़कर शेषको घात करनेके लिए ग्रहण किया जाता है मानमें उसका अनन्तवांभाग छोड़कर शेषको घात करनेके लिये ग्रहण करते हैं। इसीप्रकार माया व लोभमे भी जानना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण निम्न अङ्कसंदृष्टिसे हो जाता है।

घातसे पूर्व क्रोधादि चारसञ्ज्वलनकषायोके अनुभागका क्रम [९६।९५।९७।९८]
घातके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धक [६४।७९।८९।९४]
क्रोधादिके शेष स्पर्धक [३२।१६।८।४]

घातसे पूर्व क्रोधादि कषायोके अनुभागका अल्पबहुत्व घातके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धकोका अल्पबहुत्व तथा क्रोधादिके शेष अनुभागका अल्पबहुत्व ये तीनो अल्पबहुत्व उपर्युक्त अङ्कसन्दृष्टिसे स्पष्ट हो जाते हैं।

अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें होनेवाले अपूर्वस्पर्धकोंका कथन करते हैं—

[1]ताहे संजलणाणं देसावरफड्डयस्स हेट्ठादो।
णंतगुणूणमपुव्वं फड्डयमिह कुणदि हु अणंतं ॥७५॥४६६॥

अर्थः—वहा अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमे ही सज्वलनकषायोके देशघाति जघन्यस्पर्धकके नीचे अनन्तगुणितहानिके क्रमसे अनन्त अपूर्वअनुभागस्पर्धकों को करता है।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण करनेके प्रथमसमयमें ही क्रोध-मान-माया और लोभरूप चार संज्वलनकषायोके अपूर्वस्पर्धक करता है।

अपूर्वस्पर्धक—जो स्पर्धक पूर्वमे कभी प्राप्त नहीं हुए, किन्तु क्षपकश्रेणीमें ही अश्वकर्णकरणके कालमे प्राप्त होते हैं और जो ससारावस्थामें प्राप्त होनेवालेपूर्वस्पर्धकों से अनन्तगुणितहानिके द्वारा क्रमशः हीयमान स्वभाववाले हैं वे अपूर्वस्पर्धक हैं[2]।

१. क०पा० सुत्त पृ० ७८६ सूत्र ४६०-४६६। ध.पु. ६ पृष्ठ ३६५-६६। ज. ध मूल पृष्ठ २०२५।
२. कानि अपुव्वफद्दयाणि णाम? ससारावत्थाए पुव्वमलद्धप्पसरूवाणि खवगसेढीए चेव अस्सकरणद्धाए समुवलब्भमाणसरूवाणि पुव्वफद्दएहिंतो अणतगुणहाणीए ओवट्टिज्जमाणसहावाणि जाणि फद्दयाणि ताणि अपुव्वफद्दयाणि त्ति भण्णते। (ज० ध० मूल पृष्ठ २०२५)

शङ्का:—पूर्वस्पर्धकोंके अनुभागको अपवर्तनके द्वारा अनन्तगुणाहीन करके यदि अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं तो उनको कृष्टिसंज्ञा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान:—जिनकी उत्तरोत्तर वर्गणाओंमें अविभागप्रतिच्छेद क्रमसे विशेष-अधिक या हीन होते हैं तो उनकी स्पर्धक संज्ञा है, किन्तु कृष्टियोंमें अनन्तगुणी वृद्धि-हानिका क्रम होता है। अनन्तगुणी वृद्धि व हानिका उत्तरोत्तरक्रम अपूर्वस्पर्धकोंमें नहीं पाया जाता अतः उनकी कृष्टिसज्ञा सम्भव नही है[1]।

अनुभागस्पर्धक दो प्रकारके हैं—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक। पूर्वस्पर्धक वर्धमानक्रमसे हैं अर्थात् प्रथमपूर्वस्पर्धकसे द्वितीयस्पर्धकमें अनुभाग बढ़ता हुआ है, द्वितीयसे तृतीयस्पर्धकमें और तृतीयसे चतुर्थमें अनुभाग वृद्धिरूप है। अपूर्वस्पर्धकोंमें अनुभाग हीयमानक्रमसे हैं। प्रथमअपूर्वस्पर्धकसे द्वितीयमें, द्वितीयसे तृतीयमें अनुभाग हीयमान है, यही क्रम सर्व अपूर्वस्पर्धकोंमें जानना चाहिए[2]।

सर्व अक्षपक जीवोंके सभी कर्मोंके देशघातिस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा तुल्य है। सर्वघातियोंमें भी केवल मिथ्यात्वको छोड़कर शेष सर्वघातिकर्मोंकी आदिवर्गणा तुल्य है, इन्हीका नाम पूर्वस्पर्धक है। तत्पश्चात् वही प्रथमसमयवर्ती अवेदी जीव उन पूर्व-स्पर्धकोंसे चारों सज्वलनकषायोके अपूर्वस्पर्धकोंको करता है उससमय क्षपकके जो डेढ़-गुणहानिप्रमाण समयप्रबद्ध हैं और पूर्वस्पर्धकोंमें यथायोग्य विभागके अनुसार अवस्थित हैं, उन्हें उत्कर्षण-अपकर्षण भागहारके प्रतिभागद्वारा असंख्यातवेंभागका अपकर्षणकरके अपूर्वस्पर्धक बनानेके लिये ग्रहण करता है। पुनः उन्हें अनन्तगुणितहानिके द्वारा हीन-शक्तिवाले करके पूर्वस्पर्धकोके प्रथमदेशघातिस्पर्धकोंके नीचे उनके अनन्तवेंभागमें अपूर्व-स्पर्धक बनाता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रथमदेशघातिस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं उन अविभाग प्रतिच्छेदोके अनन्तवेंभागमात्र ही अवि-भागप्रतिच्छेद अपूर्वस्पर्धककी सबसे अन्तिम (आदि ?) वर्गणामे होते हैं[3]। इन अपूर्व-स्पर्धकोंका प्रमाण अनन्त है जो अभव्योसे अनन्तगुणा और सिद्धोके अनन्तवेभागप्रमाण है।

---

१. ज० घ० मूल पृष्ठ २०२५।

२. वर्धमानं मतं पूर्वं हीयमानमपूर्वकं। स्पर्धकं द्विविधं ज्ञेयं स्पर्धकक्रमकोविदै.॥ (अमितगति पचसंग्रह १।४६)

३. जयधवल मूल पृ० २०२५-२६।

[1]गणणादेयपदेसगगुणहाणिट्ठाणफद्दयाणं तु।
होदि असंखेज्जदिमं अवरादु वरं अणंतगुणं ॥७६॥४६७॥

अर्थः—गणनाकी अपेक्षा अपूर्वस्पर्धक प्रदेशगुणहानि स्थानान्तरके स्पर्धकोके असख्यातवेभागप्रमाण हैं। जघन्यअपूर्वस्पर्धकके अविभागप्रतिच्छेदोसे उत्कृष्ट अपूर्वस्पर्धकमे अनुभागसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं[2]।

विशेषार्थः—पूर्वस्पर्द्धकोकी आदिवर्गणा एक-एकवर्गणा विशेषसे घटते-घटते आधी हो जाती है उतने आयामका नाम एकगुणहानिस्थानान्तर है। इसमे अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवेंभाग स्पर्धक होते हैं उनको उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे असंख्यातगुणे भागहारके द्वारा भाग देनेपर जो प्रमाण आवे उतने अपूर्वस्पर्धक होते हैं अर्थात् एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकोके असख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धकोकी संख्या (गणना) होती है, वह सख्या अभव्योसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवेभाग-प्रमाण अनन्त है[3]।

प्रथमसमयमे रचे गए अपूर्वस्पर्धकोमें से प्रथम अर्थात् जघन्यस्पर्धककी आदि-वर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमूह सर्वजीवोसे अनन्तगुणा होते हुए भी उपरिम पदोकी अपेक्षा स्तोक है। द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेदसमूह अनन्तबहुभाग अधिक है[4]। प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले परमाणुओंकी संख्यासे अविभागप्रतिच्छेदोको गुणा करनेपर अविभागप्रतिच्छेदसमूहरूप एकपुंज होता है, उससे दूसरेस्पर्धककी आदिवर्गणाके सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले परमाणुओमे सर्व अविभागप्रतिच्छेदसमूह कुछकम दुगुना होता हुआ अनन्तबहुभाग अधिक है। प्रथम-स्पर्धककी आदिवर्गणाआयामसे (आदिवर्गणा प्रदेशपुंजसे) दूसरेस्पर्धककी आदिवर्गणा-आयाम विशेषहीन है। एकस्पर्धकशलाकाप्रमाण वर्गणाविशेषके बराबर विशेषहीनका प्रमाण है। प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदसे द्वितीय-स्पर्धककी आदिवर्गणाके एकपरमाणुमें अविभागप्रतिच्छेद दुगुणे होते हैं। प्रथमस्पर्धक-की आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद प्रतिस्पर्धककी आदिवर्गणामें दुगुणे-तिगुणे-

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७८६ सूत्र ४६७। धवल पु० ६ पृ० ३६६।
२ क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६१ सूत्र ५०१-२। ध० पु० ६ पृ० ३६७।
३ ज० ध० मूल पृ० २०२७।
४. "अणता भागा अणतभागा, अणतभागेहि उत्तरमणतभागुत्तर।" (ज० ध० मूल पृष्ठ २०२७)

आदिक्रमसे बढते जाते हैं। यदि प्रथमस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम और द्वितीयस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम सदृश (समान) होते तो प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमुदायसे द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणाका अविभागप्रतिच्छेदसमूह दुगुणा होता है, किन्तु दोनों आदिवर्गणाआयाम सदृश नहीं है, क्योंकि प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाआयामसे द्वितीयस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम विशेषहीन है। जितना हीन है उसको दुगुणे अविभागप्रतिच्छेद (प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके एक परमाणुगतअविभागप्रतिच्छेदका दुगुणा) से गुणा करनेपर जो अनन्तवेंभागप्रमाण गुणनफल प्राप्त होता है उतना दुगुणा होनेमें कम है। जिनकी वृद्धि हुई हैं ऐसे शेष अविभागप्रतिच्छेद अनन्तबहुभागप्रमाण है, क्योंकि अनन्तवांभाग घटानेपर अनन्तबहुभाग शेष रहता है। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमूहसे द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणाका अविभागप्रतिच्छेदपुंज अनन्तबहुभाग अधिक है। इसीप्रकार द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणासे तृतीयस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद कुछकम आधेसे अधिक है। तृतीयस्पर्धककी आदिवर्गणासे चतुर्थस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद कुछकम तृतीयभागसे अधिक हैं तथैव पंचमादिस्पर्धकोंमें कुछकम चतुर्थादिभाग अधिक यथाक्रम जानना चाहिए। जघन्य परितासंख्यातस्पर्धककी आदिवर्गणामें नीचेके स्पर्धककी आदिवर्गणासे कुछकम उत्कृष्टसंख्यातवेंभाग (अविभागप्रतिच्छेद) अधिक हैं। संख्यातवेंभागकी वृद्धि यहांपर समाप्त हो जाती है। इससे आगे यथाक्रम असंख्यातवेंभागकी वृद्धि होती है। जघन्यपरीतानंतस्पर्धकमें अपनेसे नीचेके स्पर्धकसे उत्कृष्टअसंख्यातवेभागवृद्धि होती है। यहांपर असंख्यातभागकीवृद्धि समाप्त हो जाती है। इससे ऊपर अपूर्वस्पर्धकके चरमस्पर्धकतक अनन्तवेंभागवृद्धि होती है। जितने स्पर्धक ऊपर चढ़े हैं उनमेसे एककम करके उससे अधस्तनवर्ती स्पर्धककी वर्गणाको भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उससे कुछकम ऊपरितन स्पर्धकमें विशेषअधिकका प्रमाण होता है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए। इस प्रकार अपूर्वस्पर्धकका चरमस्पर्धक द्विचरमस्पर्धकसे कुछकम अनन्तवेंभाग विशेषअधिक है। इस सम्बन्धमें अल्पबहुत्व इसप्रकार है—प्रथमसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकके प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणा अल्प है, चरमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथम अपूर्वस्पर्धकसे अनन्त (अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवेंभाग) स्पर्धक चढ़कर चरमस्पर्धक प्राप्त होता है। पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा अनन्तगुणी है, क्योंकि

पूर्वस्पर्धकको सर्वजघन्यदेशघातिवर्गणाअनुभागसे अनन्तगुणेहीन अनुभागके द्वारा अपूर्व-स्पर्धकोंकी रचना होती है। क्रोध-मान-माया व लोभके पूर्वस्पर्धकोमेंसे असंख्यातवेभाग-का अपकर्षण होकर क्रोध-मान-माया व लोभके देशघाति प्रथमस्पर्धकके नीचे तत् तत्-सम्बन्धी अपूर्वस्पर्धकोकी रचना होती है। पुरुषवेदके नवकसमयप्रबद्धकी अपूर्वस्पर्धक-रचना नही होती है, क्योकि उसका अनुभागकाण्डकघात नही होता, उसका तो प्रति-समय सञ्ज्वलनक्रोधमे सक्रमण होता रहता है [1]।

[2]पुव्वाण फड्ढयाणं छेत्तूण असंखभागदव्वं तु।
कोहादीणमपुव्वं फड्ढयमिह कुणदि अहियकमा ॥७७॥४६८॥

अर्थः—सञ्ज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभके पूर्वस्पर्धकद्रव्यको असंख्यातसे भाग देकर मात्र एकभाग द्रव्यसे क्रोधादिके अपूर्वस्पर्धक करता है। वे स्पर्धक अधिक-क्रमसे होते हैं।

विशेषार्थः—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानका क्षय हो जानेसे मात्र सञ्ज्वलनक्रोध, मान, माया व लोभकषायरूप द्रव्य है जिसकी पूर्वस्पर्धकसंज्ञा है। क्रोध-मान-माया व लोभमे से प्रत्येककषायके समयप्रबद्धको डेढगुणहानिसे गुणा करनेपर प्रत्येककषायके पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी द्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इस द्रव्यको उत्कर्षण-अपकर्षणभागहाररूप असख्यातसे भाग देकर एकभागप्रमाण द्रव्यसे अपूर्व-स्पर्धकोकी रचना होती है[3]। चारों सञ्ज्वलनकषायोमें से प्रत्येक कषायकी एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तरके असख्यातवेभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धकोकी रचना होती है, तो भी सर्वसञ्ज्वलनकषायोमें खण्डोका प्रमाण सम नही है, क्योकि सज्वलनक्रोधके अपूर्व-स्पर्धक स्तोक हैं, उससे सञ्ज्वलनमानके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक हैं, मायासंज्वलनके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक है और लोभसज्वलनके अपूर्वस्पर्धक विशेष अधिक हैं। सख्यातवें या असंख्यातवेंभाग विशेषअधिक नही हैं, किंतु अनतवेभागरूपसे विशेषअधिक हैं।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०२७-२०३०।

२. ध० पु० ६ पृष्ठ ३६८ (जयधवल मूल पृष्ठ २०२६ व २०३०)।

३ जयधवल मूल पृष्ठ २०२६-२७।

संज्वलनक्रोधके स्पर्धकोंको तत्प्रायोग्य अनन्तसे भागदेकर एकभागप्रमाणसे विशेषअधिक मानकषायके अपूर्वस्पर्धक हैं। इसीप्रकार मान और मायाकषायके अपूर्वस्पर्धकोंको यथाक्रम तत्प्रायोग्य अनन्तका भाग देकर माया और लोभकषायके विशेषअधिक अपूर्वस्पर्धकोंका प्रमाण प्राप्त होता है। संज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभकषायके अपूर्वस्पर्धकों की अङ्कसन्दृष्टि [१६।२०।२४।२८] इसप्रकार है[1]।

समखंडं सविसेसं णिक्खिवियोकट्टिददादु सेसधणं।
पक्खेवकरणसिद्धं इगिगोउंछेण उभयत्थ ॥७८॥४६९॥
ओक्कट्टिदं तु होदि अपुव्वदिवग्गणाउ हीणकमं।
पुव्वादिवग्गणाए असंखगुणहीणयं तु हीणकमा ॥७९॥४७०॥

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यमेसे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणासे लेकर विशेषहीनक्रमसे द्रव्य दिया जाता है, किन्तु पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है उसके पश्चात् विशेषहीनक्रमसे द्रव्य दिया जाता है। अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंमें विशेषसहित समखण्डद्रव्य देकर शेषद्रव्यको इसप्रकार दिया जाता है जिससे पूर्व और अपूर्व दोनों स्पर्धकोंका एक गोपुच्छाकार सिद्ध हो जावे।

विशेषार्थः—अपूर्वस्पर्धकोंकी अन्तिमवर्गणामें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातगुणाहीन द्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें क्यों दिया जाता है उसे बतलाते है—अपूर्वस्पर्धक की अन्तिमवर्गणामें जो द्रव्य निक्षिप्त किया गया है वह पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणासे एकवर्गणा चय (विशेष) अधिक है। पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें पूर्व अवस्थितद्रव्यका असंख्यातवांभाग द्रव्य निक्षिप्त किया जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्यके असख्यातवेंभागमात्र अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यको कुछ अधिक डेढगुणहानिसे भागदेने पर पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाका द्रव्य आता है और उस आदिवर्गणाको उत्कर्ष-अपकर्षभागहारसे खण्डित करने पर अपकर्षित द्रव्य प्राप्त होता है। अङ्कसन्दृष्टिमें सम्पूर्णद्रव्य ६३०० है। एक गुणहानि ८ है, डेढ़गुणहानि ($८ \times \frac{३}{२}$) १२ है। सम्पूर्णद्रव्य ६३०० को कुछ अधिक डेढ़गुणहानि १२ से भाजित करनेपर ५१२ आदिवर्गणाका द्रव्य प्राप्त होता है। इस आदिवर्गणा (५१२) को उत्कर्षण-अपकर्षण भागाहारसे खण्डित करनेपर अपकर्षितद्रव्यका

1. जयधवल मूल पृष्ठ २०३०। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९१ सूत्र ५०५ से ५०९।

प्रमाण प्राप्त होता है अतः अपकर्षितद्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवेभाग होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामे पूर्व अवस्थित द्रव्य, निक्षिप्त-द्रव्यसे असंख्यातगुणा है । इसीको क्षेत्र विन्यासके द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

समस्तद्रव्यको पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा प्रमाणरूप करनेपर डेढगुणहानिप्रमाण आदिवर्गणा होती हैं, उसका क्षेत्रविन्यास निम्नप्रकार है जिसका विषकम्भ आदिवर्गणा प्रमाण है और आयाम डेढगुणहानि प्रमाण है ।
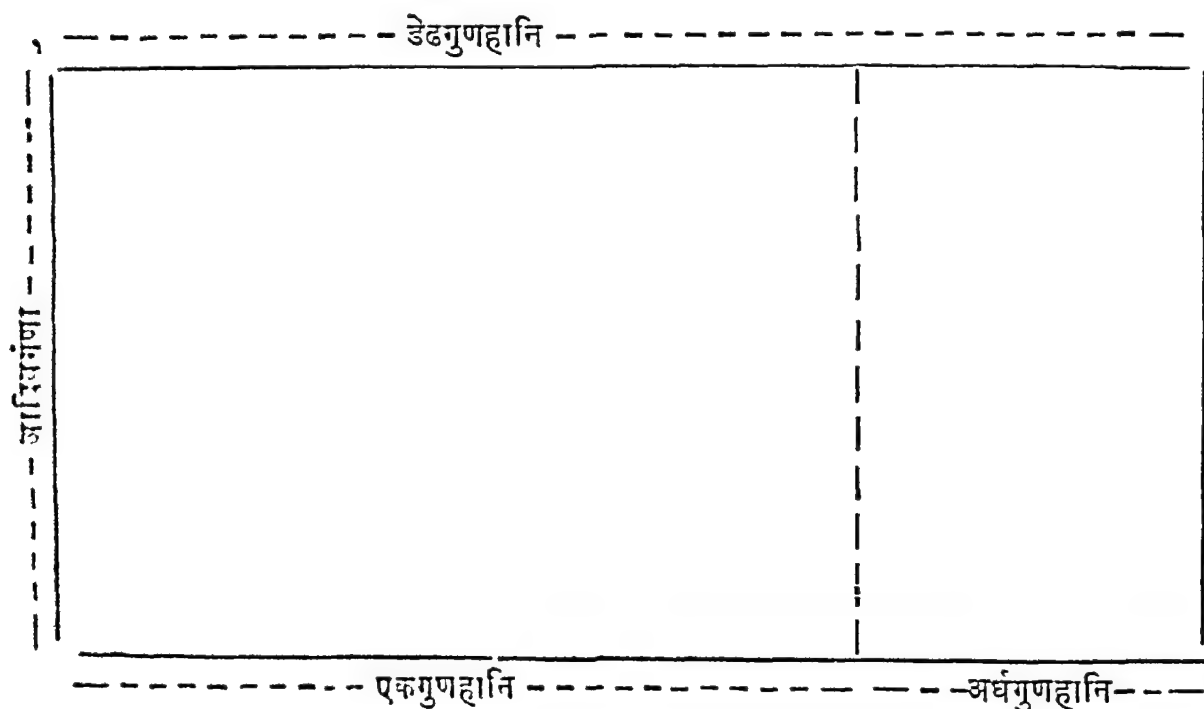
इस क्षेत्रके विषकम्भकी उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारप्रमाण फालियां करनी चाहिए । उनमेंसे एकफालिको ग्रहणकर पृथक् स्थापित करना चाहिए । इस संबंधमें चित्र नं० २ देखना चाहिए ।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०२३ । जयधवल मूल पृष्ठ २०३४ ।

चित्र नं० २ :—उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे खण्डितकर एकफालि नीचे पृथक् ग्रहण की गई है। उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार अङ्कसन्दृष्टिमे (५) है।

— — — — — — — — — — — — — — - डेढगुणहानि - — — — — — — — — — — — — —

एकफालि बहुफालिप्रमाण पूर्वस्पर्धकका शेषद्रव्य

अपकर्षितद्रव्य

पृथक् ग्रहण किया एकफालिप्रमाण क्षेत्र समस्त अपकर्षितद्रव्य है। अपूर्व-स्पर्धकोके लिए इसद्रव्यका अपकर्षण किया गया है। एकगुणहानिका भागहार है। पृथक् ग्रहण की गई फालिका आयाम डेढगुणहानि है अतः असंख्यातगुणे अपकर्षण-उत्कर्षण-भागहारको भी डेढ़गुणा करना चाहिए। इसलिए डेढगुणहानिआयामके इतने खण्ड करने चाहिए। देखो निम्न चित्र न० ३। अङ्कसन्दृष्टिमें असंख्यातगुणा अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार = ८।

चित्र नं० ३

एकफालि

— — — — — — — — — — — — — — डेढगुणहानि — — — — — — — — — — — — —

इनमेंसे एकखण्डका आयाम अपूर्वस्पर्धकके आयामके बराबर है। इन खण्डोमें से एकक्रम उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारप्रमाण खण्डोंको ग्रहणकर पूर्वखण्डोके क्षेत्रके नीचे स्थापित करनेपर अपूर्वस्पर्धकवर्गणा पूर्वस्पर्धकवर्गणाओके सदृश (बराबर) प्रमाण दिखाई देती है। देखो चित्र नं० ४ :—

जब तक इन अपूर्वस्पर्धकोंमें अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंमें वर्गणाविशेष (वर्गणा चय) न मिलाये जावें तबतक इन अपूर्वस्पर्धकोंका गोपुच्छाकार नहीं हो सकता। इस-

लिए अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंके अध्वानसम्बन्धी संकलनप्रमाण वर्गणाविशेष द्रव्य शेष-खण्डोंमेंसे ग्रहणकर आगमअविरोधसे अपूर्वस्पर्धकोकी वर्गणाओमें प्रक्षेप करना चाहिए। यह संकलनद्रव्य एकखण्डके असंख्यातवेभागप्रमाण है[1]।

अपूर्वस्पर्धककी चरमवर्गणासे द्विचरमवर्गणामें एक चतुःचरमवर्गणामें तीन वर्गणाविशेष (वर्गणाचय) अधिक है। इसप्रकार प्रतिवर्गणा एक-एक वर्गणाविशेष बढ़ाते हुए पूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणातक ले जाना चाहिए। इन सब वर्गणाविशेषोंको जोड़नेके लिए अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंके अध्वानका संकलन कहा है। यदि अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाओका अध्वान (वर्गणाओंकी सख्या) २० हो तो एक, दो, तीन आदि २०; तक जोड़नेको बीसका संकलन कहा जाता है। एकसे लेकर जिस सख्यातक संकलन करना हो तो उस अन्तिमसंख्याके आधेसे एक अधिक अन्तिमसख्याको गुणा करनेपर संकलन-का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। जैसे एकसे बीसतककी संख्याओंको जोड़ना है तो $\frac{२०}{२} \times$ २१=२१० प्राप्त होते हैं; यह बीसका संकलन है। इसीप्रकार यदि 'क' सख्यातक संकलन करना है तो $\left[\frac{क \times (क \times १)}{२}\right] = \frac{क^{२}+क}{२}$ संकलन होगा। ('क' सख्या असंख्यात या अनन्तकी द्योतक हो सकती है।)

एकफालिप्रमाण अपकर्षितद्रव्यके डचोढ़े-असंख्यातगुणित-अपकर्षण-उत्कर्षण-भागहारप्रमाण खण्ड किये गये थे (चित्र नं० ३)। इन खण्डोमे से एककम उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारप्रमाण खण्ड अपूर्वस्पर्धकोके लिए ग्रहण किये गए थे अत: डचोढ-असंख्यातगुणित-अपकर्षण-उत्कर्षणभागहार प्रमाण समस्तखण्डोमें से एककम अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारप्रमाण खण्डोंके घटानेपर समस्त शेषखण्डोको पूर्व व अपूर्वस्पर्धकोमें डाल देने चाहिए। वे खण्ड पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोमें इसप्रकार निक्षिप्त किए जाते हैं— उन शेषखण्डोंमेंसे एकखण्डको ग्रहणकर पूर्वमें कहे गये एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भाग-हार जो असंख्यात-अपकर्षण-उत्कर्षणभागहार, उसको डेढगुणा करके जो प्रमाण प्राप्त हो उतने अवान्तर अर्थात् विकलखण्ड, उस ग्रहण किये गये एक सम्पूर्ण (सकल) खण्डके करने चाहिए उनमेंसे प्रत्येक अवान्तर खण्ड (विकलखड) का आयाम अपूर्वस्पर्धकके आयाम बराबर है। देखो निम्न चित्र न० ५ :—

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३४।
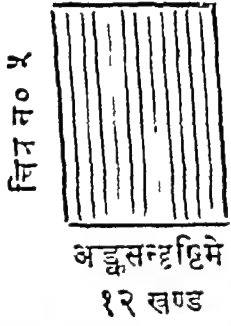
इन विकल (अवान्तर) खण्डोंमे से एक विकल खण्डको ग्रहणकर अपूर्वखण्डोके पार्श्वमें देना चाहिए और शेष समस्त विकलखण्डोको पूर्वस्पर्धकोमें देना चाहिए। इसीप्रकार शेष समस्त सकलखण्डोके विकल (अवान्तर) खण्ड करके पूर्व-अपूर्व स्पर्धकोमे देना चाहिए। इसप्रकार पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें दिए गये सर्वविकलखण्डोका प्रमाण एक सकलखण्डके बराबर नही होता, किन्तु किंचित्ऊन सकलखण्डप्रमाण होता है। यदि अपकर्षण-उत्कर्षणभागाहारप्रमाण विकलखण्ड और होते तो एक सकलखण्ड हो जाता। इसप्रकार अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामे जो द्रव्य दिया गया है वह किंचित्ऊन एक सकलखण्डप्रमाण है। अपूर्वस्पर्धकोमे एककम अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारप्रमाण द्रव्य दिया गया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपूर्वस्पर्धककी अन्तिमवर्गणामे निक्षिप्त प्रदेशाग्रोसे पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामे निक्षिप्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणेहीन है। यहांपर गुणाकार साधिक अपकर्षण-उत्कर्षणभागाहार है। इसलिए पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें जो प्रदेशाग्र पहलेसे विद्यमान हैं उनके असख्यातवें-भाग प्रदेशाग्रोका निक्षेपण होता है। पूर्वस्पर्धकोकी द्वितीयवर्गणामे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोमें दिये गये अवशेष द्रव्य द्वारा पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोकी एक गोपुच्छाकार बन जाती है।
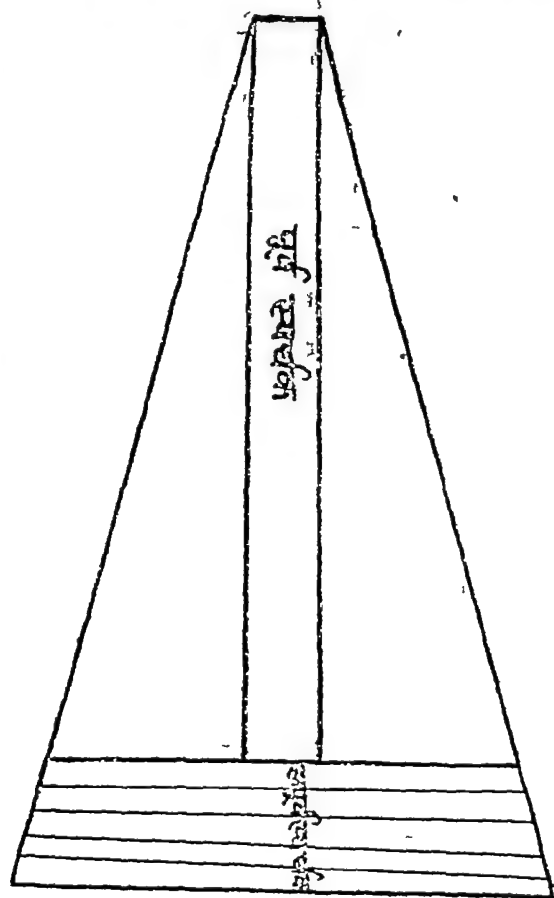
[1]कोहादीणमपुव्वं जेट्ठं सरिसं तु अवरमसरित्थं ।
लोहादिआदिवग्गणअविभागा होंति अहियकमा ॥८०॥४७१॥
सगसगफड्डयएहिं सगजेट्ठे भाजिदे सगीआदि ।
मज्झेवि अणंताओ वग्गणगाओ समाणाओ ॥८१॥४७२॥
जे हीणा अवहारे रूवा तेहिं गुणित्तु पुव्वफलं ।
हीणवहारेणहिये अद्धं पुव्वं फलेणहियं ॥८२॥४७३॥
कोहदुसेसेणवहिदकोहे तक्कंडयं तु माणतिए ।
रूपहियं सगकंडयहिदकोहादी समाणसला ॥८३॥४७४॥

अर्थ—क्रोधादि चार सञ्ज्वलनकषायोके अपूर्वस्पर्धकोंमें उत्कृष्ट (अन्तिम) स्पर्धककी आदिवर्गणा सदृश हैं और जघन्य (प्रथम) स्पर्धकको आदिवर्गणा विसदृश है। लोभादि कषायोके अपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद अधिकक्रम लिए हुए हैं ॥८०॥ अपने-अपने उत्कृष्टस्पर्धककी आदिवर्गणाको अपने-अपने स्पर्धकोंकी सख्यासे भाग देनेपर अपनी-अपनी आदिवर्गणा प्राप्त होती है। अन्तिमस्पर्धकके समान मध्यमे भी चारोकषायोंकी अनन्तवर्गणा समान होती है ॥८१॥ जिसका पूर्वफल अर्थात् आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद हीन है उसको अधिक अवहारकाल (स्पर्धकसख्या) से गुणा करना चाहिए और पूर्वफल (आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद) अधिक है उसको हीन अवहारकालसे गुणा करना चाहिए[2] ॥८२॥ क्रोधकी अपूर्वस्पर्धकसंख्याको मान-कषायकी अपूर्वस्पर्धकसंख्यामेंसे घटानेपर जो शेष रहे उससे क्रोधकी अपूर्वस्पर्धक सख्या को भाग देनेपर क्रोधके काण्डकोंका प्रमाण प्राप्त होता है। उस काण्डकप्रमाणमें एक एक अधिक करनेसे मान-माया व लोभ इनतीन काण्डकोका प्रमाण प्राप्त होता है। अपने-अपने काण्डकोंसे अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकसख्याको भाग देनेपर समानशलाका प्राप्त होती हैं ॥८३॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९१ सूत्र ५१० से ५१४। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६८। जय धवल मूल पृष्ठ २०३१।

२. गाथा ८२ का अर्थ स्वकीयबुद्धिसे किया है अतः यदि अशुद्ध हो तो बुद्धिमान उसे सुधार लेवें।

विशेषार्थः—क्रोधादि चार संज्वलनकषायोंसे प्रतिबद्ध प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा लोभादिकी परिपाटीमे यथाक्रम अनन्तभाग अधिक है अर्थात् लोभकषाय-सम्बन्धी प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद स्तोक, मायाकषायमें अनन्तवेंभाग अधिक, मानकषायमे अनन्तवेभाग अधिक और क्रोधकषायमें अनन्तवेभाग अधिक है। इस परिपाटी क्रमसे स्थित आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदोको अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकशलाकाओसे गुणा करनेपर अपने-अपने अन्तिमस्पर्धककी आदिवर्गणा प्राप्त होती है जो एक दूसरेकी अपेक्षा परस्पर समानप्रमाणवाली हैं। प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणासे द्वितीय, तृतीयादि स्पर्धकोकी प्रथमवर्गणाका गच्छमान दुगुणा, तिगुणा आदि क्रमसे होता है, इसप्रकार चरमस्पर्धककी आदिवर्गणाके गच्छमानमें अपूर्वस्पर्धक-शलाकाप्रमाण गुणकार सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार अपने प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदि-वर्गणाको स्पर्धकशलाकासे गुणा करनेपर चरमस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण प्राप्त होता है। शिष्यगणको इसका सरलतापूर्वक बोध हो जावे जयधवलाटीकाकार इस विषयको अङ्कसन्दृष्टि द्वारा समझाते हैं—

क्रोधादि चार सज्वलनकषायकी प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभाग-प्रतिच्छेदोका मान इसप्रकार है [क्रोध – मान – माया – लोभ / १०५ ८४ ७० ६०] अपूर्वस्पर्धकशलाका [क्रोध – मान – माया – लोभ / १६ २० २४ २८] अन्तिम अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण—

	क्रोध	मान	माया	लोभ
प्रथमस्पर्धक आदिवर्गणा	१०५	८४	७०	६०
स्पर्धकशलाका	×१६	×२०	×२४	×२८
चरमस्पर्धक आदिवर्गणा	१६८०	१६८०	१६८०	१६८०

क्रोधादि चारों सज्वलनकषायोकी चरम अ स्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाणसर्वत्र १६८० होनेसे सदृश है।

क्रोधादिकी अन्तिमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा ही सदृश है यह अन्तदीपक न्यायसे कहा गया है, क्योकि नीचे भी अनन्तअपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणा सदृश है। सन्दृष्टिमे क्रोधकी स्पर्धकशलाका १६ है और मानकषायकी २० शलाका है इनको घटानेपर (२०–१६) शेषका प्रमाण ४ होता है। इसीप्रकार मान व मायाकषायकी और माया व लोभकषायकी स्पर्धकशलाकाओंको घटानेपर (२४–२०), (२८–२४) सर्वत्र शेष ४ रहता है। इस ४ से क्रोधादिकी स्पर्धकशलाकाओमे भाग देनेपर क्रमशः $\frac{१६}{४}$= ४, $\frac{२०}{४}$=५, $\frac{२४}{४}$=६, $\frac{२८}{४}$=७, ४, ५, ६, ७ लब्ध प्राप्त होता है। क्रोधसज्वलनमें

चौथे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण (१०५×४) ४२० है, मानसंज्वलनके पांचवें अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण (८४×५) ४२० है, मायासज्वलनके छठे अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणाका प्रमाण (७०×६) ४२० है। लोभकषायके सप्तम अपूर्वस्पर्धक की आदिवर्गणाका प्रमाण (६०×७) ४२० है। चारों कषायोंमें आदिवर्गणाका प्रमाण ४२० होनेसे सदृश हैं। इसीप्रकार इतना अध्वान ऊपर-ऊपर चढनेसे क्रोधादि चारों संज्वलनकषायोमें क्रमशः आठवें, दसवें, बारहवे और चौदहवें अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणाका प्रमाण ८४० होनेसे और क्रमशः बारहवें, १५वे, अठारहवें और २१वें अपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणाका प्रमाण १२६० होनेसे सदृश है। अपने-अपने खण्डप्रमाणका अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकशलाकामें भाग देनेसे समानलब्ध प्राप्त होता है। अङ्कसन्दृष्टिमें जैसे $\frac{१६}{४}, \frac{२०}{५}, \frac{२४}{६}, \frac{२८}{७} = ४$ प्राप्त होता है। प्रत्येक सज्वलनकषायके लब्धप्रमाण अपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणा परस्पर तुल्य होती हैं। जैसे अंकसन्दृष्टिमे संज्वलनक्रोधकषाय के चौथे, आठवें, बारहवें और सोलहवें इनचार अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा; सज्वलनमानकषायके पाचवे, दसवे, पंद्रहवे और २०वे इनचार अपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणा; संज्वलनमायाकषायके छठे, बारहवे, अठारहवे और २४वे इनचार अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा तथा सज्वलनलोभकषायके सातवें, चौदहवे, इक्कीसवे और अठाईसवें इनचार अपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणा, इसप्रकार चारों संज्वलनकषायसम्बन्धी चार आदिवर्गणाएं परस्परमे एक कषायकी आदिवर्गणा दूसरी कषायको आदिवर्गणाके तुल्य होती हैं। तुल्यता बतानेके लिए अकसन्दृष्टिमे जैसे ४ सख्या प्राप्त होती है, अर्थसन्दृष्टिमें अनन्तकी संख्या प्राप्त होती है, क्योकि अपूर्वस्पर्धकशलाकाका प्रमाण अनन्त है। इसप्रकार मध्यके अनन्तअपूर्वस्पर्धकोकी आदिवर्गणा तुल्य होती है यह सिद्ध हो जाता है[1]।

[2]ताहे दव्ववहारो पदेसगुणहाणि फड्डयवहारो।
पल्लस्स पढममूलं असंखगुणिदक्कमा होंति ॥८४॥४७५॥

अर्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें द्रव्यके अवहारसे प्रदेशगुणहानिस्पर्धकका अवहार असख्यातगुणा है, उससे पल्योपमका प्रथमवर्गमूल असंख्यातगुणा है।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३१।

२. क पा. सुत्त पृष्ठ ७९२ सूत्र ५१५ से ५१७। ध० पु० ६ पृ० ३६९। जयध० मूल पृ० २०३२।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण कार्यके प्रथमसमयमें अर्थात् अश्वकर्णकरण करनेवाला प्रथमसमयमें जिस अवहारकालके द्वारा प्रदेशाग्रका अपकर्षण करता है उसकी उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार संज्ञा है। वह उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार उपरिमपदोकी अपेक्षा स्तोक है, इससे अपूर्वस्पर्धकोंका प्रमाण लानेके लिए एकप्रदेशगुणहानि स्थानान्तरको एकबार भाग दिया जाता है और अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे पुनः पुनः भाग दिया जाता है। इसलिए अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यातगुणा है और यह पल्यके असंख्यातवेंभागप्रमाण है। "इसका प्रमाण पल्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेभाग है" यह ज्ञान करानेके लिए "इससे पल्यका प्रथमवर्गमूल असंख्यातगुणा है" ऐसा कहा गया है। इस भागहारसे एकप्रदेशगुणहानि स्थानान्तरके स्पर्धकोंमें भाग देनेसे जो लब्ध प्राप्त हो उतने संज्वलनक्रोधादिके अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं। यह अल्पबहुत्व ऊपर कही जानेवाली निषेकप्ररूपणाका साधनभूत है। अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे अपूर्वस्पर्धकोके लिए एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यात गुणा है इसका कारण यह है कि प्रदेशपिण्ड इसप्रमाणसे दिये जाते हैं जिससे कि पूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंके साथ अपूर्वस्पर्धककी वर्गणा गोपुच्छाकार हो जावे अर्थात् पूर्व और अपूर्व दोनों स्पर्धक मिलकर एक गोपुच्छाकार हो जावें। यदि अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यातगुणाहीन हो जावे तो पूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंके साथ अपूर्वस्पर्धकवर्गणाकी एकगोपुच्छाकार रचना नहीं हो सकती। अपकर्षित समस्तद्रव्य अपूर्वस्पर्धकअध्वानसे अपवर्तित होनेपर अपूर्वस्पर्धककी एकवर्गणाका द्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवेंभागप्रमाण होता है[1]।

[2]ताहे अपुव्वफड्ढयपुव्वस्सादीदणंतिमुदेहि।
बंधो हु लताणंतिमभागोत्ति अपुव्वफड्ढयदो॥८५॥४७६॥

अर्थ—उस कालमें अपूर्व और पूर्वस्पर्धकोकी आदिसे लेकर अनन्तवेंभागस्पर्धकोंका उदय होता है तथा लताके अनन्तवेंभाग अनुभागसहित अपूर्वस्पर्धक होकर बन्धको प्राप्त होते हैं।

---

१. जयधवल मूल पृ० २०३२।

२. क० पा० सुत्त पृ० ७९३-९४ सूत्र ५२४ से ५२६। ध० पु० ६ पृ० ३७०। जयधवल मूल पृ० २०३६-३७।

विशेषार्थ—तत्कालमें अपूर्वस्पर्धकरूपसे परिणत अनुभागसत्कर्ममेसे असंख्यातवें-भाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके उदीरणा करनेवालेके उदयस्थितिमें सर्व अपूर्वस्पर्धक-स्वरूपसे अनुभागसत्कर्म उपलब्ध होता है, किन्तु अपूर्वस्पर्धकरूपसे परिणतसत्कर्म निरव-शेष (पूर्ण) उदयमे नही आता, क्योंकि अपूर्वस्पर्धकके समान घनवाले जो परमाणु स्पर्धकोमे समवस्थित हैं, उनमेसे कितने परमाणु उदयको प्राप्त होते हैं और शेष वहीपर अवस्थित रहते है। इसलिए सर्व अपूर्वस्पर्धकोका उदय होता भी है और नही भी होता है। इसीप्रकार आदिसे लेकर अनन्तवेभागतक पूर्वस्पर्धक भी उदय व अनुदय स्वरूप हैं। पूर्वस्पर्धकोमे भी सदृश घनवाले उदयके अभिमुख रहनेवालोका उदय होता है और तत् जातिस्वरूप शेष अनुदयरूप रहते हैं, क्योकि विप्रतिषेधका अभाव है। लताके अनन्तवेंभागसे ऊपरके अनन्तबहुभाग पूर्वस्पर्धक नियमसे अनुदयस्वरूप हैं, वे सभी अपने-अपने स्वरूपसे उदयको प्राप्त नहीं होते। पूर्वमे संज्वलनकषायके अनुभागका पूर्वस्पर्धकस्वरूपसे बन्ध लताके अनन्तवेंभाग स्पर्धकस्वरूपसे प्रवृत्त होते थे, किन्तु अब उससे अनन्तगुणेहीन घटकर प्रथम अपूर्वस्पर्धकसे लेकर लताके अनन्तवेंभाग अनु-भागवाले स्पर्धकतक जितने स्पर्धक हैं उन स्पर्धक-स्वरूप प्रवृत्त होते हैं, किन्तु पूर्वकथित उदयस्वरूप स्पर्धकोसे बन्धस्वरूप स्पर्धक अनन्तगुणेहीन अनुभागवाले होते हैं, क्योकि यहांपर बन्धसे उदय अनन्तगुणा होता है। यह सब अश्वकर्णके प्रथमसमयकी प्ररूपणा है[1]।

[2]बिदियादिसुसमयेसु वि पढमं व अपुव्वफड्डयाण विही।
[3]णवरि अणंतगुणूणं हीणो अनुभाग पडिसमयं ॥८६॥४७७॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३६-३७।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७९४ सूत्र ५२७ व ५२८। धवल पु ६ पृष्ठ ३७०। ज. ध. मूल पृष्ठ २०३७।

३. गाथा ८६ के उत्तरार्धमें मुद्रितप्रति (शास्त्राकार) में पाठ त्रुटित था उसके स्थानपर "णवरि अणतगुणूण बधो अनुभाग पडिसमयं" यह पाठ रखा है जो कि क पा सुत्तके चूर्णिसूत्र ५२८ पृष्ठ ७४९ व जयधवल मूल पृष्ठ २०३७ के विषयानुसार किया है सो सूत्र इसप्रकार है (अणुभाग-बधो अणतगुणहीणो) इस आधारसे ४७७ गाथा के उत्तरार्धमे जो पाठ पूर्तिकी है उसे विद्वद्-जन विचारें यदि अशुद्ध प्रतीत हो तो शुद्ध कर लेवे। हमने उपर्युक्त आधारसे स्वकीय बुद्धिद्वारा पाठ पूर्ति की है।

अर्थ—द्वितीयादि समयोमें भी अपूर्वस्पर्धकविधि प्रथमसमयके समान है, किन्तु अनुभागबन्ध प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन होता है।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमे जिसप्रकार स्थितिकाण्डक अनुभागकाण्डक और स्थितिबन्ध होते हैं उसीप्रकार अश्वकर्णकरणके द्वितीयादिसमयोमें भी होते हैं, किन्तु प्रतिसमय विशुद्धिके बढनेसे अप्रशस्तप्रकृतियोका अनुभागबन्ध अनन्तगुणाहीन होता है। चारों संज्वलनकषायोंका जितना अनुभागबन्ध प्रथमसमयमे हुआ था उससे अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध द्वितीयसमयमे होता है, तृतीयसमयमे उससे भी अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध होता है। आगेके प्रत्येकसमयमे भी अनुभागबंध अनन्तगुणा घटते हुए होता है। इसीप्रकार अनुभागोदयके विषयमें जानना चाहिए। विशुद्धिके बढनेसे प्रतिसमय श्रेणिरूपसे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके गुणश्रेणीमे निक्षेपण करता है।

[1]णवफड्डयाण करणं पडिसमयं एवमेव णवरिं तु।
दव्वमसंखेज्जगुणं फड्डयमाणं असंखगुणहीणं ॥८७॥४७८॥

अर्थ—(अश्वकर्णकरणके) प्रथमसमयके समान ही प्रत्येकसमयमें नवीन स्पर्धकोकी रचना होती है, किन्तु इतनी विशेषता है कि यहां द्रव्य तो क्रमसे असख्यात गुणा बढता हुआ अपकर्षण करता है और नवीनस्पर्धकोकी रचना असंख्यातगुणी-असख्यातगुणीहीन होती है।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें अपकर्षितद्रव्यसे अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना हुई थी, उसीप्रकार अश्वकर्णकरणके द्वितीयादिसमयोमें भी अपकर्षितद्रव्यसे नवीन अपूर्वस्पर्धकोकी रचना होती है और पुराने अर्थात् पहले समयोमे रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंमे भी अपकर्षित द्रव्य दिया जाता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रतिसमय जो प्रदेशाग्र अपकर्षित किये जाते हैं उनका प्रमाण असख्यातगुणा-असख्यातगुणा होता जाता है और नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं उनकी संख्या प्रतिसमय असख्यातगुणी-असंख्यातगुणीहीन होती जाती है। अर्थात् प्रथमसमयमें जितने प्रदेशाग्रोका अपकर्षण हुआ था उससे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रोका अपकर्षण द्वितीयसमयमें होता है उससे

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९४ सूत्र ५२९-३०। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७०। ज. ध मूल पृष्ठ २०३७-३८।

असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र तृतीयसमयमें अपकर्षित होते हैं। प्रदेशाग्रके अपकर्षण होनेका यही क्रम चतुर्थादि समयोंमें भी है, इसप्रकार गुणश्रेणि असंख्यातगुणी है। प्रथमसमयमें जो अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तित हैं द्वितीयसमयमें वे भी रचे जाते हैं और उनसे असंख्यातगुणे हीन अन्य भी नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है। प्रथम और द्वितीयसमयोंमें जो अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तित हुए हैं तृतीयसमयमें वे भी रचे जाते हैं (उनमें भी सदृशअनुभागवाला अपकर्षितद्रव्य दिया जाता है) और द्वितीयसमयमें रचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंसे असंख्यातगुणेहीन नवीनअपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं। यहीक्रम चतुर्थआदि समयोंमें विरचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंके विषयमें भी जानना।

[1]पढमादिसु दिज्जकमं तक्कालजफड्डयाण चरिमोत्ति।
हीणकमं से काले असंखगुणहीणयं तु हीणकमं ॥८८॥४७९॥

अर्थ—उसी समय (काल) में रचे गए नवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणासे अन्तिमवर्गणातक प्रदेशाग्र हीनक्रमसे दिये जाते हैं तदनन्तर पूर्वसमयोंमें रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें असख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है और द्वितीयादि वर्गणाओं में विशेषहीन क्रमसे दिया जाता है।

विशेषार्थ—द्वितीयसमयमें रचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें बहुतप्रदेशाग्र दिये जाते हैं, द्वितीयवर्गणामें विशेष (चय) हीन प्रदेशाग्र दिये जाते है। इसप्रकार अनन्तरवर्तीवर्गणाओमें विशेषहीन क्रमसे तबतक दिये जाते हैं जबतक नवीनअपूर्वस्पर्धकोकी अन्तिमवर्गणा प्राप्त होती है। पश्चात् उनकी अन्तिमवर्गणासे प्रथमसमयमें निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धकोकी प्रथमवर्गणामे असख्यातगुणे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं तथा उन्ही अपूर्वस्पर्धकोको द्वितीयवर्गणामे उससे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते है। यहासे लेकर अनन्तरवर्ती सभी वर्गणाओमे विशेष (चय) हीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। पूर्वस्पर्धकोंकी आदि (प्रथम) वर्गणामे विशेषहीन ही प्रदेशाग्र दिये जाते हैं शेष वर्गणाओ में भी विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं।

तृतीयसमयमें विरचित असंख्यातवेभागमात्र नवीन अपूर्वस्पर्धकोको आदिवर्गणामें बहुतप्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयवर्गणामे विशेष (चय) हीन प्रदेशाग्र दिये

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६४-६५ सूत्र ५३३ से ५३५ एवं ५३७ से ५३९ तक। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७०-७१-७२।

जाते हैं। इसप्रकार अनन्तरवर्ती वर्गणाओंमें विशेषहीन क्रमसे उन्हीं नवीन अपूर्व-स्पर्धकोकी अन्तिमवर्गणातक प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, उससे द्वितीयसमयमें निर्वर्तित अपूर्व-स्पर्धकोकी प्रथमवर्गणामें असख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। वहांसे लेकर द्वितीयादि वर्गणाओमे सर्वत्र (पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोकी वर्गणाओमें) विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं[1]।

[2]पढमादिसु दिस्सकमं तक्कालजफड्डयाण चरिमोत्ति।
हीणकमं से काले हीणं हीणं कमं तत्तो ॥८९॥४८०॥

अर्थ—उस विवक्षितसमयमें रचे गए नवीनअपूर्वस्पर्धकोकी प्रथमवर्गणासे लेकर अन्तिमवर्गणातक हीनक्रमसे और उस विवक्षितसमयसे पूर्वसमयोके अपूर्व-पूर्व-स्पर्धकोकी वर्गणाओमे भी अनन्तर क्रमशः हीन-हीन प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके द्वितीयसमयमे अपूर्वस्पर्धकोकी अथवा पूर्वस्पर्धकों-की एक-एक वर्गणामे जो प्रदेशाग्र दिखाई देता है वह नवीन अपूर्वस्पर्धकोकी प्रथम-वर्गणामें बहुत और शेष सभी वर्गणाओमें अनन्तरक्रमसे विशेषहीन है। तृतीयसमयमें भी यही क्रम है अर्थात् जो प्रदेशाग्र दिखता है वह नवीन अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणामें बहुत तथा ऊपर अनन्तरक्रमसे सभीवर्गणाओमें विशेषहीन है। जो क्रम तृतीयसमयमें है वही क्रम प्रथमअनुभागकाण्डकके उत्कीर्ण होनेके अन्तिमसमयतक उपरिमसमयोंमें भी है[3]।

इसप्रकार प्रथमअनुभागकाण्डकघात होनेपर क्या होता है सो कहते हैं—

[4]पढमाणुभागखंडे पडिदे अणुभागसंतकम्मं तु।
लोभादणंतगुणिदं उवरिं वि अणंतगुणिदकमं ॥९०॥४८१॥

अर्थ—प्रथमअनुभागखण्डके पतन होनेपर लोभकषायसे ऊपर अनन्तगुणा अनुभाग होता है। इसप्रकार अनुभागसत्कर्ममें अनन्तगुणा क्रम हो जाता है।

---

१ जयधवल मूल पृष्ठ २०३८-३९।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९४-९५ सूत्र ५३६ एव ५४०-४१। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७१-७२।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०३९-४०।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९५ सूत्र ५४२ से ५४८। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२।

विशेषार्थ—प्रथमअनुभागकाण्डक उत्कीर्ण होनेके अन्तिमसमयसे अनन्तर अगले समयमें अनुभागसत्त्वमें विशेषता हो जाती है जो इसप्रकार है—संज्वलनलोभमें अनुभागसत्त्व स्तोक है, उससे संज्वलनमायामें अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है, उससे संज्वलनमानका अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है और उससे भी संज्वलनक्रोधका अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है। इससे आगे सम्पूर्ण अश्वकर्णकरणकालमें यही क्रम है[1]।

[2]आदोलस्स य पढमे णिव्वत्तिदअपुव्वफड्डयाणि बहू।
पडिसमयं पलिदोवममूलासंखेज्जभागभजियकमा॥६१॥४८२॥

अर्थ—आंदोल अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धक बहुत हैं उसके आगे प्रतिसमय पल्योपमके वर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित क्रमसे हैं।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें जो अपूर्वस्पर्धक रचे गए हैं उनकी संख्या बहुत है, द्वितीयसमयमें जो नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे गए हैं उनकी संख्या असंख्यातगुणीहीन है। प्रथमसमयमें रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंकी संख्याको पल्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतने दूसरे समयमें रचित नवीन अपूर्वस्पर्धक हैं। द्वितीयसमयके अपूर्वस्पर्धकोंको पल्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित करनेपर जो प्राप्त हो तत्प्रमाण तृतीयसमयमें नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं। इसप्रकार अश्वकर्णकरणकालमे प्रतिसमय जो नवीनअपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं वे क्रमसे असंख्यातगुणेहीन होते जाते हैं। असख्यातगुणाहीन प्राप्त करनेके लिए पूर्वके अपूर्वस्पर्धकोको पल्योपमके प्रथमवर्गमूलके असख्यातवेंभागसे भाजित किया जाता है[3]।

[4]आदोलस्स य चरिमे अपुव्वादिमवग्गणाविभागादो।
दो चडिमादीणादी चडिदव्वा मेत्तणंतगुणा॥६२॥४८३॥

अर्थ—आंदोलकरण अर्थात् अश्वकर्णकरणकालके अन्तिमसमयमे प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसे द्वितीयादि स्पर्धकोकी आदिवर्गणाके अविभाग-

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०४०।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९६ सूत्र ५४९ से ५५३। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २०४१।
४. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७९६ सूत्र ५५४ से ५५७ तक। धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२-७३।

प्रतिच्छेद दुगुणे आदि हैं। अन्तिमस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त-गुणे हैं।

विशेषार्थ:—अश्वकर्णकरणके अन्तिमसमयमे लोभकषायकी प्रथमअपूर्वस्पर्धक-सम्बन्धो आदिवर्गणामे अविभागप्रतिच्छेद स्तोक हैं। द्वितीय अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणा-मे अविभागप्रतिच्छेद दुगुणे और तृतीयस्पर्धकको प्रथमवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद तिगुणे हैं। इसप्रकार प्रथमस्पर्धककी प्रथमवर्गणासम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदाग्रसे जितनवें स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रका संकल्प हो उतनवें स्पर्धककी प्रथम-वर्गणामें प्रथमस्पर्धकसम्बन्धी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रसे उतनागुणा अविभाग-प्रतिच्छेदाग्र होता है। इसप्रकार अनन्तस्पर्धक चढनेपर अनन्तवें स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रका गुणाकार अनन्त है। अन्तिमस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभाग-प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं, यह कथन एकपरमाणुसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदकी अपेक्षा किया गया है सर्वपरमाणुकी अपेक्षा किंचित्ऊन दुगुणा तिगुणा आदि क्रम लिये है, क्योंकि प्रतिवर्गणामें परमाणुकी सख्याहीन होती जाती है। इसीप्रकार माया, मान और क्रोधके अपूर्वस्पर्धकोंमे अविभागप्रतिच्छेदसम्बन्धी अल्पबहुत्व जानना चाहिए[1]।

[2]आदोलस्स य पढमे रसखंडे पाडिदे अपुव्वादो।
कोहादी अहियकमा पदेसगुणहाणिफड्डया तत्तो ॥९३॥४८४॥
होदि असंखेज्जगुणं इगिफड्डयवग्गणा अणंतगुणा।
तत्तो अणंतगुणिदा कोहस्स अपुव्वफड्डयाणं च ॥९४॥४८५॥
माणादीणहियकमा लोभगपुव्वं च वग्गणा तेसिं।
कोहोत्ति य अट्ठपदा अणंतगुणिदक्कमा होंति ॥९५॥४८६॥

अर्थ—आंदोलकरण अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथम अनुभागखण्डके पतित होनेपर क्रोधादिके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे हैं। प्रदेशगुणहानिके स्पर्धक उससे

---

१. जयधवल मूल पृ० २०४१।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९६-९७ सूत्र-५५८ से ५७७। धवल पु० ६ पृ० ३७३। जयधवल मूल पृष्ठ २०४२-२०४३।

असंख्यातगुणे है, एक स्पर्धकसम्बन्धीवर्गणा अनन्तगुणी हैं, उससे अनन्तगुणी क्रोधकी अपूर्वस्पर्धकवर्गणाएं हैं इससे मानादि कषायोंमें विशेषअधिक क्रमसे हैं, लोभके पूर्व-स्पर्धक और उनकी वर्गणाओंसे क्रोधपर्यन्त आठपद अनन्तगुणित क्रमसे हैं।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरणके प्रथम अनुभागकाण्डकके नष्ट होनेपर संज्वलन-कषायोके शेष अनुभागसम्बन्ध अल्पबहुत्व इसप्रकार है—क्रोधकषायके अपूर्वस्पर्धक सबसे स्तोक हैं उससे मानकषायके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक हैं, उससे मायाकषायके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक और इससे लोभकषायसम्बन्धी अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक हैं। इनसे भी एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धक असंख्यातगुणे हैं, क्योकि अपूर्वस्पर्धक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकोके असख्यातवेंभागप्रमाण हैं। एकस्पर्धककी वर्गणाएं अनन्तगुणी है, क्योंकि पूर्व या अपूर्वस्पर्धकोमें एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवेभाग हैं, सर्वस्पर्धकोंमें वर्गणाओंका प्रमाण सदृश है। सज्वलनक्रोधकी अपूर्वस्पर्धकवर्गणाएं अनन्तगुणी हैं, क्योकि संज्वलनक्रोधके अपूर्वस्पर्धक अनन्त हैं तथा तत्सम्बन्धी वर्गणाएं एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकों से असंख्यातवेंभागगुणी हैं। एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंको एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर के स्पर्धकोके असख्यातवेंभागप्रमाण स्पर्धकोसे गुणा करनेपर संज्वलनक्रोधके सर्व अपूर्व-स्पर्धकोंकी संख्या प्राप्त हो जाती है जो एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंसे अनन्तगुणी हैं, उससे संज्वलनमानके अपूर्वस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं विशेषअधिक है, उससे सज्वलन-मायाके अपूर्वस्पर्धकोकी वर्गणाएं विशेषअधिक हैं तथा इससे संज्वलनलोभकषायके अपूर्वस्पर्धकों की वर्गणाएं विशेषअधिक हैं, क्योंकि अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे हैं। लोभकषायके पूर्वस्पर्धक अनंतगुणे हैं, क्योकि पूर्वस्पर्धकोंके अनन्तवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं, अपूर्वस्पर्धक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके असंख्यातवेंभाग हैं। अपूर्वस्पर्धकोंको एक-स्पर्धकवर्गणासे गुणा करनेपर अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाका प्रमाण प्राप्त होता है। पूर्वस्पर्धकों-के अनन्तवेंभागप्रमाण पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी नानागुणहानिशलाकासे एकस्पर्धककी वर्गणा अनन्तगुणीहीन है इसलिए अपूर्वस्पर्धकवर्गणाओंसे पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे हैं यह सिद्ध हो जाता है।

सज्वलनलोभके पूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणा अनन्तगुणी हैं, यहां गुणकार एकस्पर्धक-सम्बन्धी वर्गणाशलाका है। मायाकषायके पूर्वस्पर्धक लोभकषायके पूर्वस्पर्धकोंसे अनन्त-गुणे हैं, क्योकि अनुभागखण्डके नष्ट हो जानेपर लोभादि संज्वलनकषायोके पूर्वस्पर्धक

अनन्तगुणितवृद्धि क्रमसे अवस्थित हो जाते हैं। इसप्रकार लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंसे मायासंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंका अनन्तगुणापना विसंवादसे रहित है।

शङ्का—लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंसे अनन्तगुणी वर्गणाओंसे मायास्पर्धक अनन्तगुणे कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वर्गणाशलाकागुणकारसे स्पर्धक-शलाकागुणकार अनन्तगुणा है। संज्वलनलोभके पूर्वस्पर्धकोंको वर्गणाका प्रमाण प्राप्त करनेके लिए जिस अनन्तरूप संख्यासे गुणा किया जाता है उस अनन्तसंख्यासे अनन्त-गुणी वह संख्या है जिससे संज्वलनमायाके पूर्वस्पर्धक प्राप्त करनेके लिए लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंको गुणा किया जाता है। संज्वलनमायाके पूर्वस्पर्धकोंसे संज्वलनमायाके पूर्व-स्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं अनन्तगुणी हैं उससे मानकषायके पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे और उन्हींकी वर्गणाएं उनसे अनन्तगुणी, उससे क्रोधकषायके पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे तथा उससे उन्हींकी वर्गणाएं अनन्तगुणी हैं[1]।

रसठिदिखंडाणेवं संखेज्जसहस्सगाणि गंतूणं।
तत्थ य अपुव्वफड्डयकरणविही णिट्ठिदा होदी ॥९६॥४८७॥

अर्थ—इसप्रकार संख्यातहजार अनुभागकाण्डकघात व स्थितिकाण्डकघात व्यतीत हो जानेपर वहां अपूर्वस्पर्धककरणकी विधि पूर्ण होती है।

विशेषार्थ—हजारों अनुभागकाण्डक हो जानेपर एकस्थितिकाण्डक होता है। संख्यातहजार स्थितिकाण्डक और उनसे हजारोंगुणे अनुभागकाण्डकोंके अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा प्रतिसमय अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना क्रिया होती है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल-तक अश्वकर्णकरण प्रवर्तमान रहता है[2], क्योंकि एक अन्तर्मुहूर्तकालमें ही संख्यातहजार-स्थितिकाण्डकों और उनसे हजारोंगुणे अनुभागकाण्डकोंके द्वारा अपूर्वस्पर्धकोंको रचना पूर्ण हो जाती है।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०४२-४३।

२. "एवमंतोमुहुत्तमस्सकण्णकरण" (क० पा० सुत्त पृ० ७९७ सूत्र ५७८; ध० पु० ६ पृष्ठ ३७३) जयधवल मूल पृष्ठ २०४३।

[1]हयकरणकरणचरिमे संजलणाणट्ठवस्सठिदिबंधो।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति सेसाणं ॥६७॥४८८॥

अर्थ—अश्वकर्णकरणके अन्तिमसमयमें संज्वलनकषायोंका आठवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है और शेषकर्मोंका सख्यातहजारवर्षवाला स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणकालके प्रथमसमयमें संज्वलनकषायका बंध अंतर्मुहूर्त-कम १६ वर्ष और ज्ञानावरणादि शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष होता था। जब अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तनाका चरमसमय होता है उससमय संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभका स्थितिबन्ध घटकर जो बन्ध होता है उस बन्धकी स्थिति आठवर्षमात्र होती है, किन्तु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातियाकर्म तथा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातियाकर्मोंका अर्थात् इन छहोंकर्मोंका स्थितिबन्ध हजारों स्थितिबधापसरणके द्वारा सख्यातगुणा घटकर संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है, क्योंकि ये छहकर्म मोहनीयकर्मके समान अतिअप्रशस्त नहीं है।

[2]ठिदिसत्तमघादीणं असंखवस्साण होंति घादीणं।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति णियमेण ॥६८॥४८६॥

अर्थ—अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण और घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षका नियमसे होता है।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके चरमसमयमें नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्कर्म असंख्यातवर्ष और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है। इसप्रकार अश्वकर्णकरणका काल समाप्त होता है[3]।

आगे बादरकृष्टिकरणकेकालका प्रमाण जाननेके लिए गाथासूत्र कहते हैं—

छक्कम्मे संछुद्धे कोहे कोहस्स वेदगद्धा जा।
तस्स य पढमतिभागो होदि हु हयकरणकरणद्धा ॥६६॥४६०॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६७ सूत्र ५७६-८० । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४ । जयधवल मूल पृष्ठ २०४४ ।

२ क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६७ सूत्र ५८१-८२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०४४ ।

विदियतिभागो किट्टीकरणद्धा किट्टिवेदगद्धा हु ।
तदियतिभागो किट्टीकरणो हयकरणकरणं च ॥१००॥४६१॥

अर्थ—(छह नोकषायोंको संज्वलनक्रोधमें संक्रमणकरके नाश करनेके अनन्तरवर्ती समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तमात्र जो क्रोधवेदककाल है उसमें सख्यातका भाग देकर बहुभागके समानरूपसे तीन भाग करते हैं तथा अवशेष एकभागको सख्यातका भाग देकर उनमेंसे बहुभागको प्रथम त्रिभागमे एवं अवशिष्ट एकभागमें संख्यातका भाग देकर बहुभाग दूसरे त्रिभागमे तथा अवशेष एक भागको तृतीय त्रिभागमें जोड़ते हैं ।) इसप्रकार करते हुए प्रथमत्रिभाग कुछ अधिक हुआ और वह अपूर्वस्पर्धक सहित अश्वकर्णकरणका काल है सो पहले हो ही गया । द्वितीयत्रिभाग किंचित् ऊन है सो चार संज्वलनकषायोका कृष्टि करनेका काल है जो अब प्रवृत्तमान है एव तृतीयत्रिभाग किंचित् ऊन है जो कि क्रोधकृष्टिका वेदककाल है जो आगे प्रवृत्तमान होगा । इस कृष्टिकरणकालमे भी अश्वकर्णकरण पाया जाता है, क्योंकि यहां भी अश्वकर्णके आकाररूप सज्वलनकषायोका अनुभागसत्त्व या अनुभागकाण्डक होता है अतः यहां कृष्टिसहित अश्वकर्णकरण पाया जाता है ।

विशेषार्थ—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह नोकषायरूप कर्मप्रकृतियोंका सज्वलनक्रोधमें संक्रमण होकर नष्ट हो जानेपर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण क्रोध वेदककाल होता है । उसके तीन भाग होते हैं; उन तीन भागोंमेसे प्रथमभाग सबसे बड़ा होता है, द्वितोयभाग उस प्रथमभागसे विशेषहीन होता है और तृतीयभाग इस दुसरे भागसे भी हीन कालवाला होता है । वह इसप्रकार है—क्रोध वेदककालको संख्यातसे भाजितकर उसमेसे बहुभागके तीन समखण्ड होते हैं । क्रोधवेदककाल जो सख्यातवां एकभाग शेष रहा उसको पुनः संख्यातसे भागदेकर बहुभाग प्रथम त्रिभागमें मिलानेपर प्रथमभागसम्बन्धी कालका प्रमाण होता है, शेष एक भागको पुनः सख्यातसे भागदेकर बहुभाग द्वितीयभागमें मिलानेसे द्वितीयभागके कालका प्रमाण होता है । शेष एकभागको तृतीयभागमें मिलानेपर तीसरेभागके कालका प्रमाण होता है । इस हीन क्रमसें क्रोधवेदककालके तीनखण्ड हैं । यद्यपि स्थूलरूपसे प्रत्येकभागको त्रिभाग कहा गया है तथापि वे क्रोधवेदककालके त्रिभागसे कुछ हीन या अधिक हैं । उन तीन भागों मे से प्रथमभाग अश्वकर्णकाल है, द्वितीयभाग कृष्टिकरणकाल है और तृतीयभाग कृष्टिवेदककाल हैं ।

अश्वकर्णकरणके समाप्त होनेपर अर्थात् प्रथमभागका काल समाप्त होनेपर तदनन्तरकालमें अन्यस्थितिबन्ध होता है। जो चारों संज्वलनकषायोंका अन्तर्मुहूर्त-कम आठवर्ष है और कर्मोंका स्थितिबन्ध पूर्वके स्थितिबन्धसे संख्यातगुणाहीन है अन्य अनुभागकाण्डक होता है। अन्य स्थितिकाण्डक होता है जो कि मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंका संख्यातसहस्रवर्ष है और नाम-गोत्र, वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका असंख्यातबहुभाग है[1]।

कृष्टिकरणकालमें अश्वकरण भी होना है, क्योंकि अनुभागकी अपेक्षा कृष्टियों की रचना अश्वकर्णकरण भी होता है जिसके द्वारा संज्वलनकषायरूप कर्म कृश किया जाता है, उसकी कृष्टि यह सार्थक संज्ञा है। यह कृष्टिका लक्षण है[2]।

कोहादीणं सगसगपुव्वापुव्वगदफड्डयेहिंतो ।
उक्कड्डिदूण दव्वं ताणं किट्टी करेदि कमे ॥१०१॥४९२॥

अर्थ—क्रोधादिके अपने-अपने पूर्व-अपूर्व स्पर्धकोंसे अपकर्षित द्रव्यके द्वारा क्रमसे कृष्टियां करता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकारक प्रथमसमयमें क्रोधके पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्र-का अपकर्षणकर क्रोध कृष्टियोंको करता है। मानके पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अप-कर्षणकर मानकृष्टियोंको करता है। मायाके पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अप-कर्षणकर मायाकृष्टियोको करता है। लोभके पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अपकर्षण-कर लोभकृष्टियोंको करता है[3]।

उक्कट्टिददव्वस्स य पल्लासंखेज्जभागबहुभागो ।
बादरकिट्टिणिबद्धो फड्डयगे सेसइगिभागो ॥१०२॥४९३॥

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यको पल्यके असंख्यातवेंभागसे भाजितकर उसमेंसे बहु-भागद्रव्य बादरकृष्टियोंमें दिया जाता है और एकभाग पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंमें दिया जाता है।

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७९७-७९८ सूत्र ५८५-५८८।

२. "किसं कम्मं कद जम्हा, तम्हा किट्टी ॥७३३॥ एदं लक्खणं ॥७३४॥ (क. पा. सुत्त पृ. ८०८)

३. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४-३७५।

विशेषार्थ—डेढ़गुणहानि समयप्रबद्धप्रमाण सत्ता द्रव्य है, इसको अपकर्षणभागहारसे भाग देनेपर जो लब्ध आवे वह अपकर्षितद्रव्य है। उस अपकर्षितद्रव्यको पल्योपमके असंख्यातवेंभागसे भाजित करनेपर जो द्रव्य प्राप्त हो वह तो पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंमें निक्षिप्त किया जाता है। शेष बहुभागद्रव्यसे बादरकृष्टियां निर्वर्तित होती हैं इसप्रकार अपकर्षितद्रव्यका विभाजन होता है।

किट्टीओ इगिफड्डयवग्गणसंखाणणंतभागो दु।
एक्केक्कम्हि कसाए तियं ति अहवा अणंता वा ॥१०३॥४९४॥

अर्थ—कृष्टियोंकी संख्या एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवेंभाग है[1]। एक-एक कषायकी तीन-तीन कृष्टियां अथवा अनन्तकृष्टियां हैं।

विशेषार्थ—चारों कषायोंकी कृष्टियां गणनासे एकस्पर्धककी वर्गणाओंकी संख्याको अनन्तकाभाग देनेसे जो लब्ध प्राप्त हो उतनी हैं अर्थात् अनन्त हैं, किन्तु संग्रहकी अपेक्षा संग्रहकृष्टि १२ हैं, क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायोंमें से प्रत्येककी तीन-तीन संग्रहकृष्टियां है[2]। एक-एक संग्रहकृष्टिकी अनन्त अवयवकृष्टियां होती हैं इसकारणसे "अथवा अनन्त होती है" ऐसा कहा गया है[3]।

अकसायकसायाणं दव्वस्स विभंजणं जहा होदि।
किट्टिस्स तहेव हवे कोहो अकसायपडिबद्धं ॥१०४॥४९५॥

अर्थ—अकषाय अर्थात् नोकषाय और कषायमें द्रव्य (समयप्रबद्ध) का जिस प्रकार विभाजन होता है उसीप्रकार कृष्टियोंमें भी द्रव्यका विभाजन होता है, किन्तु अकषायका द्रव्य क्रोधकृष्टिमें सम्मिलित होता है।

---

१. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७५।

२. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७६। "ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ताऽपि स्थूरजाति भेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते, एकैकस्य कषायस्य तिस्रस्तिस्रः।" (जयधवल पु० ६ पृष्ठ ३८१ टि० नं० ५) "एक्केक्कम्मि कसाए तिण्णि तिण्णि किट्टीओ त्ति एवं तिग तिग" क. पा सुत्त पृष्ठ ८०६ सूत्र ७१४।

३ "एक्केक्किस्से संगहकिट्टीए अणंताओ किट्टीओ त्ति एदेण अथवा अणंताओ जादा। (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०६ सूत्र ७१५।

विशेषार्थ—विभाजनद्वारा समयप्रबद्धका जितना द्रव्य चारित्रमोहको मिलता है उसमेसे आधा नोकषायसम्बन्धी है और आधा क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषाय सम्बन्धी है। इसप्रकार प्रत्येक कषायको चारित्रमोहसम्बन्धी अर्धद्रव्यका चतुर्थभाग मिलता है अर्थात् क्रोधकषायका चारित्रमोहनीय द्रव्यका आठवांभाग तथा मानका, माया-का और लोभका भी चारित्रमोहनीयद्रव्यका आठवां-आठवां भाग है। नोकषायस्वरूप चारित्रमोहनीयका आधाद्रव्य है।

क्षपक अनिवृत्तिकरणकालके सख्यात बहुभाग व्यतीत हो जानेपर १३ प्रकृतियों का अन्तरकरण करके फिर नपुंसकवेदकी क्षपणाका प्रारम्भ करता है। पुनः उसका प्रारम्भ करते हुए गुणसंक्रमणके द्वारा नपुंसकवेदको पुरुषवेदमें संक्रान्त करता है, क्योंकि नवम गुणस्थानमे अन्तरकरण करनेके बाद जो संक्रमण होता है वह आनुपूर्वी क्रमसे होता है अतः शेषकषायोंमें नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका संक्रमण न करके नपुंसकवेदका क्षपण करता हुआ नपुंसकवेदकी द्विचरमफालीके प्राप्त होने तक जाता है, उसके बाद अन्तिमफालीका पुरुषवेदमें संक्रमण होनेपर नपुंसकवेद नष्ट हो जाता है फिर स्त्रीवेद-का क्षपण प्रारम्भ करके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उसके क्षपणाकालसम्बन्धी चरमसमयमें स्त्री-वेदकी अन्तिमफालीका पुरुषवेदमें संक्रमण होनेपर स्त्रीवेदका भी सम्पूर्णद्रव्य पुरुषवेदमें संक्रान्त हो जाता है। पुनः इस पुरुषवेद (जिसमें नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन दोनों वेदोका द्रव्य संक्रान्त हो चुका है) के साथ शेष छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) का द्रव्य क्रोधसज्वलनमें संक्रान्त हो जानेपर क्रोधसज्वलनका उत्कृष्ट संचय होता है[1], क्योंकि उससमय क्रोधसंज्वलनका द्रव्य चारित्रमोहनीयके द्रव्यके ($\frac{1}{2}+\frac{1}{8}$) आठ भागोमें से पाचभागप्रमाण हो जाता है। इसप्रकार ९ नो-कषायोका द्रव्य जो चारित्रमोहनीयके अर्धद्रव्यप्रमाण है वह क्रोधकृष्टिमें सम्मिलित होता है।

क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे प्रथमसंग्रहकृष्टिमे प्रदेशाग्र तेरहगुणा कैसे संभव है, इसका स्पष्टीकरण यह है कि मोहनीयकर्मका सर्वप्रदेशरूप द्रव्य अङ्कसन्दृष्टिको अपेक्षा ४९ कल्पित कीजिए। इसके दो भागोंमेंसे असख्यातवेंभागसे अधिक एकभाग (२५) तो कषायरूप द्रव्य है और असख्यातवेभागसे हीन शेष दूसराभाग (२४) नो-

---

१. जयधवल पु० ६ पृष्ठ १११-११२।

कषायरूप द्रव्य है। अब यहांपर कषायरूप द्रव्यको क्रोधादि चारकषायोंकी १२ संग्रह-कृष्टियोमें विभाग करनेपर क्रोध प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य (२) अंकप्रमाण रहता है जो कि मोहनीयकर्मके सकल (४९) द्रव्यकी अपेक्षा कुछ अधिक २४वां भागप्रमाण है। प्रकृत कृष्टिकरणकालमे नोकषायोंका सर्वद्रव्य भी सज्वलनक्रोधमे सक्रमित हो जाता है जो कि सर्व ही द्रव्यकृष्टि करनेवालेके क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूपसे ही परिणत होकर अवस्थित रहता है। इसका कारण यह है कि वेदन की जानेवाली प्रथमसग्रहकृष्टिरूप से ही उसके परिणमनका नियम है। इसप्रकार क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रका स्वभाग (२) इस नोकषायद्रव्य (२४) के साथ मिलकर (२+२४=२६) क्रोधको द्वितीयसग्रहकृष्टिके दो अङ्कप्रमाण द्रव्यकी अपेक्षा तेरहगुणा (२×१३=२६) सिद्ध हो जाता है। अतएव चूर्णिकारने उसे तेरहगुणा बतलाया है।

इसप्रकार उपर्युक्त सूत्रसे सूचित स्वस्थान-अल्पबहुत्व इसप्रकार जानना चाहिए। क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे प्रदेशाग्र सख्यातगुणित हैं। मानका स्वस्थानअल्पबहुत्व इसप्रकार है—मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे प्रदेशाग्र सबसे कम है, द्वितीयसग्रहकृष्टिमे विशेष अधिक हैं, तृतीय सग्रहकृष्टिमे विशेषअधिक हैं। इसीप्रकार माया और लोभ-सम्बन्धी स्वस्थान-अल्पबहुत्व जानना चाहिए[1]।

पढमादिसंगहाओ पल्लासंखेज्ज भागहीणाओ।
कोहस्स तदीयाए अकसायाणं तु किट्टीओ ॥१०५॥४९६॥

अर्थ—संग्रहकृष्टिकरणकी प्रथम (जघन्य) संग्रहकृष्टिसे लेकर आगे-आगे क्रोधकी द्वितीयसग्रहकृष्टितक द्रव्य हीन होता गया है। प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको पल्य-के असंख्यातवेभागसे भाग देनेपर जो प्रमाण आवे उतना द्रव्य द्वितीयसग्रहकृष्टि कम है। कृष्टिकरणकी अपेक्षा क्रोधकी तृतीयकृष्टि (उदयापेक्षा क्रोधकी प्रथमकृष्टि) में नोकषायका द्रव्य मिल जाता है।

---

1. क० पा० सुत्त ८१२। गाथा ९९ से १०४ तक ६ गाथाओकी टीका मात्र क० पा० सुत्त और धवल पु० ६ के आधारसे लिखी गई है क्योकि जयधवल मूल (फलटनसे प्रकाशित) के पृष्ठ २०४५ से २०४८ के पृष्ठ नही मिल सके। इन गाथाओं सम्बन्धी विषय उन पृष्ठोमे होगा ऐसा प्रतीत होता है।

विशेषार्थ—गाथा १०५ का विशेषार्थ कषायपाहुड़ गाथा १७० और जयधवलमूलटीका के आधारसे लिखा जा रहा है। क. पा. गाथा १७० में उदयकी अपेक्षा 'प्रथमादि' क्रम रखा गया है अतः यहां भी उदयकी अपेक्षा ही प्रथमादि क्रम लिखा जावेगा। जैसे ऊपर गाथामें तो "क्रोधकी तृतीयकृष्टिमें नोकषायका द्रव्य मिलाया गया है" ऐसा कहा है, किन्तु उदयापेक्षा वह तृतीयकृष्टि ही प्रथमकृष्टि है इसीलिए क. पा. गाथा १७० में "प्रथमकृष्टिमें नोकषायका द्रव्य मिलाया गया है" ऐसा कहा है, क्योंकि कृष्टिरचना तो नीचेसे ऊपरकी ओर होती है अर्थात् जघन्यअनुभागसे उत्तरोत्तर अनुभाग बढते हुए कृष्टिरचना होती है, किन्तु प्रथमउदय अधिक अनुभागवाला होता है तथा आगे उत्तरोत्तर हीनअनुभागका उदय होता जाता है अर्थात् उदय ऊपरसे नीचेकी ओर होता है।

क्रोधोदयकी अपेक्षा द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्र अल्प हैं, उससे उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संख्यातगुणे अर्थात् तेरहगुणे प्रदेशाग्र हैं, क्योकि इस कृष्टिमें नोकषाय का द्रव्य मिल गया है। उसी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक द्रव्य है, क्योकि यह बादमे उदय आवेगी। इसप्रकार क्रोधकषायकी तीनसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अल्पबहुत्व जानना।

शंका—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टि तेरहगुणी किस प्रकार है? **समाधान**—अङ्कसन्दृष्टिमें मोहनीयकर्मका सर्वद्रव्य (४९) है। इसके दो भाग करनेपर असंख्यातवेंभागअधिक एकभाग कषायका द्रव्य है जिसकी अङ्कसन्दृष्टि (२५) है और असंख्यातवेंभागसे हीन शेष दूसरा नोकषायसम्बन्धी द्रव्य है, जिसकी अंकसंदृष्टि (२४) है। कषायभागको बारह संग्रहकृष्टियोंमें विभाजित करनेपर क्रोधकषाय की प्रथमसंग्रहकृष्टिमें कषायसम्बन्धी द्रव्यका १२वां भाग है उसकी सन्दृष्टि (२) है। नोकषायका सर्वद्रव्य भी क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मिलता है, क्योकि यह उदयागतकृष्टि है। कषायसम्बन्धी प्रत्येकसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे नोकषायका द्रव्य १२ गुणा है, क्योंकि कषाय द्रव्यका १२ सग्रहकृष्टियोमे विभाजन होनेसे प्रत्येक सग्रहकृष्टिको १२ वे भाग द्रव्य मिला है। क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य कषायसम्बन्धी सकलद्रव्यका १२ वां भाग है जिसकी सन्दृष्टि दो है अतः द्वितीयसग्रहकृष्टिके द्रव्य (२) से उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य (२६) तेरहगुणा सिद्ध हो जाता है।

शंका—क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य कितना अधिक है? समाधान—क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको पल्यके असंख्यातवेंभागसे खण्डित करके एकखण्डप्रमाण तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है।[1]

उदय (वेदक) की अपेक्षा मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टि अथवा कारककी अपेक्षा मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य स्तोक है; उससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है, क्योंकि तीव्रअनुभागवाले प्रदेशपिण्डसे मन्दअनुभागवाला प्रदेशपिण्ड अधिक होता है। द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है। विशेष के लिए प्रतिभाग पल्यका असंख्यातवांभाग है, यह प्रतिभाग स्वस्थानके लिए है अर्थात् मानकषायकी तीनसंग्रहकृष्टियों मे परस्पर विशेषका प्रमाण स्वस्थानविशेष है। इसी प्रकार माया व लोभकषायमे भी स्वस्थानविशेष जानना चाहिए।

मानकषायकी तृतीयसग्रहकृष्टिसे क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है। यहांपर विशेषके लिए प्रतिभाग आवलिका असख्यातवांभाग है, क्योकि यहां परस्थानविशेष है कारण कि मान और क्रोध दोनों भिन्न-भिन्न कषाय हैं। क्रोध कषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है; यहां विशेषका प्रतिभाग पल्यका असंख्यातवांभाग है। मायाकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टि से विशेषअधिक है, यहां विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग आवलिका असख्यातवांभाग है, क्योंकि परस्थान है। मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे माया कषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है। यहा विशेष अधिकके लिए प्रतिभाग पल्यका असंख्यातवांभाग है, क्योकि स्वस्थान है। इससे मायाकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है यहां भी स्वस्थान होनेसे विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग पल्यका असख्यातवांभाग है। मायाकषायकी तृतीयसग्रहकृष्टिसे लोभकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है, यहांपर परस्थान होनेसे विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग आवलिका असंख्यातवांभाग है, क्योकि माया व लोभकषाय भिन्न-भिन्न कषाएं हैं। लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी ही द्वितीयसग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है और इससे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेषअधिक है। यहा द्वितीय और तृतीय दोनों ही कृष्टियोंमें विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग पल्यका असख्यातवाभाग है, क्योकि स्वस्थान है। इस

---

१. "विसेसो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागपडिभागो" (क. पा. सुत्त पृ० ८१२ सूत्र ७६२)

प्रकार क्रोधकषायको उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य संख्यातगुणा अर्थात् तेरहगुणा है, क्योंकि इसमें नोकषायका द्रव्य मिल गया है ।[1]

किस कषायोदयसे श्रेणी चढ़नेवालेके कितनी संग्रहकृष्टियां होती हैं —

कोहस्स य माणस्स य मायालोभोदएण चडिदस्स ।
बारस णव छ तिण्णि य संगहकिट्टी कमे होंति ॥१०६॥४९७॥

अर्थ—क्रोध-मान-माया अथवा लोभके उदयसे क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले के क्रम से १२-९-६ व ३ संग्रहकृष्टियां होती हैं ।

विशेषार्थः—सज्वलनक्रोधके उदयसहित जो जीव श्रेणी चढ़ता है उसके तो चारों कषायोंकी बारह संग्रहकृष्टि होती हैं, क्योंकि प्रत्येक कषायकी तीन-तीन संग्रहकृष्टि होती हैं । मानकषायके उदयसहित श्रेणी चढता है, उसके कृष्टिकरणकालसे पहले ही क्रोधका सक्रमण करके स्पर्धकरूपसे क्षय होता है इसलिए सज्वलनक्रोधकी संग्रहकृष्टि नही होती अवशेष तीन कषायोंकी ९ सग्रहकृष्टि होती हैं, मायाकषायके उदयसहित जो श्रेणि चढ़ता है उसके क्रोध व मानकषायका कृष्टिकरणकालसे पहले ही सक्रमण करके स्पर्धकरूपसे क्षय होता है इसलिए दो कषायोंकी छहसग्रहकृष्टि होती है तथा लोभकषाय के उदयसहित जो श्रेणी चढता है उसके क्रोध-मान व मायाकषायका कृष्टिकरणकालसे पहले हो स्पर्धकरूपसे संक्रमणकरके क्षय होता है इसलिए एक लोभकषायकी ही तीव संग्रहकृष्टि होती हैं । यहां जितनी संग्रहकृष्टि होती हैं उन्हीमें कृष्टिप्रमाणका विभाग यथासम्भव जानना चाहिए[2] ।

अन्तरकृष्टियोंकी संख्या व उनका क्रम—

संगहगे एक्केक्के अंतरकिट्टी हवदि हु अणंता ।
लोभादि अणंतगुणा कोहादि अणंतगुणहीणा ॥१०७॥४९८॥

अर्थ—एक-एक संग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टियां अनन्त हैं तथा उन सग्रहकृष्टियोंमें लोभकषायसे लेकर क्रमसे अनन्तगुणा बढते हुए और क्रोधकषायसे लेकर क्रमसे घटता हुआ अनुभाग जानना ।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०८२ से २०८६ तक ।
२. जयधवल मूल पृष्ठ २०७१ से २०७३ ।

विशेषार्थ—क्रोध-मान-माया व लोभ इन चारोंकषायोंमें प्रत्येककषायकी तीन-तीन संग्रहकृष्टि होकर सर्व (४×३) १२ संग्रहकृष्टियां होती हैं तथा इनमेंसे एक-एक संग्रहकृष्टियोमें अवान्तरकृष्टियां अभव्योसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवेंभाग-प्रमाण अनन्त होती हैं और इनके अन्तर भी अनन्त हैं। एक-एक कृष्टिसम्बन्धी अवान्तरकृष्टियोके अन्तरकी सञ्ज्ञा "कृष्टिअन्तर" है एवं संग्रहकृष्टिके ग्यारह अन्तरालोमें रची गई कृष्टियोंकी "संग्रहकृष्टिअन्तर" संज्ञा है। इनमेसे कृष्टिअन्तरके गुणकारकी 'स्वस्थानगुणकार' और संग्रहकृष्टिअन्तरके गुणकारकी "परस्थानगुणकार" संज्ञा है[1]।

लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें अनुभाग स्तोक है, उससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अनन्तगुणा है। इसप्रकार अनन्तगुणा क्रम लीये क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टितक जाना चाहिए, यह कथन अनुलोभकी अपेक्षा है। विलोमकी अपेक्षा क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमे अनुभाग सबसे अधिक है, उससे क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन है। इसप्रकार क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे लेकर लोभकषायकी प्रथम-संग्रहकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणेहीन क्रमसे अनुभाग होता है। इसका विशेषकथन आगे गाथा १०८ मे किया जावेगा।

उपर्युक्त गाथाके कथनका स्पष्टीकरण करनेके लिए गाथा सूत्र कहते हैं—

[2]लोभादी कोहोत्ति य सट्ठाणंतरमणंतगुणिदकमं।
तत्तो बादरसंगहकिट्टी अंतरमणंतगुणिदकमं ॥१०८॥४६६॥

अर्थ—लोभकषायसे क्रोधकषायपर्यन्त स्वस्थान अन्तर[3] अनन्तगुणा क्रम लीये है तथा उस स्वस्थानअन्तरसे बादरसंग्रहकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा क्रमसहित है।

---

१. "एक्केक्किस्से संगहकिट्टीए अणंताओ किट्टीओ। तासिं अंतराणि वि अणंताणि। तेसिमंतराणं सण्णा किट्टी-अंतराइं णाम।" संगहकिट्टीए च संगहकिट्टीए च अंतराणि एक्कारस, तेसिं सण्णा संगहकिट्टी-अंतराइंणाम। (क पा सुत्त पृष्ठ ७९९ सूत्र ६११) ध० पु० ६ पृ० ३७६। जयधवल मूल पृ० २०५१।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९९ से ८०१ सूत्र ६१४ से ६४२ तक। धवल पु० ६ पृ० ३७८।

३. "तत्थ सत्थाणगुणगारस्स किट्टीअंतरमिदि सण्णा, परत्थाणगुणगाराणं संगहकिट्टीणं अंतराणि त्ति सण्णा।" अर्थात् एकसंग्रहकृष्टि की अन्तरकृष्टियोका जो परस्पर गुणकार है वह स्वस्थान-गुणकार है। एकसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टिका जो गुणकार है वह परस्थान गुणकार है। (जयधवल मूल पृष्ठ २०५१)

विशेषार्थ—बादरसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी एक-एकसंग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टि सिद्ध-राशिके अनन्तवेंभागमात्र है तथा उनकेअन्तराल एककम कृष्टिप्रमाण हैं, क्योंकि दोकृष्टियों के बीचमें एक अन्तराल, तीन कृष्टियोके बीचमें दो अन्तराल होते हैं। इसप्रकार विवक्षितकृष्टिप्रमाणमें अन्तराल एककम उस कृष्टिप्रमाण होता है। यहां कारणमें कार्यका उपचार होनेसे अन्तरकी उत्पत्तिमें कारणभूत गुणकारोंको अन्तर कहते हैं। और इन्हीं का नाम कृष्टयंतर है। अधस्तनसंग्रहकृष्टि और उपरितनसंग्रहकृष्टिके बीचमें ११ अन्तराल होते हैं, क्योंकि क्रोधादि चारकषायसम्बन्धी संग्रहकृष्टियां १२ हैं अतः एककम (१२-१) अन्तरोंका प्रमाण होगा, इन्हींको संग्रहकृष्टयंतर कहते हैं। यहां उक्त कथन का यह अभिप्राय जानना कि जितने अन्तराल होते हैं उतनीबार अन्तरकृष्टियोंकी रचना होती है और उनमें स्वस्थान परस्थान गुणकार होता है। वहां स्वस्थानगुणकारका नाम कृष्टयंतर है तथा परस्थान गुणकारों का नाम संग्रहकृष्टयंतर है। एकही संग्रह-कृष्टिमें अधस्तन अन्तरकृष्टिसे उपरितन संग्रहकृष्टिमें जो गुणकार होता है वह तो स्वस्थानगुणकार तथा अधस्तन संग्रहकृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिसे अन्य संग्रहकृष्टि सम्बन्धी प्रथमअन्तरकृष्टिमें जो गुणकार होता है उसे परस्थान गुणकार कहते हैं। इस-प्रकार संज्ञाएं बताकर कृष्टयंतर और संग्रहकृष्टियोंका अल्पबहुत्वको स्पष्टरूपसे बताने के लिए अङ्कसन्दृष्टिद्वारा कथन करते हैं—

यहां अनन्तकी सन्दृष्टि दो और एकसंग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टिके प्रमाणकी सन्दृष्टि (४) है। सर्वप्रथम लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिको स्थापित करके उसमें अनन्तरूप गुणकारसे गुणा करने पर उसकी द्वितीयकृष्टिका प्रमाण होता है। यहां उस गुणकारको जघन्यकृष्टचन्तर कहते हैं और उसकी सहनानी (२) है तथा द्वितीयकृष्टिको जिस गुणकारके द्वारा गुणा करनेसे तृतीयकृष्टि होती है उस गुणकारको द्वितीयकृष्टचन्तर कहते हैं, यह जघन्यकृष्टचन्तरसे अनन्तगुणा है और इसकी सहनानी (४) है। इसीप्रकार क्रमसे तृतीयादि कृष्टचन्तर अनन्तगुणे-अनन्तगुणे होते हैं। जिस गुणकारसे द्विचरमकृष्टिको गुणा करनेसे अन्तिमकृष्टि होती है वह अन्तिमगुणकार द्विचरमगुणकारसे अनन्तगुणा है और उसकी सहनानी (८) है। प्रथम-संग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिको जिसगुणकारसे गुणा किया जानेसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमकृष्टि होती है वह गुणकार परस्थानगुणकार है और यह स्वस्थानगुणकारोंसे अनन्तगुणा है। अतः इसको छोड़कर द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमकृष्टिको जिस गुणकारसे

गुणा करनेपर उसकी (द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी) द्वितीयकृष्टि होती है वह प्रथमगुणकार उपर्युक्त अन्तिमस्वस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है इसकी अङ्कसन्दृष्टि (१६) है। इसप्रकार बीच-बीचमें परस्थानगुणकारको छोड़कर एक-एककृष्टिके प्रति गुणकारका प्रमाण अनन्तगुणा जानना। यहां कृष्टियोंके प्रमाणमें से एककम प्रमाण अन्तराल हैं उनमें ११ परस्थानगुणकार और एक जघन्यगुणकार पाया जाता है। अन्तिम प्राप्त संख्याका गुणकार नहीं होता (सन्दृष्टिमें ४२=३२७६८) इसप्रकार इन १३को कृष्टियो के प्रमाणमें से घटानेपर अवशेष जितना प्रमाण रहा उतनीबार जघन्य गुणकारको अनन्तसे गुणा करनेपर जो लब्ध आया उससे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी द्विचरमकृष्टिको गुणा करें तो क्रोधकषायकी तृतीय संग्रहकृष्टिसम्बन्धी चरमकृष्टि होती है। यहां अङ्कसन्दृष्टिमें ४८ कृष्टियोंमेंसे १३ घटानेसे (४८-१३) ३५ शेष रहे अतः ३५ बार अनन्तके प्रमाण (२) को परस्परमें गुणा करनेपर १६ गुणा बादाल (१६×बादाल) लब्ध आया। यहांसे स्वस्थानगुणकारको छोड़कर पुनः लौटकर लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमवर्गणाको (कृष्टिको) जिस गुणकारसे गुणा करनेसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमवर्गणा (कृष्टि) होती है वह परस्थानगुणकार पूर्वोक्त अन्तिमस्वस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है और इसकी सन्दृष्टि ३२ गुणा बादाल (३२×बादाल) है तथा लोभकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिको जिस गुणकारसे गुणाकरनेपर लोभकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टि होती है वह द्वितीयपरस्थानगुणकार उपर्युक्त प्रथमपरस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है एवं लोभकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तिमकृष्टिको जिस गुणकारसे गुणा करनेपर मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमअन्तरकृष्टि होती है वह तृतीयपरस्थानगुणकार पूर्वोक्त द्वितीयपरस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है। इसीप्रकार ११ परस्थानगुणकारोंको क्रमसे अनन्तके द्वारा गुणाकरनेपर क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तिमकृष्टिको जिस गुणकारसे गुणा करनेसे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टि होती है उस गुणकार प्रमाण लब्धराशि प्राप्त होती है।

कृष्टिअन्तरों एवं संग्रहकृष्टिअन्तरोंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

[1]लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें जघन्यकृष्टिअन्तर अर्थात् जिस गुणकारसे गुणित जघन्यकृष्टि अपनी द्वितीयकृष्टिका प्रमाण प्राप्त करती है वह गुणकार सबसे

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७९९ से प्रारम्भ।

कम है, इससे द्वितीयकृष्टिका अन्तर अनन्तगुणा है। इसप्रकार अनन्तर-अनन्तररूपसे जाकर अन्तिमकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है। लोभकषायकी ही द्वितीयसग्रहकृष्टिमें प्रथम-कृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इसप्रकार अनन्तर-अनन्तररूपसे अन्तिमकृष्टि अन्तरतक अनन्तगुणा अन्तर जानना चाहिए। पुनः लोभकषायकीही तृतीयसग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। ऐसे अनन्तर-अनन्तररूपसे जाकर अन्तिमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। यहांसे आगे मायाकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है। इसप्रकार अनन्तर अनन्तररूपसे मायाकषायकी भी तीनों सग्रहकृष्टियोके कृष्टि-अन्तर यथाक्रमसे अनन्तगुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए। यहांसे आगे मानकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिमे प्रथमकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है। इसप्रकार मानकषायकी भी तीनों संग्रहकृष्टियोके कृष्टिअन्तर यथाक्रमसे अनन्तगुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए। यहांसे आगे क्रोधकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। इसप्रकार क्रोधकषायकी भी तीनों सग्रहकृष्टियोंके अन्तर यथाक्रमसे अन्तिम-अन्तरपर्यन्त अनन्त-गुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए।

उससे अर्थात् स्वस्थानगुणकारोंके अन्तिमगुणकारसे लोभकषायकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिका अन्तर अनन्तगुणा है। इससे द्वितीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है और इससे तृतीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। लोभ व मायाकषायसम्बन्धी अन्तर अनन्तगुणा है। मायाकषायका प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है, इससे तृतीयसग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। मायाकषायसे मानकषायका अन्तर अनन्तगुणा है। मानकषायका प्रथमसग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीय-संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे तृतीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। मानकषाय और क्रोधकषायका अन्तर अनन्तगुणा है। क्रोधकषायका प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीयसग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है और इससे तृतीय-संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है। क्रोधकषायकी अन्तिमकृष्टिसे लोभकषायके अपूर्वस्प-र्धकोकी आदिवर्गणाका अन्तर अनन्तगुणा है।[1]

१. क. पा. सुत्त पृ. ८०१ तक।

गुणकारसम्बन्धी सन्दृष्टि इसप्रकार है—

नाम	लोभ	माया	मान	क्रोध	
तृतीयसग्रहकृष्टिमें स्वस्थानगुणकार	५१२ २५६ १२८	६५ = ४ ६५ = २ ६५ = १	६५ = २०४८ ६५ = १०२४ ६५ = ५१२	४२ = १६ ४२ = ८ ४२ = ४	
परस्थानगुणकार	४२=६४	४२=५१२	४२ = ४०९६	४२=३२७६८	
द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे स्वस्थानगुणकार	६४ ३२ १६	३२७६८ १६३८४ ८१९२	६५ = २५६ ६५ = १२८ ६५ = ६४	४२ = २ ४२ = १ ६५ =३२७६८	
परस्थानगुणकार	४२=३२	४२=२५६	४२=२०४८	४२=१६३८४	
प्रथमसग्रहकृष्टिमे स्वस्थानगुणकार	८ ४ २	४०९६ २०४८ १०२४	६५ = ३२ ६५ = १६ ६५ = ८	६५=१६३८४ ६५= ८१९२ ६५= ४०९६	अपूर्वस्पर्धक वर्गणा गुण०
परस्थानगुणकार	परस्थान (४२)	४२=१२८	४२=१०२४	४२=८१९२	४२=६५=

नोट—उपर्युक्त सन्दृष्टिमें पण्णट्ठीकी सहनानी ६५= और बादालकी सहनानी ४२= है तथा इनके आगे जो अक हैं उतनेका इनमें गुणकार जानना।

अंकसन्दृष्टिके द्वारा ११ परस्थान गुणकारोंको १० बार दुगुणा करनेपर ३२७६८ गुणा बादाल प्रमाण होता है और इससे उस गुणकारका प्रमाण अनन्तगुणा जानना जिस गुणकारके द्वारा क्रोधकषायकी तृतीयसग्रहकृष्टिकी अन्तिमसंग्रहकृष्टिको गुणा करनेसे लोभकषायके अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अनुभागसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंका प्रमाण होता है। उस गुणकारकी सन्दृष्टि ६५=४२ (पण्णट्ठी × बादाल) है। इसप्रकार गुणकारोका प्रमाण कहा, उसका स्पष्टोकरण करते हैं—अंकसादृष्टिमें जैसे लोभकषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें जो अनुभाग पाया जाता है, उससे दुगुणा द्वितीयकृष्टिमें तथा उससे चारगुणा तृतीयकृष्टिमें, उससे आठगुणा अन्तिमकृष्टिमें पाया जाता है। इससे ३२ गुणित बादाल गुणा (३२ × बादाल) लोभकषायकी

द्वितीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टिमे अनुभाग है। यहांसे पहले अन्यप्रकार गुणकार था अतः वहां पर्यन्त प्रथमसंग्रहकृष्टिकी ही कृष्टियां हैं। यहां अन्यप्रकार गुणकार हुआ इसलिए यहांसे आगे द्वितीयसंग्रहकृष्टि कही इसीप्रकार अन्तपर्यन्त विधान जानना। इसीप्रकार (अंकसंदृष्टि कथनके समान) यथार्थ कथन (अर्थसंदृष्टिरूप कथन) भी जानना, किन्तु (२) के स्थानपर अनन्त और संग्रहकृष्टियोंमें जो चार अन्तरकृष्टियां कही उसके स्थानपर अनन्त अनन्तरकृष्टियां जानना। इसप्रकार अनुभागके अविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा कृष्टियोंका कथन किया।

[1]लोहस्स अवरकिट्टिगदव्वादो कोधजेट्ठकिट्टिस्स।
दव्वोत्ति य हीणकमं देदि अणंतेण भागेण ॥१०९॥५००॥
लोहस्स अवरकिट्टिगदव्वादो कोधजेट्ठकिट्टिस्स।
दव्वं तु होदि हीणं असंखभागेण[2] जोगेण ॥११०॥जुम्मं॥५०१॥

अर्थ—लोभकषायकी जघन्यकृष्टिसे लेकर क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त द्रव्य अनन्तवेंभागहीन क्रमसे दिया जाता है तथा लोभकषायकी जघन्यकृष्टिके द्रव्यसे क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिका द्रव्य अनन्तवेंभागहीन है।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती कृष्टिकारक पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे असंख्यातवेंभाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके पुनः समस्त अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातवेंभाग द्रव्यको कृष्टियोंमें निक्षिप्त करता है। इसप्रकार निक्षिप्यमान लोभकषायकी जघन्यकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्रको देता है। द्वितीयकृष्टिमें एकवर्गणा विशेष (चय) से हीन द्रव्य देता है तथा इससे आगे-आगेकी उपरितन कृष्टियोमे यथाक्रमसे अनन्तवांभागविशेष (चय) से हीन द्रव्य क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त देता है। इस विधानसे अन्तरोपनिधाकी अपेक्षा एक-एकवर्गणा विशेषसे हीन द्रव्य उपरिम सर्व कृष्टियोमे सर्वोत्कृष्ट अर्थात् क्रोधकषायकी चरमकृष्टिपर्यन्त देता है, किन्तु संग्रहकृष्टियोकी अन्तरालवर्ती कृष्टियोंको उल्लंघ जाता है, क्योंकि इस अध्वानमे एक अन्तरसे दूसरे अन्तरमें 'अनन्तवेंभागसे हीन' अन्य कोई

---

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८०१ सूत्र ६४३ से ६४७ तक।
२. "हीणं असखभागेण" इत्यस्य स्थाने "हीणमणंतभागेण" इति पाठो (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०१ सूत्र ६४८)।

पर्याय असम्भव है। परम्परोपनिधाकी अपेक्षा लोभकषायकी जघन्यकृष्टिसे क्रोधकषायकी उत्कृष्टसम्बन्धी प्रदेशाग्र अनन्तवेंभागसे विशेषहीन हैं; क्योंकि कृष्टिअध्वान एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके अनन्तवेंभागप्रमाण है और एककम कृष्टिअध्वानप्रमाण वर्गणाविशेषसे हीन समस्त द्रव्य है[1]।

पडिसमयमसंखगुणं कमेण उक्कट्टिदूण दव्वं खु।
संगहहेट्ठपासे अपुव्वकिट्टी करेदी हु ॥१११॥५०२॥
हेट्ठा असंखभागं फासे वित्थारदो असंखगुणं।
मज्झिमखंडं उभयं दव्वविसेसे हवे फासे ॥११२॥जुम्मं॥५०३॥

अर्थ—प्रथमसमयसे द्वितीयादि समयोमें असख्यातगुणे क्रमयुक्त द्रव्यको अपकर्षणके द्वारा संग्रहकृष्टिके नीचे अथवा पार्श्वमें अपूर्वकृष्टिको करता है। संग्रहकृष्टिके नीचे की हुई कृष्टियोंका प्रमाण तो सर्वकृष्टियोके प्रमाणके असख्यातवेंभागमात्र है तथा पार्श्वमें की हुई कृष्टियोका प्रमाण नीचे की हुई कृष्टियोंके प्रमाणसे असंख्यातगुणा है। यहां पार्श्वमें की हुई कृष्टियोमें मध्यमखण्ड और उभयद्रव्य विशेष पाये जाते हैं।

विशेषार्थ— कृष्टिकरणकालमें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढते रहनेसे असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकरके संग्रहकृष्टियोके नीचे अपूर्वकृष्टियोंको करता है और पूर्वकृष्टियोमें द्रव्य देता है अर्थात् पार्श्वभागमें कृष्टियोंको करता है। पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे जितना द्रव्य प्रथमसमयमें अपकर्षण किया था उससे असंख्यातगुणे द्रव्यको द्वितीयसमयमें अपकर्षणकरके प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके असख्यातगुणे द्रव्यको अपकर्षणकरके प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोके नीचे अन्य अपूर्वकृष्टियोंकी रचना करता है जो प्रथमसमयमें निर्वर्तितकृष्टियोके असंख्यातवेंभागमात्र है। प्रथमसमयमें निर्वर्तित कृष्टियोमें तत्प्रायोग्य पल्यके असख्यातवेभागका भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी अपूर्वकृष्टियां द्वितीयसमयमे होती हैं। द्वितीयसमयमें जितना द्रव्य अपकर्षित किया गया है उसके असंख्यातवेंभाग द्रव्यको आगमके अविरोधरूपसे पूर्वकृष्टियोंमें तथा पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोमें देता है। इसप्रकार एक-एक संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियोंको करता है। संज्वलनक्रोधके पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोसे प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके क्रोधकी

---

1. जयधवल मूल पृष्ठ २०५७।

तीन संग्रहकृष्टियोंके नीचे पूर्वकृष्टियोंके असंख्यातवेंभागमात्र अपूर्वकृष्टियां द्वितीयसमयमें रची जाती हैं। इसीप्रकार संज्वलनमान-माया व लोभकषायके अपने-अपने स्पर्धकोंसे प्रदेशाग्र अपकर्षित करके अपनी-अपनी संग्रहकृष्टियोंके नीचे प्रथमसमयमें रची गई कृष्टियोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वकृष्टियोंको द्वितीयसमयमें रचता है। इसप्रकार १२ कृष्टियोंके नीचे द्वितीयसमयमें अपूर्वकृष्टियोंकी रचना की जाती है। पार्श्वमें की हुई कृष्टियोंका प्रमाण अपूर्वकृष्टियोंसे असंख्यातगुणा है। यहां पार्श्वकृष्टियोंमें मध्यमखण्ड और उभयद्रव्य विशेष है। मध्यमखण्ड और उभयद्रव्यके सम्बन्धमे लब्धिसारगाथा २८६-८७ देखना चाहिए।

[1]पुव्वादिम्हि अपुव्वा पुव्वादि अपुव्वपढमगे सेसे।
दिज्जदि असंखभागेणूणं अहियं अणंतभागूणं ॥११३॥५०४॥
वारेक्कारमणंतं पुव्वादि अपुव्वआदि सेसं तु।
तेवीस ऊंटकूडा दिज्जे दिस्से अणंतभागूणं ॥११४॥५०५॥

अर्थ—अपूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसे पहले जो पुरातनकृष्टि है उसकी प्रथमकृष्टिमें तो असंख्यातवेंभाग घटता द्रव्य देता है तथा पूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसे द्वितीय संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टिकी प्रथमकृष्टिमें असंख्यातवांभागमात्र अधिक द्रव्य देता है एव अवशिष्ट सर्वकृष्टियोंमें पूर्वकृष्टिसे उत्तरकृष्टिमें अनन्तवांभागमात्र घटते हुए द्रव्य देता है। यहां पुरातन (प्रथम) कृष्टियां १२ और अपूर्वप्रथमकृष्टि ११ तथा अवशेष कृष्टियां अनन्त जाननी। दृश्यमानमें लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी नवीन (अपूर्व) जघन्यकृष्टिसे लेकर क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी पुरातन (पूर्व) अन्तिमकृष्टिपर्यन्त अनन्तवेंभागमात्र घटते हुए क्रमसे द्रव्य जानना चाहिए।

विशेषार्थः—लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान लोभकी अपूर्वकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें अन्य उपरिमकृष्टियोंकी अपेक्षा बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है अन्यथा कृष्टिगत प्रदेशोंमें पूर्वानुपूर्वी एक गोपुच्छ विशेषकी अवस्थित अनुवृत्ति सम्भव नही है। द्वितीयकृष्टिमें विशेषहीन अर्थात् अनन्तवेंभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। यहां अनन्तवेंभागका प्रमाण एकवर्गणा-विशेषके प्रमाणके बराबर है अतः

1. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०१ से ८०३ तक सूत्र ६५३ से ६७२ तक। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८०।

प्रथमकृष्टिमें दिये जानेवाले प्रदेशाग्रोंसे द्वितीयकृष्टिमें निसिच्यमाण प्रदेशाग्र एकवर्गणा-विशेष हीन होते हैं। इसप्रकार तदनन्तर प्रतिकृष्टि अनन्तवेंभागहीन अर्थात् एकवर्गणा-विशेषहीन द्रव्य तबतक दिया जाता है जबतक प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोंको अन्तिमकृष्टि प्राप्त होती है। उससे असख्यातवेंभागरूप विशेपहीन द्रव्य प्रथमसमयमें निर्वर्तित लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियों मे से जघन्यकृष्टिमें दिया जाता है। प्रथमसमयमें कृष्टियोंमें दिये गये प्रदेशपिण्डकी अपेक्षा द्वितीयसमयमे समस्तकृष्टियोमें निसिच्यमाण सकलप्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा होता है, क्योंकि अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा इसका अपकर्षण हुआ है। इसलिए प्रथम-समयकी जघन्यकृष्टिमें पूर्वअवस्थित प्रदेशपुञ्जकी अपेक्षा द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वचरमकृष्टिमें निःसिक्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे अधिक होते हैं। अतः असंख्यातवे-भागहीन द्रव्य देनेसे अपूर्वचरमकृष्टिके प्रदेशपुञ्जकी अपेक्षा पूर्वजघन्यकृष्टिमें दृश्यमान (पूर्व और निःसिचित) द्रव्य एकगोपुच्छविशेषसे हीन हो जाता है। अन्य सधिविशेषोंमें जहां-जहां असंख्यातवेंभागहीन द्रव्य देनेका कथन हो वहां भी इसीप्रकार जानना चाहिए। प्रथमसंग्रहकृष्टिमे अनन्तभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है उसके आगे प्रथमसमयमे निर्वर्तित लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंमें अनन्तर-अनन्तर-रूपसे प्रथमसग्रहकृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। प्रथमसमयमे ही निर्वर्तित लोभकी द्वितोयसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें रची गई अपूर्वकृष्टियोकी पंक्ति है। उन द्वितीयसमयमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें दीयमान प्रदेशाग्र (प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिमे निःसिक्त प्रदेशाग्रकी अपेक्षा) असंख्यातवेंभागसे विशेष अधिक हैं। इसप्रकार द्रव्य देनेसे पूर्वप्रथमसग्रहकृष्टिकी चरम-कृष्टिकी अपेक्षा इस अपूर्व द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी जघन्यकृष्टिमें प्रदेशपुञ्ज एकवर्गणा (गोपुच्छ) विशेपसे हीन होते हैं। आगे जहां-जहां भी पूर्वचरमकृष्टिसे अपूर्वजघन्य-कृष्टिमे असख्यातवेंभागअधिक द्रव्य देनेका कथन हो वहां इसीप्रकार जानना चाहिए। उसके आगे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। उससे प्रथमसमयमें निर्वर्तित पूर्वद्वितीयसंग्रह-कृष्टियोकी जघन्यकृष्टिमे असंख्यातवेंभागप्रमाण विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इससे आगे द्वितीयपूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टितक अनन्तवेंभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। तत्पश्चात् द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे जैसी विधि बतलाई गई है वैसी ही विधि

तृतीयसंग्रहकृष्टिमें भी जाननी चाहिए। जिसप्रकार द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी आदिमें अपूर्व-कृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें एकबार असंख्यातवेंभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका विन्यास होकर पश्चात् अपूर्वकृष्टिके अन्तपर्यन्त अनन्तवेंभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। अपूर्व-कृष्टियोंको उलंघकर पूर्वकृष्टियोंकी आदिकृष्टिमें असंख्यातवेंभागहीन द्रव्य दिया जाकर अनन्तरकृष्टियोंमें अनन्तवेंभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं ऐसा प्ररुपण किया गया है उसीप्रकार लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे अन्तरकृष्टियोंमें भी हीनाधिक प्रदेशाग्र देनेका कथन करना चाहिए।

तदनन्तर लोभकषायकी अन्तिमकृष्टिसे मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोमें जो जघन्यकृष्टि है उसमें असंख्यातवेभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसप्रकार उपर्युक्त क्रमसे जहां-जहां पूर्वकृष्टियों की अन्तिमकृष्टिसे अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि कही गई है वहां-वहां असंख्यातवेभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है और जहां-जहां अपूर्वकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिसे पूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि कही गई है वहां-वहां असंख्यातवेंभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसक्रमसे द्वितीयसमयमें निक्षिप्यमाण प्रदेशाग्रका बारहकृष्टिस्थानोमें असंख्यातवेंभागसे हीन दीयमान प्रदेशाग्रका अवस्थान है, क्योंकि बारह पूर्वसंग्रहकृष्टियों-के नीचे अपूर्वकृष्टियोंकी रचना हुई है इसलिए बारह अपूर्वकृष्टियोकी चरमकृष्टिसे बारह पूर्वसंग्रहकृष्टियोकी जघन्यकृष्टियोंमें असंख्यातवेभागसे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, किन्तु असंख्यातवेभागसे अधिक प्रदेशाग्र ग्यारहकृष्टिस्थानोमें दिया जाता है, क्योंकि लोभकी प्रथमपूर्वसंग्रहकृष्टिके नीचे जो अपूर्वकृष्टियोंकी रचना हुई है उन अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिस्थानमें पूर्वसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसम्बन्धी संधिका अभाव होनेसे अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि और पूर्वसंग्रहकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिसम्बन्धी सन्धि ११ स्थानोमें होती है। शेषकृष्टि-स्थानोंमे दीयमान प्रदेशाग्रका अनन्तवेभागसे हीन अवस्थान है। इसप्रकार द्वितीयसमय में दीयमान प्रदेशाग्रकी यह उष्ट्रकूटश्रेणि है अर्थात् (जिसप्रकार ऊंटकी पीठ पिछले-भागमें पहले ऊंची होती है पुनः मध्यमें नीची होती है और फिर आगे नीची-ऊंची होती है, उसीप्रकार यहा प्रदेशाग्र भी आदिमें बहुत होकर फिर स्तोक रह जाता है पुनः सन्धिविशेषोंमें अधिक और हीन होता जाता है इसीकारण यहापर होनेवाली प्रदेशश्रेणीकी रचनाको उष्ट्रकूटश्रेणी कहा है)। द्वितीयसमयमें जो प्रदेशाग्र दिखता है

वह जघन्यकृष्टिमें बहुत है और शेष सर्वकृष्टियोंमें अनन्तरोपनिधासे अनन्तभागहीन है। जिसप्रकार द्वितीयसमयमें कृष्टियोंमें दीयमान प्रदेशाग्रकी प्ररुपणा की है उसीप्रकार सम्पूर्णकृष्टिकरणकालमें दीयमान प्रदेशाग्रके २३ उष्ट्रकूटोंकी प्ररुपणा करना चाहिए, किन्तु दृश्यमान प्रदेशाग्र सर्वकालमें अनन्तभागहीन जानना चाहिए। जो प्रदेशाग्र सामस्त्यरूपसे प्रथमसमयमे कृष्टियोंमें दिया जाता है वह सबसे अल्प है, उससे द्वितीयसमयमें कृष्टियोंमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है, इससे तृतीयसमयमे कृष्टियोंमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है। विशुद्धिमें प्रतिसमय अनन्तगुणीवृद्धि होनेके कारण सर्वकृष्टिकरणकालमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अपकर्षण-करके कृष्टियोंमें निक्षिप्त किया जाता है[1]।

किट्टीकरणद्धाए चरिमे अंतोमुहुत्तसुज्जुत्तो ।
चत्तारि होंति मासा संजलणाणं तु ठिदिबंधो ॥११५॥५०६॥

सेसाणं वस्साणं संखेज्जसहस्सगाणि ठिदिबंधो ।
मोहस्स य ठिदिसंतं अडवस्संतोमुहुत्तहियं ॥११६॥५०७॥

घादितियाणं संखं वस्ससहस्साणि होदि ठिदिसंतं ।
वस्साणमसंखेज्जसहस्साणि अघादितिण्णं तु ॥११७॥[2]॥५०८॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कृष्टिकरणकालके अन्तिमसमयमें अन्तर्मुहूर्तअधिक चारमासप्रमाण संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध है। यह स्थितिबन्ध अपूर्वस्पर्धककरण-कालके चरमसमयमें आठवर्षप्रमाण था सो एक-एक स्थितिबन्धापसरणमें अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण घटकर इतना अवशेष रहता है। शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षमात्र है, पूर्वमें भी संख्यातहजारवर्षमात्र ही था सो संख्यातगुणेहीन क्रमरूप संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण हो जानेपर भी आलापसे इतना ही कहा है तथा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व पहले संख्यातहजारवर्षप्रमाण था सो घटकरके यहां अन्तर्मुहूर्तअधिक आठ-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०५९ से २०६४ तक।

२. इन गाथाओंसे सम्बन्धित विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०३-४ सूत्र ६७३ से ६७७ तक आया है। धवल पु० ६ पृ० ३८० । जयधवल मूल पृष्ठ २०६४।

वर्षमात्र रह गया। तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है, क्योंकि जिसप्रकार मोहनीयकर्मके स्थितिसत्त्वका विशेष घात होता है वैसा विशेषघात शेष तीन घातियाकर्मोंका नहीं पाया जाता है। तीनअघातियाकर्मोंका सत्त्व यद्यपि असंख्यातगुणहानियों द्वारा अपवर्तनघात होता है तथापि उनका स्थितिसत्त्व यहां असंख्यातहजारवर्षप्रमाण ही है।

पडिपदमणंतगुणिदा किट्टीओ फड्डया विसेसहिया।
किट्टीण फड्डयाणं लक्खणमणुभागमासेज्ज ॥११८॥५०९॥

अर्थ—यहां सर्वकृष्टियां तो प्रतिपद अनन्तगुणा अनुभाग लीये हैं अर्थात् प्रथमकृष्टिके अनुभागसे द्वितीयकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है। उससे तृतीयकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है। इसप्रकार चरमकृष्टि पर्यन्त क्रमसे अनन्तगुणा अनुभाग पाया जाता है तथा जो स्पर्धक हैं वे प्रतिपद विशेषअधिक अनुभाग लीए हैं। अर्थात् स्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणासे द्वितीयवर्गणामें और द्वितीयवर्गणासे तृतीयवर्गणामें, इसप्रकार अनन्तवर्गणा पर्यन्त क्रमसे विशेषअधिक अनुभाग पाया जाता है। इसप्रकार अनुभागका आश्रयकरके कृष्टि और स्पर्धकोंका लक्षण कहा। द्रव्यकी अपेक्षा तो चय घटता क्रम कृष्टि और स्पर्धक इन दोनोंमें ही है, किन्तु अनुभाग क्रमकी अपेक्षा कृष्टि और स्पर्धकका लक्षण पृथक्-पृथक् है।

[1]पुव्वापुव्वप्फड्डयमणुहवदि हु किट्टिकारओ णियमा।
तस्सद्धा णिट्ठायदि पढमट्ठिदि आवलीसेसे ॥११९॥५१०॥

अर्थ—कृष्टि करनेवाला कृष्टिकरणकालमें पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंके उदयको नियमसे अनुभवता है। जैसे अपूर्वस्पर्धकोको करते हुए पूर्वस्पर्धकके साथ अपूर्वस्पर्धकका अनुभव करता है वैसे कृष्टि करते हुए कृष्टिको नही भोगता है। इसप्रकार सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिमें उच्छिष्टावलिप्रमाण काल शेष रहनेपर कृष्टिकरणकालकी निष्ठापना (समाप्ति) करता है। यह कथन उत्पादानुच्छेदकी अपेक्षासे है।

॥ इति कृष्टिकरणाधिकारः ॥

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६७८। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८२। जयधवल मूल पृष्ठ २०६५।

"अथ कृष्टिवेदनाधिकार"

[1]से काले किट्टीओ अणुहवदि हु चारिमासमडवस्सं।
बंधो संतं मोहे पुव्वालावं तु सेसाणं ॥१२०॥५११॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके अनन्तरसमयमें अपने कृष्टिवेदककालमें कृष्टियोंके उदयका अनुभव करता है। द्वितीयस्थितिके निषेकोमें रहती हुई कृष्टियोंको अपकर्षणकरके प्रथमस्थितिमे उदयावलिके निषेकोमें प्राप्त करके भोगता है और उस भोगनेका नाम ही वेदना है। उससमय प्रथमस्थिति आवलिमात्र शेष रह जाती है, किन्तु आवलिका प्रथमनिषेक स्तुविकसंक्रमण द्वारा कृष्टिरूपसे उदयमें आता है। उसकाल (उदयकाल) के प्रथमसमयमें चारसज्वलनरूप मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तअधिक चारमासको घटकर चारमास हो जाता है और स्थितिसत्त्व आठवर्षमात्र है। यह स्थितिसत्त्व पहले अन्तर्मुहूर्तअधिक आठवर्ष था सो अन्तर्मुहूर्त कमकरके इतना रह गया। अवशेष कर्मोंका भी स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व यद्यपि कम हुआ है तथापि आलापद्वारा पूर्वोक्तप्रकार तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष एव वेदनीय, नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष और स्थितिसत्त्व असख्यातहजारवर्ष जिसप्रकार कृष्टिकरणकालके अन्तिमसमयमें कहा था वैसे ही यहाँ भी जानना।

[2]ताहे कोहुच्छिट्ठं सव्वं घादी हु देसघादी हु।
दोसमऊणदुआवलिणवकं ते फड्डयगदाओ ॥१२१॥५१२॥

अर्थ—संज्वलनक्रोधका जो अनुभागसत्त्व उदयावलिके भीतर उच्छिष्टावलिरूपसे अवशिष्ट अवस्थित है वह सत्त्व सर्वघाति है और संज्वलनचतुष्कके जो दोसमय-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६७९ से ६८५। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८३।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६८६-६८७। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८३।

कम दोआवलि प्रमाण नवकसमयप्रबद्ध हैं वे देशघाति हैं तथा उनका वह अनुभागसत्त्व स्पर्धकस्वरूप है।

विशेषार्थ—क्रोधकषायकी उच्छिष्टावलिका अनुभागसत्त्व तो सर्वघाती है, क्योंकि एकसमयकम आवलिप्रमाण क्रोधके निषेक उदयावलिको प्राप्त हुए हैं। इनमें पूर्वअनुभागसत्त्व लता व दारुके समान शक्तिवाला है सो इसी शक्तिकी अपेक्षा यहाँ सर्वघाती कहा है। शैलादि की समानताकी अपेक्षा सर्वघाती नही कहा गया है सो ये निषेक उदयकालमे कृष्टिरूप परिणमनकरके वर्तमानसमयमे उदय आने योग्य निषेकोंमें उदयरूपहोकर निर्जराको प्राप्त होते हैं। यहा आवलिमे एकसमयकम कहा है वह इसलिए कहा है कि उच्छिष्टावलिका प्रथमनिषेक वर्तमानसमयमे कृष्टिरूप परिणमन करने से परमुखरूप होकर उदयमे आता है। सज्वलनचतुष्कके दोसमयकम दो आवलिमात्र अवशिष्ट नवकसमयप्रबद्धमे देशघातिशक्तिसे युक्त अनुभाग है, क्योंकि कृष्टिकरणकालमें स्पर्धकरूप शक्तिसे युक्त जो अनुभाग बधता है वह दोसमयकम दोआवलिकालमे कृष्टिरूप परिणमनकरके सत्तासे नाशको प्राप्त होगा। यहां अवशिष्ट रहे नवकबन्ध और क्रोधकषायकी उच्छिष्टावलिप्रमाण निषेकोका स्वरूप तो इसप्रकार जानना कि कृष्टिकरणकालके चरमसमयमे ही ये सर्वनिषेक कृष्टिरूप परिणमन करते हैं[1]।

लोहादो कोहादो कारउ वेदउ हवे किट्टी।
आदिमसंगहकिट्टीं वेदयदि ण विदीय तिदियं च॥१२२॥५१३॥

अर्थ—कृष्टिकारक तो लोभसे लेकर क्रमवाले हैं और कृष्टिवेदन क्रोधसे लेकर क्रमवाले हैं। यहा पहले क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका ही अनुभव करता है द्वितीय-तृतीयसग्रहकृष्टिका अनुभव नही करता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणमे तो सर्वप्रथम लोभकी फिर मायाकी पश्चात् मानकी और बादमें क्रोधकी, इसक्रमसे कृष्टियां कही थीं, किन्तु यहां कृष्टिवेदनकालमें पहले क्रोधकी फिर मानकी पश्चात् मायाकी और बादमें लोभकी कृष्टियोंका अनुभव होता है। कृष्टिकरणमें जिसको तृतीयसग्रहकृष्टि कही है उसको कृष्टिवेदनके समय प्रथमकृष्टि और जिसको कृष्टिकरणमें प्रथमकृष्टि कही है उसको कृष्टिवेदनमें तृतीयकृष्टि

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०६६।

जानना। यदि इसप्रकार नहीं होगा तो पहले स्तोक शक्तिवाली कृष्टियोंका अनुभव होकर पश्चात् अधिक शक्तिवाली कृष्टियोका अनुभव होगा सो होता नही, क्योंकि प्रति-समय अनन्तगुणे घटते हुए अनुभागका अनुभव होता है। इसलिए संग्रहकृष्टियोंमे कृष्टि-कारकसे कृष्टिवेदकका उलटा क्रम जानना, किन्तु अन्तरकृष्टियोमे पूर्वोक्त क्रम ही है[1]।

[2]किट्टीवेदगपढमे कोहस्स य पढमसंगहादो दु।
कोहस्स य पढमठिदी पत्तो उव्वट्टगो मोहे ॥१२३॥५१४॥

अर्थ—कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी प्रथमस्थिति प्राप्त करता है तथा मोहनीयकर्मका अपवर्तनघात करता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके चरमसमयपर्यन्त तो जहां कृष्टियोके दृश्यमान प्रदेशोंका समूह चयरूप घटते हुए क्रमसहित गोपुच्छाकाररूपसे अपने स्थानमें रहता है और स्पर्धकोंके प्रदेशोंका समूह एक गोपुच्छाकाररूपसे अपने स्थानमे रहता है वहां कृष्टियोके द्रव्यसे स्पर्धकोंका द्रव्य असंख्यातगुणा है अत: कृष्टि और स्पर्धकोंका एक गोपुच्छाकार नहीं है, किन्तु कृष्टिकरणकालकी समाप्तिके अनन्तर सभी द्रव्य कृष्टिरूप परिणमनकर एक गोपुच्छाकाररूप रहता है, तब सञ्ज्वलनके सर्वद्रव्यको आठका भाग देकर उसमेंसे एक-एक भागप्रमाण द्रव्य लोभ, माया और मानका तथा पांचभागप्रमाण द्रव्य क्रोधका जानना। यदि १२ संग्रहकृष्टियोमें विभाग किया जावे तो सञ्ज्वलनके सर्वद्रव्यको २४का भाग देनेसे वहां अन्य संग्रहकृष्टियोका एक-एक भागप्रमाण और क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका १३ भागप्रमाण द्रव्य है। यहा साधिकपना न्यूनपना है सो यथासम्भव पूर्वोक्तप्रकार (गाथा १०५के अनुसार) जानना। पहले कृष्टिकरणकालके द्वितीयसमयमें जैसा विधान कहा वैसा ही यहां भी जानना। प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके प्रमाणमें उसके असख्यातवेंभागप्रमाण द्वितीयादि समयोंमें की गई कृष्टियो-का प्रमाण जोड़नेपर सर्व पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंका प्रमाण प्राप्त होता है। कृष्टिवेदकके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भागदेकर लब्धमें से एकभाग ग्रहणकर उसको पल्यके असंख्यातवेभागका भाग देकर उसमेसे एकभागको

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०६७।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६८६। ध०,पु० ६ पृष्ठ ३८३। जयधवल मूल पृष्ठ २०६७।

ग्रहणकरके प्रथमस्थितिको करता है। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि वेदककालसे उच्छिष्टावलिमात्र अधिक उस प्रथमस्थितिके निषेकोंका प्रमाण है और वही गुणश्रेणीआयाम भी कहा जाता है, उसके वर्तमानमें उदयरूप प्रथमनिषेकमें तो सबसे स्तोकद्रव्य देता है, उससे द्वितीयादि से चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है। इसप्रकार उस एकभागप्रमाण द्रव्यका गुणश्रेणीरूपसे देना कहा। यहां प्रथमस्थितिके अन्तिमनिषेकको ही गुणश्रेणीशीर्ष कहते हैं। जो अवशेष बहुभागमात्र द्रव्य था उसको स्थितिकी अपेक्षा क्रोधकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिसे भी अपकर्षित द्रव्यमें मिलानेपर जितना द्रव्य हुआ उसमें, यहां आठवर्षमात्र स्थिति है, उसकी संख्यातआवलियां हुईं और वही हुआ गच्छ, उस गच्छका भाग देनेसे मध्यधन प्राप्त होता है। उस मध्यधनमें एककम गच्छके आधेप्रमाण चय मिलानेपर द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें दिये हुए द्रव्यका प्रमाण होता है, यह द्रव्य गुणश्रेणिशीर्षमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणा है सो इसके असंख्यातवेंभागमात्र विशेषका (चयका) प्रमाण है अतः इस विशेषरूप घटते क्रमसे द्वितीयादि निषेकोंमें अतिस्थापनावलिके नीचे-नीचे द्रव्य दिया जाता है। इस क्रमसे प्रतिसमय उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि करता है। यहांपर मोहनीयकर्मका अपवर्तनघात होता है। इससे पूर्व अश्वकर्णकरणरूप अनुभागका अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होनेवाला काण्डकघात होता था, किन्तु अब संज्वलनकी बारहकृष्टियोंका प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता हुआ अनुभाग होनेसे अपवर्तनघात-प्रवर्तता है।

[1]पढमस्स संगहस्स य असंखभागा उदेदि कोहस्स।
बंधेवि तहा चेव य माणतियाणं तहा बंधे ॥१२४॥५१५॥

अर्थ—कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तरकृष्टियोंके प्रमाणको असंख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभागमात्रकृष्टि उदयमें आती है। यहां जो बहुभागमात्र कहा गया है वह एकभागप्रमाण उपरितन व अधस्तन कृष्टिको छोड़कर मध्यवर्ती कृष्टियोंका प्रमाण है। प्रथम, द्वितीयादि कृष्टियोंको तो अधस्तन और चरम व उपांतआदि कृष्टियोंको उपरितनकृष्टि कहते हैं। उदयरूप नहीं होती ऐसी अधस्तनकृष्टि तो अनन्तगुणेरूपसे बढ़ते हुए अनुभागरूप होकर तथा उपरितन-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०६७ व २०६८। क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६९०-६९१। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८३।

कृष्टि अनन्तगुणेरूप घटते हुए अनुभागरूप होकर मध्यवर्तीकृष्टिरूप परिणमनकरके उदयमें आती हैं। बंधमे भी असख्यातवेंभागप्रमाण अधस्तन व उपरितनकृष्टि छोडकर बीचकी असंख्यातबहुभागप्रमाण कृष्टि जानना। उदयरूप कृष्टियोंमें जो उपरितन अनुदयकृष्टियोंका प्रमाण है उससे साधिक दुगुणे प्रमाणसहित अधस्तन व उपरितन कृष्टियोंका प्रमाण घटानेपर बन्धरूप कृष्टियोंका प्रमाण होता है, इनका यहां बन्ध होता है। यहां मानादिकी अपनी-अपनी प्रथमसग्रहकृष्टिकी अधस्तन व उपरितनकृष्टिप्रमाण-का असंख्यातवेंभागमात्र कृष्टियोको नीचे और ऊपर छोड़कर मध्यकी बहुभागमात्र कृष्टि बधती है, किन्तु मानादिकी तीनो ही संग्रहकृष्टियोंका उदय नही है तथा क्रोधकी द्वितीय व तृतीयसग्रहकृष्टिका बन्ध व उदय दोनो ही नही है। इसीप्रकार मान-माया व लोभका कथन भी जानना।

[1]कोहस्स पढमसंगहकिट्टिस्स य हेट्ठिमणुभयट्ठाणा।
तत्तो उदयट्ठाणा उवरिं पुण अणुभयट्ठाणा ॥१२५॥५१६॥
उवरिं उदयट्ठाणा चत्तारि पदाणि होंति अहियकमा।
मज्झे उभयट्ठाणा होंति असंखेज्जसंगुणिया ॥१२६॥५१७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंमें अधस्तन अर्थात् प्रथम, द्वितीयादि अधस्तन अनुभयस्थानरूप (जिनका उदय और बन्ध दोनो ही नही हैं) अधस्तनकृष्टियोंका प्रमाण स्तोक है उसी (पूर्वोक्त अधस्तन अनुभयस्थानरूप कृष्टियोके प्रमाणको पल्यके असख्यातवेंभागका भाग देकर उसमेसे एकभागप्रमाण विशेषरूप अधिक अनुभयकृष्टियोके ऊपरितनवर्ती जो अधस्तन उदयस्थानरूप (जिनका उदय तो पाया जाता है बन्ध नही पाया जाता) कृष्टिका प्रमाण है पश्चात् उसीको पल्यके असख्यातवें-भागका भाग देनेपर उसमेसे एकभागप्रमाण विशेषसे अधिक उपरितन अर्थात् अन्त व उपान्तादि उपरितन अनुभयस्थानरूप (बन्ध व उदयरहित) कृष्टिका प्रमाण है पश्चात् उसीको पल्यके असख्यातवेंभागका भागदेकर उसमे एकभागप्रमाण विशेषसे अधिक उन कृष्टियोंके नीचे पाये जानेवाले उपरितन उदयस्थानरूप (उदयसहित व बंधरहित)

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०५ सूत्र ६९३ से ६९७। धवल पु० ६ पृ० ३८४। जयधवल मूल पृष्ठ २०६८–२०६९।

कृष्टियोंका प्रमाण है इसप्रकार चारपद तो अधिकक्रमसहित हैं तथा उससे असंख्यातगुणे मध्यके उभयस्थानरूप (जिनका बन्ध व उदय दोनों पाये जाते हैं) कृष्टियोंका प्रमाण है[1]।

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें पायी जानेवाली कृष्टियोंके प्रमाणको पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग देकर उसमें बहुभागमात्र तो मध्यकी उभयकृष्टियोंका प्रमाण है तथा अवशेष जो एकभाग रहा उसको ["प्रक्षेपयोगोद्धृतमिश्रपिंड:" इत्यादि सूत्रविधानसे अंकसंदृष्टिकी अपेक्षा २-३-४ व ७ शलाकाओंको जोड़नेपर (२+३+४+७) १६ लब्ध आया] इससे भाग देकर जो एकभागका प्रमाण आया उसको अपनी-अपनी दो आदि शलाकाओंसे गुणा करनेपर अधस्तन व उपरितन अनुभयआदि कृष्टियोंका प्रमाण प्राप्त होता है। इसप्रकार बारहसंग्रहकृष्टियोंके वेदककालके प्रथमसमयमें अल्पबहुत्व जानना।

विदियादिसु चउठाणा पुव्विल्लेहिं असंखगुणहीणा।
तत्तो असंखगुणिदा उवरिमणुभया तदो उभया ॥१२७॥५१८॥

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें चारोंस्थान पूर्वसे असंख्यातगुणे हीन हैं, उससे असंख्यातगुणे ऊपरितन अनुभयस्थान तथा उससे असंख्यातगुणे उभयस्थान हैं।

विशेषार्थः—पूर्वसमयमें बन्धरहित जो अधस्तन केवल उदयकृष्टि थी वे तो उत्तरवर्ती समयमे उभयकृष्टिरूप होती हैं और पूर्वसमयमें जो अनुभयकृष्टि थीं उनमें अन्तकी कुछ कृष्टि उभयरूप एवं उनसे नीचेकी कुछ कृष्टियां उत्तरसमयमें केवल उदयरूप होती हैं तथा पूर्वसमयमें जो उपरितन केवल उदयकृष्टि थी वे सभी उत्तरसमयमें अनुभयरूप होती हैं। पूर्वसमयमें जो उभयकृष्टि थी उनमें अन्तिम कुछ कृष्टियां अनुभयरूप हैं उनसे नीचेकी कुछ कृष्टियां उत्तरसमयमें केवल उदयरूप होती हैं। इसप्रकार प्रतिसमय बन्ध और उदयमे अनुभागका घटना होता है, क्योंकि अधस्तन कृष्टियोंमें स्तोक अनुभाग पाया जाता है और उपरितन कृष्टियोमें बहुत अनुभाग पाया जाता है। अब अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

अधस्तन अनुभयकृष्टि स्तोक हैं, उससे उनके ऊपर जो अधस्तनरूप केवल उदयकृष्टि हैं वे विशेषअधिक हैं। इससे आगे ऊपर उत्कृष्ट अनुभागसहित पूर्वसमयवर्ती

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०६८-२०६९।

बन्धरूप जो अन्तिमकृष्टि थी उससे लेकर नीचे उत्तरसमयमें जो अनुभयकृष्टि हुई हैं वे विशेषअधिक हैं। इनके नीचे विवक्षितसमयमें होनेवाली केवल उदयरूपकृष्टि इससे विशेषअधिक हैं। इसप्रकार ये चारस्थान तो पूर्वसमयमे अधस्तन अनुभयआदिकृष्टिका जो प्रमाण था उससे असख्यातगुणे कम है। उदयकृष्टियोसे पूर्वसमयमे जो ऊपरकी उदयकृष्टि थीं उनमें स्तोक अनुभागवाली जो आदिकी जघन्यकृष्टि थी उसीके समान कृष्टिसे लेकर उत्तरसमयमें जो सर्व अनुभयकृष्टियां हुईं वे असख्यातगुणी हैं, क्योंकि पूर्वसमयमें ऊपरकी अनुभयकृष्टियोका जो प्रमाण था उसके असंख्यातवेभागमात्र कृष्टि पूर्वसमयसम्बन्धी ऊपरकी जघन्य उदयकृष्टिसे नीचे उत्तरोत्तर समयमें ऊपरकी जघन्य अनुभयकृष्टि होती हैं। इससे पूर्वसमयसम्बन्धी ऊपरको उदयकृष्टियोके प्रमाणके असख्यातवेभागमात्र कृष्टि नीचे उतरनेपर इस विवक्षितसमयमें ऊपरकी जघन्य उदय-कृष्टि होती है। अनुभयकृष्टियोंके प्रमाणसे बंध व उदययुक्त मध्यवर्ती उभयकृष्टियां असख्यातगुणी हैं। इसप्रकार द्वितीयादि समयोमें कृष्टियोका अल्पबहुत्व जानना।

पुव्विल्लबंधजेट्ठा हेट्ठासंखेज्जभागमोदरिय ।
संपडिगो चरिमोदयवरमवरं अणुभयाणं च ॥१२८॥५१९॥

अर्थ—पूर्वसमयसम्बन्धी बन्धकी उत्कृष्ट (चरम) कृष्टिसे लेकर पूर्वसमय-सम्बन्धी उभयकृष्टियोके असख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टियां नीचे उतरकर वर्तमानमें उत्तर-समयसम्बन्धी केवल उदयरूप अन्तिमकृष्टि उत्कृष्टकृष्टि होती है और इसके अनन्तर ऊपर अनुभयकृष्टिकी जघन्यकृष्टि पाई जाती है। उत्कृष्ट उदयकृष्टिसे नीचे पूर्वसमय-सम्बन्धी उदयकृष्टिके असख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर वर्तमानमें उदयकी जघन्यकृष्टि होती है, उसके अनन्तर नीचे उभयकृष्टिसम्बन्धी उत्कृष्टकृष्टि होती है। ऐसा ही विधान उपरिम कृष्टियोंमे भी जानना।

हेट्ठिमणुभयवरादो असंखबहुभागमेत्तमोदरिय ।
संपडिबंधजहण्णं उदयुक्कस्सं च होदित्ति ॥१२९॥५२०॥

अर्थ—पूर्वसमयसंबंधी अनुभयकृष्टिकी उत्कृष्ट (चरम) कृष्टिसे पूर्वसमयसंबंधी अनुभयकृष्टियोके असंख्यातबहुभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर सप्रति बन्धकृष्टिकी जघन्यकृष्टि होती है उसके अनन्तर नीचेकी केवल उदयरूप उदयकृष्टियोंकी उत्कृष्ट-कृष्टि है, उससे लेकर पूर्वसमयसम्बन्धी उदयकृष्टियोंके असंख्यातवेभागमात्र कृष्टि

नीचे उतरकर संप्रति उदयकृष्टिकी जघन्यकृष्टि होती है। उसके नीचे पूर्वसमयसम्बन्धी अनुभयकृष्टियोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर वर्तमानमें जघन्यअनुभय-कृष्टि होती है, वही सर्वकृष्टियोमें जघन्यकृष्टि है। इसप्रकार अधस्तनकृष्टियोंमें विधान जानना। ऐसे प्रतिसमय पूर्वसमयसम्बन्धी अधस्तन अनुभयरूप उदयकृष्टि और उपरितन उदय व अनुदयरूप कृष्टियोंके प्रमाणसे उत्तरसमयसम्बन्धी कृष्टियोंका प्रमाण असंख्यात-गुणा कम है और मध्यवर्ती उभयकृष्टियोंका प्रमाण विशेषअधिक होता है ऐसा जानना।

[1]पडिसमयं अहिगदिणा उदये बंधे च होदि उक्कस्सं।
बंधुदये च जहण्णं अणंतगुणहीणया किट्टी ॥१३०॥५२१॥

अर्थ—प्रतिसमय सर्पकी गतिवत् उदय व बन्धमें तो उत्कृष्टकृष्टि तथा बन्ध व उदयमें जघन्यकृष्टि अनुभागअपेक्षा अनन्तगुणे घटते हुए क्रमसहित जाननी।

विशेषार्थ—सर्वकृष्टियोके अनन्त मध्यवर्ती कृष्टियां उदयरूप हैं और उदय-रूप कृष्टियोके मध्यवर्तिकृष्टियां बन्धरूप है। उनमे सबसे स्तोक अनुभागवाली प्रथम-कृष्टि ही जघन्यकृष्टि है और सबसे अधिक अनुभागसहित अन्तिमकृष्टि उत्कृष्टकृष्टि है। कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें उदयसम्बन्धी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि बहुत अनुभाग-सहित है, उसी समयमें बन्धकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि उससे अनन्तगुणेकम अनुभाग-युक्त है, क्योंकि उदयागतकृष्टिसे अनन्तकृष्टि नीचे जाकर बन्धकृष्टिका अवस्थान है। उससे द्वितीयसमयमें उदयकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागवाली है, क्योंकि प्रथमसमयसे द्वितीयसमयमें विशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे द्वितीयसमयमें ही बन्धकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागसहित है, उससे तृतीयसमयवर्ती उदयसम्बन्धी उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागयुक्त है, उससे उसी समयवाली बन्ध-की उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागसहित है। इसप्रकार सर्पगतिवत् (जैसे सर्प इधर से उधर और उधर से इधर गमन करता है) विवक्षित समयमें उदयकी कृष्टिसे बन्धकी कृष्टि और पूर्वसमयसम्बन्धी बन्धकृष्टिसे उत्तरसमयवाली उदयकृष्टिमें अनन्त-गुणाहीन अनुभाग क्रमसे जानना। कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमे अधस्तन बन्धसम्बन्धी जघन्यकृष्टि बहुत अनुभागयुक्त है, क्योकि जघन्यउदयकृष्टिसे अनन्तकृष्टि ऊपर जाकर

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५० सूत्र १०७२-१०८२। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८४। जयधवल मूल पृष्ठ २१६६ व २१६७।

इसका अवस्थान है। उससे प्रथमसमयवर्ती ही अधस्तन जघन्यउदयकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागवाली है। इसप्रकार सर्पगतिवत् एकसमयमे बन्धकृष्टिसे उदयकृष्टि और पूर्व-समयसम्बन्धी उदयकृष्टिसे उत्तरसमयवर्ती बन्धकी जघन्यकृष्टिमे अनन्तगुणा-अनन्तगुणा-हीन अनुभाग जानना। इसप्रकार क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालके चरमसमयपर्यंत ऐसी ही प्ररुपणा है। क्रोधकी ही द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके भी ऐसा क्रम लगा लेना चाहिए।
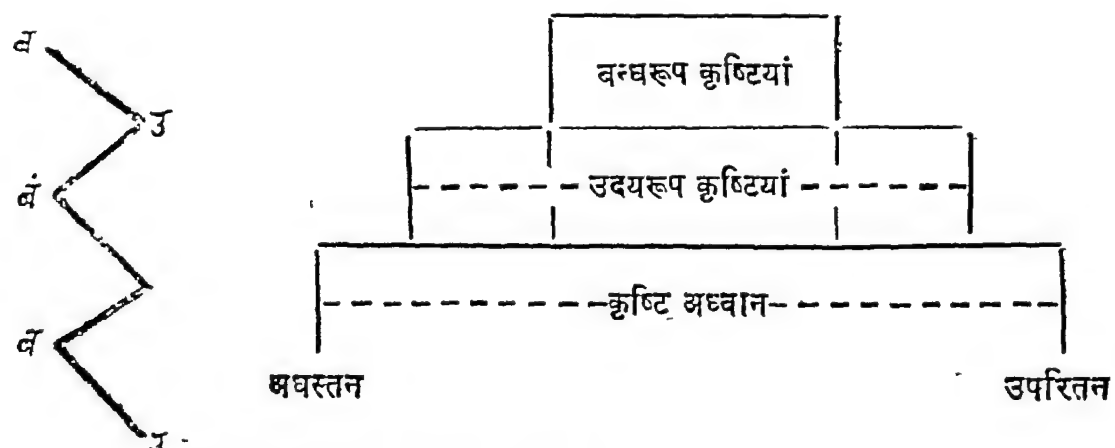
अब संक्रमणद्रव्यका विधान कहते हैं—

संकमदि संगहाणं दव्वं सगहेट्ठिमस्स पढमोत्ति।
तदणुदये संखगुणं इदरेसु हवे जहाजोग्गं ॥१३१॥५२२॥

अर्थ—विवक्षित स्वकीयकषायके अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिपर्यंत संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य संक्रमण करता है। यहा जिस संग्रहकृष्टिको भोगता है उस संग्रह-कृष्टिके अपकर्षित द्रव्यसे संख्यातगुणा द्रव्य उस कृष्टिके अनन्तर भोगने योग्य जो संग्रहकृष्टि है उसमे संक्रमित होता है तथा अन्यकृष्टियोमें यथायोग्य सक्रमण करता है।

विशेषार्थ—यदि स्वस्थानमें विवक्षित कषायकी संग्रहकृष्टिका द्रव्य अन्य-संग्रहकृष्टिमें सक्रमण करता है तो उस विवक्षित कषायकी शेष अधस्तन कृष्टियोंमें सक्रमण करता है, यदि परस्थान संक्रमण होता है तो निकटतम कषायकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिमें संक्रमण करेगा और जो द्रव्य जिस कषायमें संक्रमण करता है वह उसी कषाय-रूप परिणमन कर जाता है।

जिसप्रकार लोकव्यवहारमें जमा-खरच कहा जाता है उसीप्रकार यहाँ भी आयद्रव्य और व्ययद्रव्यरूप कथन करते हैं। अन्य संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य संक्रमण करके विवक्षित संग्रहकृष्टिमें आया (प्राप्त हुआ) उसे आयद्रव्य और विवक्षित संग्रहकृष्टिका द्रव्य संक्रमण करके अन्यसंग्रहकृष्टियोमें गया उसे व्ययद्रव्य कहते हैं। यहां क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिबिना अन्य ११ संग्रहकृष्टियोके स्वकीय-स्वकीय द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देनेपर लब्धमें से एकभागप्रमाण द्रव्य संक्रमण करता है अतः उसे 'एक-द्रव्य' कहते हैं तथा क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देनेपर लब्धमे से जो एकभागप्रमाण द्रव्य सक्रमण करता है वह 'तेरह द्रव्य' है, क्योंकि अन्यसग्रहकृष्टिके द्रव्यसे क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिका द्रव्य नोकषायका द्रव्य मिल जानेसे से १३ गुणा है। लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें लोभकी प्रथमसग्रहकृष्टि और द्वितीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य सक्रमण करता है इसलिए लोभकी तृतीयसग्रहकृष्टि में आयद्रव्य दो हुआ। लोभकी द्वितीयसग्रहकृष्टिमें लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिए द्वितीयसग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मायाकी प्रथम-द्वितीय व तृतीयसग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य संक्रमण करता है अतः लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तीन है। मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें मायाकी द्वितीय व प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिये मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमे आय द्रव्य दो है। मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य संक्रमण करता है इसलिए मायाकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मानकी प्रथम, द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य सक्रमित होता है अतः मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तीन हैं। मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें मानकी द्वितीय व प्रथमसंग्रहकृष्टि-का अपकर्षितद्रव्य संक्रमित होता है इसलिए मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य दो है, मानकी द्वितीयसग्रहकृष्टिमें मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका ही अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिए मानकी द्वितीयसग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें क्रोधकी प्रथम-द्वितीय व तृतीयसग्रहकृष्टिके अपकर्षितद्रव्यका सक्रमण होता है इसलिए मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे आयद्रव्य १५ है। क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमे क्रोधकी प्रथम व द्वितीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य सक्रमण करता है अतः क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टि-में आय द्रव्य १४ है, क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिका अपकर्षित-

द्रव्य १३ है इसलिए १४ गुणा संक्रमण होता है अतः क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आय-द्रव्य १८२ है। यहां १४ गुणा करनेका प्रयोजन कहते है—

अनन्तर भोगने योग्य संग्रहकृष्टिमें संख्यातगुणे द्रव्यका संक्रमण होता है वह यहां संख्यातके प्रमाण अपने गुणकारसे एक अधिक जानना। यही क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिको और उसके पश्चात् क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिको भोगता है इसलिये क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके अपकर्षितद्रव्यसे संख्यातगुणा द्रव्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होता है। प्रथमसंग्रहकृष्टिद्रव्यमें गुणकार १३ है अतः उससे एक अधिक (१३+१) करनेपर यहां संख्यातका प्रमाण १४ होगा (१३×१४=१८२)। अन्यसंग्रहकृष्टिके वेदककालमें संख्यातका प्रमाण अन्य होगा, उसे आगे कहेंगे। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य नहीं है, क्योंकि वहां आनुपूर्वीसंक्रमण पाया जाता है। इसप्रकार आयद्रव्यका कथन करके अब व्ययद्रव्यको कहते हैं—

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकी द्वितीय, तृतीय व मानकी प्रथम-संग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया अतः (१८२+१३+१३) क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य २०८ हुआ, क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकी तृतीय व मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य दो है तथा क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे ही संक्रमणकर गया अतः क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक ही है। मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी द्वितीय, तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य तीन है, मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे संक्रमणकर गया अतः मानकी द्वितीय-द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें व्यय-द्रव्य दो है। मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमणकर गया अतः मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक है। मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीय, तृतीय व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे व्ययद्रव्य तीन है, मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी तृतीय और लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित हुआ अतः मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे व्यय-द्रव्य दो है। मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित हुआ इसलिए यहां व्ययद्रव्य एक ही है। लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें गया इसलिए लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य दो है,

लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित हो गया इसलिए लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक है तथा लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य अन्यत्र नहीं जाता है क्योंकि विपरीतरूप संक्रमणका अभाव है अतः लोभकी तृतीय-संग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य नही है।

आगे प्रतिसमय होनेवाली अपवर्तनकी प्रवृत्तिका क्रम कहते हैं—

[1]पडिसमयमसंखेज्जदिभागं[2] णासेदि कंडयेण विणा।
बारससंगहकिट्टीणग्गादो किट्टिवेदगो णियमा ॥१३२॥५२३॥

अर्थ—कृष्टिवेदकजीव काण्डकबिना ही बारहसंग्रहकृष्टियोके अग्रभागसे सर्व-कृष्टियोके असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टियोको नियमसे नष्ट करता है।

विशेषार्थ—अनन्तगुणीविशुद्धिसे वर्धमान प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदकजीव बारहसंग्रहकृष्टियोकी प्रत्येकसंग्रहकृष्टिके अग्रभागसे उत्कृष्टकृष्टिको आदि करके अनंत-कृष्टियोके असंख्यातवेंभागमात्र कृष्टियोंका अपवर्तनाघात करके उन कृष्टियोंकी अनु-भागशक्तिका अपवर्तनकर स्तोकअनुभागयुक्त नीचली कृष्टिरूप करता है। इसीप्रकार द्वितीयादि समयोमें भी अपवर्तनाघात करता है, किन्तु प्रथमसमयमे जितनी कृष्टियोंका घात किया था द्वितीयादि समयोंमें घात की जानेवाली कृष्टियोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असंख्यातगुणाहीन होता है।

णासेदि परट्ठाणिय, गोउच्छं अग्गकिट्टीघादादो।
सट्ठाणियगोउच्छं, संकमदव्वादु घादेदि ॥१३३॥५२४॥

अर्थ—अग्रकृष्टिघातके द्वारा तो परस्थानगोपुच्छको नष्ट करता है और संक्रमद्रव्यरूप (अन्यसंग्रहरूप) पूर्वोक्त व्ययद्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छको नष्ट करता है।

विशेषार्थ—विवक्षित एकसंग्रहकृष्टिमे अन्तरकृष्टियोका जो विशेषहीन क्रम पाया जाता है वह यहां स्वस्थानगोपुच्छ कहलाता है तथा अधस्तनवर्ती विवक्षित संग्रह-

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८८। जय ध० मूल पृष्ठ २१६८।

२. मुद्रित शास्त्राकार बडी टीका में गाथामे "पडिसमयं सखेज्जदिभागं" ऐसा पाठ मुद्रित है, किन्तु क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८८ व गाथा ५३६ के अनुसार एवं गाथामे कथित अर्थानुसार "पडिसमयमसखेज्जदिभाग" ऐसा पाठ रखा है।

कृष्टिकी चरमकृष्टिसे उपरिम अन्यसंग्रहकृष्टिको आदिकृष्टिमें जो विशेषहीन क्रम पाया जाता है वह परस्थानगोपुच्छ कहलाता है। कृष्टियोके हीनाधिक द्रव्यका संक्रमण होनेसे चय (विशेष) हीनरूप क्रम नष्ट हो जानेसे पूर्वमें जो स्वस्थानगोपुच्छ था वह संक्रमणद्रव्यके द्वारा नष्ट हो गया तथा नीचलीसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टि व उपरिम-संग्रहकृष्टिकी आदिकृष्टिमें कृष्टियोंका घात होनेसे एकविशेषहीनरूप क्रमका अभाव हो गया अतः पूर्वमें जो परस्थानगोपुच्छ था, उसका अग्रकृष्टिघातद्वारा नाश हुआ।

यहां कोई कहता है कि व्ययद्रव्य तो गया और आयद्रव्य आया अत. व्यय-द्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका नाश कहा तथा आयद्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका होना कहा उसीको कहते हैं—　　आय और व्यय द्रव्य का कथन—

आयादो वयमहियं, हीणं सरिसं कहिंपि अणं च।
तम्हा आयद्दव्वा, ण होदि सट्ठाणगोउच्छं ॥१३४॥५२५॥

अर्थ—किसी संग्रहकृष्टिमें आयद्रव्यसे व्ययद्रव्य अधिक है तो किसीमें हीन है और किसी संग्रहकृष्टिमें आय-व्ययद्रव्य समान भी है। किसी संग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तो है, किन्तु व्ययद्रव्य नही है और किसीमें व्ययद्रव्य तो है आयद्रव्य नही है इसलिए आय-द्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका होना मानना ठीक नही है।

अब स्वस्थान-परस्थानगोपुच्छके सद्भावका विधान कहते हैं—

घादयदव्वादो पुण वय आयदखेत्तदव्वगं देदि।
सेसासंखाभागे अणंतभागूणयं देदि ॥१३५॥५२६॥

अर्थ—घातक द्रव्यसे व्यय और आयतक्षेत्रद्रव्यको देनेसे एक गोपुच्छ होता है तथा शेष असंख्यात भागमें अनन्तभाग ऊण द्रव्य दिया जाता है।

विशेषार्थ—घात की हुई कृष्टियोके व्ययद्रव्यको पूर्वोक्त व्ययद्रव्यमें से घटाने-पर अवशिष्ट द्रव्यप्रमाण द्रव्य घातद्रव्यसे ग्रहणकरके जिन कृष्टियोका जितना-जितना द्रव्य व्यय हुआ था उनमें उतना-उतना द्रव्य देकर उनको पूर्ण करनेसे स्वस्थानगोपुच्छ होता है।

उदयगदसंगहस्स य मज्झिमखंडादिकरणमेदेन।
दव्वेण होदि णियमा एवं सव्वेसु समयेसु ॥१३६॥५२७॥

अर्थ—उदयको प्राप्त संग्रहकृष्टिका इस घातद्रव्यद्वारा मध्यमखंडादि किये जाते हैं यह विधान सभी समयोंमें होता है।

विशेषार्थः—जिस संग्रहकृष्टिका अनुभव करता है उसमें आयद्रव्यका अभाव है अतः संक्रमणद्रव्यसे मध्यमखंडादि नही होते हैं। इसलिए मध्यमखण्ड, उभयद्रव्य, विशेष इत्यादि वक्ष्यमाण विधान करनेके लिये उस वेदनेरूप सग्रहकृष्टिका असंख्यातवां-भागप्रमाण द्रव्य घातद्रव्यसे पृथक् रखकर अवशिष्ट घातद्रव्यको ही पूर्वोक्तप्रकार विशेष-हीन क्रमसे एकगोपुच्छाकार द्वारा दिया जाता है। एक भागके आगे मध्यमखण्डादि विधानसे द्रव्यदेनेका कथन करेंगे। यह विधान सर्वसमयों (कृष्टिगत उदयके समयो) में जानना। इसप्रकार घातद्रव्यसे एकगोपुच्छ हुआ, अब जो अन्यसंग्रहका द्रव्य विवक्षित संग्रहमें द्रव्य आया उसको पूर्वमें आयद्रव्य कहा था उसका नाम यहां संक्रमण द्रव्य कहा जाता है तथा जो द्रव्य नवीनसमयप्रबद्धमें बन्धकरके कृष्टिरूप होता है वह बन्ध-द्रव्य कहा जाता है। उसका विधान कहते हैं—

कुछ संक्रमणद्रव्य और बन्धद्रव्यसे कुछ नवीन अपूर्वकृष्टियोंको करता है। इनमें संक्रमणद्रव्यके द्वारा तो उन संग्रहकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिके नीचे कुछ अपूर्व-कृष्टियोको करता है, इनको अधस्तनकृष्टि कहते हैं तथा उन सग्रहकृष्टियोंको पूर्व-अवयवकृष्टियोंके बीच-बीचमें नवीन अपूर्वकृष्टियोको करता है, इनका नाम अन्तरकृष्टि है। बन्धद्रव्यके द्वारा अवयवकृष्टियोंके बीच-बीचमें ही नवीनअपूर्वकृष्टियोंको करता है, इनको भी अन्तरकृष्टि कहते हैं। कुछ संक्रमणद्रव्य और बन्धद्रव्यको पूर्वकृष्टियोमें ही निक्षेपण करता है। इसीका विधान अगली गाथामें कहते हैं—

हेट्ठाकिट्टिप्पहुदिसु संकमिदासंखभागमेत्तं तु।
सेसा संखाभागा अंतरकिट्टिस्स दव्वं तु ॥१३७॥५२८॥

अर्थ—संक्रमणद्रव्यको असख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे एकभागमात्र द्रव्य तो अधस्तनकृष्टिआदिमे देता है अर्थात् इस एकभागप्रमाण द्रव्यसे क्रोधकी प्रथमकृष्टिके अतिरिक्त शेष ११ सग्रहकृष्टियोके अधस्तन अपूर्वकृष्टि करता है तथा अवशेष असख्यात-बहुभागप्रमाण अन्तरकृष्टिसम्बन्धी द्रव्य है, इससे अन्तरकृष्टियोंके अन्तरमें अपूर्वकृष्टियों को करता है। इस गाथाका विशेष अर्थ जाननेके लिये गाथा १४३का विशेषार्थ देखना चाहिए।

बंधदव्वाणंतिमभागं पुण पुव्वकिट्टिपडिबद्धं ।
सेसाणंता भागा अंतरकिट्टिस्स दव्वं तु ॥१३८॥५२९॥

अर्थ—बन्धको प्राप्त द्रव्यमें अनन्तका भाग देनेपर एकभागप्रमाण तो पूर्वकृष्टि-सम्बन्धी द्रव्य है अतः इस एकभागप्रमाण द्रव्यका पूर्वोक्त कृष्टियोंमे निक्षेपण करता है तथा अवशिष्ट अनन्तबहुभागप्रमाण द्रव्य अन्तरकृष्टिसम्बन्धी है, इससे नवीन अन्तर-कृष्टियोंको करता है। इस गाथाके सम्बन्धमे विशेषकथन गाथा १४२के विशेषार्थसे जानना चाहिए।

कोहस्स पढमकिट्टी मोत्तूणेक्कारसंगहाणं तु ।
बंधणसंकमदव्वादपुव्वकिट्टिं करेदी हु ॥१३९॥५३०॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके बिना अवशेष ग्यारह संग्रहकृष्टियोंके यथा-सम्भव बन्ध व सक्रमणरूप द्रव्यसे अपूर्वकृष्टियोंको करता है। क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टि मे संक्रमणद्रव्यका अभाव होनेसे मात्र बन्धद्रव्यसे ही अपूर्वकृष्टि करता है।

विशेषार्थ—वेद्यमान क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिको छोड़कर शेष ग्यारहसंग्रह-कृष्टिसम्बन्धी सक्रम्यमान और यथासम्भव बध्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टिकी रचना की जाती, किन्तु क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टियां मात्र बध्यमान प्रदेशाग्रसे रची जाती हैं उसमे संक्रम्यमान प्रदेशाग्रका अभाव है। अतः "क्रोधकी प्रथमसग्रह-कृष्टिको छोड़कर" ऐसा कहा गया है। मान, माया व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टिया बध्यमान और संक्रम्यमान दोनों प्रकारके प्रदेशाग्रसे रची जाती है, शेष सग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टियां मात्र सक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे रची जाती हैं उनमें बध्य-मान प्रदेशाग्रका अभाव है। यहांपर अपकर्षित द्रव्यकी सक्रम्यमान सज्ञा है। सर्वत्र यहां ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए[1]।

बंधणदव्वादो पुण चदुसट्ठाणेसु पढमकिट्टीसु ।
बंधुप्पवकिट्टीदो संकमकिट्टी असंखगुणा ॥१४०॥५३१॥

---

१ जयधवल मूल पृष्ठ २१६६। क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८९ से १०९१ तक। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८५।

संखातीदगुणाणि य पल्लस्सादिमपदाणि गंतूण ।
एक्केक्कबंधकिट्टी किट्टीणं अंतरे होदि ॥१४१॥५३२॥

अर्थ—क्रोधादि चारकषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूप चारस्थानोंमें बन्धद्रव्यसे अपूर्वकृष्टिको करता है। संक्रमणद्रव्यसे पहले ग्यारहस्थानोंमें कृष्टि रचना कही गई है। बन्धद्रव्यसे होनेवाली अपूर्वकृष्टियोंसे संक्रमणद्रव्यके द्वारा उत्पन्न कृष्टियां पल्यके असंख्यातवेंभागगुणी है। असंख्यातपल्यके प्रथमवर्गमूल जाकर एक-एक अपूर्वकृष्टि बन्धती है यही कृष्टिगत अन्तर है।

विशेषार्थ—यहां बन्धद्रव्य समयप्रबद्धप्रमाण है, उससे संक्रमणद्रव्य असंख्यातगुणा है। "कृष्टिद्रव्यके अनुसार कृष्टिया उत्पन्न होती हैं" इस न्यायके अनुसार बध्यमान प्रदेशाग्रसे थोड़ी (स्तोक) अपूर्वकृष्टियां रची जाती है, क्योंकि डेढ़गुणहानि समयप्रबद्धप्रमाण सत्त्वद्रव्यके असंख्यातवेंभाग संक्रम्यमाण द्रव्य है। यह संक्रम्यमाण प्रदेशाग्र बध्यमान प्रदेशाग्रसे पल्यके असंख्यातवेंभागगुणा है। बध्यमानप्रदेशाग्रसे जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं वे चारों ही प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से प्रत्येक संग्रहकृष्टिकी अवयवकृष्टियोंके अन्तरालोंमें निर्वर्तित की जाती हैं, किन्तु प्रथमआदि असख्यात पल्योपमके प्रथमवर्गमूलप्रमाणकृष्टि अन्तरालोंको लांघकर आगे कृष्टिअन्तरालमें प्रथमअपूर्वकृष्टि रची जाती है। पुनः असंख्यातकृष्टिअन्तरालों उलंघकर द्वितीयअपूर्वकृष्टि रची जाती है। इसप्रकार असंख्यातपल्योपमके प्रथमवर्गमूलप्रमाण असख्यातकृष्टि अन्तरालोको छोड़-छोड़कर तृतीय, चतुर्थादि अपूर्वकृष्टिको रचना होती है। यह क्रम तबतक चला जाता है जबतक अन्तिमअपूर्वकृष्टि निष्पन्न नहीं होती है[1]।

दिज्जदि अणंतभागेणूणकमं बंधगे य णंतगुणं ।
तण्णंतरे णंतगुणूणं तत्तोणंतभागूणं ॥१४२॥५३३॥

अर्थ—बध्यमानद्रव्य पहले अनन्तवेंभागहीन क्रमसे दिया जाता है पुनः अनन्तगुणा द्रव्य दिया जाता है उसके अनन्तर अनन्तगुणाहीन दिया जाता है तदनन्तर अनन्तभागहीन द्रव्य क्रमसे दिया जाता है।

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०९२-९३ व १०९५, १०९६, ११०१ से ११०४ तक। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८५-३८६। जयधवल मूल पृष्ठ २१६९ से २१७२ तक।

विशेषार्थ—बध्यमानप्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररूपणा कही जाती है—चारों प्रथम-संग्रहकृष्टियोके नीचे व ऊपर असख्यातवेंभाग कृष्टियोंको छोड़कर शेषसमस्त मध्यम-स्वरूपसे प्रवर्तमान नवकबन्धका अनुभाग पूर्वकृष्टिस्वरूप भी होता है और अपूर्वकृष्टि-स्वरूप भी। नवकसमयप्रबद्धका अनन्तवांभाग प्रदेशाग्र पूर्वकृष्टियोंमें दिया जाता है और शेष अनन्त बहुभाग नवीन अपूर्वकृष्टिस्वरूपसे दिया जाता है। नवकसमयप्रबद्धके उपर्युक्त अनन्तवेंभागमे से जघन्यकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है। द्वितीयकृष्टिमें अनन्तवें-भागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। तृतीयकृष्टिमें अनन्तवेंभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, चतुर्थकृष्टिमें अनन्तवेंभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र नवीन अपूर्वकृष्टिके प्राप्त होनें-तक दिया जाता है। पुनः अनन्तगुणेप्रदेशाग्र द्वारा अपूर्वकृष्टि निर्वर्तित होती है। इस अपूर्वकृष्टिसे अनन्तरकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। तदनन्तर अनन्तभागहीन-अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र तब तक दिया जाता है जबतक कि अन्य अपूर्व-कृष्टि प्राप्त हो। पुनः अनन्तगुणे प्रदेशाग्रद्वारा अन्य अपूर्वकृष्टि निर्वर्तित होती है, उससे अनन्तरकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है और उससे आगे अनन्तवेंभाग-हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसीप्रकार शेष सर्वकृष्टियोंमें जानना चाहिए। पूर्व और अपूर्वकृष्टियोमें गोपुच्छसम्पादनके लिए प्रदेशाग्रका यह क्रम होता है। इसप्रकार बध्य-मानप्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टियोकी रचना कही गई[1]।

संकमदो किट्टीणं संगहकिट्टीणमंतरं होदि।
संगह अंतरजादो किट्टी अंतरभवा असंखगुणा॥१४३॥५३४॥

अर्थ—संक्रमणरूप द्रव्यसे उत्पन्न हुई अपूर्वकृष्टियोमें से कुछ कृष्टियां तो संग्रह-कृष्टियोके नीचे उत्पन्न होती हैं और कुछ कृष्टियां पूर्वमे जो अवयवकृष्टि थी उनके अन्तरालोमें होती हैं। यहां संग्रहकृष्टियोके अन्तरालमें नीचे उत्पन्न हुई कृष्टियोंसे अवयवकृष्टियोके अन्तरालमें उत्पन्न हुई कृष्टि असंख्यातगुणी हैं।

विशेषार्थ—संक्रम्यमाण प्रदेशाग्रसे जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं वे दो अवकाशो (स्थलों) अर्थात् कृष्टिअन्तरालमें भी और सग्रहकृष्टिअन्तरालमें भी रची

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५३ सूत्र ११०५ से १११४। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८६। जयधवल मूल पृष्ठ २०७२ से २०७४।

जाती हैं। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको छोड़कर शेष ग्यारहसंग्रहकृष्टियोके नीचे अपूर्वकृष्टियां सक्रम्यमाण प्रदेशाग्र अर्थात् अपकर्षित समस्तद्रव्यके असंख्यातवेंभागसे रची जाती हैं अत: वे अल्प हैं। संक्रम्यमाणप्रदेशाग्रअर्थात् अपकर्षित समस्तद्रव्यके असंख्यातबहुभाग द्वारा कृष्टिअंतरालोंमें जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं उससे संग्रहकृष्टियोंके नीचे अपूर्वकृष्टियोकी रचनामें दिये जानेवाले द्रव्यसे असख्यातगुणे द्रव्यद्वारा कृष्टिअन्तरालोंमे रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियां असख्यातगुणी हैं, क्योंकि इनकी रचनामें असंख्यातगुणा द्रव्य लगा है[1]।

संगहअंतरजाणं अपुव्वकिट्टिं व बंधकिट्टिं वा।
इदराणमंतरं पुण पल्लपदासंखभागं तु ॥१४४॥५३५॥

अर्थ—सग्रहकृष्टिअन्तरालोमें जो अपूर्वकृष्टियोंकी रचना की जाती है उनका विधान कृष्टिकरणमे निर्वर्त्यमानकृष्टियोंके विधान जैसा जानना चाहिए। 'इदराणाम' अर्थात् कृष्टिअन्तरालोमें रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंका विधान बध्यमानप्रदेशाग्रसे निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोके विधान (गाथा १४१-४२) जैसा यहां भी जानना चाहिए, किन्तु यहां अपूर्वकृष्टिगत अन्तर पल्योपमके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभाग है[2]।

विशेषार्थ:—कृष्टिकरणकालमें पूर्वमें निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोंकी जो विधि वही विधि निरवशेषरूपसे अपकर्षितद्रव्यके द्वारा संग्रहकृष्टियोके अन्तरालमें रची जानेवाली अपूर्वसंग्रहकृष्टियोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए, क्योकि उष्ट्रकूटश्रेणिके आकार से दिये जानेवाले प्रदेशाग्रकी निषेकप्ररुपणाके प्रति भेदकी अनुपलब्धि पायी जाती है। इसप्रकार उष्ट्रकूटश्रेणिसामान्यकी अपेक्षासे दोनों विधानोंमें कोई विशेषता नही है ऐसा कहा गया है, किन्तु अर्थत: (वास्तवमें) देखनेपर इन दोनोंमें सादृश्य नहीं दिखाई देता, क्योंकि दोनोंमें कुछ विशेषता संभव है। वह विशेषता इसप्रकार है कि कृष्टिकरणकालके प्रथमसमयमें कृष्टिरूपसे परिणत प्रदेशपिण्डसे द्वितीयसमयवर्ती कृष्टियोमें नि:सिंच्यमान प्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा होता है, उससे तृतीयसमयमे नि:सिंच्यमान प्रदेशपिण्ड असख्यातगुणा है, उससे चतुर्थसमयमें नि:सिंच्यमान प्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा है। इस-

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५४ सूत्र १११५ से १११९। धवल पु० ६ पृ० ३८७। जयधवल मूल पृष्ठ २०७४-७५।

२. क. पा. सुत्त पष्ठ ८५४ सूत्र ११२० से ११२३। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८७।

प्रकार कृष्टिकरणकालके चरमसमयपर्यन्त प्रतिसमय कृष्टियोंमें निःसिच्यमान प्रदेशपिण्ड विशुद्धिके माहात्म्यसे असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा होता जाता है। वर्तमानसमयमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिकी चरमकृष्टिमें निसिक्त प्रदेशाग्रसे पूर्वसमयमें की गई पूर्वकृष्टियों-की जघन्यकृष्टिमें निःसिच्यमान प्रदेशाग्र असंख्यातभागहीन होता है, क्योंकि उसमें पूर्व अवस्थितद्रव्य इतना ही हीन दिखाई देता है। तदनन्तर अनन्तभागहानिरूपसे यथाक्रम जाकर पुनः पूर्वसमयमे की गई संग्रहकृष्टिसम्बन्धी चरिमकृष्टिमें निसिक्त प्रदेशाग्रसे वर्तमानसमयमें द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे की गई अपूर्वजघन्यकृष्टिमें दिया जानेवाला प्रदेशपिण्ड असंख्यातभाग अधिक होता है। शेष अपूर्वकृष्टियोंमें अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, इसीप्रकार आगे भी जानना चाहिए। पुनः दृश्यमानप्रदेशाग्र सर्वत्र अनन्तभागहीनरूपसे रहता है। इसप्रकार यहक्रम कृष्टिकरणकालके द्वितीयसमयसे चरिमसमयपर्यन्त जानना चाहिए, किन्तु कृष्टिवेदककालमे ऐसी विधि नहीं होती, क्योंकि कृष्टिवेदककालकी अपूर्वकृष्टियोमें निःसिच्यमान प्रदेशाग्र पूर्वकृष्टिप्रदेशपिंडसे असंख्यातवें-भागप्रमाण होता है, उससे कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोकी चरमकृष्टिमें निर्वर्तित प्रदेशाग्रसे पूर्वकृष्टिकी जघन्यकृष्टिके प्रथमसमयमें प्रदेशाग्र असंख्यातगुणाहीन होता है, अन्यथा पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंकी सन्धिमे एकगोपुच्छकी उत्पत्ति नहीं होगी। अतः कृष्टिकरणविधि और कृष्टिवेदकविधिमें इसप्रकारकी विशेषता दिखानेके लिए श्रेणीप्ररुपणा करते हैं—

कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें पूर्वानुपूर्वीकी अपेक्षा लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टि के नीचे अपकर्षित प्रदेशाग्रके द्वारा जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं, उनमें से जघन्य-कृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है तथा उसके आगे चरमकृष्टिपर्यन्त अनन्तवें-भागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। उसके आगे अपूर्वकृष्टिकी चरमकृष्टिमें पतित प्रदेशाग्रसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी पूर्वकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणा-हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयपूर्वकृष्टिमें उससे अनन्तभागहीन द्रव्य दिया जाता है और यह अनन्तभागहीनरूप द्रव्यका क्रम प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिपर्यन्त जानना। पुनः उस प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिमें पतित प्रदेशाग्रसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र दिया जाता है। उससे आगे अपूर्वचरमकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीनरूप क्रमसे द्रव्यका सिंचन होता है। पुनः अपूर्वचरमकृष्टिमे विसिंचित प्रदेशाग्रसे, पूर्वनिर्वर्तित द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तर-

कृष्टि सम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें असख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उससे आगे अणंतभागहीनरूप क्रमसे होकर द्रव्य निःसिंचित होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि पूर्वकृष्टियोके अन्तरमे रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंकी और पूर्वकृष्टयोकी संधिमें प्रदेशविन्यासका भेद है। इसप्रकार कही गई विधी ऊपर (आगे) भी जानना चाहिए। कृष्टिवेदकके द्वितीयादि समयोमे भी निषेकप्ररुपणा इसीप्रकार जानना चाहिए। इस उपर्युक्त विधिकी अपेक्षा दोनोमे (कृष्टिकरण व कृष्टिवेदककालमे) विशेषता सम्भव है इसकी विवक्षा गाथासूत्रमे नही है। ग्यारह संग्रहकृष्टियोंके नीचे एक-एक पूर्वकृष्टिमें से असंख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यको अपकर्षितकरके पूर्वकृष्टियोंके असख्यातवेभागमात्र अपूर्व-कृष्टियोको करनेवाला उष्ट्रकूटश्रेणीरूपसे प्रदेशविन्यास करता है इसको देखते हुए गाथा-सूत्रमें (कृष्टिकरण व अपूर्वकृष्टि रचना विधानकी) समानता कही गई है[1]।

जिसप्रकार असख्यातकृष्टियोका अन्तर देकर बध्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं, उसीप्रकार पल्योपमके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टियोंके अन्तरसे सक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अवान्तरकृष्टियोमें अपूर्वकृष्टियां रची जाती है। दिय-मान प्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररुपणा जैसी वहां (बध्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टि रचनामें) की गई है वैसी ही प्ररुपणा यहां भी जानना, किन्तु यहां उससे थोड़े (अल्प) अर्थात् प्रथम-वर्गमूलके असंख्यातगुणे हीन अन्तरालसे संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टि रची जाती है। संक्रम्यमाण प्रदेशाग्रसे कृष्टिअन्तरोमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमें जो प्रदेशाग्र दिये जाते है उनकी श्रेणिप्ररुपणाका विधान बन्धद्रव्यसे निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमे जैसा कहा गया है वैसा जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि संग्रहकृष्टियोंके नीचे निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमें पूर्वोक्त क्रमसे प्रदेश निसिक्त करनेके पश्चात् अपूर्वचरमकृष्टिकी अपेक्षा पूर्वजघन्यकृष्टिमें असख्यातगुणेहीन प्रदेशाग्र निःसिंचित किये जाते हैं, उसके आगे उत्कर्षण-अपकर्षणभाग-हारप्रमाण पूर्वकृष्टियोंमें अनन्तभागहीनरूप क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं उसके बाद कृष्टिअन्तरालमें निर्वर्तित की जानेवाली अपूर्वकृष्टिमें असख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, तत्पश्चात् अनन्तर पूर्वकृष्टिमें असंख्यातगुणेहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं तथा उसके अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र देता है। संधियोंको जानकर यह क्रम विरुद्धसंग्रहकृष्टिके अन्त-पर्यन्त जानना चाहिए, इससे ऊपरकी संग्रहकृष्टियोंमें भी इसी विधानसे श्रेणिप्ररुपणा

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१७५-७६।

करना चाहिए। कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयकी यह प्ररूपणा जिसप्रकार की गई है, वह सर्वप्ररूपणा उसीप्रकार द्वितीयादि समयोंमें भी कहना चाहिए[1]।

कृष्टियोंके घातका कथन—

[2]कोहादिकिट्टिवेदगपढमे तस्स य असंखभागं तु।
णासेदि हु पडिसमयं तस्सासंखेज्जभागकमं ॥१४५॥५३६॥
कोहस्स य जे पढमे संगहकिट्टिम्हि णट्ठकिट्टीओ।
बंधुज्झियकिट्टीणं तस्स असंखेज्जभागो हु ॥१४६॥५३७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदकजीव प्रथमसमयमें सर्वकृष्टियोंका असंख्यातवेंभागमात्र कृष्टियोंको नष्ट करता है तथा द्वितीयसमयमें उसके असंख्यातवें-भागप्रमाण कृष्टियोंका घात करता है। इसी क्रमसे प्रतिसमय असंख्यातवेंभागप्रमाण-रूप क्रमसे कृष्टियोका घात करता है। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके सर्ववेदककालमें जो कृष्टियां नष्ट हुई हैं वे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अबध्यमानकृष्टियोंके असंख्यातवें-भागप्रमाण हैं।

विशेषार्थ—विशुद्धिके माहात्म्यसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी कृष्टियोमें से अग्रकृष्टिको आदि करके कृष्टियोका असंख्यातवेभाग प्रतिसमय अपवर्तनाघातद्वारा विनाश किया जाता है। जो कृष्टियां प्रथमसमयमें विनष्ट होती हैं वे बहुत हैं, क्योंकि समस्तकृष्टियोके असंख्यातवेंभागप्रमाण हैं और जो कृष्टियां द्वितीयसमयमें नष्ट की जाती हैं वे प्रथमसमयमे विनष्टकृष्टियोंसे असंख्यातगुणीहीन हैं। यद्यपि द्वितीयसमयमें विशुद्धि अनन्तगुणी बढ़ जाती है तथापि प्रथमसमयमें विनष्ट कृष्टियोसे रहित शेष बची हुई कृष्टियोके असंख्यातवेंभागका घात करता है इसलिये द्वितीयसमयमें असंख्यात-गुणीहीन कृष्टियोंका नाश करता है। इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी प्रतिसमय अप-वर्तनाघातका क्रम जानना चाहिए। यह असंख्यातगुणाहीनक्रम अपने विनाशकालके द्विचरमसमयतक चला जाता है। प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदकके क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१७७-७८।

२. इन दोनो गाथासम्बन्धी विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५४-५५ सूत्र ११२४ से ११२८ तक एवं धवल पु० ६ पृष्ठ ३८७-८८ पर भी है।

ऊपर और नीचेकी असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टियां अबध्यमान कहलाती हैं। कृष्टि-वेदकके प्रथमसमयसे लेकर निरुद्ध प्रथमसंग्रहकृष्टिके विनाशकालके द्विचरमसमयतक उपरिम अबध्यमानकृष्टियोके असंख्यातवेंभागमात्र कृष्टियोंका विनाश होता है। उपरिम व अधस्तन इन दोनो भागोंमेसे उपरिमभागमें विनष्ट कृष्टियोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवेभागमात्र विशेष है। जैसा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके विनाशका क्रम कहा गया है वैसा ही क्रम शेष संग्रहकृष्टियोंके विनाशका भी जानना चाहिए, क्योंकि इसमें विरोधका अभाव है[1]।

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयाधिक आवलीकाल शेष रहने-की अवस्थाका कथन—

[2]कोहादिकिट्टियादिट्ठिदिम्हि समयाहियावलीसेसे।
ताहे जहण्णुदीरइ चरिमो पुण वेदगो तस्स ॥१४७॥५३८॥
ताहे संजलणाणं बंधो अंतोमुहुत्तपरिहीणो।
सत्तोवि य सदिवसा अडमासब्भहियछव्वरिसा ॥१४८॥५३९॥
घादितियाणं बंधो दसवासंतोमुहुत्तपरिहीणा।
सत्तं संखं वस्सा सेसाणं संखऽसंखवस्साणि ॥१४९॥५४०॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयअधिक आवली अवशेष रहनेपर जघन्यस्थितिकी उदीरणा करनेवाला होता है। आवलीके ऊपर जो एकसमय है उस समयसम्बन्धो निषेकको अपकर्षितकरके उदयावलिमें निक्षेपण करता है तथा वही क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिवेदकका चरमसमय होता है। वहा (पूर्वोक्त समयाधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर) संज्वलनका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम आठमाह अधिक ६ वर्ष है। तीनघातिया कर्मोका स्थिति-

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१७८-७९।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५ सूत्र ११२९ से ११३१। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८८।

बन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष है और स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष है। शेष (तीन अघातिया) कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष और स्थितिसत्त्व असख्यातवर्ष है[1]।

विशेषार्थ--प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदक संज्वलनक्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से अवयवकृष्टियोंका अपकर्षणकरके उसकेद्वारा क्रोधवेदककालके साधिक त्रिभागकालसे एक आवलि अधिकप्रमाण स्थितिको करता है। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको वेदन करनेवालेकी जो प्रथमस्थिति है उस प्रथमस्थितिका वेदन करते हुए जिससमय एकसमयअधिक आवलिमात्र काल उस प्रथमस्थितिमे शेष रह जाता है वही क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके वेदनका अन्तिमसमय होता है। प्रथमस्थितिमे समयअधिक आवलिमात्र शेष रह जानेपर अन्तिमस्थितिका अपकर्षणकरके उदयावलिमें क्षेपण करनेवालेके संज्वलनक्रोधकी जघन्यस्थितिउदीरणा होती है वहांपर द्वितीयस्थितिसे उदीरणा सम्भव नही है, क्योंकि उसप्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलिकाल शेष रह जानेपर पहले ही आगालप्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है। कृष्टिवेदकके प्रथमसमयसे संज्वलनचतुष्कके अनुभागसत्त्वकी जो पूर्वप्रवृत्त अनुसमय अपवर्तना है वह उसीप्रकारसे होती रहती है[2]।

पूर्व अर्थात् कृष्टिवेदनके प्रथमसमयमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध पूर्ण चारमाह होता था वह संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरणोके द्वारा यथाक्रम घटकर प्रथमकृष्टिकी प्रथमस्थितिके एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर चालीसदिनअधिक दो माह अर्थात् (४०+६०) १०० दिन रह जाता है। तीनो संग्रहकृष्टियोके वेदककालमे स्थितिबन्ध दो माह अर्थात् ६० दिन घटता है तो एक (प्रथम) संग्रहकृष्टिके वेदककालमे स्थितिबन्ध कितना कम होगा ? इसप्रकार त्रैराशिकविधि करनेपर ($\frac{६०}{३}$) २० दिन प्राप्त होते हैं, जो कि प्रथमसग्रहकृष्टिवेदककालके त्रिभागसे कुछ अधिक है। अतः प्रथमसग्रहकृष्टिवेदककालमे चारसंज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तअधिक २० दिन घटकर अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन रह जाता है।

---

१. "जा पुव्व पवत्ता सजलणाणुभागसंतकम्मस्स अणुसमयमोवट्टणा सा तहा चेव" अर्थात् सज्वलनचतुष्कके अनुभागसत्त्वकी जो पूर्व प्रवृत्त अनुसमयवर्ती अपवर्तना है वह उसीप्रकार होती रहती है। (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५ सूत्र ११३३) यह पाठ जयधवल मूल पृष्ठ २१८० तथा धवल पु० ६ पृष्ठ ३८८ मे भी, किन्तु नेमिचन्द्राचार्यने उसे यहा ग्रहण नही किया है।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २१७९-८०।

कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिसत्त्व आठवर्षमात्र था। संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके द्वारा वह स्थितिसत्त्व क्रमसे घटकर इससमय अर्थात् क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक आवलिमात्रस्थिति शेष रह जानेपर अन्तर्मुहूर्तकम आठमाहअधिक छहवर्ष रह जाता है। तीनों कृष्टियोंके वेदककालमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिसत्त्व यदि चारवर्ष कम हो जाता है तो प्रथम-संग्रहवेदककालमें कितना कम होगा? इसप्रकार त्रैराशिकविधिके द्वारा साधिक प्रथम-संग्रहकृष्टिके त्रिभागप्रमाण अर्थात् अन्तर्मुहूर्तअधिक चारमाहसहित एकवर्षकम हो जाता है। इसको आठवर्षमें से कम करनेपर (८ वर्ष – १ वर्ष ४ माह व अन्तर्मुहूर्त) अन्तर्मुहूर्त-कम आठमास ६ वर्ष शेष स्थितिसत्त्व रह जाता है[1]।

पूर्वसंधि अर्थात् क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके वेदककालके प्रथमसमयमें तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष था जो यथाक्रम घटकर इससमय (क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें) समयाधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष रह जाता है और स्थितिसत्त्व पूर्वसंधिमें संख्यातहजारवर्ष था, वह संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके द्वारा घटकर संख्यातहजारगुणाहीन होनेसे तत्प्रायोग्य संख्यातवर्षप्रमाण रह जाता है। शेष (वेदनीय, नाम व गोत्र) तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पूर्वसंधिमें संख्यातहजारवर्षप्रमाण था वह सहस्रों स्थितिबन्धापसरणोंके द्वारा घटकर यथाक्रम घटते हुए संख्यातगुणाहीन होकर भी संख्यातहजारवर्षप्रमाण है और स्थितिसत्कर्म भी हजारों स्थितिकाण्डकघातों-के द्वारा असंख्यातगुणाहीन होकर तत्प्रायोग्य असंख्यातवर्ष रह जाता है[2]।

[3]से काले कोहस्स य विदियादो संगहादु पढमठिदी।
कोहस्स विदियसंगहकिट्टिस्स य वेदगो होदि ॥१५०॥५४१॥
कोहस्स पढमसंगहकिट्टिस्सावलिपमाण पढमठिदी।
दोसमऊणादुआवलिणवकं च वि चेउदे ताहे ॥१५१॥५४२॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८०-८१।

२. जय ध० मूल पृष्ठ २१८१।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५-५६ सूत्र ११३९-४० व ४१। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८९। जयधवल मूल पृष्ठ २१८१।

अर्थ—उसके (क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि वेदनके चरमसमयके) अनन्तरसमयमें क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे प्रथमस्थिति करके क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है। उससमय क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी आवलिप्रमाण प्रथमस्थितिका द्रव्य और दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध शेष रह जाता है और उसीकालमें क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य १४ गुणा हो जाता है।

विशेषार्थ—जब प्रथमसग्रहकृष्टिको पूर्वोक्त प्रथमस्थितिमें उच्छिष्टावलिकाल शेष रह जाता है उससमय द्वितीयस्थितिमे स्थित क्रोधकी द्वितीयकृष्टिके प्रदेशाग्रोको अपकर्षित करके उदयादि गुणश्रेणीके द्वारा द्वितीयसग्रहकृष्टिके वेदककालसे आवलिअधिककाल द्वारा प्रथमस्थितिको करता है। क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे से अपकर्षणकरके प्रथमस्थितिको करनेवालेके उससमय दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्धरूप प्रदेशाग्र और उच्छिष्टावलिप्रमाण प्रदेशाग्रको छोड़कर क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके शेष समस्त प्रदेशाग्र क्रोधकी द्वितीय कृष्टिरूप संक्रमण कर जाते हैं। क्रोधकी द्वितीयकृष्टिसे प्रथमकृष्टि तेरहगुणी थी, क्योकि प्रथमसंग्रहकृष्टिमे नोकषायका भी द्रव्य था। प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे अनन्तगुणेहीन परिणमन करके अपूर्वकृष्टिरूप होकर प्रवृत्त करता है, उससमय शेष पृथक् पृथक् संग्रहकृष्टिके द्रव्यसे इसका द्रव्य १४ गुणा हो जाता है, क्योकि प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य इस द्वितीयकृष्टिरूप संक्रमित होगया है। नवकबन्ध और उच्छिष्टावलिके प्रदेशाग्र यथाक्रम प्रतिसमय दूसरीकृष्टिमे संक्रमण करते हैं, उसीसमय क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदक होता है[1]।

पढमादिसंगहाणं चरिमे फालिं तु विदियपहुदीणं।
हेट्ठा सव्वं देदि हु मज्झे पुव्वं व इगिभागं ॥१५२॥[2]५४३॥

अर्थ—प्रथमादि सग्रहकृष्टियोंके अन्तिमसमयमें जो संक्रमणद्रव्यरूप फालि है उसका (बहुभाग) द्रव्य तो द्वितीयादि संग्रहकृष्टियोके नीचे सर्वत्र देता है और एकभागरूप द्रव्य पूर्ववत् मध्यमे देता है।

विशेषार्थ—जिस संग्रहकृष्टिको भोगता है उसका नवकसमयप्रबद्धबिना सर्वद्रव्य सर्वसंक्रमणरूप है और वही अन्तिमफालि है, इसको अनंतर समयमे भोगी जानेवाली

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८१-८२।
२. इस गाथाका विषय जयधवल मूलमे नही है।

संग्रहकृष्टिके नीचे और मध्यमें अपूर्वकृष्टिरूप परिणमाता है, वहां उस संग्रहकृष्टिको अवयवकृष्टियोके मध्यमें जो अपूर्वकृष्टियां करता है, उनको पूर्ववत् चरमसमयवर्ती स्वकीय द्रव्यके असंख्यातवेंभागप्रमाण द्रव्यसे रचता है तथा अवशिष्टद्रव्यसे उस सग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियोंको करता है, क्योंकि यहां क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके अनतर द्वितीयसग्रहकृष्टिको भोगता है अत. ऐसा विधान जानना।

[1]कोहस्स विदियकिट्टी वेदयमाणस्स पढमकिट्टिं वा।
उदओ बंधो णासो अपुव्वकिट्टीण करणं च ॥१५३॥५४४॥

अर्थ—क्रोधकी द्वितीयसग्रहकृष्टिका वेदन करनेवालेके उदय, बन्ध, घात तथा संक्रमण व बन्ध द्रव्यसे अपूर्वकृष्टियोंका करना आदि विधान प्रथमसंग्रहकृष्टिवत् ही जानना।

विशेषार्थः—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालमें जो विधि कही गई है वही विधि द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदककालमें भी जानना चाहिए। वह इसप्रकार है—उदीर्ण कृष्टियोकी, बध्यमानकृष्टियोंकी, विनाश को जानेवाली कृष्टियोंकी, बध्यमान प्रदेशाग्रसे निर्वर्त्यमान कृष्टियोकी तथा संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोकी विधि प्रथमसग्रहकृष्टिकी प्ररूपणाके समान है[2]।

[3]कोहस्स विदियसंगहकिट्टी वेदंतयस्स संकमणं।
सट्ठाणे तदियोत्ति य तदणंतरहेट्ठिमस्स पढमं च ॥१५४॥५४५॥

अर्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके स्वस्थान अर्थात् विवक्षित कषायमें ही संक्रमण तो तृतीयसंग्रहकृष्टिमें होता है और परस्थान अर्थात् अन्यकषायमें जो संक्रमण होता है वह उसके नीचे जो (मान) कषाय है उसको प्रथमसंग्रहकृष्टिमें होता है।

विशेषार्थ—क्रोधकी द्वितीयसग्रहकृष्टिका वेदक क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें और मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४२ से ११४४ तक। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८६।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २१८२।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४७। ध० पु० ६ पृष्ठ ३८६।

अन्यकृष्टियोंमें नही, क्योकि संक्रमण आनुपूर्वीरूपसे होता है। क्रोधकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिका द्रव्य स्वस्थानस्वरूप क्रोधकी तृतीयकृष्टिमें अपकर्षणभागहारसे संक्रमण करता है और परस्थानस्वरूप मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें अध:प्रवृत्तसंक्रमण द्वारा सक्रमण करता है। क्रोधकी तृतीयसग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको मानकी प्रथमसग्रहकृष्टिमे सक्रमित करता है, क्योकि अन्यत्र संक्रमण असम्भव है। यहा भी अध:प्रवृत्तसंक्रमण होता है[1]।

[2]पढमो विदिये तदिये हेट्ठिम पढमे च विदियगो तदिये।
हेट्ठिमपढमे तदियो हेट्ठिमपढमे च संकमदि ॥१५५॥५४६॥

अर्थ—विवक्षित कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य तो अपनी द्वितीय, तृतीय और अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे संक्रमण करता है, द्वितीयसग्रहकृष्टिका (विवक्षितकषायकी) द्रव्य अपनी तृतीय व अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है तथा (विवक्षितकषायकी) तृतीयसग्रहकृष्टिका द्रव्य अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें ही सक्रमण करता है। [नोट—इस गाथाका सम्बन्ध गाथा १३१ से है]

विशेषार्थ—यहां जिस कषायका वेदन कर रहा है उस विवक्षित कषायके अनन्तर जिस कषायका वेदन करेगा उसे अधस्तनवर्ती कषाय कहा गया है। क्रोधकी द्वितीयसग्रहकृष्टिके प्रदेशसमूहका क्रोधकी तृतीय व मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है, क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही सक्रमित करता है। मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी द्वितीय-तृतीय व मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिमे संक्रमित करता है, मानकषायकी द्वितीयसग्रहकृष्टिके द्रव्यका मानकी तृतीय व मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है और मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे ही संक्रमित करता है। माया-कषायकी प्रथमसग्रहकृष्टिके द्रव्यका संक्रमण मायाकी द्वितीय-तृतीय व लोभकी प्रथम-सग्रहकृष्टिमे होता है, मायाकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी तृतीय व लोभ-

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८३।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४७ से ११५६। धवल पु० ६ पृष्ठ ३८६-९०।

की प्रथमसग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है तथा मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित करता है। लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है और लोभकी द्वितीयसग्रहकृष्टिके द्रव्यका संक्रमण लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें करता है, (देखो गाथा १३१ की टोका) क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें भी दिया जाता है।

यहाँ विवक्षित कषायके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देकर एकभागमात्र द्रव्य स्वस्थानमें (अपनी ही अन्य संग्रहकृष्टिमें) संक्रमित करता है और परस्थानमें (अन्यकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें) विवक्षितकषायके द्रव्यको अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देकर एकभागमात्र द्रव्यका सक्रमण करता है[1]।

कोहस्स पढमकिट्टी सुण्णोत्ति ण तस्स अत्थि संकमणं।
लोभंतिमकिट्टिस्स य णत्थि पडित्थावणाणादो ॥१५६॥५४७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि तो शून्य हो गई (नास्तिरूप हो गई) अतः उसका संक्रमण नही होता तथा लोभकी तृतोयसंग्रहकृष्टिका भी संक्रमण नही है, क्योंकि अतिस्थापनाका अभाव है।

विशेषार्थ—इसप्रकार क्रोधकी प्रथम व लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि बिना शेष दशसंग्रहकृष्टियोके द्रव्यका संक्रमण करता है। वेदन करनेयोग्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्यका अभाव है अतः वहाँ घात (व्यय) द्रव्यको पूर्वकृष्टियोमें पूर्वोक्तप्रकार दिया जाता है तथा लोभकी तृतीयसग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य नहीं, किन्तु आयद्रव्य ही है अतः दशसंग्रहकृष्टियोमें संक्रमणद्रव्यको पूर्वोक्तप्रकार पूर्व-अपूर्वकृष्टियोमे दिया जाता है।

[2]जस्स कसायस्स जं किट्टिं वेदयदि तस्स तं चेव।
सेसाण कसायाणं पढमं किट्टिं तु बंधदि हु ॥१५७॥५४८॥

अर्थ—जिसकषायकी जिस संग्रहकृष्टिका वेदन करता है उस कषायकी उसी संग्रहकृष्टिका बन्ध करता है तथा अन्यकषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८३-८४।

२. क० पा० सूत्त पृष्ठ ८५७ सूत्र ११६०। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९०।

विशेषार्थ— शङ्का—जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदन करनेवाला चारों कषायोंकी प्रथमकृष्टियोंका बन्ध करता है उसी प्रकार क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदन करनेवाला क्या चारों ही कषायोंकी द्वितीयकृष्टियोंका बन्ध करता है[1] ?

समाधान—जिसकषायकी जिसकृष्टिका वेदन करता है अर्थात् प्रथम द्वितीय या तृतीयकृष्टिका वेदन करता है तो उस कषायकी उसी कृष्टिको बांधता है। वेद्यमान कषायके अतिरिक्त अन्य अधस्तनवर्ती कषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है, क्योंकि अन्यप्रकार असम्भव है। क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदन करनेवाला क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका बन्ध करता है, किन्तु मान-माया व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है। इसीप्रकार उपरितनकृष्टियोंका वेदनकरने वालोंके भी लगा लेना चाहिए[2]।

[3]माणतिय कोहतदिये मायालोहस्स तिय तिये सहिया।
संखगुणं वेदिज्जे अंतरकिट्टी पदेसो य ॥१५८॥५४९॥

अर्थ—यहां संग्रहकृष्टियोंमें अवयवकृष्टियोंके द्रव्यका अल्पबहुत्व कहते हैं— मानकी तीन, क्रोधकी एक तृतीयकृष्टि तथा माया व लोभकी तीन-तीन, इन संग्रहकृष्टियोंमें तो विशेष अधिक और वेद्यमान क्रोधकी द्वितीयकृष्टिमें कृष्टियोंका और प्रदेशोंका संख्यातगुणाप्रमाण क्रमसे है।

विशेषार्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदन करनेवाले जीवके ग्यारहसंग्रहकृष्टियोंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—कृष्टिवेदकके मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अवयवकृष्टियां व प्रदेशाग्र अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवेंभाग होते हुए भी सबसे अल्प है, क्योंकि स्तोकद्रव्यसे विवर्तित हुई है। मानकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अंतरकृष्टिया विशेषअधिक हैं। पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतनी अधिक है, क्योंकि स्वस्थानमें यह प्रतिभाग है। तृतीयसंग्रहकृष्टि भी उतनी ही अधिक है। मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अवयवकृष्टियां विशेषअधिक है। आवलिके असंख्यातवेंभागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी अधिक है, क्योंकि पर-

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५७ सूत्र ११५७। जयधवल मूल पृष्ठ २१८४।

२. जय ध० मूल पृष्ठ २१८४।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५७ सूत्र ११६३ से ११७४। ध० पु० ६ पृष्ठ ३९०-९१।

स्थानमें आवलिका असंख्यातवांभाग प्रतिभागस्वरूप है। इसीप्रकार ऊपर भी स्वस्थान-विशेष और परस्थानविशेष कहना चाहिए। उससे मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेष अधिक हैं। मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेष अधिक हैं, मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं। इससे लोभकी प्रथम-संग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं, लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं, उससे लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक है उससे कोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां सख्यात अर्थात् चौदहगुणी हैं, क्योंकि चारित्र-मोहनीयकर्मके सम्पूर्णद्रव्यसे २४ कृष्टियां बनी थीं। क्रोधकी द्वितीयकृष्टिमें अपना मूल द्रव्य तो $\frac{1}{24}$ है, किन्तु इसमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य $\frac{13}{24}$ प्रविष्ट होनेसे इसका द्रव्य $(\frac{1}{24}+\frac{13}{24})$ $\frac{14}{24}$ हो गया। अतः अन्तरकृष्टियां व प्रदेशाग्र भी चौदहगुणा हो गया[1]।

[2]वेदिज्जादिट्ठिदिए समयाहियआवलीयपरिसेसे।

ताहे जहण्णुदीरणचरिमो पुण वेदगो तस्स ॥१५६॥५५०॥

अर्थ—वेद्यमान कृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर जघन्य उदीरणा होती है और विवक्षित कृष्टिके वेदककालका चरमसमय होता है।

विशेषार्थ—वेद्यमान कृष्टिकी प्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलि शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है। यद्यपि कृष्टिकरणकालके प्रारम्भसे ही मोहनीयकर्मके उत्कर्षणका अभाव हो जानेसे प्रथमस्थितिके प्रदेशाग्रका द्वितीयस्थितिमें संचार नहीं होता तथापि द्वितीयस्थितिसे प्रदेशाग्रका अपकर्षण होकर प्रथमस्थितिमें आगमन होता है अतः आगाल- प्रत्यागाल कहा जाता है। इसके पश्चात् एकसमयकम आवलिकाल व्यतीत हो जानेपर जब प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक एकआवलिकाल शेष रह जाता है तब जघन्य उदीरणा होती है अर्थात् उदयावलिसे बाह्यस्थित निषेकके द्रव्यका अपकर्षणद्वारा उदयावलिमें विक्षेप होता है वही विवक्षितकृष्टिके वेदनका चरम-समय होता है[3]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८५-८६।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८ सूत्र ११७५-७६। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६१।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१८६।

[1]ताहे संजलणाणं बंधो अंतोमुहुत्तपरिहीणो ।
सत्तोवि य दिणसीदी चउमासब्भहियपणवस्सा ॥१६०॥५५१॥

घादितियाणं बंधो वासपुधत्तं तु सेसपयडीणं ।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति णियमेण ॥१६१॥५५२॥

घादितियाणं सत्तं संखसहस्साणि होंति वस्साणं ।
तिण्हं वि अघादीणं वस्साणि असंखमेत्ताणि ॥१६२॥५५३॥

अर्थ—वहां (क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें) संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ८० दिन मात्र है और उनका स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम चारमासअधिक पांचवर्षप्रमाण है। तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्ववर्षप्रमाण तथा शेष रहे अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध नियमसे संख्यातहजारवर्षप्रमाण है। तीन घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है तथा (आयुबिना) तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षमात्र है।

विशेषार्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन होता था, वह यथाक्रम घटकर क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तकम ८० दिन रह गया और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम आठमाहअधिक छहवर्षसे यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम चारमासअधिक पांचवर्ष रह गया। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष होता था जो यथाक्रम घटकर क्रोधकी द्वितीयकृष्टिवेदकके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तकम वर्षपृथक्त्व रह जाता है। तीनसे अधिक और ६ से कम यथायोग्य संख्याको पृथक्त्व कहते हैं। शेष अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता था वह अब भी संख्यातहजारवर्षमात्र ही है, किन्तु पहलेसे हीन है। इसीप्रकार तीनघातियाकर्मोंके विषयमें स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण जानना।

---

१. इन तीनों गाथासम्बन्धी विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८ सूत्र ११७७ से ११८२ और धवल पु० ६ पृष्ठ ३६१-६२ पर भी है।

तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व यद्यपि असंख्यातहजारवर्ष है तथापि पहिलेसे हीन है। यह स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व पूर्वोक्त त्रैराशिकविधिसे प्राप्त करना चाहिए[1]।

[2]से काले कोहस्स य तदियादो सग्गहादु पढमठिदि।
अंते संजलणाणं बंधं सत्तं दुमास चउवस्सा ॥१६३॥५५४॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रोधकी द्वितीयसग्रहकृष्टि वेदनके चरमसमयसे अनन्तर समयमें क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रसे प्रथमस्थिति होती है उसके अन्तिमसमयमें संज्वलन-चतुष्कका बन्ध दोमाह और स्थितिसत्त्व ४ वर्ष होता है।

विशेषार्थ—क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका जो द्रव्य द्वितीयस्थितिमें था उसमेंसे अपकर्षण करके प्रथमस्थितिको करनेवाला क्रोधकी तृतीयकृष्टिका प्रथमसमयवर्तीवेदक होता है उससमय द्वितीयकृष्टिके दो समयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावलिप्रमाण द्रव्यको छोड़कर शेषसर्वद्रव्य तृतीयकृष्टिरूप परिणमन कर जाता है। इसप्रकार क्रोधकी तृतीयकृष्टिका द्रव्य चारित्रमोहनीयकर्मके द्रव्यका ($\frac{१}{२४}+\frac{१४}{२४}$) $\frac{१५}{२४}$ भाग हो जाता है। उसीसमय क्रोधकी तृतीयकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंके असंख्यातवे-भागकी उदीरणा होती है और असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टियोंका बन्ध होता है, किन्तु उदीरणासे बन्धकृष्टियोकी सख्या अल्प है। क्रोधकी द्वितीयकृष्टिके वेदनका जो विधान कहा गया है वही तृतीयसंग्रहकृष्टिका जानना। प्रथमस्थितिमे जब आवलि-प्रत्यावलि-काल शेष रह जाता है उससमय आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है और एक-समयअधिक आवलिकाल रहनेपर जघन्यस्थितिउदीरणा होती है, उसीसमय क्रोधका चरमसमयवर्ती वेदक होता है और तभी संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध पूर्ण दोमास एव स्थितिसत्त्व चारवर्षप्रमाण होता है। इसीप्रकार पूर्वोक्त त्रैराशिकविधिसे शेषकर्मों-का भी स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व जान लेना चाहिए[3]।

[4]से काले माणस्स य पढमादो संगहादु पढमठिदी।
माणोदयअद्धाए तिभागमेत्ता हु पढमठिदी ॥१६४॥५५५॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८७।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८-५६ सूत्र ११८३ से ११९०। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९२।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २१८७-८८।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११९१–९२। ध० पु० ६ पृष्ठ ३९२-९३।

अर्थ—क्रोधवेदककालके अनन्तरसमयमें मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमस्थितिको करता है जिसका काल मानोदयकालके तृतीयभागमात्र है।

विशेषार्थ—क्रोधकी तृतीयसग्रहकृष्टिके चरमसमयसे अनन्तरसमयमें मानकी प्रथमकृष्टिके द्रव्यको द्वितीयस्थितिसे अपकर्षित करके प्रथमस्थितिको करता है। क्रोधवेदककालसे विशेषहीन मानवेदकका सर्वकाल होता है। इस मानवेदकके सर्वकालके तृतीयभागप्रमाण मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदककाल होता है। मानकी प्रथमकृष्टिवेदकके कालसे आवलिप्रमाणअधिक प्रथमस्थिति होती है। मानकी प्रथमकृष्टिको वेदन करनेवाला प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण अन्तरकृष्टियोका वेदन करता है और उसीसमय उन कृष्टियोसे विशेषहीनकृष्टियोको बांधता है, क्योंकि वेद्यमानकृष्टियोमें ऊपर और नीचेकी असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टियोको छोड़कर मध्यवर्ती बहुभागप्रमाण कृष्टिरूपसे बन्ध होता है ऐसा पहले कहा जा चुका। क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावलिके द्रव्यको छोड़कर शेष सर्वद्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूपसे परिणमन कर जाता है, क्योंकि आनुपूर्वीसंक्रमणके वशसे मानमें संक्रमण होना अविरुद्ध है। क्रोधके प्रदेशाग्र मानरूप सक्रमित हो जानेपर जबतक सक्रमावलि व्यतीत नही हो जाती तबतक उनका उदय नही होता। क्रोधकी तृतीयसग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके उपरिमभागमें अपूर्वकृष्टिरूप होकर परिणमन नही करता, किन्तु मानकी सदृशअनुभागवाली कृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टिरूपसे क्रोधका प्रदेशाग्र परिणमन करता है। उसमे भी थोड़ाद्रव्य तो पूर्वकृष्टिरूपसे तथा बहुतद्रव्य अपूर्वकृष्टिरूपसे परिणमन करता है। क्रोधकी तृतीयकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें परिणमन करनेसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य १६ गुणा हो जाता है, शेष दो कषायों (माया व लोभ) की प्रथमसग्रहकृष्टियोका बन्ध होता है[1]।

[2]कोहपढमं व माणो चरिमे अंतोमुहुत्तपरिहीणो।
दिणमासपणणचत्तं बंधं सत्तं तिसंजलणगाणं ॥१६५॥५५६॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८९ से २१९०।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११९६-९९। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९३।

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको जिस विधीसे वेदता है उसी विधिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदन करता है। मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें संज्वलनत्रयका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ५० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम ४० माह होता है।

विशेषार्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिस विधिसे अग्रकृष्टिआदि असंख्यातवेंभाग उपरिमकृष्टियोंका प्रतिसमय अपवर्तनाघात करता है उसीप्रकार मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको वेदन करनेवाला कृष्टियोंका अपवर्तनाघात करता है। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिस विधिसे बध्यमान प्रदेशाग्रसे और संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अन्तरकृष्टिके अन्तरालोंमें और संग्रहकृष्टिके अन्तरालोंमें यथासम्भव अपूर्वकृष्टियोंकी रचना करता है उसी विधिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक अपूर्वकृष्टियोंकी रचना करता है तथा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिसप्रकार कृष्टियोंके बन्ध व उदयसम्बन्धी प्रतिसमय अनन्तगुणे हीनरूपसे अपसरणोंको करता है उसीप्रकार मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक अपसरणोंको करता है। इन करणोंमें तथा अन्यकरणोंमें कोई अन्तर नहीं है। मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके इसप्रकार प्रथमस्थिति क्षीण होते हुए जब एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रह जाता है तब जघन्य उदीरणा होती है और मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका चरमसमयवर्ती वेदक होता है। तीन संज्वलनका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व यथाक्रम घटकर स्थितिबन्ध तो अन्तर्मुहूर्तकम ५० दिन अर्थात् एकमाह २० दिन एवं स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम ४० माह अर्थात् ३ वर्ष चारमाह रह जाता है। यह पूर्वोक्त त्रैराशिक विधिसे प्राप्त कर लेना चाहिए[1]।

[2]विदियस्स माणचरिमे चत्तं बत्तीसदिवसमासाणि।
अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो तिसंजलणगाणं ॥१६६॥५५७॥

अर्थ—इसके अनन्तर मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है और उसके चरमसमयमें तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ४० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम बत्तीसमासप्रमाण है।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१९०-९१।
२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०० से १२०३। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९४।

विशेषार्थ—मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक चरमसमयसे अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिमे से मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके उदयादि गुणश्रेणिरूपसे प्रथमस्थितिमें क्षेपण करता है और द्वितीयसंग्रहकृष्टिको उसी विधिसे वेदन करता हुआ जबतक प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रहता है तबतक पूर्वोक्त विधिसे सब कार्य करता हुआ चला जाता है। प्रथमस्थिति शेष रह जानेपर मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका चरमसमयवर्ती वेदक होता है, उससमय तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम ४० दिन अर्थात् १ मास १० दिन और स्थितिसत्त्व यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम ३२ माह अर्थात् २ वर्ष ८ माह रह जाता है। इसप्रकार स्थितिबन्ध तो १० दिन और स्थितिसत्त्व आठमाह घट जाता है। यह सब त्रैराशिक विधिसे सिद्ध कर लेना चाहिए[1]।

[2]तदियस्स माणचरिमे तीसं चउवीस दिवसमासाणि।
तिण्हं संजलणाणं ठिदिबंधो तह य सत्तो य ॥१६७॥५५८॥

अर्थ—उसके पश्चात् मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, उसके चरमसमयमें तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ३० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २४ माहप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—मानकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदककालके चरमसमयके अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिसे मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके पूर्वोक्तप्रकार प्रथमस्थिति करता है और उसी विधिसे मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिको वेदन करनेवालेकी जो प्रथमस्थिति है उसमें एकसमयाधिक आवलिप्रमाणकाल शेष रहनेतक पूर्वोक्त सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है और जब एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर मानका चरमसमयवर्ती वेदक होता है तब तीनों सज्वलनकषायों (मान, माया व लोभ) का स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर ३० दिन अर्थात् एकमास और स्थितिसत्त्व भी यथाक्रम घटकर २४ मास अर्थात् परिपूर्ण २ वर्ष रह जाता है। यहां भी घटनेका काल त्रैराशिकविधिसे सिद्ध कर लेना चाहिए[3]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६१–६२।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०४ से १२०८। धवल पु० ६ पृ० ३६४।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१६२।

[1]पढमगमायाचरिमे पणवीसं वीसदिवसमासाणि।
अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो दु संजलणगाणं ॥१६८॥५५९॥

अर्थ—उसके अनन्तर मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, इसका वेदककाल मायाके सम्पूर्ण वेदककालका त्रिभागमात्र है। इसके चरमसमयमें सज्वलन-माया व लोभका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २५ दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २० माहप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—मानकषायके वेदनके चरमसमयसे अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिसे मायाकी प्रथमकृष्टिके प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके प्रथमस्थितिको करता है और उसी विधिसे मायाकी प्रथमकृष्टिको वेदन करनेवालेकी जो प्रथमस्थिति है उसमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेतक पूर्वोक्त सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है। प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर माया और लोभ इन दोनों संज्वलनोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २५ दिवस और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २० माह होता है। यहां भी घटनेका प्रमाण त्रैराशिक विधीसे ही प्राप्त करना चाहिए[2]।

[3]विदियगमायाचरिमे वीसं सोलं च दिवसमासाणि।
अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो दु संजलणगाणं ॥१६९॥५६०॥

अर्थ—उसके पश्चात् मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है उसके चरमसमयमें दो संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २० दिन और स्थितिसत्त्व अंतर्मुहूर्तकम १६ माहप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—मायाकषायकी प्रथमकृष्टिके चरमसमयसे अनन्तरवर्तीसमयमें द्वितीयस्थितिसे मायाकी द्वितीयकृष्टिसे प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके मायाकी द्वितीयकृष्टिसम्बन्धी प्रथमस्थितिको करता है, वह मायाकी द्वितीयकृष्टिका वेदक भी पूर्वोक्त विधिसे द्वितीयकृष्टिको तबतक वेदन करता है और सर्वकार्य तबतक करता है जबतक प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक एकआवलिकालशेष रहता है। उससमय दो (माया व लोभ

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०९ से १२१२। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २१९२।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६०-६१ सूत्र १२१३ से १२१६। धवल पु० ६ पृष्ठ ६६५।

संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम १६ मास है[1]।

[2]तदियगमायाचरिमे पण्णरवासय दिवसमासाणि।
दोण्हं संजलणाणं ठिदिबंधो तह य सत्तो य ॥१७०॥५६१॥
मासपुधत्तं वासा संखसहस्साणि बंध सत्तो य।
घादितियाणिदराणं संखमसंखेज्जवस्साणि ॥१७१॥जुम्मं॥५६२॥

अर्थ—उसके अनन्तर मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, इसके अन्तिमसमयमे दो संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध १५ दिन और स्थितिसत्त्व १२ मास प्रमाण होता है और वही तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वमासप्रमाण है एवं स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षमात्र है। तथैव तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षप्रमाण व स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है।

विशेषार्थ—मायाकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदनके चरमसमयसे अनन्तरवर्तीसमयमे द्वितीयस्थितिसे मायाकी तृतीयकृष्टिसे प्रदेशाग्र अपकर्षणकरके मायाकी तृतीयकृष्टिसम्बन्धी प्रथमस्थिति की जाती है और उसी विधीसे मायाकी तृतीयकृष्टिको वेदन करनेवालेकी प्रथमस्थिति एकसमयाधिक आवलि शेष रहनेतक सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है। प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर मायाकी जघन्यस्थितिउदीरणा होती है और चरमसमयका वेदक होता है, उससमयमें माया व लोभ इन दोनो सज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध पूर्ण १५ दिन और स्थितिसत्त्व पूर्ण १२ मास (१ वर्ष) प्रमाण होता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वमास व स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है। नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष और स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष है[3]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१९२-२१९३।

२. इन दोनो गाथाओका विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६१ सूत्र १२१७ से १२२४ तक तथा धवल पु० ६ पृष्ठ ३६५ पर भी है।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१९३।

[1]लोहस्स पढमचरिमे, लोहस्संतोमुहुत्त बंधदुगे।
दिवस पुधत्तं वासा, संखसहस्साणि घादितिये ॥१७२॥५६३॥
सेसाणं पयडीणं, वासपुधत्तं तु होदि ठिदिबंधो।
ठिदिसत्तमसंखेज्जा, वस्साणि हवंति णियमेण ॥१७३॥जुम्मं॥५६४॥

अर्थ—लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके चरमसमयमें लोभका स्थितिबन्ध व स्थिति-सत्त्व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है और तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वदिवस तथा स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है। शेष तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध वर्ष-पृथक्त्व और स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष होता है ऐसा नियमसे जानना।

विशेषार्थ—संज्वलनमायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका वेदककाल यथाक्रम परि-समाप्त होनेपर अनन्तरवर्तीसमयमें द्वितीयस्थितिमें स्थित लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे से प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके उदयादि गुणश्रेणिरूपसे क्षेपणकर अपने वेदककालसे आवलि-अधिक कालप्रमाण प्रथमस्थितिको करता है। लोभवेदकके सर्वकालके त्रिभागसे कुछ-अधिक अथवा बादरलोभवेदककालके आधेसे कुछअधिक प्रथमस्थितिका काल होता है। उसी पूर्वोक्त विधानसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोके असख्यातबहुभागकी उदीरणा होती है और उससे विशेषहीन कृष्टियोंका बन्ध होता है, प्रतिसमय कृष्टियोके बन्ध व उदयसम्बन्धी निर्वर्गणाकरण अर्थात् अनन्तगुणीहानिरूपसे अपसरण होता है, अनुभागसत्त्वका प्रतिसमय अपवर्तनाघात होता है, बध्यमान व संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अन्तरकृष्टियोके नीचे तथा सग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियोंकी रचना होती है। इस विधिसे लोभकी प्रथमकृष्टिको वेदता हुआ जब प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलि-काल शेष रह जाता है उससमय जघन्यउदीरणाका तथा चरमसमयवर्ती वेदक होता है और संज्वलन लोभका पूर्वबद्ध स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर मात्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, तथैव स्थितिसत्त्व भी घटकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाणही शेष रहता है, किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त स्थिति-बन्धके अन्तर्मुहूर्तसे सख्यातगुणा है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय, इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध मासपृथक्त्वसे घटकर दिवसपृथक्त्व और स्थितिसत्त्व सख्यात-हजारवर्ष रहता है। नाम, गोत्र व वेदनीय, इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध

---

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६१-६२ सूत्र १२२५ से १२३२। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६६।

यथायोग्य सख्यातवर्षोंसे घटकर वर्षपृथक्त्व तथा स्थितिसत्त्व हीन होते हुए असंख्यात-वर्ष रह जाता है[1]।

[2]से काले लोहस्स य विदियादो संगहादु पढमठिदी।
ताहे सुहुमं किट्टिं करेदि तव्विदियतदियादो ॥१७४॥५६५॥

अर्थ—अनन्तरवर्तीकालमें लोभकी द्वितीयकृष्टिमें से प्रथमस्थितिको करता है और उसी कालमें द्वितीय व तृतीय कृष्टिसे सूक्ष्मकृष्टि करता है।

विशेषार्थ—लोभवेदकके प्रथमसंग्रहकृष्टिको अनन्तर प्ररुपित क्रमसे वेदकरके पश्चात् अनन्तरसमयमें लोभवेदककालके द्वितीयत्रिभागके प्रथमसमयमें द्वितीयस्थितिमें स्थित लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे से प्रदेशाग्र अपकर्षित करके उदयादिगुणश्रेणीरूपसे द्वितीयकृष्टिवेदककालसे आवलिअधिकप्रमाणवाली प्रथमस्थितिको उत्पन्न करता है। इसप्रकार प्रथमस्थितिको करके द्वितीय त्रिभागके प्रथमसमयमें लोभकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिका वेदक द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें से असंख्यातवेभागप्रमाण प्रदेशाग्रको अप-कर्षित करके सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंको करता है। यदि द्वितीयत्रिभागमें सूक्ष्मसाम्प-रायिककृष्टियोको नहीं करे तो तृतीयभागमें सूक्ष्मकृष्टिके वेदकरूपसे परिणमन नहीं हो सकता। यदि कहा जावे कि तृतीयत्रिभागसे सूक्ष्मकृष्टिवेदककालमें सूक्ष्मसाम्परायिक-कृष्टियोंको करलेगा तो ऐसी शंका भी ठीक नही, क्योंकि सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमन किये विना अपने स्वरूपसे उदयमें आनेसे सूक्ष्मसाम्परायिक परिणामोंकी अनुपलब्धि होती है। सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिका लक्षण इसप्रकार है—संज्वलनलोभकषायके अनुभागको बादरसाम्परायिककृष्टियोंसे भी अनन्तगुणित हानिरूपसे परिणमित करके अत्यन्तसूक्ष्म या मन्द अनुभागरूपसे अवस्थित करनेको सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि कहते है। सर्वजघन्य-बादरकृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिका भी अनुभाग अनंतगुणाहीन होता है[3]।

[4]लोहस्स तदियसंगहकिट्टीए हेट्ठदो अवट्ठाणं।
सुहुमाणं किट्टीणं कोहस्स य पढमकिट्टिणिभा॥१७५॥५६६॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६३-६४।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६२ सूत्र १२३३-३४। धवल पु० ६ पृष्ठ ६६६।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २१६४-६५।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६२ सूत्र १२३६-३७। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६६-६७।

अर्थ—उन सूक्ष्मकृष्टियोंका अवस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे है तथा वे सूक्ष्मकृष्टियां क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके समान होती हैं।

विशेषार्थ— सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंका अवस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे है, क्योंकि अनन्तगुणितहीन अनुभागसे परिणमित की गई हैं। ये सूक्ष्मकृष्टियां संज्वलनक्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके समान ही हैं। जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि शेष संग्रहकृष्टियोंके आयामको देखते हुए अपने आयामसे द्रव्यमाहात्म्यकी अपेक्षा असख्यातगुणी थी वैसे ही ये सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियां भी क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिके बिना शेषसंग्रहकृष्टियोंके कृष्टिकरणकालमे समुपलब्ध आयामसे संख्यातगुणे आयामवाली जानना चाहिए, क्योकि मोहनीयकर्मका सर्वद्रव्य इसके आधाररूपसे ही परिणमन करनेवाला है अथवा जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि अपूर्वस्पर्धकोंके अधस्तनभागमे अनन्तगुणीहीन की गई थी वैसे ही यह सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि भी लोभकी तृतीयबादरकृष्टिके अधस्तनभागमें अनन्तगुणीहीन की जाती है अथवा जिसप्रकार क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि जघन्यकृष्टिसे लगाकर उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणी होती गई थी, उसीप्रकार यह सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि भी अपनी जघन्यकृष्टिसे लेकर उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणी होती जाती है। इसीलिए किसी भी कृष्टिके साथ सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकी समानता न बताकर क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके साथ बतलाई गई है[1]।

[2]कोहस्स पढमकिट्टी कोहे छुद्धे दु माणपढमं च।
माणे छुद्धे मायापढमं मायाए संछुद्धे ॥१७६॥५६७॥
लोहस्स पढमकिट्टी आदिमसमयकदसुहुमकिट्टीय।
अहियकमा पंचपदा सगसंखेज्जदिमभागेण॥१७७॥जुम्मं॥५६८॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां सबसे कम हैं (क्योंकि उनके आयामका प्रमाण $\frac{१३}{२४}$ है।) क्रोधके संक्रमित होनेपर अर्थात् क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिको मानकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें प्रक्षिप्त करनेपर मानकी प्रथमसग्रहकृष्टिकी अन्तर-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६६।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६३ सूत्र १२४८ से १२५३। धवल पु० ६ पृष्ठ ३६७-६८।

कृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योकि उनका प्रमाण $\frac{१६}{२४}$ है।) मानके संक्रमित होनेपर मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योकि उनका प्रमाण $\frac{१९}{२४}$ है।) मायाके सक्रमित होनेपर लोभकी प्रथमसग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तरकृष्टियां विशेष-अधिक हैं (क्योकि उनका प्रमाण $\frac{२२}{२४}$ है।) प्रथमसमयमें की गई सूक्ष्मसाम्परायिक-कृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योकि उनका प्रमाण $\frac{२४}{२४}$ है।) इसप्रकार चारकषाय और पांचवी सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि अपनेसे अनन्तरपूर्वसे सख्यातवेंभागअधिक क्रमवाले हैं।

विशेषार्थ—इस उपर्युक्त अल्पबहुत्वमें क्रोधआदि कषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टि-सम्बन्धी अन्तरकृष्टियोंकी हीनाधिकता बतलानेके लिए जो अङ्कसन्दृष्टि दी गई है, उसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रदेशबन्धकी अपेक्षा आये हुए समयप्रबद्धके द्रव्यका जो पृथक्-पृथक् कर्मोंमे विभाग होता है उसके अनुसार मोहनीयकर्मके हिस्सेमे जो द्रव्य आता है उसका दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयमें विभाग होता है। चारित्रमोहनीयका द्रव्य अवान्तरप्रकृतियोमे विभाग होता है। प्रथमगुणस्थानके पश्चात् मोहनीयकर्मका सर्वद्रव्य चारित्रमोहनीयको मिलता है उसका आधाभाग ($\frac{१}{२}$) नोकषायको और आधा-भाग ($\frac{१}{२}$) चारकषायोंको मिलता है। इसप्रकार संयमीकेमात्र संज्वलनका बन्ध होनेसे संज्वलनक्रोधको आधेका चौथाई भाग ($\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}$) अर्थात् मोहनीयकर्मका आठवांभाग मिलता है। पुनः यह आठवांभाग भी क्रोधकी तीनों संग्रहकृष्टियोंमें विभक्त होता है, अतएव क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिका द्रव्य मोहनीयकर्मके सकलद्रव्यकी अपेक्षा ($\frac{१}{८}\times\frac{१}{३}$) चौवीसवांभाग है। नोकषायका सत्त्वरूपसे अवस्थित सर्वद्रव्य ($\frac{१}{२}$) भी क्रोधकी प्रथम-संग्रहकृष्टिमे पाया जाता है, उसके साथ इसका द्रव्य मिलनेपर ($\frac{१}{२}+\frac{१}{२४}$) $\frac{१३}{२४}$ भाग हो जाता है अतः क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण भी उतना ही ($\frac{१३}{२४}$) है। जो उपरिमपदकी अपेक्षा सबसे कम है। $\frac{१३}{२४}$ भाग प्रमाणवाली क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टि जिससमय क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे सक्रमित होती है उससमय द्वितीयसंग्रह-कृष्टिकी अन्तरकृष्टियोका प्रमाण $\frac{१४}{२४}$ हो जाता है। पुनः क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण हो जानेपर उसका प्रमाण ($\frac{१४}{२४}+\frac{१}{२४}$) $\frac{१५}{२४}$ हो जाता है, पुनश्च क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टि जब मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें सक्रान्त होती है तब उसका प्रमाण ($\frac{१}{२४}+\frac{१५}{२४}$) $\frac{१६}{२४}$ हो जाता है। इसप्रकार $\frac{१३}{२४}$ भाग प्रमाणवाली क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका प्रमाण $\frac{१६}{२४}$ विशेषअधिक है, क्योकि इसमें $\frac{३}{२४}$ और अधिक मिल गया है। मानकी तीनों संग्रहकृष्टियोका द्रव्य पूर्वोक्त

प्रकारसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रान्त होनेपर उसकी विशेषकृष्टियोंका प्रमाण $\left(\frac{१६}{२४}+\frac{३}{२४}\right) \frac{१९}{२४}$ हो जाता है, जो विशेषअधिक है। मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें मानकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टियोके $\frac{१}{२४}$, $\frac{१}{२४}$ भाग तथा मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिका $\frac{१}{२४}$ भाग, इसप्रकार $\frac{३}{२४}$ और मिल जानेसे मायाकी प्रथम-संग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तरकृष्टियोका प्रमाण विशेष अधिक सिद्ध हो जाता है। मायाका लोभमे संक्रमण होनेपर लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका प्रमाण विशेषअधिक अर्थात् $\frac{२२}{२४}$ भाग हो जाता है, क्योकि उसमे मायाकी द्वितीय-तृतीयसग्रहकृष्टियोका $\frac{१}{२४}$, $\frac{१}{२४}$ भाग तथा स्वयंका $\frac{१}{२४}$ भाग, ऐसे $\frac{३}{२४}$ भाग और अधिक बढ़ जानेसे $\left(\frac{१९}{२४}+\frac{३}{२४}\right) \frac{२२}{२४}$ भाग अन्तर-कृष्टियोंका प्रमाण हो जाता है। जो सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियां प्रथमसमयमे की जाती हैं उनका प्रमाण विशेषअधिक अर्थात् $\frac{२४}{२४}$ भाग प्रमाण हो जाता है, क्योंकि उसमें लोभ-की द्वितीय-तृयीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी $\left(\frac{२}{२४}\right)$ भाग मिल जानेसे $\left(\frac{२२}{२४}+\frac{२}{२४}\right) \frac{२४}{२४}$ हो जाता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर अधिक होनेवाले इस विशेषका प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रमाणके संख्यातवेभागप्रमाण सिद्ध हो जाता है[1]।

[2]सुहुमाओ किट्टीओ पडिसमयमसंखगुणविहीणाओ।
दव्वमसंखेज्जगुणं विदियस्स य लोहचरिमोत्ति ॥१७८॥५६९॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टियां प्रतिसमय असंख्यातगुणे हीनक्रमसे की जाती हैं तथा द्वितीयसमयसे लोभकषायके चरमसमयतक द्रव्य असख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है।

विशेषार्थ—प्रथमसमयमे जो सूक्ष्मकृष्टियां की जाती हैं वे बहुत हैं, द्वितीय-समयमें जो कृष्टियां की जाती है वे असंख्यातगुणीहीन होती हैं। इसप्रकार अन्तरोप-निधारूप श्रेणीकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्तप्रमाण सम्पूर्ण सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकरणके कालमें अपूर्वसूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियां असख्यातगुणीहीन श्रेणीके क्रमसे की जाती हैं। प्रथम समयमें सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोके भीतर जो प्रदेशाग्र दिया जाता है वह स्तोक है, द्वितीयसमयमें दिये जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है। इसप्रकार प्रतिसमय अनन्त-

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१९६-९७।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६४-६५ सूत्र १२४४ से १२४९। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९८।

गुणी विशुद्धि बढ़नेसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकालके चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र दिया जाता है[1]।

[2]दव्वं पढमे समये देदि हु सुहुमेसणंतभागूणं।
थूलपढमे असंखगुणूणं तत्तो अणंतभागूणं ॥१७९॥५७०॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टिकरणकालके प्रथमसमयमें सूक्ष्मकृष्टिकी जघन्यकृष्टिसे उत्कृष्ट सूक्ष्मकृष्टिपर्यन्त अनन्तभाग-अनन्तभाग घटते हुए क्रमसहित द्रव्य दिया जाता है तदनन्तर जघन्यबादरकृष्टिमें असंख्यातगुणा घटता द्रव्य दिया जाता है उसके पश्चात् अनन्तगुणे घटते क्रमसे द्रव्य दिया जाता है।

विशेषार्थ—उससमयमें अपकर्षित समस्तद्रव्यके असंख्यातबहुभागका ग्रहण होकर जघन्य सूक्ष्मकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, द्वितीयकृष्टिमें अनन्तवेंभागसे विशेषहीनद्रव्य दिया जाता है, तृतीयकृष्टिमें अनन्तवेंभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसप्रकार अन्तरोपनिधारूप श्रेणिके क्रमसे अन्तिम सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिपर्यन्त विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमें सूक्ष्मसाम्परायअध्वानसे खण्डित बहुभागद्रव्यमे से एकभागप्रमाण द्रव्य दिया जाता है। शेष असंख्यातवेंभाग द्रव्यको बादरकृष्टिअध्वानसे खण्डितकर एकखण्डद्रव्य जघन्यबादरसाम्परायिककृष्टिमें दिया जाता है जो चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमे दिये गए प्रदेशाग्रसे असंख्यातगुणाहीन है अर्थात् चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिसे जघन्यबादरसाम्परायिककृष्टिमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणाहीन है। इसके आगे अन्तिमबादरसाम्परायिककृष्टिपर्यन्त अनन्तवेंभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है[3]।

[4]विदियादिसु समयेसु अपुव्वाओ पुव्वकिट्टि हेट्ठाओ।
पुव्वाणमंतरेसुवि अंतरजणिदा असंखगुणा ॥१८०॥५७१॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१९७-९८।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६ सूत्र १२५० से १२५४। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९८।

३. जय ध० मूल पृष्ठ २१९८-९९।

४. क० पा० सुत्त-पृष्ठ ८६५ सूत्र १२५५ से १२६०। ध० पु० ६ पृष्ठ ३९९।

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें नवीन अपूर्वसूक्ष्मकृष्टिको पूर्वसमयमें की गई सूक्ष्मकृष्टिके नीचे और उनके बीच-बीचमें करता है। इनमें अधस्तनकृष्टियोका प्रमाण स्तोक है और उससे असंख्यातगुणा अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टिकारक द्वितीयसमयमें असंख्यातगुणीहीन अपूर्वसूक्ष्मकृष्टियोको दोस्थानोमे अर्थात् प्रथमसमयमे की गई कृष्टियोंके नीचे और अन्तरालमे करता है। जो कृष्टियां नीचे करता है वे अधस्तन और जिन कृष्टियोंको बीच-बीचमें करता है वे अन्तरकृष्टियां कहलाती हैं। कृष्टियोके नीचे की जानेवाली (अधस्तन) कृष्टियां अल्प है तथा अन्तरालमें की जानेवाली (अन्तर) कृष्टियां उनसे असंख्यातगुणी होती हैं[1]।

[2]दव्वगपढमे सेसे देदि अपुव्वेसणंतभागूणं।
पुव्वापुव्वपवेसे असंखभागूणमहियं च ॥१८१॥५७२॥

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें प्रथमसमयवत् द्रव्य देता है, किन्तु इतनी विशेषता है सूक्ष्मकृष्टिसम्बन्धी द्रव्यको अधस्तन अपूर्वकृष्टियोमें अनन्तवेंभागरूप हीनक्रमसे तथा पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंके प्रवेशमें क्रमशः असख्यातवेंभागहीन व असंख्यातवेंभागप्रमाण अधिक अर्थात् पूर्वकृष्टियोंके प्रवेशमें असंख्यातवेभागहीनरूपसे द्रव्य दिया जाता तथा अपूर्वकृष्टियोंके प्रवेशमें असंख्यातवेंभागप्रमाण अधिकद्रव्य दिया जाता है।

विशेषार्थ—द्वितीयसमयमें जो जघन्यसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि है, उसमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयकृष्टिमे अनन्तवेंभागसे हीन दिया जाता है। इस क्रमसे जाकर प्रथमसमयमे जो जघन्यसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि है उसमें असंख्यातवेंभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है और इसके आगे निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टि जबतक प्राप्त नही होती तबतक अनन्तवेभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है तथा अपूर्वनिर्वर्त्यमानकृष्टिमें असंख्यातवेभागअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है। इससे आगे उत्तरोत्तर प्रतिपद्यमान प्रदेशाग्रका अनन्तवांभागरूप हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। द्वितीयसमयमें दिये जावे-

---

१ जयधवल मूल पृष्ठ २१९९।

२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६५-६६ सूत्र १२६१ से १२६९। धवल पु० ६ पृष्ठ ३९९।

वाले प्रदेशाग्रकी जो विधि पहले कही गई है वही विधि शेष समयोंमे जानना चाहिए और यह क्रम बादरसाम्परायिककृष्टिके चरमसमयतक ले जाना चाहिए[1]।

[2]पढमादिसु दिस्सकमं सुहुमेसु अणंतभागहीणकमं ।
बादरकिट्टिपदेसो असंखगुणिदं तदो हीणं ॥१८२॥५७३॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारकके प्रथमसमयमे दृश्यमानक्रम सूक्ष्मकृष्टियोंमें अनन्तवेभागहीनरूपसे घटता हुआ द्रव्य है, उसके अनन्तर बादरकृष्टिमें असख्यातगुणा तथा उसके पश्चात् अनन्तवेंभागहोन द्रव्य है ।

विशेषार्थ—बादरकृष्टियोके द्रव्यका असख्यातवांभाग अपकर्षण करके सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारक कृष्टियोमें दृश्यमान प्रदेशाग्र प्रथमसमयमें इसप्रकार है—जघन्यसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमे दृश्यमाव प्रदेशाग्र बहुत है, इससे आगे चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टितक प्रत्येककृष्टिमे दृश्यमानद्रव्य पूर्वकृष्टिसे अनन्तवेंभागहीन है अर्थात् एक-एक चय घटता है। चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिके अनन्तर ऊपर तृतोयबादरसंग्रहकृष्टिकी जघन्यबादरसाम्परायिककृष्टिमें प्रदेशाग्र असख्यातगुणे हैं, क्योकि बादरकृष्टियोके असंख्यातवेभाग प्रदेशाग्रोका अपकर्षण होकर सूक्ष्मकृष्टियोकी रचना हुई है अतः सूक्ष्मकृष्टिप्रदेशाग्रकी अपेक्षा बादरकृष्टिमे दृश्यमानप्रदेशाग्र असख्यातगुणे हैं। उसके पश्चात् प्रत्येक बादरकृष्टिमे अनन्तवेंभाग-अनन्तवेंमागहीन होता गया है अर्थात् अन्तरोपनिधामें एक-एक चय घटता गया है। यह श्रेणिप्ररुपणा सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारकके प्रथमसमयसे लेकर चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिककृष्टिपर्यन्त करना चाहिए। प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोमे भी दृश्यमान प्रदेशाग्रकी यही श्रेणिप्ररुपणा है। पूर्वद्रव्य और निक्षिप्तद्रव्यके मिलनेपर दृश्यमानप्रदेशाग्र होता है[3]।

[4]लोहस्सतदियादो सुहुमगदं बिदियदो दु तदियगदं ।
बिदियादो सुहुमगदं दव्वं संखेज्जगुणिदकमं ॥१८३॥५७४॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१९९ से २२०१ तक ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १२७० से १२७५। धवल पु० ६ पृष्ठ ४००।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०१-२२०२।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६७ सूत्र १२७७ से १२७९। ध० पु० ६ पृष्ठ ४००।

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारक लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टियोंमें से असंख्यातवेंभाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके सङ्क्रमणके द्वारा सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि-रूप संक्रमित करता है। इसप्रकार संक्रमण करनेवाला तृतीयबादरसाम्परायिककृष्टिसे अपकर्षणकरके जो प्रदेशाग्र सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिरूप संक्रमण करता है वे प्रदेशाग्र थोड़े हैं, उससे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है, क्योंकि लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्र संख्यातगुणे हैं। लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र तृतीयसंग्रहकृष्टिरूप संक्रमित किये जाते हैं उनसे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे सूक्ष्मसाम्परायिक-रूप संक्रामित होते हैं, क्योंकि लोभके तृतीयसंग्रहकृष्टिआयामसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि-का आयाम संख्यातगुणा है और आयामके अनुसार ही प्रदेशाग्रोंकी संख्याका प्रमाण जानना चाहिए। प्रतिग्राह्यके अल्पबहुत्वके अनुसार 'पडिगेज्झमाण' अर्थात् प्रतिग्राह्य संक्रमणद्रव्यका अल्पबहुत्व कहना चाहिए[1]।

[2]किट्टीवेदगपढमे कोहस्स य विदियदो दु तदियादो।
माणस्स य पढमगदो माणतियादो दु मायपढमगदो ॥१८४॥५७५॥
मायतियादो लोभस्सादिगदो लोभपढमदो विदियं।
तदियं च गदा दव्वा दसपदमहियकमा होंति ॥१८५॥५७६॥
[3]कोहस्स य पढमादो माणादी कोहतदियविदियगदं।
तत्तो संखेज्जगुणं अहियं संखेज्जसंगुणियं ॥१८६॥तियलं॥५७७॥

अर्थ—कृष्टिवेदकके प्रथमसमयमे क्रोधकी द्वितीयकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे सङ्क्रमण होता है वह स्तोक है। क्रोधका तृतीयसंग्रहकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें सङ्क्रमित होता है वह विशेषअधिक है, मानकी प्रथम-संग्रह कृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका सङ्क्रमण होता है,

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०३।

२ क. पा. सुत्त पृष्ठ ८६७-६८ सूत्र १२८० से १२८६। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०१।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६८ सूत्र १२६० से १२६२। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०१-४०२।

मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है, तथा मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक प्रदेशाग्र सक्रमित होते हैं। मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक प्रदेशाग्र संक्रमित होते हैं, मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्र सक्रमित होते हैं, मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमे विशेषअधिक प्रदेशाग्र सक्रमित होते हैं। लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका सक्रमण होता है, लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी तृतीयसग्रहकृष्टि मे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। अधिकक्रमसे द्रव्यका संक्रमण करनेवालेके ये दशस्थान हैं। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथम-सग्रहकृष्टिमे (पूर्वोक्त सक्रमणसे) सख्यातगुणित प्रदेशाग्रका सक्रमण होता है। क्रोधकी ही प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी ही तृतीयसंग्रहकृष्टिमे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। क्रोधकी प्रथमसग्रहकृष्टिसे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमे सख्यातगुणे प्रदेशाग्रका सक्रमण होता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके समाप्त होनेपर अनन्तरसमयमें क्रोधकी प्रथम-संग्रहकृष्टिका अपकर्षण करके उसका वेदन करनेवालेके क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमकृष्टिमें अधःप्रवृत्तसंक्रमणद्वारा संक्रान्त किये जाते हैं वे कहे जानेवाले अन्यसक्रमणद्रव्यकी अपेक्षा स्तोक है। जिस सग्रहकृष्टिका अनुभाग अल्प होगा उसके प्रदेशाग्र बहुत होते हैं। बहुत प्रदेशोमे सक्रमण होनेवाले प्रदेश भी बहुत होते हैं, अतः पूर्वकथित सक्रमणद्रव्यसे यह सक्रमणद्रव्य विशेषअधिक है। पूर्व द्रव्यको पल्यके असंख्यातवे-भागसे खण्डितकर एकखण्डप्रमाण विशेषअधिक हैं। मानकी प्रथमसग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टिमे सक्रमण होनेवाला द्रव्य विशेष अधिक है, क्योकि क्रोधकी तृतीय-कृष्टिकी प्रतिग्रहस्थानरूप मानकी प्रथमकृष्टिकी अपेक्षा मानकी प्रथमकृष्टिकी प्रतिग्रह-स्थानरूप मायाकी प्रथमसग्रहकृष्टि विशेष अधिक है। आधार विशेषअधिक होनेके कारण अधिकप्रदेशोका सक्रमण होता है। यहांपर विशेषअधिक प्रमाणका प्रतिभाग आवलिका असख्यातवाभाग है इससे आगेके स्थानोमे सत्त्वकर्मके अनुसार ही विशेष-अधिक संक्रमण होता है और सर्वत्र अध.प्रवृत्तसक्रमणभागहार है।

शङ्का—क्रोध मान व मायाकी संग्रहकृष्टियोका द्रव्य अन्यकषायकी सग्रह-कृष्टियोमें होता है अतः वहांपर अध.प्रवृत्तसक्रमणभागहार होता है अतः यहांपर अपकर्षणभागहार होना चाहिए जो अधःप्रवृत्तसक्रमणभागहार असख्यातगुणाहीन है?

समाधान--ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परिणामोंके माहात्म्यसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके संक्रमणमें भी भागहारमें हानि नहीं हुई है। लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेवाले प्रदेशाग्रका प्रतिग्रहस्थान लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि है जो अल्प है और लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेवाले प्रदेशाग्रकी प्रतिग्रहस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि है जो विशेषअधिक है। प्रतिग्रहस्थानमें अधिकता होनेसे उनका विषयभूत संक्रमणद्रव्य भी विशेषअधिक हो जाता है[1]।

लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे जितने प्रदेशाग्र लोभकी तृतीयकृष्टिमें संक्रमण किये जाते हैं उससे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित किये जाते हैं, क्योंकि लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशाग्रसत्त्व १३ गुणा है। इसलिये प्रदेशसंक्रमण संख्यातगुणा है। उससे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशसंक्रमण विशेषअधिक है, क्योंकि पूर्व प्रतिग्रह स्थानसे क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिरूप प्रतिग्रहस्थान विशेषअधिक है। अतः प्रदेशसंक्रमण भी विशेषअधिक है। उससे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण होनेवाले प्रदेशाग्र संख्यातगुणे हैं। यद्यपि प्रतिग्रहस्थानस्वरूप क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे अल्प है तथापि वेद्यमान क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे अनन्तर वेद्यमान क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेयोग्य प्रदेशाग्र संख्यातगुणा है। यह बादरकृष्टिसम्बन्धी प्रदेशाग्र यद्यपि अतिक्रान्त हो चुका है तथापि की जानेवाली सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंमें आश्रयभूत मानकर यहां कहा गया है। लोभकी द्वितीयकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रान्त हुए हैं उनसे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र सूक्ष्मकृष्टिरूप होते है ऐसा जो गुणकारका अनुक्रम कहा गया है वह नवीन नही है, किन्तु बादरकृष्टियोंमें भी संख्यातगुणकार का अनुक्रम है यह बतलानेके लिए बादरकृष्टियोंके प्रदेशसंक्रमणके संक्रमणमे अल्पबहुत्वका कथन किया गया है[2]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०३ से २२०५।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२०५-२२०६।

लोहस्स विदियकिट्टिं वेदयमाणस्स जाव पढमठिदी ।
आवलितियमवसेसं आगच्छदि विदियदो तदियं ॥१८७॥५७८॥

अर्थ—इसप्रकार लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिको वेदते हुए जीवके द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमे तीनआवलीप्रमाणकाल शेष रहने तक द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमे द्रव्य संक्रमणरूप होकर प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें विश्रमणावलि, संक्रमणावलि व उच्छिष्टावलि ये तीनो अवशिष्ट रहनेतक लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमे दिया जाता है, क्योंकि तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित हुआ द्रव्य विश्रमणावलि पर्यन्त वही विश्राम करता है पश्चात् संक्रमणावलिमें सूक्ष्मकृष्टिरूप होकर संक्रमण करता है तब उच्छिष्टावलिमात्र प्रथमस्थिति अवशेष रह जावे उससे तीन आवलि अवशेष रहनेतक द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होता है तथा उसके ऊपर द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यमें अपकर्षणभागहारका भाग देकर एकभागप्रमाण द्रव्यका संक्रमणद्वारा सूक्ष्मकृष्टिमे ही संक्रमण करता है । यह क्रम जबतक दो आवलिप्रमाण काल अवशेष रहे तबतक जानना, वही आगाल व प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति होती है । आनुपूर्वीसंक्रमणके कारण तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीयकृष्टिमे न आवेसे आगाल नही होता मात्र प्रत्यागाल ही होता है तथा समयकम आवलिप्रमाण निषेकोंको अधोगलनरूप क्रमसे भोगकर समयाधिक आवलि अवशेष रखता है ।

तत्तो सुहमं गच्छदि समयाहियआवलीयसेसाए ।
सव्वं तदियं सुहुमे णव उच्छिट्ठं विहाय विदियं च ॥१८८॥५७९॥

अर्थ—बादरलोभकी प्रथमस्थितिमे एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका सर्वद्रव्य सूक्ष्मकृष्टिरूप संक्रमण कर जाता है । नवकसमयप्रबद्ध व उच्छिष्टावलिके द्रव्यको छोड़कर लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका शेषद्रव्य भी सूक्ष्मकृष्टिरूप संक्रमण कर जाता है ।

विशेषार्थ—इसक्रमसे लोभकी द्वितीयकृष्टिको वेदन करनेवालेके जो प्रथमस्थिति है उस प्रथमस्थितिमे जब एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रह जाता है उस

समयमें वह चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिक होता है, उसी समयमें अर्थात् अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके चरमसमयमें लोभकी संक्रम्यमाण (जिसका पूर्वसे यथाक्रम सक्रमण हो रहा था) चरम (तृतीय) बादरकृष्टि सामस्त्यरूपसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंमें सक्रांत हो जाती है। यह कथन उत्पादानुच्छेदकी अपेक्षा है, क्योंकि उससमय वह बादरसाम्परायिक है, अन्यथा सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमें बादरसाम्परायिककृष्टिद्रव्यका सामस्त्यरूपसे सूक्ष्मकृष्टिमें संक्रमण देखा जाता है। उससमय मात्र लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यका ही संक्रमण नहीं होता, किन्तु लोभकी द्वितीयसग्रहकृष्टिके भी एकसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्धको तथा उदयावलिमें प्रविष्टद्रव्यको छोड़कर द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी सक्रम्यमाण शेष अन्तरकृष्टियां सक्रमणको प्राप्त हो जाती है[1]।

[2]लोहस्स तिघादीणं, ताहे अघादीतियाण ठिदिबंधो।
अंतो दु मुहुत्तस्स य दिवसस्स य होदि वरिसस्स ॥१८९॥५८०॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें संज्वलनलोभका जघन्यस्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, तीनघातियाकर्मोंका कुछकम एकदिन तथा तीन अघातियाकर्मोंका कुछकम १ वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें लोभसंज्वलनका जघन्यस्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाणवाला होता है और उसीसमय मोहनीयकर्मकी बधव्युच्छित्ति होती है, क्योंकि उसके ऊपर मोहनीयकर्मके बन्धमें कारणभूत परिणामोंका अभाव है। तीव घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पहले दिवसपृथक्त्वप्रमाण होता था जो घटकर कुछकम एकदिन-रात प्रमाण रह गया। नाम, गोत्र व वेदनीय, इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षसे घटकर अन्तःवर्ष अर्थात् कुछकम एकवर्ष प्रमाण रह जाता है[3]।

[4]ताणं पुण ठिदिसंतं कमेण अंतोमुहुत्तयं होदि।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि असंखवस्साणि ॥१९०॥५८१॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०७।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६९ सूत्र १२९८-१३००। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०२-४०३।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०७-२२०८।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६८ सूत्र १३०१-१३०३। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०३।

अर्थ—अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके चरमसमयमें स्थितिसत्त्व क्रमसे लोभका अन्तर्मुहूर्त, तीन-घातियाकर्मोंका यथायोग्य संख्यातहजारवर्ष और तीन अघातियाकर्मोंका यथायोग्य असंख्यातवर्षप्रमाण है[1]।

सूक्ष्मसाम्परायका कथन—

[2]से काले सुहुमगुणं पडिवज्जदि सुहुमकिट्टिठिदिखंडं।
आणायदि तद्दव्वं उक्कट्टिय कुणदि गुणसेढि ॥१६१॥५८२॥

अर्थ—बादरकृष्टिवेद्यमानकाल समाप्त होनेके अनन्तरसमयमें सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानको प्राप्त होता है वहाँपर सूक्ष्मकृष्टियोंका स्थितिकाण्डकघात करता है और लोभके सूक्ष्मकृष्टिद्रव्यका अपकर्षणकरके गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता है।

विशेषार्थ—बादरकृष्टिवेदनके अन्तिमसमयसे अनंतरवर्तीसमयमे सूक्ष्मकृष्टियोंका अपकर्षण करके वेदन करनेवाला उसीसमय सूक्ष्मसाम्परायिकभावोसे परिणत होकर प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानवाला हो जाता है। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके उसी प्रथमसमयमे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिके संख्यातवेंभागप्रमाणस्थितिकाण्डकायाम होता है। मोहनीयकर्मके सूक्ष्मकृष्टिअनुगत अनुभागका पूर्ववत् अपवर्तनाघात करता है। ज्ञानावरणादि कर्मोका भी पूर्ववत् स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघात करता है तथा अपकर्षितप्रदेशाग्रके असंख्यातवेभागकी गुणश्रेणी करता हुआ प्रथमसमयमे थोड़ा द्रव्य देता है जिसका प्रमाण असंख्यातसमयप्रबद्ध है, उससे ऊपर गुणश्रेणीशीर्षपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है।

सूक्ष्मसाम्परायकृष्टियोमे से असंख्यातवेभागप्रमाण प्रदेशाग्रको अपकर्षणकरके पुनः अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागको पृथक् रखकर असंख्यातवेभागको गुणश्रेणीरूपसे देनेवाला उदयस्थितिमें स्तोकद्रव्य देता है जो असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण है। उदयस्थितिके अनन्तर उपरितनस्थितिमें उससे असंख्यातगुणे द्रव्यको देता है। उससे अनन्तरस्थितिमे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रको देता है। इसप्रकार अनन्तर उत्तरोत्तर स्थितियोमे असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिमें तबतक

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०८।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १३०४-१३०७। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०३।

देता है जबतक गुणश्रेणीशीर्ष प्राप्त नहीं होता। यह गुणश्रेणी आयाम सकल अन्तरायाम-के सख्यातवेंभागप्रमाण है, तथापि सूक्ष्मसाम्परायकालसे विशेषअधिक है। विशेषअधिक-का प्रमाण सूक्ष्मसाम्परायके संख्यातवेंभाग है। ज्ञानावरणादिका गलितावशेष गुणश्रेणी-आयाम भी इतना है। अपकर्षित प्रदेशाग्रका असख्यातबहुभाग जो पृथक् रखा था वह गुणश्रेणीसे उपरिमस्थितियोमे दिया जाता है[1]।

[2]गुणसेढि अंतरट्ठिदि विदियट्ठिदि इदि हवंति पव्वतिया।
सुहुमगुणादो अहिया अवट्ठिदुदयादि गुणसेढी ॥१६२॥५८३॥

अर्थ—गुणश्रेणि, अन्तरस्थिति और द्वितीयस्थिति ये तीन पर्व होते हैं। सूक्ष्म-साम्परायगुणस्थानके कालसे उदयादि अवस्थित गुणश्रेणिका आयाम अधिक है।

विशेषार्थ— गुणश्रेणि, अन्तरस्थिति व द्वितीयस्थिति इन तीनों पर्वोंमें अप-कर्षितद्रव्यका विभाजन किया जाता है। जबतक अपकर्षितद्रव्य असंख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है वह गुणश्रेणी कहलाती है, उसके ऊपरवर्ती जिन निषेकोंका पहले अभाव किया था उनके प्रमाणरूप अन्तरस्थिति है तथा उससे ऊपरवर्ती अवशिष्ट सर्वस्थितिको द्वितीयस्थिति कहते हैं। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उससे विशेष-अधिक अर्थात् सख्यातवेंभागअधिक गुणश्रेणी आयाम है। ज्ञानावरणादि कर्मोंकी भी गलितावशेषगुणश्रेणि निक्षेपका आयाम सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके कालसे अन्तर्मुहूर्त-अधिक, क्योकि इसमें क्षीणकषायगुणस्थानका काल भी गर्भित है[3]।

[4]ओक्कट्टदिइगिभागं गुणसेढीए असंखबहुभागं।
अंतरहिद विदियठिदी संखसलागा हि अवरहिया॥१६३॥५८४॥
गुणिय चउरादिखंडे अंतरसयलट्ठिदिम्हि णिक्खिवदि।
सेसबहुभागमावलिहीणे बितियट्ठिदीएहु ॥१६४॥५८५॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०८-२२०६।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १३०८।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०६।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६-७० सूत्र १३०६-१३१२।

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यका असख्यातवां एकभाग गुणश्रेणि आयाममें दिया जाता है और शेष असंख्यातबहुभाग अन्तरस्थिति व द्वितीयस्थितिमें दिया जाता है। अन्तर-स्थितिसे द्वितीयस्थितिको भाग देनेसे जो संख्यातशलाकारूप लब्ध प्राप्त हो उसका भाग असंख्यातबहुभाग द्रव्यमे देनेसे जो प्राप्त हो उसका चतुरादि खण्डमें गुणा करनेपर जो द्रव्य प्राप्त हो वह द्रव्य समस्त अन्तरस्थितियोमे निक्षिप्त किया जाता है और शेष बहु-भाग अतिस्थापनावलिहीन द्वितीय स्थितियोमे दिया जाता है। (नोट—यहां जो 'चतुरादि' सख्या दी गई है वह अङ्कसन्दृष्टिकी अपेक्षासे है।)

विशेषार्थ—सूक्ष्मकृष्टियोके द्वारा यद्यपि अन्तर भर दिया जाता है अर्थात् पूर्ण कर दिया जाता है और एकरूप हो जाती है, तथापि अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके चरमसमयकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीयस्थितिका भेद करके अन्तरका कथन किया गया है। अन्तरस्थितियोमें अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागका संख्यातवां एकभाग दिया जाता है या संख्यातबहुभाग दिया जाता है इससम्बन्धमे दो मत हैं। इन गाथाओंके अनुसार असंख्यातवाभाग दिया गया है, किन्तु जयधवल मूल पृष्ठ २२०६ के अनुसार अन्तरस्थितियोमे सख्यातबहुभाग दिया जाता है। जयधवल मूल पृष्ठ २२१० पर इन दोनोमतोंका उल्लेख कर दिया गया है। क्षपणासार बड़ीटोका (शास्त्राकार) पृ० ६६७ पर जो अङ्कसन्दृष्टिआदि दी गई है उसका समर्थन जयधवल मूल (चारित्रक्षपणा-धिकार) आर्षग्रन्थसे नही होता अतः यहां नही दी गई। द्वितीयस्थितिमे एक गोपुच्छ-हीन क्रमसे प्रदेशाग्र तबतक दिये जाते हैं जबतक एकसमयअधिक अतिस्थापनावली शेष रह जाती है। अतिस्थापनावलीमें द्रव्य नही दिया जाता[1]।

[2]अंतरपढमठिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिज्जदि हु।
हीणकमं संखेज्जगुणूणं हीणक्कमं तत्तो ॥१६५॥५८६॥

अर्थ—अन्तरायामकी प्रथमस्थिति पर्यन्त तो असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है और उसके ऊपर हीनक्रमसे (गोपुच्छ विशेषहीन) द्रव्य दिया जाता है। उसके पश्चात् सख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है।

---

१. जयधवल मूल पत्र २२०६–२२१०।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७० सूत्र १३१३–१३१४।

विशेषार्थ—यह कथन द्वितीयादि समयोंकी अपेक्षा है, क्योंकि प्रथमसमयका कथन गाथा १९२ में किया जा चुका है। उदयस्थितिसे लेकर गुणश्रेणिआयाममें असंख्यातगुणित क्रमसे प्रदेशाग्र दिया जाता है और गुणश्रेणीशीर्षसे असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अन्तरायामकी प्रथमस्थितिमें दिया जाता है। इस कथनको स्मरण करानेके लिए गाथामें कहा गया है कि अन्तरायामकी प्रथमस्थिततक असंख्यातगुणितक्रमसे द्रव्य दिया जाता है, उससे अनन्तरवर्ती स्थितिसे लेकर अन्तरायामकी अन्तिम-स्थिततक एक गोपुच्छविशेषसे हीन द्रव्य दिया जाता है। इसप्रकारसे अन्तरायाम-स्थितियोंमें प्रदेश विन्यास होता है। अन्तरायामको चरमस्थितिके अनन्तरवर्तीस्थितिमें (जो कि पूर्वमें की गई द्वितीयस्थितिमें आदिस्थिति है) संख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है अर्थात् जहांपर अन्तरायामकी अन्तिमस्थितिकी और द्वितीयस्थितिसम्बन्धी आदिस्थितिको सधि होती है वहां संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है। अन्तरायामकी स्थितियोंमें अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागका संख्यातवांभाग या संख्यातबहुभाग दिया जावे, किन्तु द्वितीयस्थितिसम्बन्धी स्थितियोंमें से आदिस्थितिमें संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है, क्योंकि अन्तरायामस्थितियोंकी अपेक्षा द्वितीयस्थितिकी स्थितियां असंख्यातगुणी हैं। उसके अनन्तरवर्तीस्थितियोमें गोपुच्छविशेषहीन द्रव्य अपनी अति-स्थापनावलीतक दिया जाता है। जितना द्रव्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें अपकर्षित किया गया था उससे असंख्यातगुणे द्रव्यका द्वितीयसमयमे अपकर्षण होता है उसमें से उदयस्थितिमे स्तोक द्रव्य तथा द्वितीयस्थितिमें उससे (उदयस्थितिसे) असंख्यात-गुणा द्रव्य दिया जाता है। प्रथमसमयके गुणश्रेणिशीर्षसे ऊपर अनन्तरस्थिततक इसी असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है, क्योंकि यहांपर मोहनीयकर्मका अवस्थितगुण-श्रेणिआयाम है। द्वितीयसमयके गुणश्रेणीशीर्षसे अनन्तरउपरिम एकस्थितिमे भी असंख्यातगुणा द्रव्य दिया जाता है, उसके पश्चात् अन्तरायामकी चरमस्थिततक विशेष-हीन-विशेषहीन द्रव्य दिया जाता है। इसके अनन्तर द्वितीयस्थितिकी स्थितियोंमें से प्रथम-स्थितिमें संख्यातगुणाहीन प्रदेशपिण्ड दिया जाता है, उसके आगे अनन्तरवर्तीस्थितिसे लेकर जिसस्थितिमेंसे प्रदेशाग्र अपकर्षण किया गया था उससे एक आवलि नीचे तक असंख्यातगुणेहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है। इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें प्रदेशाग्रका अपकर्षण व निःसिचन होता है। द्वितीयस्थितिके समस्तद्रव्यका संख्यातवांभाग प्रथम-स्थितिकाण्डककी चरमफालिके लिए अपकर्षित होता है जो पूर्वोक्त विधिके अनुसार

दिया जाता है। चरमफालिके पतन होनेपर गुणश्रेणिके बिना सूक्ष्मसाम्परायिक स्थितियोंका द्रव्य एकगोपुच्छाकार रूप हो जाता है। प्रथमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके पतन होनेके अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिकाण्डकका प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु इसका आयाम प्रथमस्थितिकाण्डकायामसे स्तोक है। द्वितीयस्थितिकाण्डकसे अपकर्षण करके जो प्रदेशाग्र उदयस्थितिमें दिया जाता है वह अल्प है इससे आगे असंख्यातगुणीश्रेणिके क्रमसे गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तरउपरिम एकस्थितितक द्रव्य दिया जाता है, उससे आगे गोपुच्छविशेषसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। यही क्रम सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानके मोहनीयकर्मके स्थितिघात होनेतक रहता है[1]।

[2]अंतरपढमठिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिस्सदि हु।
हीणकमेण असंखेज्जेण गुणं तो विहीणकमं ॥१६६॥५८७॥

अर्थ—अन्तरकी प्रथमस्थितिपर्यन्त प्रदेशाग्र असख्यातगुणे क्रमसे दिखाई देते हैं, इससे आगे चरमअन्तरस्थितितक विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, तदनन्तर असख्यातगुणे और तत्पश्चात् विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायके दृश्यमान प्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररुपणा बतलाई गई है। प्रथमसमयमें सूक्ष्मसाम्परायकी उदयस्थितिमें अल्प प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, द्वितीयस्थितिमे असख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं। इसप्रकार यह असंख्यातगुणाक्रम गुणश्रेणीशीर्षतक जानना तथा उससे आगे चरमअन्तरस्थितितक विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिखाई देता है। तदनन्तर असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, तत्पश्चात् विशेषहीन प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं। यह क्रम तबतक रहेगा जबतक कि कि प्रथमस्थितिकाण्डकके समाप्त होनेका चरमसमय प्राप्त नही होता[3]।

कंडयगुणचरिमठिदी सविसेसा चरिमफालिया तस्स।
संखेज्जभागमंतरठिदिम्हि सव्वे तु वहुभागं ॥१६७॥५८८॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०६ से २२१३ तक।

२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७०-७१ सूत्र १३१६ से १३२५। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०४।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१३-२२१४।

अर्थ—चरमस्थितिको काण्डकायामसे गुणाकरके उसमें विशेष (चय) द्रव्य मिलानेसे चरमफालिका द्रव्य होता है उसका संख्यातवांभाग अन्तरस्थितियोंमें देता है और बहुभाग सर्वस्थितियोंमें देता है।

विशेषार्थ—द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें एककम द्वितीयस्थितिआयामप्रमाण विशेष घटानेपर उसके चरमनिषेकका द्रव्य होता है, उससे लेकर नीचेके काण्डकायामात्र निषेकोंका द्रव्य अन्तिमफालिमें ग्रहण करता है उससे उस अन्तिमनिषेकके द्रव्यको काण्डकायामसे गुणा करनेपर वहां अधस्तन निषेकमें जो विशेषअधिक पाया जाता है उनको मिलानेपर अन्तिमफालिके सर्वद्रव्यका प्रमाण होता है इसमें अधस्तन निषेकोंका अपकर्षण किये हुए द्रव्यको जोड़नेपर जो द्रव्य होता है उसको पल्यके असंख्यातवेंभागका भागदेकर एकभागको गुणश्रेणीआयाममें देनेके पश्चात् अवशिष्ट द्रव्यके संख्यातवेंभागको अन्तरायामकी स्थितियोंमें और शेष बहुभागको द्वितीयस्थितिकी स्थितियोंमें गोपुच्छाकाररूपसे एक-एक चयरूप हीन द्रव्य देता है।

अंतरपढमठिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिज्जदि हु।
हीणं तु मोहविदियट्ठिदिखंडयदो दुचरिमोत्ति ॥१६८॥५८६॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें मोहनीयकर्मसम्बन्धी द्वितीयस्थितिकाण्डकघातसे लेकर द्विचरमकाण्डकघातपर्यन्त अन्तरायामकी प्रथमस्थितिपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है तथा उसके ऊपर एक-एक चयरूप हीनद्रव्य दिया जाता है।

विशेषार्थ—मोहकर्मके द्वितीयस्थितिकाण्डकघातसे लेकर द्विचरमकाण्डकघातपर्यन्त काण्डकसे गृहीत स्थितिसे नीचे और उदयावलिसे ऊपर जो निषेक हैं उनके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देकर उसमें से एकभागप्रमाण द्रव्य ग्रहणकरके पुनः उसको पल्यका असंख्यातवेंभागका भागदेकर एकभागको पूर्वोक्तप्रकार गुणश्रेणिआयाममें प्रथमउदयनिषेकमे तो स्तोकद्रव्य तथा द्वितीयादि निषेकोसे गुणश्रेणिशीर्षपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है। अवशिष्ट बहुभागमात्रद्रव्यको गुणश्रेणिसे ऊपरकी स्थितियोंमें दिया जाता है। गुणश्रेणिके ऊपरवर्ती निषेकोमे जो द्रव्य देता है वह गुणश्रेणीशीर्षमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणा है। इसप्रकार अन्तरके प्रथमनिषेक पर्यन्त तो असंख्यातगुणे क्रमसे तथा उसके ऊपर एक-एक विशेष (चय) रूप घटते क्रमसे द्रव्य दिया जाता है। यह क्रम अतिस्थापनावलि प्राप्त होनेतक पाया जाता है। सर्वस्थिति-

काण्डकोंमे जबतक चरमफालि प्राप्त नहीं होती तबतक जो अपकृष्टद्रव्य है वह सम्पूर्ण-द्रव्यका असंख्यातवेंभागमात्र तथा अन्तिमफालिका द्रव्य सर्वद्रव्यके संख्यातवेंभाग-प्रमाण है[1]।

[2]अंतरपढमठिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिस्सदि हु।
हीणं तु मोहविदियट्ठिदिखंडयदो दुघादोत्ति ॥१६६॥५६०॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिकाण्डक निर्लेपित होनेपर द्वितीयस्थिति-काण्डकघातसे द्विचरमकाण्डकघातपर्यन्त दृश्यमान द्रव्य गुणश्रेणिके प्रथमनिषेकमें स्तोक है, उससे गुणश्रेणिशीर्षके ऊपरवर्ती अन्तरायामकी प्रथमस्थितिपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रम-सहित है और उसके ऊपर चरमसमयपर्यन्त विशेष घटते हुए क्रमसे दृश्यमान द्रव्य है, क्योंकि प्रथमकाण्डककी चरमफालिका पतनसमयसे गुणश्रेणीसे ऊपर सर्वस्थितिका एक गोपुच्छ होता है[3]।

पढमगुणसेढिसीसं पुव्विल्लादो असंखसंगुणियं।
उवरिमसमये दिस्सं विसेसअहियं हवे सीसे ॥२००॥५६१॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेके पश्चात् अर्थात् द्वितीयस्थितिकाण्डकके प्रथमसमयमें गुणश्रेणिशीर्ष पूर्वसमयके गुणश्रेणी-शीर्षसे असंख्यातगुणा दिखाई देता है, किन्तु आगे द्वितीयादि समयोमें गुणश्रेणिशीर्ष पूर्व समयवर्ती गुणश्रेणिशीर्षसे अधिक दिखाई देता है[4]।

विशेषार्थ—द्वितीयस्थितिकाण्डकमें अपकर्षितकरके ग्रहण किया गया समस्त-द्रव्य भी मिलकर एकस्थितिके द्रव्यको पल्योपमके असंख्यातवेंभागसे भाजितकरके जो

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२१३ प. ८-१०।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३२६-१७; धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१४।

४. "गुणसेढि दिस्समाण दव्वमेत्तो पाए असखेज्जगुणं ण होदि विसेसाहिय चेव होदि। तत्थ कारण परूवणा जहा दसणमोहक्खवणाए सम्मत्तस्स अट्ठ वस्सट्ठि सतकम्मादो उवरि मग्गिदा तहा चेव मग्गिदूण गेण्हियव्वा।" (जयधवल मूल पृष्ठ २२१५)

एकभाग लब्ध आवे उतना है और वह मोहनीयकर्मके स्थितिसत्कर्मप्रमाण निषेकोंमें अपकर्षणभागहारका भाग देनेपर जो लब्ध आवे तत्प्रमाण है। पुनः उसके भी असंख्यातवें-भागप्रमाण द्रव्यको ही नीचे गुणश्रेणिमें सिंचित करता है। शेष असंख्यातबहुभागको इससमयके गुणश्रेणीशीर्षसे उपरिम गोपुच्छाओमें आगममें प्ररूपितविधिके अनुसार सिंचित करता है। इसकारणसे पहलेके गुणश्रेणिशीर्षसे इससमयका गुणश्रेणिशीर्ष असंख्यातगुणा नही हुआ, किन्तु दृश्यमानद्रव्य विशेषाधिक ही है ऐसा निश्चय करना चाहिए। यहांपर अवस्थित गुणश्रेणिआयाम होनेसे प्रतिसमय ऊपर-ऊपरका निषेक गुण-श्रेणिशीर्ष होता जाता है[1]।

[2]सुहुमद्धादो अहिया गुणसेढी अंतरं तु तत्तो दु।
पढमे खंडं पढमे संतो मोहस्स संखगुणिदकमा ॥२०१॥५६२॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालसे उसीके असंख्यातवें-भागसे अधिक सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका गुणश्रेणीआयाम है, उससे अन्तरायाम संख्यातगुणा, उससे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिकाण्डकायाम सख्यातगुणा तथा उससे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है। सर्वत्र गुणकार तत्प्रायोग्य सख्यातगुणा है[3]।

[4]एदेणप्पाबहुगविधाणेण विदीयखंडयादीसु।
गुणसेढिमुज्झियेया गोपुच्छा होदि सुहुमम्हि ॥२०२॥५६३॥

अर्थ—इस अल्पबहुत्व विधानके द्वारा साम्परायगुणस्थानमें द्वितीयस्थिति-काण्डकोंके कालमें गुणश्रेणिको छोड़कर उसके ऊपरवर्ती सर्वस्थितिका एक गोपुच्छ होता है।

विशेषार्थ—यहां अंतरायामसे प्रथमस्थितिकाण्डकायाम संख्यातगुणा कहा है, उससे प्रथमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके द्रव्यमें अन्तरायाममें देनेयोग्य गोपुच्छरूप

---

१. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ६८।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३३० से १३३५। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०५।
३. जय ध० मूल पृष्ठ २२१४-२२१५।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३२८। ध० पु० ६ पृष्ठ ४०५।

द्रव्यको अंतरायाममें देकर द्वितीयस्थितिके और इस अन्तरायामके एकगोपुच्छ किया जो प्रथमस्थितिकाण्डकायाममे अन्तरायाम बहुत होता तो वहां अन्तरायाम पूर्ण नही होता तव अन्तरस्थितिके और द्वितीयस्थितिके एक गोपुच्छ नही होता। अतः यहां अन्तरायाम से प्रथमस्थितिकाण्डकायाम बहुत कहा है, उससे अन्तरायाम और द्वितीयस्थितिके एकगोपुच्छ प्रथमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके पतनसमयमे ही होता है[1]। जहां विशेष (चय) रूप घटता क्रम होता है वहा गोपुच्छ सज्ञा है।

[2]सुहुमाणं किट्टीणं हेट्ठा अणुदिण्णगा हु थोवाओ।
उवरिं तु विसेसहिया मज्झे उदया असंखगुणा ॥२०३॥५६४॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोके अधस्तनभागमें अनुदीर्णकृष्टियां स्तोक है, उपरिमभागमें अनुदीर्ण सूक्ष्मकृष्टिया विशेषअधिक हैं। मध्यमे उदीर्ण सूक्ष्मकृष्टियां असंख्यातगुणी हैं।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकक्षपकके सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियों के असंख्यातबहुभाग उदीर्ण होते हैं। ये उदीर्णमान सूक्ष्मकृष्टियां ऊपर और नीचेके संख्यातवेंभागको छोड़कर मध्यके बहुभागमें पायी जाती है। अधस्तन अनुदीर्णसूक्ष्मकृष्टिया स्तोक हैं, उपरिम अनुदीर्णसूक्ष्मकृष्टियां विशेषअधिक है, मध्यमें उदीर्णमान सूक्ष्मकृष्टियां असंख्यातगुणी है। जिसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें उदीर्ण और अनुदीर्णकृष्टियोका कथन किया है वैसा ही द्वितीयादि समयोंमें जानना, उसमे कोई विशेषता नही है, किन्तु द्वितीयसमयमे पूर्व उदीर्णमान कृष्टियोके असंख्यातवेंभागको छोड़ देता है और अधस्तन अनुदीर्णकृष्टियां असंख्यातवेंभाग बढ़ जाती है[3]।

[4]सुहुमे संखसहस्से खंडे तीदे वसाणखंडेण।
आगायदि गुणसेढी आगादो संखभागे च ॥२०४॥५६५॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२१४।

२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १३३९ से १३४३। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१७।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १३४४। ध० पु० ६ पृष्ठ ४०६।

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर अन्तिम-स्थितिकाण्डकसे पूर्वगुणश्रेणि आयामके संख्यातवेंभागमात्र आयाममें गुणश्रेणि करता है।

विशेषार्थ:— सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोको ग्रहण करनेवाला, सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमे जो गुणश्रेणिनिक्षेप सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके कालसे विशेषअधिक था उसके सख्यातवेभाग अग्रस्थितियोको घातके लिए ग्रहण करता है अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायकालप्रमाण स्थितियोको छोड़कर शेष जितने भी अधिक निक्षेप थे उन सबको काण्डकरूपसे ग्रहण करता है। मात्र इतनी ही स्थितियोको नही ग्रहण करता, किन्तु गुणश्रेणिशीर्ष (गुणश्रेणिनिक्षेप) से ऊपर सख्यातगुणी स्थितियोंको चरमस्थितिकाण्डकरूपसे ग्रहण करता है, क्योकि उनके ग्रहणबिना गुणश्रेणिशीर्षका काण्डकरूपसे ग्रहण होना असम्भव था। अत: गुणश्रेणिशीर्षके साथ उपरिम अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण संख्यातगुणी स्थितियोका चरमस्थितिकाण्डकमे ग्रहण होता है। चरमस्थिति-काण्डकके प्रथमसमयमे प्रथमफालिके लिए द्रव्यका अपकर्षणकरके उदयस्थितिमें थोड़े प्रदेशाग्रको देता है, उससे अनन्तरस्थितिमे असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र देता है। सूक्ष्मसाम्प-रायगुणस्थानके अन्तिमसमयतक इस असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे निक्षेप होता है वही अब गुणश्रेणीशीर्ष है, उससे ऊपर अनन्तरस्थितिमे असंख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उसके पश्चात् पुरातन गुणश्रेणिशीर्षतक हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। उससे अनन्तर उपरिम एकस्थितिमें असख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उससे आगे चरम-स्थितिसे आवलिकाल पूर्वतक विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है। इसीप्रकार द्वितीयादि फालियोमें भी प्रदेशाग्र देता है। प्रदेशाग्रनिक्षेप यह क्रम चरमस्थितिकाण्डक-की द्विचरमफालिपर्यन्त रहता है। चरमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके द्रव्यको ग्रहण-कर उदयस्थितिमे स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र-को देता है। इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानकी चरमस्थिततक असख्यातगुणी श्रेणि-रूपसे प्रदेशाग्रका निक्षेप करता है। द्विचरमस्थितिमें जितने प्रदेशाग्रका निक्षेप करता है उससे पल्योपमके असंख्यात प्रथमवर्गमूलगुणे (पल्यका प्रथमवर्गमूल×असंख्यात) प्रदेशाग्र को चरमस्थितिमें निक्षिप्त करता है। पूर्वगुणाकार पल्योपमके तत्प्रायोग्य असंख्यातवें-भागप्रमाण है अर्थात् प्रथमस्थितिसे पल्योपमके असंख्यातवेंभागगुणा प्रदेशाग्र द्वितीय-स्थितिमें देता है उससे भी पल्योपमके असंख्यातवेंभागगुणा प्रदेशाग्र तृतीयस्थितिमें देता है। इसप्रकार यह क्रम द्विचरमस्थितितक यह क्रम रहता है अतः द्विचरमस्थितितक

अन्तिमफालिका असंख्यातवेंभागप्रमाण द्रव्य और चरमस्थितिमें शेष बहुभाग प्रदेशाग्र देता है इसीलिये गुणाकार पल्योपमके असंख्यात प्रथमवर्गमूलप्रमाण हो जाता है। इसप्रकार चरमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेपर मोहनीयकर्मको स्थितिघातादि क्रिया नहीं होती, मात्र अधःस्थितिगलनाके द्वारा अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियां निर्जराको प्राप्त होती हैं[1]।

एत्तो सुहुमंतोत्ति य, दिज्जस्स य दिस्समाणगस्स कमो।
सम्मत्तचरिमखंडे, तक्कदिकज्जेवि उत्तं च ॥२०५॥५९६॥

अर्थ—इसप्रकार यहांसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानके चरमसमयपर्यन्त देयद्रव्य और दृश्यमानद्रव्यका क्रम जानना। जैसे क्षायिकसम्यक्त्वविधानमें सम्यक्त्वमोहनीयके चरमस्थितिकाण्डकमे अथवा उसको कृत्यकृत्यावस्थामें (कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्वकी अवस्थामे) कहा था वैसे ही जानना।

विशेषार्थ—यहां मोहनीयकर्मकी सर्वस्थितिमें सूक्ष्मसाम्परायका जितना काल अवशिष्ट रहा उतनेप्रमाण स्थितिबिना अवशेष सर्वस्थितिका घात चरमकाण्डकद्वारा किया जाता है वहां इस काण्डककी स्थितिसम्बन्धी निषेकोंके द्रव्यमें जो द्रव्य अन्तिमकाण्डकोत्कीरणकालके प्रथमसमयमें ग्रहण किया उसको प्रथमकाल कहते हैं। इसीको स्पष्ट करते हैं—

प्रथमफालिके द्रव्यको अपकर्षणकरके उसको पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग देकर उसमे बहुभागमात्र द्रव्यको यहां (प्रथमफालिके पतन समय) सम्बन्धी सूक्ष्मसाम्परायकालके चरमसमयपर्यन्त तो गुणश्रेणिआयामरूप प्रथमपर्वमें देता है। वहां उसके (गुणश्रेणिआयामके) उदयरूप प्रथमनिषेकमे स्तोक उससे द्वितीयादि निषेकोंमे असख्यातगुणेक्रमसे द्रव्य दिया जाता है (यहां सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके चरमसमयको गुणश्रेणीशीर्ष कहते हैं) तथा अवशेष एकभागप्रमाण द्रव्यको पल्यके असंख्यातवेंभागका भागदेकर बहुभागप्रमाण द्रव्य गुणश्रेणीशीर्षसे ऊपर जो गुणश्रेणिआयाम था उसके शीर्षपर्यन्त द्वितीयपर्वमे दिया जाता है, यह द्रव्य गुणश्रेणीशीर्षमे दिये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणा कम है। उसके ऊपर द्वितीयादि निषेकोमे चयरूपसे हीन क्रमयुक्त द्रव्य दिया

---

१ जयधवल मूल पृष्ठ २२१७-१८। जयधवल पु० १३ पृष्ठ ७९।

जाता है तथा अवशेष रहे एकभागप्रमाण द्रव्यको द्वितीयपर्वके ऊपर जो सर्वस्थिति है, उसके अन्तमें अतिस्थापनावलिबिना सर्वनिषेकरूप तृतीयपर्वमें देता है। पुरातन गुणश्रेणिशीर्षमें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातगुणाकम द्रव्य अनन्तरस्थितिमें देता है तथा उसके ऊपर चयरूप हीनक्रमसे द्रव्य देता है। इसप्रकार चरमकाण्डककी प्रथमफालिके पतनसमयमें द्रव्य देनेका विधान कहा है। ऐसा ही विधान चरमकाण्डकको द्विचरमफालिके पतनपर्यन्त जानना चाहिए। अब चरमकाण्डककी अन्तिमफालिमें द्रव्य देनेका विधान कहते हैं—

किंचित्ऊन द्वयर्धगुणहानि (डेढ़गुणहानि) गुणित समयप्रबद्धप्रमाण चरमफालिका द्रव्य है उसको असंख्यातगुणे पल्यके वर्गमूलप्रमाण पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग देकर उसमेंसे एकभागप्रमाण द्रव्यको वर्तमानमें उदयरूप समयसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायके द्विचरमसमयपर्यन्त निषेकरूप प्रथमपर्वमें देता है। वहाँ प्रथमनिषेकमें स्तोक, द्वितीयादिनिषेकोंमें असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य देता है तथा अवशेष बहुभागप्रमाण द्रव्य सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयसम्बन्धी निषेकरूप द्वितीयपर्वमें दिया जाता है। यह द्रव्य द्विचरमसमयमें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातपल्यवर्गमूलसे गुणित जानना[1]। इसप्रकार देयद्रव्यका विधान कहा है, ऐसे ही दृश्यमानद्रव्यका विधान भी यथासम्भव जान लेना चाहिए।

[2]उक्किरणे अवसाणे खंडे मोहस्स णत्थि ठिदिघादो।
ठिदिसत्तं मोहस्स य सुहुमद्धासेसपरिमाणं ॥२०६॥५९७॥

अर्थ—इसप्रकार मोहराजाके मस्तकसदृश लोभके चरमकाण्डकका घात करते हुए अब मोहनीयकर्मका स्थितिघात नहीं होता है। सूक्ष्मसाम्परायका जितनाकाल अवशेष रहा है उतना ही मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व शेष रहा जो कि प्रतिसमय अपवर्तमान सूक्ष्मकृष्टिरूप अनुभागको प्राप्त होता है उसके एक-एक निषेकको एक-एक समयमें भोगते हुए सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयको प्राप्त होता है[3]।

---

१. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ७२ से ८०।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १३४१–४६। धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६–४०७।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१८।

[1]णामदुगे वेदणीये अडबारमुहुत्तयं तिघादीणं ।
अंतोमुहुत्तमेत्तं ठिदिबंधो चरिम सुहमम्हि ॥२०७॥५९८॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें नाम व गोत्रकर्मका आठ मुहूर्तप्रमाण, वेदनीयकर्मका बारह मुहूर्तप्रमाण तथा तीनघातियाकर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

[2] तिण्हं घादीणं ठिदिसंतो अंतोमुहुत्तमेत्तं तु ।
तिण्हमघादीणं ठिदिसंतमसंखेज्जवस्साणि ॥२०८॥५९९॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें तीनघातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण तथा तीन अघातिया (वेदनीय, नाम व गोत्र) कर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है ।

विशेषार्थ—घातियाकर्मोंके स्थितिसत्त्वका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त कहा गया है वह क्षीणकषायगुणस्थानके कालसे संख्यातगुणा है । मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व क्षयके सम्मुख है अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे यद्यपि इस समय विद्यमान है, तथापि उपपादानुच्छेदकी अपेक्षा नष्ट ही हो गया है । इसप्रकार क्षयके सम्मुख लोभकी संग्रहकृष्टिका अनुभव करता है, सो सूक्ष्मसाम्परायचारित्रसे युक्त सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानवर्ती जीव है ऐसा जानना । इसप्रकार कृष्टिवेदनाधिकार पूर्ण हुआ ।

[3]से काले सो खीणकसाओ ठिदिरसगबंधपरिहीणो ।
सम्मत्तडवस्सं वा गुणसेढी दिज्ज दिस्सं च ॥२०९॥६००॥

अर्थ—जो अनन्तर अगले समयमें क्षीणकषाय हो जाता है उसके स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध नहीं होता है । दर्शनमोहकी क्षपणामे जब सम्यक्त्वप्रकृतिकी आठवर्ष-

---

१. क पा. सुत्त पृष्ठ ८९४ सूत्र १५५७-१५५८ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४१०-११ । जयधवल मूल पृष्ठ २२६३ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८९४ सूत्र १५५९-६० । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०७ । ज. ध. मूल पृष्ठ २२६३ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८९४ सूत्र १५६२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४११ ।

प्रमाण स्थिति रह जाती है तब जिसप्रकार गुणश्रेणीनिर्जरा, देयद्रव्य व दृश्यमानद्रव्य कथन है उसीप्रकार यहां भी जानना।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मका क्षय होनेके अनन्तरवर्ती समयमें द्रव्य व भावकषायसमूहसे उपरम (रहित) हो जानेसे क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त होता है और यथाख्यातविहारशुद्धिसंयमी हो जाता है। प्रथमसमयमें निर्ग्रन्थ वीतरागगुणस्थानको प्राप्त कर लेता है। क्षीणकषायगुणस्थानका लक्षण इसप्रकार कहा है—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदय समचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयराएहिं ॥[1]

मोहकर्मके निःशेष क्षीण हो जानेसे जिसका चित्त स्फटिकके निर्मलभाजनमें रखे हुए सलीलके समान स्वच्छ हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थसाधुको वीतरागियोंने क्षीण-कषायसंयत कहा है।

उस क्षीणकषायावस्थामें सर्वकर्मोंके स्थिति, अनुभाग व प्रदेशका अबन्धक हो जाता है[2]। स्थिति व अनुभागबन्धका कारण कषाय है, क्योंकि कषायका स्थितिआदि बन्धके साथ अन्वय-व्यतिरेक है। संश्लेषरूप कषायपरिणामोंके अपगत (व्यतीत) हो जानेसे क्षीणकषायी जीवके स्थितिआदि बन्ध सम्भव नहीं है। प्रकृतिबन्धका कारण योग है जो क्षीणकषायी जीवके भी सम्भव है इसलिए प्रकृतिबन्धका निषेध नही किया गया। सातावेदनीयके अतिरिक्त अन्यप्रकृतियोंका बन्ध क्षीणकषायगुणस्थानमें नहीं होता, क्योंकि सूखे भाजनपर धूलके समान बन्धके अनन्तरसमयमें गल जाती हैं अर्थात् अकर्मभावको प्राप्त हो जाती है। स्थिति और अनुभागबन्धकी कारणभूत कषायकी सगतिका अभाव होनेसे दूसरे समयमें ढुक (निर्जीर्ण) हो जाता है, ईर्यापथ बन्धकी निर्जराका इसप्रकार उपदेश है। जहांपर ईर्यापथ कर्मवर्गणाओंके लक्षणका विस्तार-पूर्वक कथन है[3] वहांसे विस्तार जानना चाहिए। क्षीणकषायसे अधस्तनवर्ती गुणस्थानों-

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६२।

२. जयधवलाकारने क्षीणकषायवर्ती को प्रदेशका भी अबन्धक कहा है और योगसे मात्र प्रकृतिबन्ध कहा है, किन्तु गो० क० गाथा २५७ मे योगको प्रकृति व प्रदेश दोनोके बन्धका कारण कहा है।

३. धवल पु० १३ पृष्ठ ४७ से ५४ तक।

में जो गुणश्रेणिनिर्जरा होती थी, क्षीणकषायगुणस्थानमें वह गुणश्रेणीनिर्जरा पूर्वसे असंख्यातगुणी हो जाती है। सकषायपरिणामसे होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जराकी अपेक्षा अकषायपरिणामोंसे होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा असख्यातगुणी है। सम्यक्त्वप्रकृतिके चरमस्थितिकाण्डकघात तथा देयमान व दृश्यमानद्रव्य एव गुणश्रेणिनिर्जराका जैसा कथन (गाथा २०५ मे) है उसीप्रकार यहां भी जानना चाहिए[१]।

घादीण मुहुत्तंतं अघादियाणं असंखगा भागा।
ठिदिखंडं रसखंडो अणंतभागा असत्थाणं ॥२१०॥६०१॥

अर्थ—क्षीणकषायगुणस्थानमे तीनघातियाकर्मोका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण और तीनअघातिया कर्मोका पूर्वसत्त्व असंख्यातबहुभागमात्र स्थितिकाण्डकायाम है तथा अप्रशस्तप्रकृतियोके पूर्व अनुभागको अनन्तका भाग देनेपर उसमें से बहुभागप्रमाण अनुभागकाण्डकायाम है।

विशेषार्थ—क्षीणकषायगुणस्थानके प्रथमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका अन्तर्मुहूर्त आयामवाला स्थितिकाण्डकघात होता है, उन्ही कर्मोके घातसे शेष रहे हुए अनुभागके बहुभागका अनुभागकाण्डकघात होता है। नाम-गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोकी शेष स्थितिसत्त्वके असंख्यातबहुभागवाला स्थितिकाण्डकघात होता है और इन तीनो अघातियाकर्मोकी अप्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागसत्त्वके अनन्तबहुभागका अनुभागकाण्डकघात करता है। छहो कर्मोके प्रदेशपिण्डको अपकर्षण करके गुणश्रेणिरूपसे विन्यास करनेवाला उदयस्थितिमें स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमे असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र निक्षिप्त करता है। क्षीणकषायकालसे असंख्यातवेंभाग आगे जाकर गुणश्रेणिशीर्ष प्राप्त होनेतक इसप्रकार असख्यातगुणश्रेणिरूपसे प्रदेशाग्र देता जाता है, पुन. गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तर उपरिम स्थितिमे भी असख्यातगुणा द्रव्य देता है, क्योकि गुणश्रेणिमे अपकर्षितद्रव्यका असख्यातवांभाग दिया जाता है और असख्यातबहुभाग गुणश्रेणिशीर्षसे ऊपरकी स्थितियोंमे दिया जाता है। इसको उपरिमअध्वानसे खण्डित करनेपर अर्थात् उपरिम अध्वानमें विभाजन करनेपर एकखण्डप्रमाण प्रदेशाग्रसे गुणश्रेणीशीर्षकी अनन्तर उपरिमस्थिति रची जाती है।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६४-६५।

अतः उपरिम अनन्तरस्थितिमें गुणश्रेणीशीर्षसे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र हैं, उसके ऊपर चरमस्थितिसे आवलिपूर्वतक विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। इसप्रकार द्वितीयादि समयोंमे भी अवस्थितगुणश्रेणी प्ररूपणा जानकर करना चाहिए[1]।

बहुठिदिखंडे तीदे संखा भागा गदा तदद्धाए।
चरिमं खंडं गिरहदि लोभं वा तत्थ दिज्जादि ॥२११॥६०२॥

अर्थ—पूर्वोक्तक्रमसे बहुत (सख्यातहजार) स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर क्षीणकषायकालके संख्यातबहुभाग चले जानेके पश्चात् जब एकभाग अवशेष रहा तब तीन घातियाकर्मोंके चरमकाण्डकको ग्रहण करता है। वहां देयआदि द्रव्यका विधान सूक्ष्मलोभके समान जानना।

विशेषार्थ—यहां क्षीणकषायगुणस्थानके अवशिष्टकालके बिना तीनघातिया कर्मोंकी शेष बची सर्वस्थितिको चरमकाण्डकके द्वारा घातता है। क्षीणकषायगुणस्थानके ऊपर और क्षीणकषायसम्बन्धी गुणश्रेणिशीर्षके नीचे गुणश्रेणिके अधस्तनवर्ती क्षीणकषायकालके संख्यातवेंभागप्रमाण निषेक और गुणश्रेणिशीर्षके ऊपर संख्यातगुणे उपरितन निषेकको ग्रहणकरके अन्तिमकाण्डकद्वारा लांछित (खंडित) करता है ऐसा जानना। उसके (अन्तिमकाण्डक) द्रव्य देनेका विधान जैसे लोभके अन्तिमकाण्डकमें कहा था उसीप्रकार जानना। इसप्रकार अन्तिमकाण्डककी प्रथमादि फालियोंका घातकरके पश्चात् किंचित्ऊन द्व्यर्धगुणहानि (डेढगुणहानि) गुणित समयप्रबद्धप्रमाण चरमफालिके द्रव्यको उदयनिषेकसे लेकर क्षीणकषायके द्विचरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे और द्विचरमसमयमे दिये गए द्रव्यसे असंख्यातपल्यवर्गमूलगुणा द्रव्य क्षीणकषायके चरमसमयसम्बन्धी निषेकमे देता है।

जबतक एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रहता है तबतक तीनघातिया कर्मोंकी उदीरणा होती है उसके पश्चात् उदयावलि शेष रह जानेपर उदीरणा नहीं होती। प्रतिसमय एक-एक निषेकका उदय होकर निर्जरा होती है। क्षीणकषायकालमें प्रथमशुक्लध्यान और पश्चात् द्वितीयशुक्लध्यान होता है, क्योंकि सुविशुद्ध शुक्लध्यानपरिणामके बिना कर्म निर्मूल नहीं होते हैं[2]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५।
२. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५।

चरिमे खंडे पडिदे कदकरणिज्जोत्ति भण्णदे एसो ।
तस्स दुचरिमे णिद्दा पयला सत्तुदयवोच्छिण्णा ॥२१२॥६०३॥

अर्थ—अन्तिमकाण्डकके पतित होनेपर कृतकृत्य छद्मस्थ कहलाता है। क्षीण-कषायके द्विचरमसमयमें निद्रा और प्रचला सत्त्व-उदयसे व्युच्छिन्न हो जाते है।

विशेषार्थ—चरमस्थितिकाण्डक निवृत्त होनेके पश्चात् तीनघातिया कर्मोंकी गुणश्रेणिक्रिया नहीं होती, किन्तु उदयावलिके बाहर स्थित प्रदेशाग्रसे असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उदीरणा होती है अतः वह कृतकृत्य है[1]। क्षीणकषायके चरमसमयसे अनंतर अधस्तनसमय द्विचरमसमय है, उस द्विचरमसमयमें दर्शनावरणकर्मकी निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियां एकसाथ उदय और सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं, क्योंकि घातियाकर्मरूप ईंधनको जलानेवाली द्वितीयशुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा क्षीणकषायीके निद्रा व प्रचला प्रकृतिकी उदयव्युच्छित्ति सम्भव है।

शङ्का—क्षीणकषायी जीवके ध्यानपरिणामसे विरुद्धस्वभाववाली निद्रा और प्रचलाका उदय कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसी शंका नही करना चाहिये, क्योंकि ध्यानयुक्त अवस्थामें भी निद्रा और प्रचलाके अवक्तव्य (अवक्तव्य-अप्रगट) उदयके विरोधका अभाव है।

क्षीणकषायकालके आदिसे लेकर कुछ कालतक तो पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथमशुक्लध्यानका पालन करते हुए जब अपने कालका संख्यातवांभाग शेष रह जाता है तब एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानको अर्थ व्यञ्जन व योगसंक्रांतिसे रहित ध्यानेवाला अवस्थित यथाख्यातविहारशुद्धिसयम परिणामवाला, अवस्थित गुण-श्रेणि निक्षेपके द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा करनेवाला क्षीणकषायगुणस्थान-वर्ती जीव अपने द्विचरमसमयमें निद्रा और प्रचला प्रकृतिके सत्त्व और उदयकी व्युच्छित्ति करता है[2]। कहा भी है—

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२६६।

[1]उपशान्तकषायी अथवा क्षीणकषायी पूर्वोंके ज्ञाता तीनों योगवालेके, शुक्ल-लेश्यायुक्त एवं उत्तमसंहननवालेके प्रथमशुक्लध्यान होता है। प्रथमशुक्लध्यानके समान ही द्वितीयशुक्लध्यान भी जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि द्वितीयशुक्लध्यान एक-योगवालेके होता है। [2]क्षीणकषायीके यह द्वितीयशुक्लध्यान ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायकर्मका निरोध करनेके लिये होता है।

[3]कोहस्स य पढमठिदीजुत्ता कोहादिएक्कदोतीहिं।
खवणद्धाहिं कमसो माणतियाणं तु पढमठिदी ॥२१३॥६०४॥
माणतियाणुदयमहो कोहादि गिदुतियं खवियपणिधम्हि।
इयकरणकिट्टिकरणं किच्चा लोहं विणासेदि ॥२१४॥६०५॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमस्थितिसहित क्रोधादि एक-दो-तीन कषायोंका क्षपणाकाल क्रमसे मानादि तीनकषायोंकी प्रथमस्थिति होती है। मानादि तीनकषायोंसहित श्रेणी चढनेवाला जीव क्रमसे क्रोधादि एक-दो-तीन कषायोंके क्षपणाकालके निकट अश्वकर्ण-सहित कृष्टिकरणको करके लोभको नष्ट करता है।

विशेषार्थ—अन्तरकरणसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त अबतक जो प्ररुपणा की गई है वह पुरुषवेदके उदयसहित संज्वलनक्रोधके उदयवाले क्षपककी प्ररुपणा है, किन्तु

---

१. "शान्त-क्षीणकषायस्य, पूर्वज्ञस्य त्रियोगिनः। शुक्लाद्यं शुक्ललेश्यस्य, मुख्यं संहननस्य तत् ॥१॥ द्वितीयस्याद्यवत्सर्वं विशेषस्त्वेकयोगिनः। विघ्नावरणरोधाय क्षीणमोहस्य तत्स्मृतम् ॥२॥ (जयधवल मूल पृष्ठ २२६६)

२. "एयत्तवियक्क-अवीयार-ज्झाणस्स अप्पडिवाइविसेसणं किण्ण कदं ? ण, उवसंतकसायम्मि भवद्धा खएहि कसाएसु णिवदिदम्मि पडिवादुवलभादो।" [धवल पु० १३ पृष्ठ ८१] एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यानके लिये 'अप्रतिपाती' विशेषण क्यो नही दिया ? समाधान—नही, क्योकि उपशातकषाय जीवके भव तथ और काल क्षयके निमित्त पुनः कषायोको प्राप्त होनेपर एकत्ववितर्क-अविचार ध्यानका प्रतिपात देखा जाता है। धवल पु० १३ के इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवेंगुणस्थानमे भी एकत्ववितर्क-अवीचार नामक दूसरा शुक्लध्यान होता है।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८९० से ८९२ सूत्र १५०२ से १५३४; धवल पु० ६ पृष्ठ ४०७; जयधवल मूल पृष्ठ २२५५-५६।

इन गाथाओंमें पुरुषवेदसहित मानके उदयके साथ क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेकी प्ररूपणा है।
क अन्तर नहीं किया गया यानि अन्तर करनेसे पूर्वतक क्रोध या मानसहित क्षपक-
.पर आरोहण करनेवाले जीवकी क्रियाओंमें कोई अन्तर नही है, अन्तर करनेके पश्चात् विभिन्नता है और वह विभिन्नता यह है कि अन्तरके पश्चात् क्रोधकी प्रथमस्थिति नहीं होती। जिसप्रकार पुरुषवेदसहित क्रोधोदयके साथ क्षपकके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण क्रोधकी प्रथमस्थिति होती थी उसीप्रकार पुरुषवेदोदयसहित मानोदयवाले क्षपकके मानकी प्रथमस्थिति होती है। क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवाले क्षपकके कृष्टिकरणकालपर्यन्त क्रोधकी प्रथमस्थिति और क्रोधकी तीनों संग्रहकृष्टिका क्षपणाकाल, इन दोनोंको मिलानेसे कालका जो प्रमाण होता है उतनाकाल मानोदयसे श्रेणिपर आरोहण करनेवालेके मानकी प्रथमस्थितिका है। क्रोधोदयसे चढ़े हुए क्षपकके जिस कालमे अश्वकर्णकरण व अपूर्वस्पर्धक करता है उसकालमें मानोदयसे श्रेणी चढ़ा हुआ क्षपक क्रोधका स्पर्धकरूपसे क्षय करता है, क्योंकि मानोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके क्रोधोदयका अभाव होनेसे स्पर्धकरूपसे विनाश होनेमें कोई विरोध नही है। अनिवृत्तिकरणपरिणामोका अभिन्नस्वभाव होते हुए भी भिन्न कषायोदयरूप सहकारिकारणके सन्निधानके वशसे प्रकृतमें नानापना सिद्ध है अर्थात् एककालमें कार्योंकी विभिन्नता हो जाती है। क्रोधोदयसे युक्त क्षपक जिसकालमें चार संज्वलनकषायोंकी कृष्टियां करता है उसकालमें मानोदयसहित क्षपक उससमय तीन संज्वलनकषायोका अश्वकर्णकरण करता है। क्रोधोदयी क्षपक जिसकालमे क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मानोदयी क्षपक संज्वलन-मान-माया-लोभकी (३×३) ९ संग्रहकृष्टियां करता है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिसकालमें मानकी तीनसंग्रहकृष्टियोका क्षय करता है उसीकालमे मानोदयीक्षपक भी मानकी तीनसंग्रहकृष्टियोका क्षय करता है इसमे कोई अन्तर नहो है। इस स्थलसे लेकर आगे जिसप्रकार क्रोधके उदयसे श्रेणि चढनेवालेकी क्षपणाविधि कही गई है वैसी ही विधि मानोदयमे श्रेणी चढ़नेवाले जीवको जानना चाहिए। आगे पुरुषवेदसहित मायोदयसे श्रेणि चढ़नेवाले क्षपककी विभिन्नता बतलाते हैं--

अन्तर करके मायाकी प्रथमस्थिति करता है, क्योंकि क्रोध व मानकषायके उदयका अभाव है। क्रोधकी प्रथमस्थिति, अश्वकर्णकरणकाल, कृष्टिकरणकाल, क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षपणाकाल, मानकी तीनों संग्रहकृष्टियोका क्षपणाकाल, इनसर्व कालोको मिलानेसे कालका जो प्रमाण हो उतनाकाल मायोदयीक्षपककी प्रथमस्थितिका

काल है, क्योंकि इतने कालके बिना प्रथमस्थितिमें किये जानेवाले कार्य पूर्ण नहीं हो सकते। क्रोधोदयवाला क्षपक जिसकालमें अश्वकर्णकरण करता है उसीकालमें मायोदयीक्षपक क्रोधका क्षय करता है। क्रोधोदयीक्षपक जिसकालमें कृष्टियां करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक मानका स्पर्धकरूपसे क्षय करता है। क्रोधोदयीक्षपक जिसकालमें क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक सज्वलनमाया व लोभका अश्वकर्णकरण और अपूर्वस्पर्धक करता है। सहकारीकारण कषायोदयमें भेद होनेपर नानाजीवोंके अनिवृत्तिकरणपरिणाम भिन्न भिन्न स्वरूपसे हो जाते है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिसकालमें मानकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक सज्वलनमाया और लोभकी छह कृष्टियोंकी रचना करता है। क्रोधोदयीक्षपक जिसकालमें मायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसी कालमें मायोदयवाला क्षपक मायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है इसमें कोई अन्तर नहीं है तथैव लोभके क्षपणमें भी कोई अन्तर नही है। पुरुषवेदसहित लोभोदयसे क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेकी विभिन्नताका कथन करते हैं—

जबतक अन्तर नहीं करता तबतक कोई भेद नही है। अन्तर करनेके पश्चात् लोभकी प्रथमस्थिति होती है जिसका प्रमाण क्रोधकी प्रथमस्थितिमें क्रोध, मान व माया क्षपणाकाल, अश्वकर्णकाल और कृष्टिकरणकाल मिलानेसे उत्पन्न होता है। क्रोधोदयीक्षपक जिसकालमे अश्वकर्णकरण करता है उसकालमें लोभोदयवाला क्षपक क्रोधका क्षय करता है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमयमें कृष्टियां करता है उससमयमें लोभोदयोक्षपक मानका क्षय करता है। क्रोधोदयीक्षपक जिससमय क्रोधका क्षय करता है उसीकालमें लोभोदयीक्षपक मायाका क्षय करता है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय मानका क्षय करता है लोभोदयीक्षपक उससमय अश्वकर्णकरण करता है। यहांपर एकसंज्वलन लोभकषाय है। यद्यपि संज्वलनलोभकषायके अनुभागका अश्वकर्णआकारसे विन्यास होना सम्भव नही है तथापि अनुभागका विशेषघात होकर अपूर्वस्पर्धक विधानकी अपेक्षा अश्वकर्णकरण कहनेमें कोई विरोध नही है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय मायाका क्षय करता है उससमय लोभोदयी क्षपक लोभकषायके पूर्व व अपूर्वस्पर्धकोंकी अपवर्तना करके लोभकी तीनसग्रहकृष्टियोंको करता है, क्योंकि शेष कषायोंका क्षय हो चुका है। क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय लोभका क्षय करता है उसी

समयमें लोभोदयीक्षपक भी लोभका क्षय करता है यह सब सन्निकर्षप्ररुपणा पुरुषवेदसे उपस्थित क्षपककी की गई है[1]।

[2]पुरिसोदएण चडिदस्सित्थी खवणद्धउत्ति पढमठिदी।
इत्थिस्स सत्तकम्मं अवगदवेदो समं विणासेदि ॥२१५॥६०६॥

अर्थ—पुरुषवेदोदयसे श्रेणीपर चढ़ा हुआ जिस कालतक स्त्रीवेदका क्षय करता है वहांतक स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणीपर चढ़े हुए जीवके स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति है। अपगतवेदी होनेपर सातकर्मों (सात नोकषाय) का एकसाथ क्षय करता है।

विशेषार्थ—जबतक अन्तर नही करता तबतक स्त्रीवेदोदयसे श्रेणि चढ़े हुए और पुरुषवेदोदयसे चढ़े हुए जीवमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि अन्तरकरणसे पूर्व दोनो क्षपकोंकी क्रियाविशेषमें कोई भिन्नता नही है। अन्तर करनेपर स्त्रीवेदोदयवाले-के स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति होती है। पुरुषवेदोदयीक्षपकके नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके क्षय-कालको मिलानेपर जितना काल होता है उतनाकाल स्त्रीवेदोदयवाले क्षपककी प्रथम-स्थितिका है। नपुंसकवेदके क्षयसम्बन्धी प्ररुपणामें कोई अन्तर नही है। नपुंसकवेद-का क्षय करनेके पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय करता है। पुरुषवेदोदयसे उपस्थित क्षपकके जितना बड़ा काल स्त्रीवेदकी क्षपणाका है उतना ही बड़ा काल स्त्रीवेदसे उपस्थित क्षपकके स्त्रीवेदक्षपणाका है। स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जानेपर अपगतवेदी हो जाता है तब अपगतवेदभागमें पुरुषवेद और हास्यादि छह नोकषायका क्षय करता है, किन्तु पुरुषवेदोदयसे श्रेणीपर चढा हुआ क्षपक सवेदभागमे हास्यादि छह नोकषाय और पुरुषवेदके पुरातन सत्कर्मका क्षय करता है। स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े हुए क्षपकके पुरुषवेदके पुरातनसत्कर्मका क्षय हो जानेपर भी एकसमयकम दोआवलिप्रमाण नवक-समयप्रबद्ध शेष रह जाता है, किन्तु स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके वह नवकसमय-प्रबद्ध नहीं रहता, क्योंकि अवेदभावसे वर्तमानके पुरुषवेदका बन्ध नही होता। इस उपर्युक्त विभिन्नताके अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर पुरुषवेदोदयीक्षपक व स्त्रीवेदोदयी-क्षपकमे नही है[3]।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२५५ से २२६० तक।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८९३ सूत्र १५३५ से १५४३। ध० पु० ६ पृष्ठ ४०१।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २२६० से २२६२ तक।

[1]थीपढमट्ठिदिमेत्ता संढस्सवि अंतरादु सेढेक्क ।
तस्सद्धाति तदुवरिं संढा इत्थिं च खवदि थीचरिमे ॥२१६॥६०७॥
अवगदवेदो संतो सत्त कसाये खवेदि कोहुदये ।
पुरिसुदये चडणविही सेसुदयाणं तु हेट्ठुवरिं ॥२१७॥६०८॥

अर्थ—नपुंसकवेदोदयसे चढ़े क्षपकके प्रथमस्थितिका काल उतना ही है जितना स्त्रीवेदोदयसे श्रेणि चढ़े क्षपकके प्रथमस्थितका काल है। अंतरके पश्चात् नपुंसकवेदके क्षपणाकाल है उसके ऊपर स्त्रीवेदका क्षपणाकाल उसके कालमें नपुंसक और स्त्रीवेद-की क्षपणा करता हुआ प्रथमस्थितिके चरमसमयमें नपुंसकवेदसहित स्त्रीवेदका क्षय करता है तथा अपगतवेदी होकर सात नोकषायका क्षय करता है, इससे नीचे और ऊपरकी विधि पुरुषवेद व क्रोधोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके समान है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपककी प्रथमस्थितिके समान नपुंसक-वेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपककी प्रथमस्थिति है अर्थात् इन दोनों प्रथमस्थितियोंका काल समान है। पुनः अन्तर करनेके द्वितीयसमयमें नपुंसकवेदका क्षय करना प्रारम्भ करता। पुरुषवेदोदयीक्षपकके जितना नपुंसकवेदका क्षपणाकाल है, नपुंसकवेदोदयीक्षपकके उतना काल व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेद क्षीण नहीं होता, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिति अब भी शेष है। पश्चात् अनन्तरसमयमें स्त्रीवेदकी क्षपणा प्रारम्भ करके स्त्रीवेदका क्षय करता हुआ नपुंसकवेदका भी क्षय करता है। पुरुषवेदोदयवाला क्षपक जिस कालमें स्त्रीवेदका क्षय करता है उसी समय नपुंसकवेदोदयीक्षपक स्त्री व नपुंसक-वेदका युगपत् क्षय करता है। यह स्थूल कथन है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे सवेदकालके द्वि-चरमसमयमें नपुंसकवेदकी प्रथमस्थितिके दो समयमात्र शेष रहने पर स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके सत्तामें स्थित समस्त निषेकोंको पुरुषवेदमें संक्रमित हो जानेपर नपुंसक-वेद की उदयस्थितिकी अन्तिम स्थितिका विनाश नहीं हुआ उसका विनाश अगले समय में होगा। (जयधवल पु० २ पृष्ठ २४६) अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और हास्यादि छह नोकषाय इन सात कर्मप्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है, इन सातोंका ही क्षपणा-काल समान है। शेष पदोंमें जैसी विधि पुरुषवेदसे उपस्थित क्षपककी कही गई है वैसी

---

१. क०पा०सुत्त पृष्ठ ८९३-८९४ सूत्र १५४६ से १५५२ तक। धवल पु० ६ पृष्ठ ४१०।

ही हीनाधिकतासे विधि यहां भी कहना चाहिए। तीनों कालमें नानाजीवोके अनिवृत्तिकरण परिणामोमें विलक्षणता सम्भव नही है तथापि वेद और कषायके उदयमे भेद होनेसे अनिवृत्तिकरण परिणामोमें नानाविशिष्टकार्य होनेमें कोई विरोध नही है[1]।

[2]चरिमे पढमं विग्घं चउदंसण उदयसत्तवोच्छिण्णा ।
से काले जोगिजिणो सव्वण्हू सव्वदरसी य ॥२१८॥६०६॥

अर्थ—क्षीणकषायगुणस्थानके अन्तसमयमें प्रथम अर्थात् ज्ञानावरण, अन्तराय और चारदर्शनावरण, ये कर्मप्रकृतियां सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं और अनन्तरकालमें सयोगिजिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं।

विशेषार्थ--क्षीणकषायनामक १२वें गुणस्थानके चरमसमयमें एकत्ववितर्क-अवीचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानके द्वारा (मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवल) पांच ज्ञानावरण, पांच (दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य) अन्तराय, (चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलरूप) चारदर्शनावरण इसप्रकार तीनघातिया कर्मोकी १४ प्रकृतियोंकी उदय व सत्त्वव्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् इन प्रकृतियोका क्षय हो जाता है, क्योकि इनकी बन्धव्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्परायनामक १०वें गुणस्थानमे ही हो जाती है।

शंका--क्षीणकषायगुणस्थानके चरमसमयमे घातियाकर्मोके साथ अघातिया-कर्मोका क्षय क्यो नही हो जाता, क्योकि कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व अघातियाकर्मोमें कोई अन्तर नही है ?

समाधान—ऐसी शका नही करनी चाहिए, क्योकि विशेषघातभावकी अपेक्षा घातिया और अघातिया कर्मोमें अन्तर पाया जाता है। इसीलिए क्षीणकषायगुणस्थान-के चरमसमयमें अघातियाकर्मोका स्थितिसत्कर्म रहता है, क्योकि इनकी स्थितिके विशेषघातका अभाव है। अघातियाकर्मोकी स्थितिके विशेषघातका अभाव असिद्ध भी नही है, क्योकि अघातियाकर्म घातियाकर्मोके समान अप्रशस्त नही हैं। घातियाकर्मोमे मोहनीयकर्म अधिक अप्रशस्त है इसलिए विशेषघातभावके कारण पूर्वमे अर्थात् सूक्ष्म-साम्परायगुणस्थानके चरमसमयमें क्षय हो जाता है। यद्यपि कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६२-६३।

२. क.पा सुत्त पृष्ठ ८९६ सूत्र १५७१। धवल पु० ६ पृष्ठ ४१२। गो० जीवकाण्ड गाथा ६४।

अघातियाकर्मोंमें विशेषता नहीं है तथापि घातकी अपेक्षा विशेषता होनेसे द्वितीय शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा क्षीणकषायके चरमसमयमें घातियाकर्मोंका निर्मूल क्षय हो जाता है। क्षीणकषायगुणस्थानके चरमसमयमे घातियाकर्मोंके नाशका यह कथन उपपादानुच्छेद नयकी अपेक्षासे है अन्यथा उस चरमसमयमें अन्तिमनिषेकका सत्त्व और उदय पाया जाता है। बन्धकी अपेक्षा इन घातियाकर्मोंका और जीवप्रदेशोका एकत्वरूप परिणमन हो रहा था। बन्धके कारणोके प्रतिपक्षी मोक्षके कारणभूत परिणामरूपयन्त्रके द्वारा पेलनेपर जीवप्रदेशोंसे कर्मप्रदेशोका निर्मूल हो जाना क्षय है। जीवसे पृथक् हो जानेपर भी अकर्मभावसे परिणत कर्मपुद्गलोंका पुद्गलस्वरूपसे क्षय नहीं होता, जैसे मलसे व्यावृत्ति होनेपर कपड़ा निर्मल हो जाता है, किन्तु मलकी सत्ताका अत्यन्त विनाश नहीं होता वैसे ही आत्मा कर्मोंसे निवृत्त होनेपर परिशुद्ध हो जाता है[1]। पश्चात् अनन्तरसमयमें अनन्तकेवलज्ञान-केवलदर्शन और अनन्तवीर्यसे युक्त जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर सयोगिजिन हो जाते हैं।

खीणे घादिचउक्के णंतचउक्कस्स होदि उप्पत्ती।
सादी अपज्जवसिदा उक्कस्साणंतपरिसंखा ॥२१९॥६१०॥

अर्थ—घातियाकर्म चतुष्टयका नाश होनेपर अनन्तचतुष्टयकी उत्पत्ति होती है, यह अनन्तचतुष्टय सादि व अपर्यवसित (अविनाशी) है तथा उत्कृष्टअनन्त संख्यावाला है।

विशेषार्थ—सादि अर्थात् उत्पत्तिकालमें आदिसहित है तथापि अपर्यवसिता यानि अवसान-अन्तसे रहित होनेसे अनन्त है अथवा अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा इनकी उत्कृष्टअनन्तानन्तप्रमाण संख्या है अतः अनन्त कहते हैं।

किस कर्मके नाशसे कौनसा गुण होता है, सो आगे कहते हैं—

आवरणदुगाण खये केवलणाणं च दंसणं होदि।
विरियंतरायियस्स य खएण विरियं हवे णंतं ॥२२०॥६११॥

अर्थ—दोनों आवरणोंके क्षयसे केवलज्ञान व केवलदर्शन तथा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे अनन्तवीर्य होता है।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६८।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण व दर्शनावरण इन दोनोंके नाशसे केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है। इनमें केवलज्ञान तो इन्द्रिय, मन व प्रकाशादिकी सहायतारहित है इसलिए केवल है। परमाणु आदि सूक्ष्म हैं अतीत-अनागतकालसम्बन्धी अन्तरित अर्थात् द्रव्य अनादि-अनन्त है, अतीतमें भी था और अनागतमें भी रहेगा अतः द्रव्यको जाननेसे अतीत व अनागतका जानना हो जाता है तथा दूरवर्ती क्षेत्रमें स्थित 'दूर' कहलाता है। इन सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती सर्वपदार्थोंको केवलज्ञान युगपत् जानता है एवं केवलदर्शन देखता है। जैसे चन्द्रमें शीतस्पर्श व श्वेतवर्णता युगपत् है वैसे जिनेन्द्र-भगवान्में केवलज्ञान व केवलदर्शन युगपत् प्रवर्तता है छद्मस्थजीवके समान क्रमवर्ती नही है। वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे अप्रतिहत सामर्थ्यवाला अनन्तवीर्य होता है जिसके सद्भावमें समस्तज्ञेयोंको सदाकाल जानते हुए भी खेद उत्पन्न नहीं होता। अनन्तवीर्यके बलाधान विना निरन्तर अवस्थित उपयोगकी वृत्ति नही हो सकती। अनन्तवीर्यकी सामर्थ्यविना अनवस्थित उपयोगका प्रसंग आ जावेगा[1]।

णवणोकसायविग्घचउक्काणं च य खयादणंतसुहं।
अणुवममव्वाबाहं अप्पसमुत्थं णिरावेक्खं ॥२२१॥६१२॥

अर्थ—नवनोकषाय और दानादि अन्तरायचतुष्कके क्षयसे अनन्तसुख होता है और वह सुख अनुपम, अव्याबाध, अन्यकी अपेक्षासे रहित आत्मासे उत्पन्न है।

विशेषार्थ—नव नोकषाय और दानादि अन्तरायचतुष्कके क्षयसे होनेवाला अनन्तसुख अनुपम है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा सुख नहीं पाया जाता है, किसीके द्वारा बाधित नहीं है अतः अव्याबाध है, आत्मासे उत्पन्न होनेसे आत्मसमुत्थ है तथा इन्द्रिय-विषय, प्रकाशादिकी अपेक्षासे रहित है इसलिए निरापेक्ष है। इसप्रकार ज्ञान-वैराग्यकी उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ अनाकुललक्षण अनन्तसुख केवलीके पाया जाता है[2]।

---

१. "तव वीर्यविघ्नविलपेन समभवदनन्तवीर्यता। तत्र सकलभुवनाधिगमप्रभृति स्वशक्तिभिरव-स्थितो भवानिति ॥१४२॥" [जयधवल मूल पृष्ठ २२६९]

२ "वीतरागहेतुप्रभवं न चेत्सुखं न नाम किंचितदिति स्थितावयम्। स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति तत् त्वदन्यतस्सत्त्वयियेन केवलम् ॥१४४॥ [जयधवल मूल पृष्ठ २२७०]

सत्तण्हं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं।
वरचरणं उवसमदो खयदो दु चरित्तमोहस्स ॥२२२॥६१३॥

अर्थ—सातप्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व तथा चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयसे या उपशमसे उत्कृष्ट-यथाख्यातचारित्र होता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी चारकषाय व तीन दर्शनमोह (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) इन ७ प्रकृतियोंके क्षयसे तत्त्वोंका यथार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता है सो क्षायिक सम्यक्त्व है। चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोंके उपशम या क्षयसे उत्कृष्टचारित्र (यथाख्यातचारित्र) होता है जो निष्कषाय आत्माचरणरूप है। यद्यपि यहां क्षायिक यथाख्यातचारित्रका प्रकरण है तथापि उपशान्तकषायगुणस्थानमें भी यथाख्यातचारित्रका प्रसंग होनेसे उपशमयथाख्यातचारित्रको भी कह दिया है।

केवली भगवान्‌के असातावेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधादि परीषह पाये जाते हैं अतः उनके भी आहारादिक्रिया होती हैं इसप्रकारकी शंका होनेपर उसके परिहार स्वरूप गाथा कहते हैं।

जं णोकसायविग्घचउक्काण बलेण दुक्खपहुदीणं।
असुहपयडिणुदयभवं इंदियखेदं हवे दुक्खं ॥२२३॥६१४॥

अर्थ—नोकषाय और अन्तरायचतुष्कके उदयके बलसे दुःखरूप असातावेदनीयादि अशुभप्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न इन्द्रियोंके खेदरूप आकुलताका नाम दुःख है[1] और वह दुःख केवलीभगवानके नहीं पाया जाता है।

जं णोकसाय विग्घं चउक्काण बलेण साद पहुदीणं।
सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसं हवे सोक्खं ॥२२४॥६१५॥

अर्थ—नोकषाय और अन्तरायचतुष्कके उदयके बलसे सातावेदनीयादि शुभप्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न इन्द्रियोंके सतुष्टिरूप कुछ निराकुलसुख भी केवलीभगवानके नही पाया जाता है। क्योंकि—

---

१. "सपरं बाहासहिय विच्छिण्ण बंधकारणं विसमं। जं इंदियलद्धं तं सोक्खं दुःखमेव सदा ॥७६॥" (प्रवचनसार)

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो ।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥२२५॥६१६॥

अर्थ—केवलीभगवानके राग-द्वेष नष्ट हो गए हैं तथा इन्द्रियजनित ज्ञान भी नष्ट हुआ है इसलिए साता-असातावेदनीयके उदयसे उत्पन्न सुख-दुःख नहीं है[1] ।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स ।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२२६॥६१७॥

अर्थ—एकसमयप्रमाण स्थितिवाला सातावेदनीयकर्म बधता है जो कि उदयरूप ही है इसलिए उनके (केवलीभगवान्‌के) असाताका उदय भी सातारूप होकर परिणमन करता है ।

विशेषार्थ—असातावेदनीयका वेदन करनेवाले जिनदेव आमय और तृष्णासे रहित कैसे हो सकते हैं, यह कहना भी ठीक नही है; क्योंकि असातावेदनीय वेदित होकर भी वेदित नही है, कारण कि अपने सहकारीकारणरूप घातियाकर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध आता है ।

शङ्का—निर्बीज हुए प्रत्येकशरीरके समान निर्बीज हुए असातावेदनीयका उदय क्यों नही होता ?

समाधान—नही, क्योंकि भिन्नजातीय कर्मोंको समान शक्ति होनेका कोई नियम नही है ।

शङ्का—यदि असातावेदनीयकर्म निष्फल ही है तो वहां उसका उदय है, ऐसा क्यो कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे वैसा कहा जाता है । दूसरी बात यह है कि सहकारीकारणरूप घातियाकर्मोंका अभाव होनेसे ही शेषकर्मोंके समान असातावेदनीयकर्म न केवल निर्बीजभावको प्राप्त हुआ है, किन्तु उदयस्वरूप सातावेदनीयका बन्ध होनेसे और उदयागत उत्कृष्टअनुभागयुक्त सातावेदनीयरूप सहकारीकारण होनेसे उसका उदय भी प्रतिहत हो जाता है । यदि कहा जाय कि बन्धके उदयस्वरूप

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २७० ।

रहते हुए सातावेदनीयकर्मको गोपुच्छ स्तुविकसंक्रमणद्वारा असातावेदनीयको प्राप्त होती होगी, सो बात भी नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है।

शङ्का—यदि यहां स्तुविकसंक्रमणका अभाव मानते हैं तो साता और असातावेदनीयकी सत्त्वव्युच्छित्ति अयोगी गुणस्थानके अन्तिमसमयमें होनेका प्रसंग आता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि सातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेपर अयोगीगुणस्थानमें सातावेदनीयके उदयका कोई नियम नही है।

शङ्का—इसप्रकार तो सातावेदनीयका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त विनष्ट होकर कुछकम पूर्वकोटिप्रमाण प्राप्त होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि सयोगकेवलि गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र उदयकालका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है[1]।

गाथा २१९ से २२६ सम्बन्धी विशेषकथन :—

घातियाकर्मोंके क्षय होजाने के अनन्तरसमयमें भ्रष्टबीजके समान चारों अघातियाकर्म शक्तिरहित हो जानेसे युगपत् उत्पन्न होनेवाले अनन्तकेवलज्ञान-दर्शन व वीर्यसे युक्त, स्वयंभूपनेको आत्मसात् करके जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं उन्ही भगवान अर्हन्तपरमेष्ठीको सयोगीजिन भी कहते हैं, क्योंकि उस अवस्थामें ईर्यापथबन्धका हेतुभूत तथा वचन और कायके परिस्पन्दलक्षणस्वरूप योगविशेषका सद्भाव होता है। केवलज्ञानादिका स्वरूप कहते हैं—केवलका अर्थ असहाय है, जिसमें इन्द्रिय, प्रकाश और मनकी अपेक्षा नही हो वह असहाय है। जो ज्ञान केवल (असहाय) हो वह केवलज्ञान है। केवलज्ञान अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्टपदार्थोंको जानता है, करण (इन्द्रिय) क्रम और व्यवधानसे रहित है, ज्ञानावरणकर्मका पूर्णरूपसे क्षय हो जानेपर उत्पन्न हुआ है, उस प्रकाशसे बढ़कर अन्य कोई प्रकाश नही है और उससे अधिक कोई अतिशय नही, ऐसा वह केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानका जो आनन्त्यविशेषण दिया गया है वह केवलज्ञान अविनश्वरताको बतलाता है। क्षायिकभाव केवलज्ञानके सादि-अपर्यवसित अवस्थानको प्रगट करता है। जैसे घटका प्रध्वंसाभाव सादि-अपर्यवसित है उसीप्रकार केवलज्ञान भी क्षायिक होनेसे सादि-अपर्यवसित है।

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ५३-५४।

सर्वद्रव्य और उनकी पर्यायोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान है, इससे यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान परमोत्कृष्टअनन्तपरिणामवाला है। प्रमेय आनन्त्य (अविनश्वर) हैं अत: उनके जाननेवाली ज्ञानशक्तिके भी आनन्त्यपना सिद्ध हो जाता है। प्रतिषेधका अभाव होनेसे केवलज्ञान उपचारमात्रसे आनन्त्य नहीं है, किन्तु परमार्थसे आनन्त्य है। समस्त ज्ञेयराशिसे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं, यह आगमसे भलेप्रकार जाना जाता है। कहा भी है कि "जो नाशवान नहीं है वह द्रव्य है अत. इसके आनन्त्य अनुपचरित है" ऐसा निश्चय करना चाहिए। कहा है--

केवलज्ञान क्षायिक है, एक है, अनन्त है, भूत-भविष्यत और वर्तमान, इन तीनों कालोंमें सर्व अर्थ (ज्ञेयो) को युगपत् जानता है, अतिशयातीत है, अन्त्यातीत है, अच्युत है, व्यवधानसे रहित है[1]।

इसीप्रकार केवलदर्शनका व्याख्यान करना चाहिए। दर्शनावरणका अत्यन्तरूपसे पूर्ण क्षय होनेपर प्रगट होनेवाला दर्शनोपयोग अशेष (समस्त) पदार्थोंका अवलोकन जिसका स्वभाव है, उसको भी आनन्त्य विशेषण प्राप्त है और वह केवलदर्शन कहा जाता है। प्रतिबन्धकी अनुपलब्धि मात्रसे ही उसके आनन्त्य नहीं मानना चाहिए, किन्तु अविनाशी होनेसे आनन्त्य है।

शङ्का--सकल कैवल्य अवस्थामे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि अशेष पदार्थोंको साक्षात् करना दोनोका स्वभाव होनेके कारण दोनोका विषय एक होनेसे दोनोके विषयमे कोई भेद नही है इसलिए एकसे ही समस्त पदार्थोका जानना हो जावेगा दूसरा व्यर्थ है फिर दोनों उपयोगोंका कथन क्यों किया गया ?

समाधान—असंकीर्णस्वरूपसे केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंका विषय विभाग अर्थात् विषयभेद असकृत देखा जाता है अत: कैवल्यअवस्थामें सकल विमल केवलज्ञानके समान अकलक केवलदर्शनका भी अस्तित्व है यह सिद्ध हो जाता है, अन्यथा आगमविरोधरूप दोषका परिहार नही हो सकेगा।

---

१. क्षायिकमेकमनन्त त्रिकालसर्वार्थं युगपदवभासि। निरतिशयमन्त्यमच्युतमव्यवधानं च केवलज्ञानम् ॥" (जयधवल मूल पृष्ठ २२६९)

केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों प्रकाश एक हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्यपदार्थको विषय करनेवाला साकारोपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग है और अन्तरङ्गपदार्थको विषय करनेवाला अनाकारोपयोग अर्थात् दर्शनोपयोग है[1]। "अंतरंग-विसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो। तं कुधं णव्वदे? अणायारत्तण्णहाणु-ववत्तीदो[2]।" अर्थात् अन्तरङ्गपदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार किया है। यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरङ्ग पदार्थ न माना जाय तो वह अनाकार नहीं बन सकता। इसप्रकार विषयभेद होनेसे दोनों उपयोगोंका कार्य भिन्न-भिन्न है अतः कोई भी उपयोग व्यर्थ नहीं है।

यदि दर्शनका सद्भाव न माना जावे तो दर्शनावरणकर्मके बिना सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करनेयोग्य दर्शनका अभाव माननेपर उसके आवरकका सद्भाव माननेमें विरोध आता है[3]। दर्शन है, क्योंकि सूत्रमें आठकर्मोंका निर्देष किया गया है। यह भी नहीं कह सकते कि दर्शनावरणका निर्देश केवल उपचारसे किया गया है, क्योंकि मुख्य वस्तुके अभावमें उपचारकी उत्पत्ति नहीं बनती[4]।

वीर्यान्तरायकर्मका निर्मूल क्षय हो जानेसे अनन्तवीर्यकी उत्पत्ति होती है जो परि-श्रमसे उत्पन्न होनेवाली थकावटका विरोधी है तथा अप्रतिहतसामर्थ्यवाला है, अन्तराय-रहित है वह अनन्तवीर्य कहा जाता है। भगवान् अशेष (समस्त) पदार्थोंको विषय करनेवाले ध्रुवउपयोगरूप परिणामवाले हैं अर्थात् भगवान् निरन्तर ध्रुवरूपसे समस्त पदार्थोंको जानते हैं तथापि उनको खेद नहीं होता यह अनन्तवीर्यका उपग्रह (उपकार) है और यही उसकी उपयोगिता है। उस अनन्तवीर्यके बलाधानबिना सान्ततिक उप-योगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा हम जैसे छद्मस्थोंके उपयोगके समान उस उप-योग (केवलीके उपयोग) की सामर्थ्यका विरह (अभाव) होनेसे अनवस्थाका प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है—

---

१. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३५८।

२. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३३७।

३. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३५८-५९।

४. धवल पु० ७ पृष्ठ ९८।

"तव वीर्यविघ्नविलयेन समभवदनन्तवीर्यता ।
तत्र सकल भुवनाधिगमप्रभृति स्वशक्तिभिरवस्थितो भवानिति[1] ।।"

हे भगवन् ! आपके वीर्यान्तराय कर्मका विलय हो जानेसे अनन्तवीर्य हो गया है । अपने वीर्यके द्वारा समस्तभुवनको जानने आदिरूप प्रवृत्तिमें अवस्थित हैं अर्थात् आपका उपयोग किंचित् भी चलायमान नही होता । इसके द्वारा केवलीके आत्यन्तिक सुखका व्याख्यान हो जाता है, क्योंकि अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य उपबृंहित सामर्थ्यवाले, वीतमोहस्वरूप, ज्ञान और वैराग्यकी अतिशय पराकाष्ठापर आरूढ, परमनिर्वाण, लक्षण-वाले, सुखकी आत्यन्तिक (अविनाशी) रूपसे उपलब्धि होती है । अतिशय ज्ञान व वैराग्यसे उत्पन्न वीतरागसुखसे अन्य किंचित् सुख नहीं । सरागसुख तो एकान्ततः दुःख ही है । कहा भी है—

"सपरं बाहासहियं विच्छिण्ण बधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव सदा ।।[2]
विरागहेतु प्रभवं न चेत्सुख न नाम किंचित्तदिति स्थितावयम् ।
स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति तत् त्वदन्यतस्सत्त्वयि येन केवलम् ।।"

जो सुख पांचों इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है वह परद्रव्योंकी अपेक्षासे होता है इसकारण पराधीन है, क्षुधा-तृषा आदि अनेक रोगोंके कारण बाधासहित है, असाता-वेदनीयकर्मोदयके कारण नाशवान तथा अन्तरसहित है, देखे-सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छादि अनेक दुष्परिणामोंसे नरकगति आदि अशुभकर्म बन्धते हैं जिनका उदय होनेपर नरकादि गतियोमें जाकर नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते है, हानिवृद्धि होनेसे एकसा नही रहता अतः विषम है इन पांच कारणोंसे यह सांसारिकसुख दुःख-रूप ही है ।

"विरागहेतुसे उत्पन्न हुआ सुख यदि सुख नहीं है तो निश्चयसे कोई सुख है ही नही, ऐसा हमें निश्चय हो गया है, विराग हेतु निमित्त है यह स्पष्ट है । आपसे अर्थात् केवलीसे अन्यमें वह हेतु नही है, क्योंकि वह हेतु केवल आपमें ही है ।" इसलिए

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६६ ।

२. प्रवचनसार गाथा ७६ ।

जिस सुखमें अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र प्रधान हैं जो अनुपरतवृत्ति अर्थात् विच्छिन्न नहीं होता, निरतिशय अर्थात् उस सुखसे बढ़कर कोई अतिशय नहीं है, आत्मासे उत्पन्न होता है, ऐसा अनन्तसुख अतीन्द्रिय और निष्प्रतिद्वन्द्व (विरोधरहित) है।

किसी वादीको यह दृढ़निश्चय है कि सयोगकेवलीके असातावेदनीयका उदय होनेसे अनन्तसुखका अभाव और यह बात उल्लघन भी नहीं की जा सकती, क्योंकि सयोगकेवलीके कवलाहारवृत्ति पाई जाती है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि सयोगकेवलीके असातावेदनीयके उदयमें सहकारीकारणका अभाव होनेसे वह (उदय) अकिंचित्कर (व्यर्थ) है। जैसे सहकारीकारणके अभावमें परघातका उदय अकिंचित्कर है। अतः अनन्तज्ञान दर्शन-वीर्य-चारित्र व सुख परिणामी होनेसे सयोगकेवली कवलाहार (भोजन) नहीं करते, जैसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र व सुख-परिणामि होनेसे कवलाहार नहीं करते, क्योकि सयोगकेवली और सिद्धपरमेष्ठी इन दोनोंके समस्त अन्तरायकर्मका पूर्णरूपसे क्षय हो जानेके कारण अनन्तवीर्यके द्वारा उपलक्षित अनन्तदान-लाभ-भोग व उपभोगलब्धिमें कोई विशेषता नही है। सयोगकेवलीके स्वरूपका निरूपण करनेवाली निम्नलिखित दो गाथाएं हैं—

"केवलणाणदिवायरकिरणकलापप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणिय परमप्पववएसो ॥
असहायणाणदंसण सहिओ इदि केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो[1] ॥"

केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिसने नवकेवललब्धियोके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस संज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रियादिकी अपेक्षा न रखनेवाले असहायज्ञान व दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घातियाकर्मोंको जीत लेने अर्थात् क्षय कर देनेसे जिन कहे जाते हैं ऐसा अनादिनिधन आर्षमे कहा गया है[2]।

---

१. धवल पु० १ पृष्ठ १९१-९२।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७०।

भगवत् अर्हत्परमेष्ठी स्वयं पदार्थज्ञानमें स्थित है, तथापि परार्थप्रवृत्ति स्वभावसे[1] निकटभव्योंके हितके लिए धर्मामृतकी वृष्टि करते हुए अबुद्धिपूर्वक सर्वप्राणियोंके उद्धारकी भावनाके अतिशयसे प्रेरित होकर[2] भव्यजनोंके पुण्यके कारण तथा शेष कर्मफलके सम्बन्धसे विहार करते हैं। प्रतिसमय कर्मप्रदेशोंकी असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा करते हुए धर्मतीर्थ प्रवर्तनके लिए यथोचित धर्मक्षेत्रमें अतिशयीविभूतिके साथ प्रशस्तविहायोगति नामकर्मके कारण तथा स्वभावसे बिहार करते हैं[3]।

शङ्का—अर्हत्भगवान्का व्यापार अर्थात् अतिशयबिहार अभिसन्धिपूर्वक (इरादेसे) होता है, अन्यथा यत्किंचनकरित्व (यद्वा-तद्वा कुछ भी किये जानेपर) के दोष (अनुषजनात्) का प्रसंग आ जावेगा। यदि अभिसंधि पूर्वक माना जाता है तो इच्छा होनेसे असर्वज्ञ हो जावेंगे जो इष्ट नहीं है।

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि कल्पतरुके समान इच्छाके बिना भी केवली के परार्थकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है अथवा दीपकके समान। जैसे दीपक कृपालु होकर स्व और परके अन्धकारको दूर नही करता, किन्तु स्वभावसे ही स्वपरसम्बन्धी अन्धकारको दूर करता है इसमें कुछ भी बाधा नही आती है। कहा भी है—

"जगते त्वया हितमवादि न च विवदिषा जगद्गुरो।
कल्पतरुरनभिसन्धिरपि प्रणयिभ्य ईप्सितफलानि यच्छति ॥
[4]कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥
विवक्षासन्निधानेऽपि वाग्वृत्तिर्जातु नेक्ष्यते।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥"

"हे जगद्गुरो ! आपके द्वारा जगत्का कल्याण विवादका विषय नही है, क्योंकि इच्छा रखनेवाले प्राणियोंके लिए कल्पवृक्ष बिना इच्छाके ही वाञ्छितफलोंको

१. "परार्थप्रवृत्तिस्वभाव्यात्" (जयधवल मूल पृष्ठ २२७१)
२. "अबुद्धिपूर्वमेव सर्वसत्त्वाभ्युद्धारभावनातिशयप्रेरित:" (ज. ध. मूल पृष्ठ २२७१)
३. प्रवचनसारगाथा ४४-४५।
४. स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक ७४।

देता है। हे मुनीश ! आपकी मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियां इच्छापूर्वक नहीं होती, हे धीर ! असमीक्षापूर्वक (बिनाविचारे) आपकी प्रवृत्तियां नही होती इसलिए आपकी प्रवृत्ति अचिन्त्य है। कहनेकी इच्छा होनेपर भी वचनप्रवृत्ति कदाचित् नही देखी जाती, जैसे मन्दबुद्धिलोग शास्त्रोंके वक्ता होनेकी इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिके कारण कुछ कह नही सकता।" इसलिए परमोपेक्षासंयमविशुद्धिमे स्थित केवलीके विशेष अतिशय व्याहार (दिव्यध्वनि) आदि व्यापार स्वाभाविक हैं, पुण्यबन्धके कारण नही है। आर्षमें कहा भी है—

"तित्थयरस्स विहारो लोयसुहो णेव तस्स पुण्णफलो।
वयण च दाणपूजारभयरं तण्ण लेवेइ[1] ॥"

भगवानका बिहाररूप अतिशय भूमिको स्पर्श न करते हुए आकाशमें भक्तिसे प्रेरित देवोके द्वारा रचित स्वर्णमयी कमलोंपर प्रयत्न विशेषके बिना ही अपने माहात्म्यातिशयसे होता है ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि उनकी योगशक्ति अचिन्त्य है। कहा भी है—

"नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजै पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै[2] ॥

हे जिनेन्द्र ! कामदेवके गर्वको नष्ट करनेवाले आपने सहस्रदल कमलोके मध्यमें चलनेवाले अपने चरणकमलोके द्वारा आकाशतलको पल्लवोंसे युक्त जैसा करते हुए पृथ्वीपर स्थित प्रजाजनोकी विभूतिके लिए बिहार किया था।

सयोगिजिनके प्रथमसमयसे लेकर केवलीसमुद्घातके अभिमुख केवलीके प्रथमसमयतक अवस्थित एकरूपसे गुणश्रेणि निक्षेपका क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रतिसमय परिणाम अवस्थित हैं और परिणामोके निमित्तसे होनेवाला कर्मप्रदेशोका अपकर्षण व गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम सदृश अर्थात् अवस्थितरूपको छोड़कर विसदृशरूप परिणमन नही करता यानि अपकर्षित कर्मप्रदेशोंकी सख्यामें या गुणश्रेणिआयाममे हीनाधिकता नही होती, किन्तु क्षीणकषायगुणस्थानमें गुणश्रेणिके निमित्तसे जो द्रव्य अपकर्षित किया

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७१।

२. स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ३०।

जाता था उससे असंख्यातगुणा द्रव्य सयोगकेवली अपकर्षित करते हैं। गुणश्रेणिनिक्षेप-का आयाम संख्यातगुणा हीन है, क्योंकि छद्मस्थके परिणामोसे केवलीके परिणाम विशुद्ध-तर हैं, ऐसा ११वी गुणश्रेणिप्ररूपणामें कहा गया है। इसप्रकार आयुकर्मको छोड़कर शेष तीनअघातिया कर्मोंके प्रदेशोंकी असख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा करनेवाले तथा धर्मतीर्थको फैलानेवाले उत्कृष्टरूपसे कुछकम पूर्वकोटि कालतक बिहार करते हैं। तीर्थङ्करकेवलीके और अन्य केवलियोके जघन्यकालका उत्कृष्टकालप्रमाण आगमसे जान लेना चाहिए। तीर्थङ्करकेवली समवशरणविभूतिके साथ बिहार करते हैं[1]।

पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं।
समयपबद्धं बंधादि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी ॥२२७॥६१८॥

अर्थ—सयोगिजिन प्रतिसमय औदारिकशरीररूप नोकर्मसम्बन्धी आहार-वर्गणारूप समयप्रबद्धको बांधते हैं जिसकी स्थिति सयोगिजिनसे पूर्व अवस्थामें व्यतीत हुई आयुके बिना शेष बची आयुप्रमाण जानना।

विशेषार्थ—नोकर्मवर्गणा ग्रहणकरना ही आहारमार्गणा है और इसका सद्भाव केवलीभगवान्के है, क्योकि ओज, लेप, मानसिक, कवल, कर्म और नोकर्मके भेद-से छहप्रकारका आहार है। इन छहप्रकारके आहारमे से कर्म व नोकर्मरूप दोप्रकारका आहार पाया जाता है। सातावेदनीयके समयप्रबद्धको ग्रहण करता है वह कर्मआहार है तथा औदारिकशरीररूप समयप्रबद्धको ग्रहण करता है वह नोकर्म आहार है।

णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे।
णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ ॥२२८॥६१९॥

अर्थ—इतनी विशेषता है कि केवलीसमुद्घातको प्राप्त केवलीभगवान्में प्रतरके दो, लोकपूरणके एक इन तीनसमयोंमें नोकर्मका आहार नही है अन्यसर्वकालमें नोकर्म-का आहार पाया जाता है।

अथानन्तर पश्चिमस्कंधद्वारका कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तमाऊ परिसेसे केवली समुग्घादं।
दंड कवाटं पदरं लोगस्स य पूरणं कुणदी ॥२२९॥६२०॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२।

हेट्ठा दंडस्संतोमुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं ।
तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिणिंदस्स ॥२३०॥६२१॥
सट्ठाणे आवज्जिदकरणेवि य णत्थि ठिदिरसाण हदी ।
उदयादि अवट्ठिदया गुणसेढी तस्स दव्वं च ॥२३१॥६२२॥
जोगिस्स सेसकाले गयजोगी तस्स संखभागो य ।
जावदियं तावदिया आवज्जिदकरणगुणसेढी ॥२३२॥६२३॥
ठिदिखंडमसंखेज्जे भागे रसखंडमप्पसत्थाणं ।
हणदि अणंता भागा दंडादी चउसु समएसु ॥२३३॥६२४॥
चउसमएसु रसस्स य अणुसमओवट्टणा असत्थाणं ।
ठिदिखंडस्सिगिसमयिगघादो अंतोमुहुत्तुवरिं ॥२३४॥६२५॥
जगपूरणम्हि एक्का जोगस्स य वग्गणा ठिदी तत्थ।
अंतोमुहुत्तमेत्ता संखगुणा आउआ होदि ॥२३५॥६२६॥
एत्तो पदर कवाडं दंडं पच्चा चउत्थसमयम्हि ।
पाविसिय देहं तु जिणो जोगणिरोधं करेदीदि ॥२३६॥कुलयं॥६२७॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहनेपर केवलीभगवान् समुद्घातक्रिया दंड, कपाट, प्रतर व लोकपूरणरूपसे करते हैं। दंडसमुद्घात करनेके समयमें अन्तर्मुहूर्तकाल-तक अधः (पहले) आवर्जितकरण होता है। जिनेन्द्रभगवानका समुद्घात करनेके सम्मुख होना ही आवर्जितकरण कहलाता है। आवर्जितकरणकरनेके पहले जो स्वस्थान है उसमें और आवर्जितकरणमें सयोगकेवलीके स्थिति व अनुभागघात नहीं है तथा उदयादि अवस्थितरूप गुणश्रेणि आयाम है एवं उस गुणश्रेणिआयामका द्रव्य भी अवस्थित है। आवर्जितकरण करनेके पहले समयमें जो सयोगकेवलीका अवशिष्टकाल और अयोग-केवलीके सर्वकालका संख्यातवांभाग इन दोनोंको मिलानेपर जितना प्रमाण आवे उतने प्रमाण आवर्जितकरणकालका अवस्थितगुणश्रेणिआयाम जानना। दंडादिसमुद्घातके चारसमयोंमें स्थिति तो असंख्यातबहुभागप्रमाण और अप्रशस्तकर्मोंका अनुभागका अनंत-

बहुभागप्रमाण घात होता है। इसप्रकार चारसमयोंमें अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अपवर्तन तथा स्थितिखंडका एकसमयवाला घात हुआ। एक-एकसमयमें जो एक-एकस्थितिकाण्डकघात किया सो यह समुद्घात क्रियाका माहात्म्य है। लोकपूरणके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिकाण्डक या अनुभागकाण्डकका आयाम (उत्कीरणकाल) होता है। लोकपूरण समुद्घातमें योगकी समानता हो जानेपर योगकी एकवर्गणा हो जाती है। यहां आयुसे संख्यातगुणी अन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्थितिको स्थापित करता है। लोकपूरणके अनन्तर प्रथमसमयमें लोकपूरणको समेटकर आत्मप्रदेशोंको कपाटरूप करता है तथा तृतीयसमयमें कपाटको समेटकर दण्डरूप आत्मप्रदेशोंको करता है, इसके अनन्तर चतुर्थसमयमें दण्डको समेटकर सर्वआत्मप्रदेश मूलशरीरमें प्रवेश कर जाते हैं। यहांसे अन्तर्मुहूर्त जाकर जिन (अर्हन्तभगवान) योगका निरोध करते हैं।

विशेषार्थ—केवलज्ञानको उत्पन्नकरके स्वस्थान सयोगकेवली होकर उत्कृष्टसे कुछकम पूर्वकोटिप्रमाण विहार करते हैं। अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहनेपर अघातिया-कर्मोंकी स्थितिको समान करनेके लिए सर्वप्रथम आवर्जितनामक क्रियान्तरको करता है।

शङ्का—आवर्जितकरण किसे कहते हैं?

समाधान—केवलीसमुद्घातके अभिमुखभावको आवर्जितकरण कहते हैं। केवली आवर्जितकरणका पालन करते हैं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणवाले आवर्जितकरणके बिना केवलीसमुद्घातक्रियाके अभिमुखभावकी उत्पत्ति नही होती। उससमय नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मके प्रदेशपिण्डका अपकर्षणकरके उदयस्थितिमें स्तोकप्रदेशाग्र देता है उसके अनन्तर असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रको देता है। इसप्रकार शेष सयोगकेवली व अयोग-केवलीकालसे विशेषअधिककालतक असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे देता जाता है जबतक अपना गुणश्रेणिशीर्ष प्राप्त नही होता। इससे पूर्वसमयमें स्वस्थानसयोगकेवलीके गुण-श्रेणिआयामसे वर्तमानगुणश्रेणिआयाम संख्यातगुणाहीन है अतः पूर्वके गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम अनन्तरस्थितिमे भी असख्यातगुणे प्रदेशाग्र देता है उससे ऊपर सर्वत्र विशेष (चय) हीन देता है। इसप्रकार आवर्जितकरणकालमें सर्वत्र गुणश्रेणिनिक्षेप जानना। यहासे लेकर सयोगकेवलीके द्विचरम स्थितिकाण्डककी चरमफालिपर्यन्त गुणश्रेणिनिक्षेपा-यामका अवस्थितआयामरूपसे प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है; यह असिद्ध भी नही क्योंकि सूत्रअविरुद्ध परमगुरुसम्पदाके बलसे सुपरिनिश्चित है।

शङ्का—स्वस्थानकेवलीके और क्रियाभिमुखकेवलीके अवस्थित एकस्वरूप परिणाम होते हुए भी गुणश्रेणिनिक्षेपमें विसदृशपना किसकारणसे है ?

समाधान—वीर्यपरिणामोंमें भेदका अभाव होनेपर भी अन्तर्मुहूर्त शेष रह जानेकी अपेक्षा अन्तरंगपरिणामोंकी विशेषतावाले और क्रियाभेदके साधनमें प्रवर्तनेवालेके प्रतिबन्धका अभाव है[1]। अर्थात् स्वस्थानकेवलीसे आवर्जितकरण केवलीके गुणश्रेणिआयाम व गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप समान होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक आवर्जितकरणसम्बन्धी व्यापारविशेषका पालनकरके स्थितकेवली अनन्तर समयमें केवलीसमुद्घातको करता है।

शंका—केवलीसमुद्घात किसे कहते हैं ?

समाधान—"उद्गमनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः। समीचीन उद्घातः समुद्घातः, केवलिनां समुद्घातः केवलीसमुद्घातः"[2] उद्गमको उद्घात कहते हैं अर्थात् जीवप्रदेशोंका फैलना उद्घात है, समीचीनउद्घात समुद्घात है। केवलियोंका समुद्घात केवलीसमुद्घात है। अघातियाकर्मोंकी स्थितिका समीकरण करनेके लिए केवलीजिनके आत्मप्रदेशोंका आगमअविरुद्धसे ऊपर, नीचे व तिर्यक्रूपसे फैलनेको केवलीसमुद्घात कहते हैं। अन्य समस्त समुद्घातोंका निषेध करनेके लिये यहांपर केवली विशेषण दिया गया है, क्योंकि यहां अन्यसमुद्घातोंका अधिकार नहीं है। दण्ड, कपाट, प्रतर व लोकपूरणके भेदसे वह केवलीसमुद्घात चारप्रकारका है। उनमें सर्वप्रथम दंडसमुद्घातका स्वरूप कहते हैं, केवलीजिन सर्वप्रथम दंडसमुद्घातको ही करते हैं।

शंका—दण्डसमुद्घातका क्या लक्षण है ?

समाधान—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रह जानेपर केवलीसमुद्घातको करनेवाले केवलीजिन पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग या पल्यकासनमें स्थित

---

१. णेदमेत्थासकणिज्जं, सत्थाणकेवलिणो किरियाहिमुहकेवलिणो च अवट्ठिदेगसरूवपरिणामत्ते सते कुदो एवमेत्थुद्दं से गुणसेढिणिक्खेवस्स विसरिसभावो जादोत्ति। किं कारण ? वीयरायपरिणामभेदाभावे वि अंतोमुहुत्तसेसाउसव्वपेक्खाणमंतरंगपरिणामविसेसाण किरियाभेदसाहणभावेण पयट्टमाणाण पडिबंधाभावादो। (जयधवल मूल पृष्ठ २२७८)

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७८।

होते हैं। कायोत्सर्गसे दण्डसमुद्घात करनेवालेके विस्तारमें मूलशरीरकी परिधिप्रमाण-वाले जीवप्रदेश निकलकर दण्डाकार कुछकम १४ राजू आयामवाले हो जाते हैं। 'देसोरा' से अभिप्राय लोकके ऊपर और नीचे वातवलयोसे अविरुद्धक्षेत्रका है, क्योकि स्वभावसे ही उस अवस्थामें केवलीजिनके प्रदेशोंका वातवलयमें प्रवेशका अभाव है। इसीप्रकार पल्यंकासनवाले केवलियोंके दण्डसमुद्घातका कथन करना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि मूलशरीरकी परिधिसे दण्डसमुद्घातकी परिधि तिगुणी होती है। इसप्रकारकी अवस्था विशेषको दण्डसमुद्घात कहते हैं। इसमें जीवप्रदेश दण्डाकार से फैलते हैं अतः यह दण्डसमुद्घात कहलाता है। दण्डसमुद्घातमें औदारिककाययोग होता है, क्योकि अन्ययोग असम्भव है। उसीसमय पल्योपमके असख्यातवेंभागप्रमाण स्थिति सत्कर्मवाले तीनअघातियाकर्मोकी स्थितिके असंख्यातबहुभाग घात करनेसे सख्यातवेभागप्रमाण स्थिति शेष रह जाती है। केवलीसमुद्घातके प्रभावसे एकसमयमें ही स्थितिघात हो जाता है। अप्रशस्तप्रकृतियोका जो अनुभाग क्षीणकषायगुणस्थानके द्विचरमसमयमें था चरमसमयमें उसका अनन्तबहुभाग घातहोकर अनन्तवेंभागप्रमाण अनुभागसत्कर्म शेष रह जाता है, उसका भी अनन्तबहुभाग समुद्घातगत केवलीके प्रथम-समयमें होकर अनन्तवेंभागप्रमाण अनुभागसत्कर्म रह जाता है। प्रशस्तप्रकृतियोंका स्थितिघात तो होता है, किन्तु अनुभागघात यहां नही होता है। आवर्जितकरणमे जैसी गुणश्रेणिप्ररुपणा की गई थी वैसी ही प्ररुपणा यहां भी करना चाहिए। (इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वस्थानकेवलि व आवर्जितकरणकेवलिके स्थिति व अनुभागघात नही होता।)

अनन्तरसमयमें अर्थात् केवलीसमुद्घातके द्वितीयसमयमें कपाटसमुद्घात होता है। जैसे किवाड़ (कपाट) बाहल्य (मोटाई) में स्तोक होकर भी विषकम्भ और आयाममें (लम्बाई-चौड़ाईमें) बढ़ता है उसीप्रकार विस्तारमें जीवप्रदेश मूलशरीर-प्रमाण या मूलशरीरसे तिगुणे होकर कुछकम चौदहराजू लम्बे और दोनों पार्श्वभागोमें सातराजू या हानि-वृद्धिरूप सातराजू चौड़े फैल जाते हैं इसलिए इसको कपाट (किवाड़) समुद्घात कहा है। यहां स्फुट कपाटरूप संस्थान उपलब्ध होता है तथा पूर्व या उत्तर-मुखके कारण विष्कम्भमें भेद हो जाता है। कपाटसमुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग होता है। कार्मण और औदारिक इन दोनोंकी मिली हुई अवस्थाके अवलम्बनसे जीव-प्रदेशोंकी परिस्पन्दरूप पर्याय उत्पन्न होती है। शेषकर्मस्थितिका असंख्यातबहुभाग

और अप्रशस्तप्रकृतियोंके शेष अनुभागके अनन्तबहुभागका घात कपाटसमुद्घातमें होता है। यहां गुणश्रेणीकी प्ररुपणा आवर्जितकरणमें कथित गुणश्रेणिप्ररुपणाके समान ही है।

केवलीसमुद्घातके तृतीयसमयमें मंथ (प्रतर) समुद्घात होता है, जिसके द्वारा कर्मोंका मथन किया जावे वह मन्थ है। अघातियाकर्मोंकी स्थिति व अनुभागका हनन होता है और आत्मप्रदेशोंकी अवस्थाविशेष (प्रतररूपसे फैल जाते हैं) को प्रतरसंज्ञावाला मन्थ कहा गया है। इस अवस्थाविशेषमें वर्तन करनेवाले केवलीके जीवप्रदेश चारों ओर प्रतराकारसे फैल जाते हैं, वातवलयोंके अतिरिक्त शेष समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें व्याप्त हो जाते हैं, क्योंकि इस अवस्थामें वातवलयोमें केवलीके जीवप्रदेशोके संचारका अभावरूप स्वभाव है, जीवप्रदेशोंकी ऐसी अवस्थाको प्रतरसंज्ञा आगमरुढिके बलसे जानना। इस अवस्थामें केवली कार्मणकाययोगी व अनाहारक हो जाते हैं। मूलशरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न जीवप्रदेशोका परिस्पन्दन असम्भव है क्योंकि शरीरके तत्प्रायोग्य नोकर्म पुद्गलपिण्डके ग्रहणका अभाव है। स्थितिसत्कर्मके असख्यातबहुभाग और अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागसत्कर्मके अनन्तबहुभागका पूर्वके समान ही घात होता है और उसीप्रकार प्रदेश निर्जरा भी होती है। स्वस्थानकेवलीकी गुणश्रेणिनिर्जरासे असंख्यातगुणी गुणश्रेणीनिर्जरा आवर्जितकरण आदि अवस्थाओंमें होती है।

तदनन्तर चतुर्थसमयमें लोकपूरणसमुद्घात होता है। वातवलयसे अविरुद्ध लोकाकाशके प्रदेशोंमें जीवप्रदेश प्रवेशकर जानेपर जीवप्रदेश व लोकाकाशके प्रदेशोंमें समानता होनेसे सम्पूर्ण लोकाकाशमें जीवप्रदेश निरन्तर (अन्तररहित) व्याप्त हो जाते हैं इसलिए 'लोकपूरण' संज्ञावाला यह चतुर्थ केवलीसमुद्घात है। यहांपर भी कार्मणकाययोग व अनाहारकअवस्था होती है, क्योंकि शरीरनिर्वृत्तिके लिए औदारिकरूप नोकर्मवर्गणाओंका निरोध देखा जाता है। लोकपूरणसमुद्घातमें वर्तन करनेवाले केवलीके लोकप्रमाण समस्त जीवप्रदेशोंमें वृद्धि-हानिके बिना योग-अविभागप्रतिच्छेद सदृश होकर परिणमन करते हैं इसलिए सर्वजीवप्रदेशोमे एक योगवर्गणा हो जाती है अर्थात् सर्वजीव प्रदेशोंमें समान योग होता है। सर्वजीवप्रदेशोंमें सदृशयोगशक्तिके अतिरिक्त विसदृशयोग शक्तिकी अनुपलब्धि है। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जघन्ययोगसे असख्यातगुणा तत्प्रायोग्य मध्यमयोगस्वरूप वह सदृशयोग परिणाम होता है। लोकपूरण समुद्घातमें असंख्यातबहुभागप्रमाण स्थितिका घात हो जानेपर शेषस्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण रह

जाती है जो शेषआयुसे संख्यातगुणी है। लोकपूरणसमुद्घात हो जानेपर भी तीन-अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्कर्म आयुकर्मके समान नहीं हुआ, किन्तु संख्यातगुणा है, परन्तु महावाचक आर्यमंक्षु आचार्यने क्षपणके उपदेशमें यह कहा है कि लोकपूरणसमुद्घातमें नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मका स्थितिसत्कर्म अन्तर्मुहूर्तप्रमाण शेषआयुके बराबर हो जाता है। इस व्याख्यानसे चूर्णिसूत्र (यतिवृषभाचार्यकृत) विरुद्ध है, क्योंकि चूर्णिसूत्रमें मुक्तकण्ठसे कहा गया है कि शेषआयुसे संख्यातगुणी अघातियाकर्मोंकी स्थिति रह जाती है। इसप्रकार यहां दो उपदेश हैं। प्रवर्त्तमान उपदेशकी प्रधानताका अवलम्बन लेकर यहां शेष आयुसे संख्यातगुणी तीन अघातियाकर्मोंकी स्थिति कही गई है।

समुद्घातके इन चारसमयोंमें प्रतिसमय अप्रशस्तकर्मोंके अनुभागका अपवर्तनाघात होता है। इनचार समयोंमें एक-एकसमयमें एक-एकस्थितिघात होता है। आवर्जितकरणके अनन्तर केवलीसमुद्घात करके नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति शेष रह जाती है।

शङ्का—लोकपूरणसमुद्घातक्रियाके पूर्ण होनेपर केवली समुद्घातक्रियाका उपसंहार (संकोच) करके स्वस्थानको किसप्रकार प्राप्त होते हैं?

समाधान—लोकपूरणसमुद्घातके अनन्तर पुनः मन्थक्रिया होती है, क्योंकि मन्थपरिणाम (पर्याय) के बिना संकोच नहीं हो सकता। लोकपूरणसमुद्घात संकुचित होनेपर समयोगपर्यायका नाश होकर आगमके अविरोधसे सर्व पूर्वयोग-स्पर्धक उद्घाटित हो जाते हैं। मन्थ (प्रतर) का संकोच होकर कपाटरूप प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कपाटरूप पर्यायके बिना मन्थका संकोच नहीं हो सकता। अनन्तरसमयमें दण्डसमुद्घातरूप परिणमन करनेपर कपाटका संकोच होता है तथा तदनन्तरसमयमें स्वस्थानकेवलीपर्याय के द्वारा दण्डसमुद्घातका संकोच करके हीनाधिकतासे रहित मूलशरीरप्रमाण जीवप्रदेशोंका अवस्थान हो जाता है। इसप्रकार संकोच करनेवालेके तीनसमयप्रमाण काल है, चौथेसमयमें स्वस्थानकेवली हो जाते हैं। किन्हींके व्याख्यानुसार संकोच करनेवालेका चारसमय काल है, क्योंकि जिससमयमें दण्डसमुद्घातका संकोच होता है वह समय भी समुद्घातमें ही अन्तर्भूत कर लिया है। पूर्ववत् प्रतरसमुद्घातमें कार्मणकाययोग, कपाटसमुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग और दण्डसमुद्घातमें औदारिककाययोग होता है। कहा भी है—

दण्डं प्रथमे समये कवाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मथानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थेतु ।।
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मथानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके च कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ।।

प्रथमसमयमें दण्ड, अनन्तर अगलेसमयमें कपाट, तृतीयसमयमें मंथान और चतुर्थसमयमें लोकव्यापी, पांचवें समयमे संकोचक्रिया, छठे समयमें मथान, सातवें समयमें कपाट तथा उसका संकोच होकर आठवें समयमें दण्ड हो जाता है। इसप्रकार समुद्घात प्ररुपणा समाप्त हुई[1] ।

लोकपूरणसमुद्घातसे उतरनेवाला अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिके संख्यातबहुभागको घातनेके लिए स्थितिकाण्डकघातको और अप्रशस्तप्रकृतियोके पूर्वघातित अवशेष अनुभागके अनन्तबहुभागको घातनेके लिए अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ करता है। यहां स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातका उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योकि लोकपूरणसमुद्घातके अनन्तरसमयसे प्रतिसमय एकसमयवाला स्थितिघात व अनुभागघात नही होता। इसप्रकारसे समुद्घातको संकोच करनेके कालमें और स्वस्थानकालमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघात हो जानेपर योग निरोध करता है।

बादरमण वचि उस्सास कायजोगं तु सुहुमजचउक्कं ।
रुंभदि कमसो बादरसुहुमेण य कायजोगेण ॥२३७॥६२८॥
सण्णिविसुहुमाणि पुण्णे जहण्णमणवयणकायजोगादो ।
कुणदि असंखगुणूणं सुहुमणिपुण्णवरदोवि उस्सासं ॥२३८॥६२९॥
एक्कक्कस्स णिठंभणकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो हु ।
सुहुमं देहणिमाणमाणं हियमाणि करणाणि ॥२३९॥६३०॥

अर्थ—बादर काययोगद्वारा मनोयोग-वचनयोग-उच्छ्वास-काययोग, इन चारोंको क्रमसे नष्ट करता है तथा सूक्ष्मकाययोगरूप होकर उन चारोंसूक्ष्म योगोंको क्रमसे

---

1. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२ से २२८२ ।

नष्ट करता है। संज्ञीपर्याप्तके जो जघन्यमनोयोग पाया जाता है उससे असंख्यातगुणा-हीन सूक्ष्ममनोयोग करता है और द्वीन्द्रियपर्याप्तकके जो जघन्य वचनयोग पाया जाता उससे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्मवचनयोग करता है तथा सूक्ष्मनिगोद पर्याप्तके जघन्य काययोगसे असख्यातगुणाहीन सूक्ष्मकाययोग करता है तथा सूक्ष्मनिगोदिया पर्याप्तके जघन्यउच्छ्वाससे असख्यातगुगाहोन सूक्ष्म उच्छ्वास करता है। एक-एकबादर व सूक्ष्म मनोयोगादिके निरोधकरनेका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना तथा सूक्ष्मकाययोगमें स्थित रहते हुए सूक्ष्मउच्छ्वासको नष्टकरनेके अनन्तर सूक्ष्मकाययोगको नष्ट करनेके लिए प्रवृत्त होता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विधिसे समुद्घातको संकोचकरके स्वस्थानकेवलो होकर संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डक व्यतीत हो जानेपर योगनिरोधके लिए क्रियान्तर करते हैं।

शङ्का—योग किसे कहते हैं ?

समाधान—मन-वचन-कायकी चेष्टासे निर्वतित कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण-भूत शक्तिस्वरूप जीवप्रदेशोंका परिस्पदन योग कहा जाता है।

वह योग तीनप्रकारका है—मनोयोग, वचनयोग व काययोग। उनमेंसे प्रत्येक योग सूक्ष्म व बादरके भेदसे दोप्रकारका है। योगनिरोधक्रियासे पूर्व सर्वत्र बादरयोग होता है, बादरयोगके पश्चात् सूक्ष्मयोगरूपसे परिणमनकर योगनिरोध करता है, मात्र बादरयोगसे ही प्रवृत्ति करनेवालेके योगनिरोध नही होता। योगनिरोध करनेवाले केवलीभगवान् सर्वप्रथम ही बादरकाययोगके अवलम्बनके बलसे बादरमनोयोगका निरोध करते हैं। बादरकाययोगसे वर्तन करते हुए बादरमनोयोगकी शक्तिको निरोधकर सूक्ष्मभावसे सज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्तके सर्वजघन्य मनोयोगसे नीचे असख्यातगुणी हीन शक्ति वाले सूक्ष्ममनोयोगको स्थापित करते हैं। बादरमनोयोगकी शक्तिका निरोध करके अन्तर्मुहूर्तप्रमाणकालके द्वारा बादरकाययोगका अवलम्बन लेकर बादरवचनयोगशक्तिका भी निरोध करते हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी सर्वजघन्य योगशक्तिसे लेकर उपरिम सर्व-वचनयोगशक्ति बादर वचनयोगशक्ति है। उस बादरवचनयोग शक्तिको रोककर द्वीन्द्रियपर्याप्तकी सर्वजघन्य वचनयोगशक्तिसे नीचे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्मवचनयोगरूप कर देते हैं, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे बादरकाययोगके द्वारा बादरउच्छ्वास-निश्वासका

निरोध करते हैं। सूक्ष्मनिगोदनिवृत्तिपर्याप्त अर्थात् आनपानपर्याप्तिसे पर्याप्तके सर्वजघन्य-उच्छ्वास-नि.श्वासशक्तिसे असंख्यातगुणी संज्ञीपंचेन्द्रियकी उच्छ्वास-निःश्वासरूप परिस्पन्दशक्तिका बादरउच्छ्वास-नि श्वासरूपसे ग्रहण करना चाहिए। उस बादरउच्छ्वास-निःश्वासका निरोधकरके सूक्ष्मनिगोदियाकी सर्वजघन्यउच्छ्वासशक्तिसे नीचे असंख्यातगुणीहीन सूक्ष्मशक्तिरूप कर देता है, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे बादरकाययोगके द्वारा बादरकाययोगका निरोधकर सूक्ष्मरूप कर देते हैं, सूक्ष्मनिगोदियाके जघन्यकाययोगसे असख्यातगुणीहीनशक्तिसे परिणमा देते हैं। इस सम्बन्धमें दो उपयोगीश्लोक है—

"पंचेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात्।
निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्य संख्यातगुणहीनं ॥
द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावघो जयति तद्वत्।
पनकस्य कायजोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥"

संज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्याप्तके जघन्ययोगका निरोध होकर, उससे भी असंख्यातगुणाहीन मनोयोग हो जाता है। द्वीन्द्रियपर्याप्तके जघन्यवचनयोगका निरोध होकर उससे भी असख्यातगुणाहीन वचनयोग हो जाता है। साधारण अर्थात् निगोदियाके जो जघन्य-उच्छ्वास है तथा सूक्ष्मवनस्पतिकाय अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जो जघन्य उच्छ्वास है तथा सूक्ष्मवनस्पतिकाय अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियाके जो जघन्यकाययोग है उन बादर-बादर वचन, उच्छ्वास व काययोगका निरोध होकर उनसे भी असंख्यातगुणाहीन वचनयोग, उच्छ्वास व काययोग हो जाता है। इसप्रकार यथाक्रम बादरमनोयोग, बादरवचनयोग, बादरउश्वास-निःश्वास व बादरकाययोगशक्तिका निरोध होकर सूक्ष्मपरिस्पन्दशक्ति हो जाती है। इसके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्ममनोयोगका निरोध करते हैं अर्थात् विनाश करते हैं। यहांपर सूक्ष्ममनोयोगसे, सज्ञीपंचेंद्रियपर्याप्तके सर्वजघन्य परिणामसे असख्यातगुणेहीन अवक्तव्यस्वरूप द्रव्यमनोयोगके निमित्तसे जो जीवप्रदेशोमें परिस्पन्द होता है, उसका ग्रहण होता है। उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे सूक्ष्मवचनयोगका निरोध अर्थात् विनाश होता है। द्वीन्द्रियपर्याप्तके सर्वजघन्यवचनयोगशक्तिसे नीचे असख्यातगुणेहीन वचनयोगको सूक्ष्मवचनयोग कहते हैं, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्मउच्छ्वासका निरोध (नाश) करता है। यहां भी सूक्ष्मनिगोदियापर्याप्तजीवके सर्वजघन्यउच्छ्वाससे नीचे

असंख्यातगुणीहीन उच्छ्वासशक्तिका ग्रहण होता है । बादर व सूक्ष्ममनोयोगादि प्रत्येकके निरोध करनेमें अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है । योगनिरोध करनेवाले केवली सूक्ष्मकाययोग-के द्वारा मन, वचन व उच्छ्वासकी सूक्ष्मशक्तिको भी यथोक्तक्रमसे निरोध (नाश) करके सूक्ष्मकाययोगका निरोध करनेके लिए इन करणोंको अबुद्धिपूर्वक करते हैं[1] ।

सुहुमस्स य पढमादो मुहुत्तअंतोत्ति कुणदि हु अपुव्वे ।
पुव्वगफड्डगहेट्ठा सेढिस्स असंखभागमिदो ॥२४०॥६३१॥

पुव्वादिवग्गणाणं जीवपदेसा विभागपिंडादो ।
होदि असंखं भागं अपुव्वपढमम्हि ताण दुगं ॥२४१॥६३२॥

ओक्कट्टदि पडिसमयं जीवपदेसे असंखगुणियकमे ।
कुणदि अपुव्वफड्डयं तग्गुणहीणक्कमेणेव ॥२४२॥६३३॥

सेढिपदस्स असंखं भागं पुव्वाण फड्डयाणं वा ।
सव्वे होंति अपुव्वा हु फड्डया जोगपडिवद्धा ॥२४३॥कुलयं॥६३४॥

अर्थ—सूक्ष्मयोग होनेके प्रथमसमयसे अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर पूर्वस्पर्धकोंके नीचे जगच्छ्रेणीके असंख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक करते हैं । पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी जीवप्रदेशके असंख्यातवेंभागप्रमाण जीवप्रदेशोंद्वारा प्रथमसमयमें अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है जिनमें पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवेंभागप्रमाण अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । प्रतिसमय असंख्यात-असंख्यातगुणे क्रमसे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण करते हैं, किन्तु नवीन अपूर्वस्पर्धक असंख्यातगुणेहीन क्रमसे रचे जाते हैं । योगसम्बन्धी सर्व अपूर्व-स्पर्धक जगच्छ्रेणीके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागप्रमाण अथवा सर्व पूर्वस्पर्धकोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण होते हैं ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मनिगोदियाजीवके जघन्ययोगसे असंख्यातगुणीहीन सूक्ष्मकाय-परिस्पन्दनशक्तिरूप परिणमन होनेपर भी पूर्वस्पर्धक ही हैं, उससे अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रथमसमयमें पूर्वस्पर्धकोंके नीचे अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है जिनकी संख्या पूर्व-

---

1. जयधवल मूल पृष्ठ २२८३ से २२८५ ।

स्पर्धकोंके अथवा जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण है। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जघन्य-योगस्थानसे असंख्यातगुणेहीन सूक्ष्मकाययोगके अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसमें भी आदिवर्गणाके असंख्यातवेंभागरूप परिणमाकर अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है। यहाँ असंख्यातवेंभागसे पल्यका असंख्यातवांभाग ग्रहण करना चाहिए। प्रथमसमयमें असंख्यातवेंभागप्रमाण जीवप्रदेशोंका अपकर्षणकरके अपकर्षित जीवप्रदेशोंमें से बहुत जीवप्रदेश अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें दिये जाते हैं, क्योंकि सर्वजघन्यशक्तिरूपसे परिणमन करते हुए जीवप्रदेशोंमें बहुत्व होनेमें विरोधका अभाव है। अपूर्वस्पर्धककी ही द्वितीयवर्गणामें विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जानेका यह क्रम अपूर्वस्पर्धककी चरमवर्गणातक जानना चाहिए। विशेष-हीनके लिए प्रतिभागका प्रमाण श्रेणिका असंख्यातवांभाग है। पुनः अपूर्वस्पर्धककी चरमवर्गणासे असंख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें दिये जाते हैं। यहाँ हानिगुणकारका प्रमाण पल्यके असंख्यातवेंभागमात्र होते हुए भी अपकर्षण उत्कर्षण-भागहारसे अधिक है। उससे ऊपर आगमसे अविरुद्धरूपसे विशेषहीन-विशेषहीन जीव-प्रदेशोंका विन्यासक्रम जानना चाहिए। इसप्रकार प्रथमसमयमें अपूर्वस्पर्धककी प्ररूपणा कही, तथैव द्वितीयसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है। प्रथमसमयमें किये गए अपूर्वस्पर्धकोंके नीचे उनसे असंख्यातगुणेहीन अपूर्वस्पर्धक द्वितीय-समयमें किये जाते हैं, द्वितीयसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकोंसे असंख्यातगुणेहीन उनके नीचे तृतीयसमयमें अन्य अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं। इसप्रकार नीचे-नीचे अन्तर्मुहूर्तके चरम-समयपर्यन्त असंख्यातगुणेहीन-असंख्यातगुणेहीनरूपसे अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं, किन्तु प्रथमसमयमें जितने जीवप्रदेशोंका अपकर्षण किया था उनसे असंख्यातगुणे जीवप्रदेश द्वितीयसमयमें अपकर्षित किये जाते हैं। इसप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी असंख्यातगुणे जीवप्रदेशोंके अपकर्षणका यह क्रम जानना चाहिए। द्वितीयसमयमें अपकर्षित जीव-प्रदेशोंके द्वारा रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें बहुत जीवप्रदेश दिये जाते हैं तथा उससे आगे द्वितीयसमयमें ही रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी चरमवर्गणातक आदिवर्गणासे विशेषहीन-विशेषहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं। उससे ऊपर प्रथमसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकोंमें से जघन्यस्पर्धककी आदिवर्गणामें असंख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं, इससे ऊपर सर्वत्र विशेषहीन-विशेषहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं। इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण होकर तथा उस

उससमयमें रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमादिवर्गणाओंमें एवं उससे ऊपर पूर्वसमयमें रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमादिवर्गणाओं जीवप्रदेश दिये जाते हैं। सर्व अपूर्वस्पर्धकों-का प्रमाण जगच्छ्रेणीके प्रथमवर्गमूलका असख्यातवांभाग है। पूर्वस्पर्धकोके असख्यातवें-भागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं, क्योकि पूर्वस्पर्धकोंमें पल्यके असंख्यातवेभागप्रमाण गुण-हानियां हैं, उनमेसे एकगुणहानि स्थानान्तरमें जितने स्पर्धक हैं उनसे भी असख्यातगुणे-हीन अपूर्वस्पर्धक हैं।

शंका—गाथासूत्रके बिना यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—सूत्रसे अविरुद्ध गुरूपदेशके बलसे उसप्रकारकी सिद्धि होनेमें कोई विरोध नही है, क्योकि व्याख्यानसे विशेषअर्थकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा न्याय है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अपूर्वस्पर्धक करनेका जो काल है उसके चरमसमयमें अपूर्व-स्पर्धकक्रिया समाप्त हो जाती है। अपूर्वस्पर्धकक्रिया समाप्त हो जानेपर भी सर्व पूर्व-स्पर्धक उसीप्रकार स्थित हैं, क्योकि अभी तक उनके विनाशका अभाव है। यहां सर्वत्र सयोगकेवलीके चरमसमयतक स्थितिघात, अनुभागघात तथा गुणश्रेणीनिर्जराकी प्ररुपणा पूर्वोक्त क्रमसे जानना चाहिए, क्योकि उनकी प्रवृत्तिमें प्रतिबन्धका अभाव है। इसप्रकार अपूर्वस्पर्धकक्रियासम्बन्धी कथन समाप्त हुआ[1]।

एत्तो करेदि किट्टिं मुहुत्तअंतोत्ति ते अपुव्वाणं।
हेट्ठादु फड्डयाणं सेढिस्स असंखभागमिदं ॥२४४॥६३५॥

अपुव्वादिवग्गणाणं जीवपदेसाविभागपिंडादो ।
होंति असंखं भागं किट्टीपढमम्हि ताण दुगं ॥२४५॥६३६॥

ओक्कट्टदि पडिसमयं जीवपदेसे असंखगुणिदकमे।
तग्गुणहीणकमेण य करेदि किट्टिं तु पडिसमए ॥२४६॥६३७॥

सेढिपदस्स असंखं भागमपुव्वाण फड्डयाणं व ।
सव्वाओ किट्टीओ पल्लस्स असंखभागगुणिदकमा ॥२४७॥६३८॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२८५ से २२८७।

अर्थ—इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त अपूर्वस्पर्धकोंके नीचे सूक्ष्मकृष्टि करता है, उन सूक्ष्मकृष्टियोंका प्रमाण जगच्छ्रेणिके असख्यातवेंभागमात्र है। अपूर्व-स्पर्धकसम्बन्धी सर्व जीवप्रदेश और अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद इन दोनोंके असख्यातवेंभागप्रमाणकृष्टि प्रथमसमयमें होती हैं। द्वितीयादि समयोमें प्रतिसमय असख्यातगुणे क्रमसे जीवप्रदेशोका अपकर्षण करता है तथा प्रतिसमय की गई कृष्टियोंके नीचे असख्यातगुणेहीन क्रमसहित नवीनकृष्टियां करता है। सर्वसमयोमें की गई कृष्टियोंका प्रमाण जगच्छ्रेणिके असख्यातवेंभागप्रमाण है अथवा अपूर्वस्पर्धको-के प्रमाणका असंख्यातवेंभागप्रमाण है। सर्वकृष्टियां पल्यके असख्यातवेंभागगुणित क्रमसे हैं।

विशेषार्थ—अपूर्वस्पर्धक करनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालतक कृष्टिकरनेके लिए प्रतिसमय असंख्यातगुणितक्रमसे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण करते हैं। जघन्यकृष्टिमें समान (सदृश) अविभागप्रतिच्छेदवाले असख्यातजगत्प्रतरप्रमाण जीवप्रदेश हैं। जघन्य-कृष्टिके एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोको पल्यके असंख्यातवेंभागसे गुणा करनेपर द्वितीयकृष्टिके एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसप्रकार चरमकृष्टिपर्यन्त पल्योपमके असंख्यातवेंभागप्रमाण प्रत्येककृष्टिगत अविभागप्रतिच्छेद-सम्बन्धी गुणकार जानना। चरमकृष्टिके एकप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंको पल्य-के असंख्यातवेंभागसे गुणा करनेपर अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। उससे ऊपर ऊपर स्पर्धकोंमें अविभागप्रतिच्छेद विशेषअधिक क्रमसे होते है, यह कथन एकजीवप्रदेशकी अपेक्षा किया गया है। अथवा

जघन्यकृष्टिको पल्यके असंख्यातवेंभागसे गुणा करनेपर द्वितीयकृष्टि होती है। यह गुणकार चरमकृष्टितक जानना चाहिए। कृष्टिगत जीवप्रदेशोंके सदृश अवि-भागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे गुणकारका यह कथन किया गया है। चरमकृष्टिमें सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले समस्त जीवप्रदेशोके अविभागप्रतिच्छेदसमुदायसे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणासे सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले जीवप्रदेशोंमें अविभागप्रतिच्छेदोका समूह असख्यातगुणाहीन है। उपरिम अविभागप्रतिच्छेदसम्बन्धी गुणकारके अधस्तनवर्ती जीवप्रदेशसम्बन्धी गुणकार असख्यातगुणा है। यद्यपि चरमकृष्टिके एकवर्गसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोसे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद एकवर्गमे असख्यात-गुणे हैं, किन्तु जीवप्रदेशोंकी संख्या आदिवर्गणाकी अपेक्षा चरमकृष्टिमें असंख्यातगुणी है।

जीवप्रदेशोंका गुणकार अविभागप्रतिच्छेदोके गुणकारसे असंख्यातगुणा है जो श्रेणिके असंख्यातवेभागप्रमाण है। अर्थात् अपूर्वस्पर्द्धककी आदिवर्गणासम्बन्धी जीवप्रदेशोंका और एकवर्गके अविभागप्रतिच्छेदोका परस्परगुणा करनेसे जो प्रमाण आता है वह चरमकृष्टिसम्बन्धी जीवप्रदेशोका और एकवर्गके अविभागप्रतिच्छेदोके परस्पर गुणनफलसे असंख्यातगुणाहीन है, क्योकि चरमकृष्टिसे असख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश आदिवर्गणामें दिये जाते हैं। श्रेणिके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टिया है तथा अपूर्वस्पर्धक भी श्रेणिके असंख्यातवेभागप्रमाण हैं, किन्तु पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी एकगुणहानिस्थानान्तरमें स्पर्धकशलाकाके असंख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं। एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंके असख्यातवेभागप्रमाण कृष्टियां हैं जो अपूर्वस्पर्धकोंके असंख्यातवेभागप्रमाण हैं। इसप्रकार एक अन्तर्मुहूर्त कृष्टिकरणकाल है[1]।

एत्थापुव्वविहाणं अपुव्वफड्डयविहिं व संजलणे।
बादरकिट्टिविहिं वा करणं सुहुमाण किट्टीणं ॥२४८॥६३९॥

अर्थ—योगोके अपूर्वस्पर्धक करनेका विधान जैसे पहले संज्वलनकषायके अपूर्वस्पर्धक करनेका विधान कहा है उसीप्रकार जानना तथा योगोंकी सूक्ष्मकृष्टि करनेका विधान भी पहले कहे हुए सज्वलनकषायकी बादरकृष्टि करनेके विधान सदृश ही जानना।

किट्टीकरणे चरमे से काले उभयफड्डये सव्वे।
णासेदि मुहुत्तं तु किट्टीगदवेदगो जोगी ॥२४९॥६४०॥
पढमे असंखभागं हेट्ठुवरिं णासिदूण विदियादी।
हेट्ठुवरिमसंखगुणं कमेण किट्टिं विणासेदि ॥२५०॥६४१॥
मज्झिम बहुभागुदया किट्टिं वक्खिय विसेसहीणकमा।
पडिसमयं सत्तीदो असंखगुणहीणया होंति ॥२५१॥६४२॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके चरमसमयके अनन्तर कालमें सर्व पूर्व-अपूर्वस्पर्धकरूप प्रदेशोंको नष्ट करता है तथा अन्तर्मुहूर्तकालमें कृष्टिको प्राप्त योगका अनुभव

---

1. जयधवल मूल पृष्ठ २२९७ से २२९९।

करता है। इसप्रकार प्रदेशोंमें जो कृष्टिरूप योगशक्ति हुई वह अब प्रगटरूप परिणमन करती है। कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें स्तोक अविभागप्रतिच्छेदयुक्त अधस्तन और बहुत अविभागप्रतिच्छेदयुक्त ऊपरितनकृष्टियोंको मध्यकी कृष्टिरूप परिणमाकर नष्ट करता है, उनका प्रमाण सर्वकृष्टियोंके असख्यातवेभागप्रमाण है तथा द्वितीयादि समयों-में उनसे असख्यातगुणे क्रमसहित ऊपरितन कृष्टियोंको उसीप्रकार नष्ट करता है। सर्व कृष्टियोको असख्यातका भाग देनेपर उसमेसे बहुभागप्रमाण मध्यवर्तीकृष्टियां उदयरूप होती हैं। वे कृष्टियां प्रथमसमयसे द्वितीयादि समयोंमे विशेषहीन क्रमसहित जानना चाहिए। इसप्रकार सयोगीके अविभागप्रतिच्छेदरूप शक्तिकी अपेक्षा प्रथमसमयसे द्वितीयादि चरमसमयपर्यन्त असख्यातगुणेहीन क्रमसहित योग पाया जाता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके चरमसमयतक पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकोंका नाश नही होता; अविनष्टरूपसे दिखाई देते हैं, किन्तु प्रतिसमय पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोका असंख्यातवांभाग कृष्टिस्वरूपसे परिणमन होता है। कृष्टिकरणके चरमसमयसे अनन्तर-समयमें सर्व पूर्व-अपूर्वस्पर्धक अपने स्वरूपका परित्याग करके कृष्टिरूपसे परिणमन कर जाते हैं। जघन्यकृष्टिसे उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त सर्वकृष्टियोंके सदृश होकर उसीसमयमें परिणमन कर जाते हैं तब अन्तर्मुहूर्तकालतक योगकृष्टि वेदककाल होता है, उस अन्त-र्मुहूर्तकालतक अवस्थितयोग नही होता। प्रथमसमयमें कृष्टियोंके असंख्यातबहुभागका वेदन होता है। प्रथमसमयमें जिनकृष्टियोंका वेदन किया था उनमेंसे ऊपर और नीचे-की असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टियां अपने स्वरूपको छोड़कर मध्यमकृष्टिरूपसे द्वितीय-समयमें अनुभव की जाती हैं। प्रथमसमयके योगसे द्वितीयसमयमें असंख्यातगुणाहीन योग होता है। इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी जानना चाहिए। प्रथमसमयमें बहुत-कृष्टियोंको तथा द्वितीयसमयमें उससे विशेषहीन कृष्टियोंको वेदते हैं। इसप्रकार चरम-समयपर्यन्त विशेषहीन क्रमसे कृष्टियोका वेदन करते हैं।

अथवा द्वितीय उपदेशानुसार प्रथमसमयमे स्तोक कृष्टियोंको वेदते हैं, क्योंकि प्रथमसमयमे ऊपर-नीचेकी असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टियां नष्ट हो जाती हैं। यहाँ प्रधानरूपसे इसीकी विवक्षा है। द्वितीयसमयमें प्रथमसमयकी अपेक्षा असख्यातगुणी कृष्टियोंका अनुभव करते है, प्रथमसमयमें जो कृष्टियां नष्ट हुई हैं उनसे असख्यातगुणी कृष्टिया जो कि ऊपर-नीचेकी कृष्टियोंके असंख्यातवेभागप्रमाण हैं वे द्वितीयसमयमें नष्ट होती हैं। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक असंख्यातगुणितश्रेणिरूपसे कृष्टिगत योगका

वेदन करते हैं, क्योकि प्रतिसमय मध्यमकृष्टि आकारसे परिणमन करनेवाली कृष्टियों-को असख्यातगुणितभावसे प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—प्रथमादि समयोंमें यथाक्रम जिन जीवप्रदेशोंकी कृष्टियां केवलीके द्वारा अनुभव की गई हैं वे जीवप्रदेश द्वितीयादि समयोमें निष्कम्परूपसे अयोगभावको प्राप्त हो जाते हैं ऐसा क्यो नही स्वीकार करते ?

समाधान—नही, क्योकि एक जीवमें सयोग और अयोगपर्यायकी अक्रमरूप (युगपत्) प्रवृत्तिका विरोध है। प्रतिसमय ऊपर व नीचेकी असंख्यातवेभागप्रमाण कृष्टि असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे मध्यमकृष्टिआकाररूप परिणमन करके नाशको प्राप्त होती हैं, यह सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त कृष्टिगतयोगका अनुभव करनेवाले सूक्ष्मकाययोगी केवलीके ध्यानका कथन आगे करते हैं[1]।

किट्टिगजोगी झाणं झायदि तदियं खु सुहुमकिरियं तु।
चरिमे असंखभागे किट्टीणं णासदि सजोगी॥२५२॥६४३॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टिवेदक सयोगीजिन तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति नामक शुक्लध्यानको ध्याता है। सयोगीगुणस्थानके चरमसमयमें कृष्टियोके असख्यातबहुभागप्रमाण मध्यकी जो कृष्टि अवशेष रही उनको नष्ट करता है, क्योंकि इसके अनन्तर अयोगी होना है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त सूक्ष्मतर काययोग जनित क्रिया अर्थात् परिस्पन्द पाया जाता है और अप्रतिपाती अर्थात् अधःप्रतिपातसे रहित है इसलिए उस ध्यानका सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती नाम सार्थक है और इसका फल योगनिरोध अर्थात् सूक्ष्मतर कायपरिस्पन्दनका भी वहां निरन्वयरूपसे निरोध हो जाता है। यद्यपि सकलपदार्थ विषयक प्रत्यक्ष निरन्तर ज्ञानीके एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षणरूप ध्यान असम्भव है इसलिए ध्यानकी उत्पत्ति नही है तथापि योगका निरोध होनेपर कर्मास्रवका निरोधरूप ध्यान फलको देखकर उपचारसे केवलीके ध्यान कहा है। अथवा छद्मस्थोके चिताका कारण योग है इसलिए कारणमे कार्यका उपचार करके योगको भी चिता कहते हैं,

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२८९-९०।

उस चिताका एकाग्रभावसे यहां निरोध होता है इसकारण भी ध्यानसंज्ञा सम्भव है। छद्मस्थोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त एकवस्तुमें चिताके निरोध अर्थात् अवस्थानको ध्यान कहते हैं तथा केवलीभगवानके योगनिरोधका नाम ध्यान है। इसप्रकार ध्यान करनेवाले परमऋषिके परमशुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणि निर्जरा करनेवाले तथा स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात करनेवालेके पूर्वोक्तप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रमसहित कृष्टियोंको नष्ट करते हुए योगशक्तिको क्रमशः हीयमान करता है एव सयोगकेवलीगुणस्थानके चरमसमयमें सर्वकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण मध्यवर्ती जितनी कृष्टियां अवशेष बचीं उनको नष्ट करता है, क्योंकि इसके पश्चात् अयोगी होना है। इससम्बन्धमें उपयोगी श्लोक—

"तृतीयं काययोगस्य सर्वज्ञस्याद्भुतस्थितेः।
योगक्रियानिरोधार्थं शुक्लध्यानं प्रकीर्तितम् ॥"

अद्भुत स्थितिवाले काययोगी सर्वज्ञके योगक्रिया निरोधके लिये तृतीयशुक्लध्यान कहा गया है।

"अंतोमुहुत्तमद्धं चितावत्थाणमेयवत्थुम्मि।
छदुमत्थाणं झाणं जोगणिरोधो जिणाणतु ॥"

अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकालतक एकवस्तुमें चिताका अवस्थान छद्मस्थोंका ध्यान है और योगनिरोध जिनेन्द्र भगवान्‌का ध्यान है।

केवलीभगवान् कर्मको ग्रहण करनेकी सामर्थ्यवाले योगको पूर्णरूपसे निरोध करनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्तिनामक तृतीयशुक्लध्यानको ध्याते हैं। प्रतिसमय योगशक्ति क्रमसे घटती जाती है और सयोगकेवली गुणस्थानके चरमसमयमें निर्मूलतः नष्ट हो जाती है।

जोगिस्स सेसकालं मोत्तूण अजोगिसव्वकालं य।
चरिमं खंडं गेण्हदि सीसेण य उवरिमठिदीओ ॥२५३॥६४४॥

तत्थ गुणसेढिकरणं दिज्जादिकमो य सम्मखवणं वा।
अंतिमफालीपडणं सजोगगुणठाणचरिमम्हि ॥२५४॥६४५॥

से काले जोगिजिणो ताहे आउगसमा हि कम्माणि।

अर्थ—सयोगकेवलीगुणस्थानके शेषकाल तथा अयोगकेवलीके सर्वकाल इन दोनों कालोंको छोड़कर शेष सर्वस्थितिको गुणश्रेणिशीर्षसहित उपरितनस्थितिका घात करनेके लिए अघातियाकर्मोंके चरमस्थितिकाण्डकमें ग्रहण करता है। वहां गुणश्रेणिका करना और देयद्रव्यादिका क्रम सम्यक्त्वप्रकृतिकी क्षपणाविधिके समान है। सयोगकेवली गुणस्थानके चरमसमयमें अन्तिमफालिका पतन होता है तथा वही पर सयोगीजिनके (नाम-गोत्र व वेदनीय) कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है।

विशेषार्थ—सयोगीजिनका शेषकाल और अयोगीजिनके सर्वकाल, इन कालोंको छोडकरगुणश्रेणीशीर्षसहित ऊपरितन सर्वस्थितियोंको नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मके चरमस्थितिकाण्डकमे घात करनेके लिए ग्रहण करता है। उससमय प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके उदयस्थितिमें स्तोक देता है तथा अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र देता है। स्थितिकाण्डकघातकी जघन्यस्थितिके नीचे अनन्तरस्थितिपर्यन्त असख्यातगुणे क्रमसे प्रदेशाग्र देता है अर्थात् १४वें गुणस्थानके अन्ततक असंख्यातगुणे क्रमसे देता है, यही वर्तमान गुणश्रेणिका शीर्ष है। इस गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तरस्थितिमें भी जो गुणश्रेणिशीर्षकी जघन्यस्थिति है उसमें असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिसे लेकर पुरातनगुणश्रेणिशीर्षतक विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र देता है। यहासे गलितावशेष गुणश्रेणि प्रारम्भ हो जाती है। इस अन्तिम स्थितिकाण्डककी द्विचरमफालितक यहक्रम रहता है, किन्तु चरमफालिके द्रव्यमेसे उदयस्थितिमें स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र देता है। इसप्रकार असंख्यातगुणा क्रम अयोगकेवलीके चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिए। चरमफालिके पतनसमयमें योगनिरोधक्रिया तथा सयोगकेवली कालकी परिसमाप्ति हो जाती है, इससे आगे (१४वें गुणस्थानमे) गुणश्रेणि, स्थितिघात और अनुभागघात नही है, मात्र असख्यातगुणश्रेणीरूपसे अधःस्थितिगलन होता है अर्थात् प्रतिसमय अधस्तन एकस्थितिकालका नाश होनेसे स्थितिका क्षय होता है। यहीपर सातावेदनीयकर्मकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती एव (३९) प्रकृतियोकी उदीरणाव्युच्छित्ति भी हो जाती है तथा उसीसमयमे नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मकी घातकरनेसे शेष बची स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है अर्थात् अयोगकेवलीकालके बराबर इन अघातिया (नाम-गोत्र व वेदनीय) कर्मोंकी स्थिति शेष

रह जाती है। इसप्रकार सयोगकेवलीगुणस्थानका पालन करके उसके कालकी परिसमाप्ति हो जाती है तथा उससे अनन्तरसमयमें अयोगीजिन हो जाता है।

तुरियं तु समुच्छिण्णं किरियं झायदि अजोगिजिणो ॥२५५॥६४६॥
[1]सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
[2]बंधरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥२५६॥६४७॥

अर्थ--अयोगीजिन समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं तथा शैलेश्यभावको प्राप्त करके निःशेष (सम्पूर्ण) आस्रवका निरोधकर बन्धरूपी रजसे मुक्त होकर योगरहित केवली हो जाते हैं।

विशेषार्थ--समुच्छिन्न अर्थात् उच्छेद हुआ है मन वचन-कायरूप क्रियाका जहां तथा निवृत्ति (प्रतिपात) से रहित अथवा मोक्षसे रहित होनेसे जो अनिवृत्त है ऐसा यह ध्यान सार्थक नामवाला है। यहां भी ध्यानका उपचाररूप कथन पूर्वोक्तप्रकार ही जानना, क्योंकि यथार्थतया तो एकाग्रचिंतानिरोध ही ध्यानका लक्षण है जो कि केवलीभगवान्के सम्भव नही है। समस्त आस्रवसे रहित केवलीभगवानके अवशेषकर्मनिर्जरामे कारणभूत स्वात्मामें प्रवृत्तिरूप ध्यान ही पाया जाता है[3]। इसप्रकार सयोगगुणस्थानके अनन्तर पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालतक अयोगकेवली होकर शैलेश्यभगवान् अलेश्याभावको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् योगनिरोध हो जावेसे योगजनित लेश्याका भी अभाव हो जाता है।

शंका--शैलेश्य किसे कहते है ?

समाधान--शीलका ईश (स्वामी) शीलेश है, उस शीलेशका भाव शैलेश्य कहलाता है। समस्त गुणशीलके अधिपतित्वको प्राप्त कर लिया है यह इसका अर्थ है।

शङ्का--यदि ऐसा है तो इस विशेषणका यहां आरम्भ नहीं होना चाहिए। भगवत् अर्हत्परमेष्ठीके सयोगकेवली अवस्थामें समस्त गुण-शीलका आधिपत्य अविकल-

---

१. धवल पु० १ पृष्ठ १९९, पंचसग्रह १-३०, जीवकाण्ड गाथा ६५, विशेषकथनके लिए अष्टसहस्री पृष्ठ २३६-३७ एव प्रमेयकमलमार्तण्ड भी देखना चाहिए।

२. कम्मरय इति पाठान्तरं।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२९२-९३।

जानेसे प्राप्त अर्थात् आत्मसात् हो जाता है, अन्यथा सयोगकेवलीके परिपूर्ण गुण-शील होनेसे हमारे समान परमेष्ठीपनेकी अनुत्पत्ति हो जावेगी।

समाधान—यह सत्य है, सयोगकेवली भी आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जानेसे अशेषगुणनिधान, निष्कलंक, परमोपेक्ष यथाख्यात विहारशुद्धिसंयमकी पाराकाष्ठाको प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार अविकल स्वरूपसे सकल गुण-शील प्रगट हो जाते हैं, किन्तु सयोगअवस्थामे योग व आस्रवकी अपेक्षा नि.शेषकर्मोंकी निर्जरा जिसका फल है ऐसा सकलसंवर उत्पन्न नही हुआ। अयोगकेवलीके नि शेष आस्रवद्वार निरुद्ध हो जानेसे निष्प्रतिपक्षस्वरूपसे आत्मलाभ प्राप्त हो गया है। अतः मात्र अयोगकेवलीके ही शैलेश्यभाव अनुज्ञात होता है, इसमे दोषको कुछ भी अवसर नही है[1]।

वाहत्तरिपयडीओ दुचरिमगे तेरसं य चरिमम्हि।
झाणजलणेण कवलिय सिद्धो सो होदि से काले॥२५७॥६४८॥

अर्थ—अयोगकेवलीगुणस्थानके द्विचरमसमयमे (अनुदयरूप) ७२ प्रकृतियोको तथा चरमसमयमे (उदयरूप) १३ प्रकृतियोको शुक्लध्यानरूपी अग्निद्वारा कवलित (ग्रासीभूत) करता है अर्थात् नष्ट करता है और अनन्तरवर्तीसमयमे सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—अयोगकेवलीगुणस्थानका काल पांच ह्रस्वाक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) के उच्चारणमें जितना समय लगता है उतना है[2]। उसकालमे एक-एकसमयमें एक-एक निषेकके गलनरूप जो अध स्थितिगलन है उसके द्वारा क्षीण हुई अनुदयरूप ७२ प्रकृतियाँ द्विचरमसमयमे तथा चरमसमयमे उदयरूप १३ प्रकृतियां, शुक्लध्यानरूपी ज्वलन अर्थात् अग्निके द्वारा कवलित (नष्ट) होती हैं[3]। इनमे अनुदयरूप वेदनीय, देवगति, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ सहनन, ३ आंगोपाग, वर्णादि २०, देवगत्यानुपूर्वी,

---

1 जयधवल मूल पृष्ठ २२६२।

2 'अयोगकेवलिगुणावस्थानकाल. शैलेश्यद्धा नाम। स पुनः पचह्रस्वाक्षरोच्चारणकालावच्छिन्न परिमाणोऽस्यागमविदां निश्चयः।" (जयधवल मूल पृष्ठ २२६३)

3 तत्रायोगिकेवली द्विचरमसमये अनुदयरूपा वेदनीय-देवगतिपुरस्सराः द्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयति। चरमसमये च सोदयवेदनीय-मनुष्यायु-मनुष्यगतिप्रभृतिकास्त्रयोदशप्रकृतीः क्षपयतीति प्रतिपत्तव्यम्। (जयधवल मूल पृष्ठ २२६३)

अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, प्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र ये ७२ प्रकृतियां हैं तथा उदयरूप वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, मनुष्यानुपूर्वी,[1] त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर, उच्चगोत्र ये १३ प्रकृतियां हैं। इसप्रकार इन ७२ व १३ प्रकृतियोंका क्रमशः द्विचरमसमय व चरमसमयमें क्षयकरनेके अनतरसमयमे जिसप्रकार कालिमारहित शुद्धसोना निष्पन्न होता है उसीप्रकार सर्व कर्ममलरहित कृतकृत्यताको प्राप्त यह आत्मा सिद्ध हो जाता है।

तिहुवणसिहरेण मही वित्थारे अट्ठजोयणुदयथिरे।
धवलच्छत्तायारे मणोहरे ईसिपब्भारे[2] ॥२५८॥६४९॥

अर्थ—तीनलोकके शिखरमें ४५ लाखयोजन विस्तृत एवं ८ योजन ऊंची, स्थिर, श्वेतवर्णवाली, छत्राकार ईषत्प्राग्भारनामक मनोहरपृथ्वी है।

विशेषार्थ—सिद्ध होनेपर ऊर्ध्वगमनस्वभावसे यह जीव तीनलोकके शिखरमें ईषत्प्राग्भारनामक अष्टमपृथ्वीपर एकसमयमात्रमें पहुँचकर तनुवातवलयके अन्तमें विराजमान होता है। वह सिद्धभूमि मनुष्यपृथ्वीके समान ४५ लाखयोजन विस्तृत गोलआकारवाली आठयोजनऊंची, स्थिर, श्वेतछत्रके आकारकी मध्यमें मोटी व सिरोंपर पतली तथा मनोहर है। यद्यपि ईषत्प्रागभारनामक पृथ्वी घनोदधि-वातवलयपर्यन्त हैं, किन्तु यहां उस पृथ्वीके मध्य पाई जावेवाली सिद्धशिलाकी अपेक्षा यह प्ररुपणा किया गया है। धर्मास्तिकायके अभावसे उससे आगे गमन नहीं होता है[3] अतः वहीं चरमशरीरसे किंचित्ऊन आकाररूप जीवद्रव्य अनन्तज्ञानानन्दमय विराजते हैं।

---

१. १४ वे गुणस्थानमे 'मनुष्यगत्यानुपूर्वी' अनुदयप्रकृति है। (धवल पु० ६ पृष्ठ ४१७, धवल पु० १० पृष्ठ ३२६, भगवति आराधना गाथा २११७-१८)

२. तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परम भास्वरा। प्राग्भारानाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता नलोकतुल्यविषकम्भा सितच्छत्रनिभाशुभा। उर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः॥ १८४-८५ (ज. ध. मूल पृष्ठ २२९६)

३. ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः॥ (जयधवल मूल पृष्ठ २२९६ श्लोक १८८)

पुव्वगहस्स तिजोगो संतो खीणो य पढमसुक्कं तु ।
बिदियं सुक्कं खीणो इगिजोगो झायदे झाणी ॥२५६॥६५०॥

अर्थ—पूर्व अर्थात् ग्यारहअङ्ग व १४ पूर्वके ज्ञाताके तथा तीनोंयोगवालोके उपशान्तमोह और क्षीणमोहगुणस्थानमे प्रथमशुक्लध्यान होता है एवं क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती और एकयोगवाले द्वितीयशुक्लध्यानको ध्याते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथामे प्रथमशुक्लध्यानके स्वामी उपशान्तमोहनामक ११वें गुणस्थानवाले तथा क्षीणमोहनामक १२वें गुणस्थानवालोको बताया है । अर्थात् ११वें गुणस्थानसे पूर्वके गुणस्थानोमे शुक्लध्यान नही होता, किन्तु धर्मध्यान होता है ऐसा इस गाथाके पूर्वार्धका अभिप्राय जानना चाहिए । धर्मध्यान सकषायी जीवोंके और शुक्लध्यान कषायरहित जीवोके होता है । कहा भी है—

"धम्मज्झाणमेयवत्थुम्हि थोव कालावट्ठाइ । कुदो ? सकषाय परिणामस्स गब्भहरंतट्ठिदपईवस्सेव चिरकालमवट्ठाणाभावादो । धम्मज्झाणं सकसाएसु चेव होदि त्ति कधं णव्वदे ? असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अपमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसापराइयखवगोवसाएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो । सुक्कज्झाणस्स पुण एक्कम्हि वत्थुम्हि धम्मज्झाणावट्ठाणकालादो संखेज्जगुणकालमवट्ठाण होदि, वीयरायपरिणामस्स मणिसिहाए व बहुएण वि कालेण संचालाभावादो[1] ।" अर्थात् धर्मध्यान एकवस्तुमे स्तोककालतक रहता है, क्योकि कषायसहित परिणामका गर्भग्रहके भीतर स्थित दीपकके समान चिरकालतक अवस्थान नही बन सकता । असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसयत-अनिवृत्तिकरणसयत-सूक्ष्मसाम्परायसयतोके धर्मध्यानकी प्रवृत्ति होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवका उपदेश है । इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान सकषाय जीवोके होता है, किन्तु शुक्लध्यानका एकपदार्थमे स्थितरहनेका काल धर्मध्यानके अवस्थानकाल से संख्यातगुणा है, क्योकि वीतरागपरिणाम मणिकी शिखाके समान बहुतकालके द्वारा भी चलायमान नही होते ।

---

१. धवल पु० १३ पृ० ७४-७५ ।

यद्यपि धर्मध्यानअवस्थामें कर्मबन्ध भी होता है, क्योंकि वह सकषायी जीवोंके होता है; तथापि वह संवर निर्जरा व कर्मरूप शत्रुकी सेनाके राजा मोहनीयकर्मका विनाश करनेवाला है।

"किं फलमेदं धम्मज्झाणं ? अक्खवएसु विउलामर सुहफलं गुणसेडीए कम्म-णिज्जराफलं। खवएसु पुण असखेज्जगुणसेडीए कम्मपदेसणिज्जराणफल सुहकम्माण-मुक्कस्साणुभागविहाणफलं च[1]। मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफल, सुहुमसांपराइय-चरमसमए तस्स विणासुवलभादो[2]। अर्थात्—

शङ्का—धर्मध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवोंको देवपर्यायसबधी विपुलसुख मिलना और कर्मोंकी गुण-श्रेणिनिर्जरा होना धर्मध्यानका फल है। क्षपक जीवोंके तो असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे कर्म-निर्जरा होना और शुभकर्मोंका उत्कृष्टअनुभाग होना धर्मध्यानका फल है। मोहनीय-कर्मका विनाश करना भी धर्मध्यानका फल है।

धर्मध्यानपूर्वक ही शुक्लध्यान होता है, क्योंकि धर्मध्यानके द्वारा मोहनीयकर्म-का उपशम या क्षय हो जानेपर ही वीतरागता होती है। अब शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

शङ्का—शुक्लध्यानके शुक्लपना किस कारणसे प्राप्त है ?

समाधान—कषायमलका अभाव होनेसे शुक्लध्यानके शुक्लपना प्राप्त है। वह शुक्लध्यान चारप्रकारका है—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाति। इनमेंसे प्रथमशुक्लध्यानका लक्षण इसप्रकार है—पृथक्त्वका अर्थ भेद है, वितर्क द्वादशांगश्रुतको कहते हैं और वीचारका अर्थ मन-वचन-काययोग तथा अर्थ (पदार्थ) और व्यंजनकी संक्रान्ति है। पृथक्त्व अर्थात् भेदरूपसे वितर्क (श्रुत) का वीचार (सक्रांति) जिसध्यानमें होता है वह पृथक्त्ववितर्क-वीचारनामक ध्यान है।

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७७।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८१।

यतः उपशान्तमोहजीव अनेक द्रव्योंका तीनों योगके आलम्बनसे ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व कहा है। यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगतअर्थमें कुशल साधु ही इसध्यानको ध्याते हैं इसलिए इसध्यानको सवितर्क कहा है। अर्थ-व्यंजन और योगोंका संक्रम वीचार है, ऐसे सक्रमसे जो ध्यानयुक्त होता है वह सवीचार कहा जाता है[1]।

चौदह, दस और नौ पूर्वका धारी प्रशस्त तीनसंहननवाला और तीन योगोमें किसी एकयोगमे विद्यमान ऐसा उपशान्तकषायवीतरागजीव बहुत नयरूपी वनमें लीन हुए ऐसे एकद्रव्य या पर्यायको श्रुतरूपी रविकिरणके प्रकाशके बलसे ध्याता है। इसप्रकार उसी पदार्थको अन्तर्मुहूर्तकालतक ध्याता है, इसके पश्चात् अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है अथवा उसी अर्थके गुण या पर्यायपर संक्रमित होता है और पूर्वयोगसे कदाचित् योगान्तरपर संक्रमित होता है। इसप्रकार एकअर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यायान्तरको नीचे-ऊपर स्थापित करके फिर तीव योगोंको एकपंक्तिमें स्थापित करके द्विसंयोग और त्रिसयोगकी अपेक्षा यहां पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानके ४२ भङ्ग उत्पन्न करना चाहिए।

द		गु.		प.	
द	अ	गु.	अ.	प.	अ.

म.	व.	का.

जीव, पुद्गल, धर्म-द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल ये छह द्रव्य हैं; इनके सहभावीगुण और क्रमभावी पर्याय हैं। प्रत्येकद्रव्यकी अपेक्षा अन्यद्रव्य द्रव्यान्तर है, प्रत्येकगुणकी अपेक्षा अन्य सभी गुण गुणान्तर हैं और प्रत्येकपर्यायकी अपेक्षा अन्यपर्याय पर्यायान्तर है। द्रव्य, द्रव्यान्तर, गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर छहोके योगत्रय-संक्रमणसे १८ भंग होते हैं। भावतत्त्वके गुण-गुणान्तर तथा पर्याय-पर्यायान्तर इन चारोंमें योगत्रय संक्रमणकी अपेक्षा १२ भग और द्रव्य तत्त्वके गुण-गुणान्तर व पर्याय पर्यायान्तर इन चारोंमे योगत्रय सक्रमणकी अपेक्षा १२ भग होते हैं, ये मिलकर कुल-भंग १८+१२+१२=४२ होते हैं। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक शुक्ललेश्यावाला उपशान्तकषायजीव छह द्रव्य और नौ पदार्थविषयक पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानको अन्तर्मुहूर्तकालतक ध्याता है। अर्थसे अर्थान्तरका संक्रम होनेपर भी ध्यानका विनाश नही

1. धवल पु० १३ पृ० ७८ गाथा ५८-५९-६०।

होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तरमें गमन नहीं होता। इसध्यानके फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमर (देव) सुख प्राप्त होता है; क्योंकि इससे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि प्रथमशुक्लध्यान शुद्धोपयोग है, तथापि मोहनीयकर्मका उपशम होनेसे मुक्ति नहीं होती। क्षपकश्रेणिवालेके धर्मध्यानरूप शुभोपयोग मोक्षका कारण है, क्योंकि धर्मध्यानसे मोहनीयकर्मका क्षय होता है। उपशमश्रेणिवालेके शुक्लध्यानरूप शुद्धोपयोग मुक्तिका कारण नहीं है, क्योंकि मोहनीयकर्मका क्षय नहीं हुआ[1]।

एकत्ववितर्काविचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानका कथन इसप्रकार है—एकका भाव एकत्व है, वितर्क द्वादशांगको कहते हैं और अवीचारका अर्थ असंक्रान्ति जिसध्यानमें होती है वह एकत्ववितर्क-अवीचारध्यान है। इस विषयमें कहा भी है—

यतः क्षीणकषायजीव एक ही द्रव्यका किसी एक योगके द्वारा ध्यान करता है इसलिए उस ध्यानको एकत्व कहा है। यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु इसध्यानको ध्याते हैं इसलिये इसध्यानको सवितर्क कहा गया है। अर्थ-व्यंजन और योगोंके सक्रमका नाम वीचार है, उस वीचारके अभावसे यह ध्यान अवीचार है[2]। अर्थात् जिसके शुक्ललेश्या है, जो निसर्गसे बलशाली है, स्वभावसे शूर है, वज्रवृषभसंहननका धारी किसी एक संस्थानवाला है, चौदहपूर्व-दसपूर्व या नौपूर्वधारी है, क्षायिकसम्यग्दृष्टि है, और जिसने समस्त कषायवर्गका क्षयकर ऐसा क्षीणकषायीजीव नौपदार्थोंमें से किसी एक पदार्थका द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे ध्यान करते हैं। इसप्रकार किसी एक योग और एक व्यंजन (शब्द) के आलम्बनसे यहां एकद्रव्य, गुण या पर्यायमें मेरुपर्वतके समान निश्चलभावसे अवस्थित चित्तवाले असंख्यातगुणश्रेणि क्रमसे कर्मस्कन्धोंके गलाने वाले अनन्तगुणी श्रेणि क्रमसे कर्मोंके अनुभागको शोषित करनेवाले और कर्मोंकी स्थितियोंको एक तथा एकशब्दके अवलम्बनसे प्राप्त हुए ध्यानके बलसे घात करनेवाले उनका अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत होता है। तदनन्तर शेष बचे क्षीणकषायके कालप्रमाण स्थितियोंको छोड़कर उपरिम सर्वस्थितियोंकी उदयादि गुणश्रेणिरूपसे रचना करके पुनः स्थितिकाण्डकघात बिना अधःस्थितिगलना द्वारा ही असंख्यातगुणश्रेणिक्रमसे कर्मस्कन्धोंका घात करता हुआ क्षीणकषायके अन्तिम-

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७७ से ७९।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ७९ गाथा ६१-६२-६३।

समय प्राप्त होनेतक जाता है और वहां क्षीणकषायके चरमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनकर्मोंका युगपत् नाश करता है, क्योंकि तीनघातिया कर्मोंका निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्कावीचार ध्यानका फल है[1]।

शंका—एकत्ववितर्कावीचारध्यानके लिए 'अप्रतिपाति' विशेषण क्यों नहीं दिया।

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशान्तकषायजीवके भवक्षय और कालक्षयके निमित्तसे पुनः कषायोको प्राप्त होनेपर एकत्ववीतर्क-अवीचारध्यानका प्रतिपात देखा जाता है।

शंका—यदि उपशान्तकषायगुणस्थानमें एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान होता है तो 'उवसतो दु पुधत्तं' इत्यादि वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नही करना चाहिए, क्योंकि उपशान्तकषायगुणस्थानमें केवल पृथक्त्ववीचारध्यान ही होता है ऐसा कोई नियम नही है[2]।

शङ्का—पृथक्त्ववीतर्कवीचार प्रथमशुक्लध्यान व एकत्ववितर्कावीचारनामक शुक्लध्यान इन दोनोका काल परस्पर समान है या हीनाधिक है ?

समाधान—एकत्ववितर्कअवीचार शुक्लध्यानका काल अल्प है और पृथक्त्ववितर्कवीचारनामक शुक्लध्यानका काल अधिक है[3]।

शंका—पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रथमशुक्लध्यानमें योगका संक्रमण होता है और एकत्ववितर्क-अवीचारमे योगसंक्रान्ति नहीं होती इसमें क्या कारण है ?

समाधान—लक्षणभेदसे योगसंक्रमण व असंक्रमका भेद हो जाता है। प्रथमशुक्लध्यान सवीचार होनेसे उसमे अर्थ, व्यजन (शब्द) और योगकी संक्रान्ति होती है। कहा भी है—जिस ध्यानमे अर्थ-व्यजन-योगमे संक्रान्तिरूप वीचार हो वह एकत्ववितर्कअवीचारध्यान है।

---

१ धवल पु० १३ पृष्ठ ७६-८०। 'तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्कअवीचारज्झाणं" (धवल पु० १३ पृष्ठ ८१)

२ धवल पु० १३ पृष्ठ ८१।

३ जयधवल पु० १ पृष्ठ ३४४ व ३६१।

शङ्का—गृहस्थके धर्म या शुक्लध्यानमेंसे कौनसा ध्यान होता है ?

समाधान—गृहस्थके धर्म या शुक्लध्यान सम्भव नहीं, क्योंकि वह ग्रहकार्योंमें फंसा रहता है। श्री शुभचन्द्राचार्यने कहा है—

"खपुष्पमथवाशृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते। न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ।।

आकाशके पुष्प और गधेके सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश या काल में इनके होनेकी प्रतीति हो सकती है, किन्तु गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होनो तो किसी देश व कालमें सम्भव नहीं है[1]। पुनरपि कहा है—

"मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते ।
तप्तलोहगोलकसमानगृहीणां परमात्मध्यानं संगच्छते ।"

मुनियोंके ही परमात्माका ध्यान अर्थात् धर्मध्यान घटित होता है। तप्तलोहके गोलेके समान गृहस्थियोंके परमात्माका ध्यान अर्थात् धर्मध्यान नहीं होता[2]। इसीप्रकार भावसंग्रहमें भी कहा है—

"अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे ।
बहु आरभपरिग्गह जुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं[3] ।।"

गृहस्थके इस (५वें) गुणस्थानमें आर्त-रौद्र और भद्र ये तीनप्रकारके ध्यान होते हैं, इस गुणस्थानवर्तीजीवके बहुत आरम्भ व परिग्रह होता है इसलिए इस गुणस्थानमें धर्मध्यान नही होता। और भी कहा है—

"घरवावारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स[4] ।।"

गृहस्थोंको घरके कितने ही कार्य करने पड़ते हैं और जब वह गृहस्थ अपने नेत्रोंको बन्दकर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घरके करने योग्य सब व्यापार आ जा हैं।

---

१. ज्ञानार्णव अ० ४ श्लोक १७।
२. मोक्षप्राभृत गाथा २ की टीका।
३. भावसंग्रह गाथा ३५७।
४. भावसंग्रह गाथा ३८५।

तत्त्वानुशासनमें धर्मध्यानका जो लक्षण कहा गया है उससे भी सिद्ध है कि गृहस्थके धर्मध्यान नहीं होता, क्योंकि गृहस्थके चारित्र नहीं होता। तद्यथा—

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु.।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः[1] ।।"

धर्मके ईश्वर गणधरादि देवोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है जो उस रत्नत्रयरूप धर्मसे उत्पन्न हो उसे ही आचार्यगण धर्मध्यान कहते हैं। गृहस्थके रत्नत्रयरूप धर्म नहीं होता अतः उसके धर्मध्यान भी नहीं होता।

शङ्का—आचार्योंने चतुर्थगुणस्थानसे धर्मध्यान कहा है तब फिर उपर्युक्त वचनका आचार्यवाक्योंसे विरोध क्यों नहीं होगा ?

समाधान—चतुर्थादि गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निरूपण आगममें पाया जाता है, किन्तु वहां औपचारिक धर्मध्यान होता है, क्योंकि वहां प्रमाद विद्यमान है। तत्त्वानुशासन व भावसंग्रहमें कहा भी है—

"मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिहद्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकं[2] ।।"
"मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे ।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं[3] ।।"

मुख्य और उपचारके भेदसे धर्मध्यान दो प्रकारका है, उसमेंसे अप्रमत्तगुणस्थानमें मुख्य और चतुर्थ-पंचम व छठे गुणस्थानमें औपचारिकधर्मध्यान होता है। गृहस्थोंके दानपूजादिको उपचारसे धर्मध्यान कहा गया है, क्योंकि गृहस्थधर्ममें दानपूजादिकी मुख्यता है। कहा भी है—

"तेषां दानपूजापर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्मएवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः। ये गृहस्थापि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्यः[4] ।।"

१. तत्त्वानुशासन श्लोक ५१।
२. तत्त्वानुशासन श्लोक ४७।
३. भावसंग्रह गाथा ३७१।
४. मोक्षप्राभृत गाथा २ की टीका।

गृहस्थोंके दान-पूजा, पूर्वउपवास, सम्यक्त्वप्रतिपालन, शीलव्रतरक्षणादि धर्म कहा है, जो गृहस्थ होते हुए भी किंचित् भी आत्मभावनाको प्राप्त करके अपने आपको ध्यानी कहते हैं वे जिनधर्मके विराधक मिथ्यादृष्टि हैं। और भी कहा है—

"जिण-साहुगुणुक्कित्ताण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा।
-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा[1] ॥

जिनेन्द्रभगवान् और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत-शील व संयममें त होना इत्यादि कार्य धर्मध्यानमें होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। अतः गृहस्थके औपचारिक धर्मध्यान कहा गया है।

यद्यपि गाथा २५९में प्रथम व द्वितीयशुक्लध्यावका ही कथन किया गया है, किन्तु यह कथन तृतीय व चतुर्थशुक्लध्यानकी सूचनार्थ है। अतः तृतीय व चतुर्थ शुक्ल-ध्यानका कथन करते हैं—

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीयशुक्लध्यान है। क्रियाका अर्थ योग है, जो ध्यान पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिया कहा जाता है। सूक्ष्म-क्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है इसलिए यह ध्यान अवितर्क है। अर्थान्तर-व्यंजन-योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है।

शंका—तृतीयशुक्लध्यानमें अर्थ-व्यञ्जन व योगकी संक्रान्तिका अभाव कैसे है?

समाधान—इनके अवलम्बन बिना ही युगपत् त्रिकालगोचर अशेषपदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिए इस ध्यानमें इनकी संक्रान्तिके अभावका ज्ञान होता है[2]।

"अविदक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं।
सुहुमम्हि कायजोगे भणिदं त सव्वभावगदं ॥

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७६ गाथा ५५।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८३।

सुहुमम्हि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
ज्झायदि णिरु भिदुं जो सुहुम तं कायजोगं पि[1] ।।"

तृतीयशुक्लध्यान अवितर्क-अवीचार और सूक्ष्मक्रियासे सम्बन्ध रखनेवाला होता है, क्योंकि काययोगके सूक्ष्म होनेपर सर्वभावगत यह ध्यान कहा गया है। जो केवलीजिन सूक्ष्मकाययोगमे विद्यमान होते हैं, वे तृतीयशुक्लध्यानका ध्यान करते हैं और उस सूक्ष्मकाययोगका भी निरोध करनेके लिए उसका ध्यान करते हैं।

शंका—योगनिरोध किसे कहते हैं ?

समाधान—योगके विनाशको योगनिरोध कहते हैं[2]।

अन्तर्मुहूर्तकालतक कृष्टिगत योगवाले अर्थात् सूक्ष्मकाययोगवाले होते हैं तथा उसीकालमे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको ध्याते हैं। अन्तिमसमयमें कृष्टियोंके असंख्यात-बहुभागका नाश होता है।

शंका—केवलीजिनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान नहीं बनता, क्योंकि केवली-जिन अशेपद्रव्य और उनकी पर्यायोंको विषय करते हैं, अपने सम्पूर्णकालमें एकरूप रहते हैं और इन्द्रियज्ञानसे रहित हैं अतएव उनका एकवस्तुमें मनका-निरोध करना उपलब्ध नही है तथा मनका निरोध किये बिना ध्यान होना सम्भव नही है, क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नही जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि प्रकृतमें "एकवस्तुमें चिन्ताका निरोध करना ध्यान है," यदि ऐसा ग्रहण किया जाता तो उक्त दोष आता, किन्तु यहां ऐसा ग्रहण नही है। यहां तो उपचारसे योगका अर्थ चिन्ता है और उसका एकाग्ररूपसे निरोध अर्थात् विनाश जिसध्यानमे किया जाता है वह ध्यान है, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए। अतः यहा पूर्वोक्त दोष सम्भव नही है।

"तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहादिकमेण तहा जोगजलं ज्झाण जलणेण[3] ।।"

---

१. भगवती आराधना गाथा १८८६-८७ ।

२. "को जोगणिरोहो ? जोगविणासो" (ध० पु० १३ पृष्ठ ८४)

३. धवल पु० १३ पृष्ठ ८६ गाथा ७४ ।

जिसप्रकार नाली द्वारा जलका क्रमशः अभाव होता है या तपे हुए लोहपात्रमें स्थित जलका क्रमशः अभाव होता है उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा योगरूपी जलका क्रमशः नाश होता है। उक्तं च—

"जहसव्वसरीरगदं मंतेण विसं णिरुंभए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जदि पहाणज्झरमंत जोएण ।।
तह बादरतणुविसयं जोगविस ज्झाणमंतबलजुत्तो ।
अणुभावम्हि णिरुंभदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो[1] ।"

जिसप्रकार मंत्रके द्वारा सर्वशरीरमें व्याप्त विषका डंकके स्थानमें निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करनेवाले मंत्रके बलसे उसे पुनः निकालते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी मन्त्रके बलसे युक्त सयोगकेवलीजिनरूपी वैद्य बादरशरीर विषयक योगविषको पहले रोकता है और इसके बाद उसे निकाल देता है।

चतुर्थशुक्लध्यानका कथन इसप्रकार है—

जिसमें क्रिया अर्थात् योग सम्यक्प्रकारसे उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है। समुच्छिन्नक्रिय होकर जो अप्रतिपाति है वह समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यान है। यह श्रुतज्ञानसे रहित होनेके कारण अवितर्क है, जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका अभाव होनेसे अवीचार है या अर्थ-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है।

"अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं[2] ।।"

अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्करहित, वीचाररहित है, अनिवृत्ति है, क्रियारहित है, शैलेशी अवस्थाको प्राप्त है और योगरहित है।

योगका निरोध होनेपर शेषकर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके समान अन्तर्मुहूर्त होती है, तदनन्तरसमयमें शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याता है।

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७ गाथा ७५-७६।
२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७ गाथा ७७।

शङ्का—यहां ध्यानसंज्ञा किस कारणसे दी गई है।

समाधान—एकाग्ररूपसे जीवके चिन्ताका निरोध अर्थात् परिस्पन्दका अभाव होना ही ध्यान है। इसदृष्टिसे यहां ध्यानसंज्ञा दी गई है।

शङ्का—इस ध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अघातिचतुष्कका विनाश करना इस ध्यानका फल है तथा योगका निरोध करना तृतीयशुक्लध्यानका फल है।

शैलेशी अवस्थाका काल क्षीण होनेपर सर्वकर्मोंसे मुक्त हुआ यह जीव एकसमयमें सिद्धिको प्राप्त होता है[1]। कहा भी है—

"जोगविणासं किच्चा कम्म चउक्कस्स खवणकरणट्ठं।
जं झायदि अजोगिजिणो णिक्किरियं तं चउत्थं य[2] ।।"

योगका अभाव करके अयोगकेवलीभगवान् चार अघातिया कर्मोंको नष्ट करनेके लिए जो ध्यान करते हैं वह चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है, इसका दूसरा नाम समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति भी है। इसके द्वारा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार अघातियाकर्मोंका क्षय होता है। १४वें गुणस्थानवाले अयोगिजिन इसध्यानके स्वामी हैं।

शंका—ध्यान मनसहित जीवोंके होता है, केवलीके मन नहीं है अतः वहां ध्यान नहीं है ?

समाधान—ध्यानके फलस्वरूप कर्मविर्जराको देखकर केवलीके उपचारसे ध्यान कहा गया है। अथवा यद्यपि यहां मनका व्यापार नहीं है तथापि पूर्ववृत्तिकी अपेक्षा उपचारसे ध्यान कहा गया है। पुनरपि कहा है—

झाणं सजोइकेवलि जह तह अजोइ णत्थि परमत्थे।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थ णय विवक्खा य ।।

---

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७-८८।

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४८७।

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए ।
तं णत्थि केवलि दुगे तम्हा झाणं ण सभवदि[1] ॥"

ध्यान, ध्याता, ध्येय और विकल्प ये सब मनसहित जीवोके होते हैं, परन्तु वह मन सयोग व अयोगकेवलीके नहीं है अतः इनके ध्यान सम्भव नही है। जिसप्रकार सयोगकेवलीके ध्यान नहीं है उसीप्रकार अयोगकेवलीके ध्यान नही है, इनके भूतपूर्वनय-की अपेक्षा औपचारिकध्यान माना जाता है। तथापि उक्तं—

"यद्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रियया ध्यानमित्युपचर्यते। पूर्ववृत्तिसपेक्ष्य घृतघटवत्। यथा घटः पूर्वं घृतेन भृतः पश्चात् रिक्तः कृतः घृतघटं आनीयतामित्युच्यते तथा पूर्वं मानसव्यापारत्वात्[2] ॥"

यद्यपि यहां मनका व्यापार नही है तथापि पूर्ववृत्तिकी अपेक्षा उपचारसे ध्यान कहा गया है। जैसे घटमें पहले घी भरा हुआ था पश्चात् वह रिक्त हो गया फिर भी वह घीका घट कहलाता है। पहले मनका व्यापार था, केवली होनेपर मनका व्यापार नही रहा तथापि भूतपूर्व नयसे ध्यानका उपचार किया जाता है। और भी कहा है—

"निरवशेष निरस्तज्ञानावरणे युगपत् सकलपदार्थावभासि केवलज्ञानातिशये चिन्ता निरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत्[3]।"

समस्तज्ञानावरणके नाश हो जानेपर युगपत् समस्तपदार्थोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानका अतिशय होनेपर चिन्तानिरोधका अभाव होनेपर भी कर्मोंके नाशरूप उसके फलकी अपेक्षा ध्यानका उपचार किया जाता है।

सो मे तिहुणमहिदो सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो ।
दिसदु वरणाणदंसणचरित्तसुद्धिं समाहिं च॥२६०॥६५१॥

अर्थ—तीनलोकसे पूजित, बुद्ध, निरंजन, नित्य ऐसे सिद्धभगवान् मुझे उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन व चारित्रकी शुद्धि तथा समाधि देवें।

---

१. भावसंग्रह गा० ६८२-८३।
२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८७ की टीका पृष्ठ ३८५।
३. सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सूत्र ११।

विशेषार्थ—पंच लघुअक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) के उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने कालप्रमाणवाले अयोगकेवली नामक १४वें गुणस्थानको अधःस्थिति-गलनके द्वारा व्यतीतकरके समस्तकर्मोंके पूर्णरूपसे क्षय होजानेके कारण निरंजन हैं। अनन्तज्ञान व अनन्तदर्शन पराकाष्ठाको प्राप्त हो जानेसे बुद्ध हैं, अविकल आत्मस्वरूप-की उपलब्धि हो जानेसे नित्य, अविनाशी अर्थात् आत्मस्वरूपसे चलायमान होनेवाले नही हैं। समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जानेसे सिद्ध हैं, तीनलोकके शिखरपर विराजमान हो जानेसे तीनलोकसे पूजित हैं अथवा उनका ध्यान करनेसे भव्यजीवोंको मोक्षकी सिद्धि हो जाती है इसलिए भी वे सिद्धभगवान् पूजित हैं। चरमशरीरसे किंचित् न्यून आकारवाले अमूर्तिक (कर्म-नोकर्मसे रहित होनेके कारण) सिद्ध भगवान् मुझे क्षायिक-ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा समाधि (वीतरागता) देवे।

जैसे दीपकका बुझना प्रदीपका निर्वाण है उसीप्रकार आत्माकी स्कन्धसन्तान का उच्छेद होनेसे अभावमात्र निर्वाणकी कल्पना बौद्ध करता है। अभावलक्षणवाले निर्वाणका विरोध करनेके लिए सर्वपुरुषार्थकी सिद्धिसे सिद्ध तथा ज्ञान व दर्शनकी पराकाष्ठाको प्राप्त हो गये ऐसा कहा गया है। ज्ञानीजन स्वनाशके लिए पुरुषार्थ नहीं करते, किन्तु अपूर्वलाभके लिए पुरुषार्थ करते हैं। नैयायिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, इन नव आत्मगुणोके नाशसे निर्वाणकी कल्पना करते हैं, किन्तु यह कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि गुणोंके अभावसे गुणी आत्माका भी अभाव हो जावेगा। अतः उपर्युक्त पुरुषार्थसिद्धि व परमकाष्ठाको प्राप्त ज्ञान-दर्शन विशेषण दिए गए हैं। इसीप्रकार गधेके सींगके समान मुक्तावस्थामें आत्माका अभाव माननेवालोका तथा कार्य-कारणसम्बन्धसे रहित बहुत सोते हुए पुरुष के समान आत्माके अव्यक्त चैतन्य मानने वालोका विरोध हो जाता है। अतः हमारे सिद्धान्तमे स्वात्मोपलब्धि ही निर्वाण (सिद्धि) है, यह सिद्ध हो जाता है[1]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६३-६४।

[1]अह खवणाहियार--चूलिया

दर्शनमोह और चारित्रमोह कर्मप्रकृतियोंकी क्षपणाविधि पूर्वमें कही गई उसका उपसंहार करते हुए आगे ११ गाथाओमें चूलिकारूप व्याख्यान किया जाता है--

अण मिच्छ मिस्स सम्मं अट्ठणवुंसित्थिवेदछक्कं च ।
पुंवेद च खवेदि हु कोहादीए च संजलणे ॥१॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, आठकषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद और तत्पश्चात् क्रोधादि चार सज्वलन-कषायका क्षय करता है ।

विशेषार्थ—'**अण**' अर्थात् चार अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन क्रियाके द्वारा सर्वप्रथम नाश करता है । '**मिच्छ**' दर्शनमोहकी क्षपणाकेके लिए आरुढ़ हुआ पूर्वमें मिथ्यात्वका क्षय करता है । '**मिस्स**' उसके पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है । '**सम्मं**' उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है । '**अट्ठ**' अपने योग्यगुणस्थानमें सप्त प्रकृतियोका क्षय करके पश्चात् क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता हुआ अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें अन्तरकरणसे पूर्व आठ कषायोका क्षय

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२ । "चूलिका विशेष व्याख्यानम् अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानम् ।" (व० द्र० सं० क्षेपक गाथा १-२ की टीका अन्तमे) 'सुत्त सूइदत्थ पयासणं चूलिया णाम ।" (धवल पु० १० पृष्ठ ३९५) "कालविहाणेण सूचिदत्याण विवरण चूलिया । जाए अत्थ परूवणाए कदाए पुव्वपरूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया त्ति भणिदं होदि ।" (धवल पु० ११ पृष्ठ १४०) । "एक्कारस अणिओगद्दारेसु सूइदत्थस्स विसेसियूण परूवणा चूलिया ।" (ध० पु० ७ पृष्ठ ५७५) । विशेष व्याख्यान अथवा उक्तानुक्त व्याख्यान चूलिका है । सूत्र सूचित अर्थके प्रकाशित करनेका नाम चूलिका है । सूचित अर्थका विशेष वर्णन करना चूलिका है । जिस अर्थ प्ररूपणाके किये जानेपर पूर्वमें वर्णित पदार्थके विषयमे शिष्यको निश्चय उत्पन्न हो वह चूलिका है ।

करता है। इसीप्रकार (अन्तरकरणके पश्चात्) गाथानुसार क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा), पुरुषवेदका क्षय करता है। अवेदी होकर संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमायाका क्रमसे क्षय करके सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें संज्वलन लोभका क्षय करता है[१]।

इसप्रकार प्रथमगाथामें चार अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहकी तीनप्रकृतियोके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्ति बताकर चारित्रमोहकी नव नोकषाय व चारसंज्वलन कषायोके क्षयका क्रम बतलाकर अब दूसरी गाथामें क्षय होनेवाली सोलह प्रकृतियोके नाम कहते हैं—

[२]अह थीणगिद्धिकम्मं णिद्दाणिद्दा य पयलपयला य।
अह णिरय-तिरियणामा खीणा संछोहणादीसु ॥२॥

अर्थ—स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति-तिर्यञ्चगति और सहचरी नामकर्मकी प्रकृतियोका अन्य प्रकृतियोमें संक्रमण करके नाश करता है।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करनेसे पूर्व क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुआ मनुष्य प्रथम आठ मध्यवर्ती कषाय (अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४) का क्षय करता है उसके पश्चात् दर्शनावरणकर्मकी तीन प्रकृतियां (स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला) तथा नामकर्मकी १३ प्रकृतियां—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म व साधारण इसप्रकार (३+१३) इन सोलह प्रकृतियोंमें संक्रमण करके इनका क्षय करता है।

अन्तरकरण करनेके पश्चात् मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसंक्रमण होता है उसीको तीन गाथाओमे कहते हैं—

सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वी य संकमो होइ।
लोहकसाए णियमा असंकमो होइ बोद्धव्वो ॥३॥

---

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२-७३।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७३, क० पा० सुत्त गा० १२८ पृष्ठ ७५६।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णवुंसयं चेव।
सत्तेव णोकसाए णियमा कोहम्हि संछुहदि ॥४॥
कोहस्स छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ।
मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥५॥[1]

अर्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् द्वितीयसमयसे सर्व मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसक्रमण होता है। लोभकषायका नियमसे असक्रामक होता है ऐसा जानना चाहिए। स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके द्रव्यको पुरुषवेदमें संक्रमित करता है। सात (पुरुषवेद व छह नोकषाय) नोकषायके द्रव्यको नियमसे क्रोधमे सक्रमित करता है। क्रोधके द्रव्यको मानमें, मानके द्रव्यको मायामें और मायाके द्रव्यको लोभमें संक्रमित करता है। प्रतिलोम संक्रमण नही होता।

विशेषार्थ— चारित्रमोहनीयकर्म नव नोकषाय और तीन संज्वलनकपायका स्वमुखक्षय नही परमुखक्षय होता है। अर्थात् इनके द्रव्यका परप्रकृतिरूप सक्रमण होकर इनका क्षय होता है। वह पर प्रकृतिरूप संक्रमण आनुपूर्वीरूपसे होता है प्रतिलोम (पश्चादानुपूर्वी) विधिसे नही होता। सबसे अन्तमें लोभकषायके पश्चात् कोई कषाय नही है जिसमें लोभकषायका द्रव्य संक्रमित हो सके। अतः लोभकषायका सक्रमण नही होता, इसका स्वमुखसे क्षय होता है।

सर्वप्रथम नपुंसकवेदका क्षय होता है। इसके पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय होता है। स्त्रीवेदका बन्ध नही होता, पुरुषवेदका बन्ध होता है। अतः नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके द्रव्यका सक्रमण पुरुषवेदमे होता है। पुरुषवेद और छह नोकपाय इन सातके पुरातनद्रव्यका क्रोधकषायमे सक्रमण होकर क्षय होता है। क्रोध-मान-माया-लोभ ऐसा क्रम है। संज्वलन क्रोधके द्रव्यका संज्वलनमान कषायमें संक्रमण होकर संज्वलनक्रोधका क्षय होता है। सज्वलनमानके द्रव्यका सज्वलनमायामे संक्रमण होकर क्षय होता है और संज्वलन मायाके द्रव्यका संज्वलनलोभमे संक्रमण होकर क्षय होता है। अन्तरकरण करनेके पश्चात् प्रतिलोम (पश्चादानुपूर्वी) संक्रमण नही होता अर्थात् लोभका

1. जयधवल मूल पृष्ठ २२७३ गा० १३६-१३८-१३९। क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६४-६५ गा० १३६-१३८-१३९।

संक्रमण माया, मान, क्रोधमें अथवा मायाका सक्रमण क्रोध-मानमें या मानका संक्रमण क्रोधमें नही होता है। बन्धप्रकृतिमें ही सक्रमण होता है—

[1]जो जम्हि संछुहंतो णियमा बंधम्हि होई संछुहणा।
बंधेण हीणदरगे अहिए वा संकमो णत्थि ॥६॥

अर्थ—जो जीव जिसप्रकृतिका सक्रमण करता है वह नियमसे बध्यमान प्रकृतिमें संक्रमण करता है। जिस स्थितिको बांधता है उसके सदृशस्थितिमें अथवा उससे हीन स्थितिमें सक्रमण करता है, किन्तु अधिक स्थितिमे संक्रमण नही करता।

विशेषार्थ—इस गाथामें बध्यमान प्रकृतियोमें सक्रमण किये जानेवाली बध्यमान या अबध्यमान प्रकृतियोका किसप्रकार संक्रमण होता है, यह बतलाया गया है। क्षपकश्रेणीमें जो जीव जिस विवक्षित प्रकृतिके कर्मप्रदेशोको उत्कीर्णकर जिस प्रकृतिमें संक्रमण करता है नियमसे बन्धसदृशमे सक्रान्त करता है। यहां पर 'बन्ध' से साम्प्रतिकबन्धकी अग्रस्थितिका ग्रहण होता है, क्योंकि स्थितिबन्धके प्रति उसकी ही प्रधानता है। अर्थात् इससमय बंधनेवाली प्रकृतिकी जो स्थिति है उसमें उसके समान प्रमाणवाली विवक्षित सक्रम्यमान प्रकृतिके प्रदेशाग्रको उत्कीर्णकर संक्रान्त करता है। 'बन्धेण हीणदरगे' इसका अभिप्राय यह है कि बन्धनेवाली अग्रस्थितिसे एकसमयादि कम अधस्तन बन्धस्थितियोमे भी जो आबाधाकालसे बाहर स्थित है, अधस्तन प्रदेशाग्रको स्वस्थान या परस्थानमे उत्कीर्णकर संक्रमण करता है, किन्तु वर्तमानमें बन्धनेवाली स्थितिसे उपरिम सत्त्वस्थितियोंमें उत्कर्षण सक्रमण नही होता है। यह 'अहिए वा सकमो णत्थि' का अर्थ है। आबाधाकालका परप्रकृतिरूप संक्रमण समस्थितिमे प्रवृत्त होता है। क्षपकश्रेणिमें बध्यमान और अबध्यमान प्रकृतियोको यथासम्भव सक्रमण करता हुआ बध्यमान प्रकृतियोके प्रत्यग्रबन्धस्थितिसे अधस्तन और उपरितन स्थितियोमें से समस्थितिमें सक्रमण करता है[2]।

[3]बंधेण होइ उदओ अहिय उदएण संकमो अहिओ।
गुणसेढि अणंतगुणा बोद्धव्वो होइ अणुभागो ॥७॥

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७३, क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गा० १४०।
२. जयधवल मूल पृष्ठ १९८९-९०।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २२७४; क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६९ गा० १४४।

[1]बंधेण होइ उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ।
गुणसेढि असंखेज्जा य पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥८॥
उदओ य अणंतगुणो संपहि बंधेण होइ अणुभागो।
से काले उदयादो संपहि बंधो अणंतगुणो ॥९॥

अर्थ—बन्धसे अधिक उदय होता है और उदयसे अधिक संक्रमण होता है। इसप्रकार अनुभागके विषयमें अनन्तगुणित गुणश्रेणि जानना चाहिए। बंधसे अधिक उदय होता है और उदयसे अधिक संक्रमण होता है। इसप्रकार प्रदेशके विषयमें असंख्यातगुणश्रेणी जानना चाहिए। अनुभागविषयक साम्प्रतिकबन्ध अनन्तगुणा होता है।

विशेषार्थ—गाथा नं० ७ में अनुभागकी अपेक्षा, बन्ध, उदय व संक्रमणका अल्पबहुत्व कहा गया है। अनुभागकी अपेक्षा बन्ध अल्प है, क्योंकि यहांपर तत्काल होनेवाले बन्धकी विवक्षा है। बन्धसे उदय अनन्तगुणा है, क्योंकि वह चिरन्तन सत्त्वके अनुभागरूप है। उदयसे सक्रमण अनन्तगुणा है। इसका कारण यह है कि उदयमें तो अनुभागसत्त्व अनन्तगुणाहीन होकर आता है, किन्तु परप्रकृतिरूप संक्रमण तो चिरन्तन-सत्त्वका तदवस्थारूपसे होता है। यह अल्पबहुत्व घातियाकर्मोंकी अपेक्षासे कहा गया है[2]।

गाथा नं० ८ में प्रदेश विषयक अल्पबहुत्व बतलाया गया है। अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानके उक्त स्थलपर पुरुषवेद आदि जिस किसी भी कर्मका नवकबन्ध समयप्रबद्ध प्रमाण होता है यह प्रदेशोंकी अपेक्षा उदयादिसे अल्प है। बन्धसे प्रदेशोदय असख्यात-गुणा है, क्योंकि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्यकर्मोंका उदय गुणश्रेणी गोपुच्छाके माहात्म्य-से समयप्रबद्धसे असख्यातगुणा हो जाता है। उदयरूप प्रदेशोंसे संक्रमणरूप प्रदेश भी असंख्यातगुणे होते हैं। इसका कारण यह है कि जिनकर्मोंका गुणसंक्रमण होता है उन कर्मोंका गुणसंक्रमण द्रव्य और जिनका अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है उनका अधःप्रवृत्त-संक्रमण द्रव्य असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण होनेसे उदयकी अपेक्षा असंख्यातगुणा हो जाता है[3]।

---

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७४ व ध० पु० ६ पृष्ठ ३६२ गा. २७, क. पा. सुत्त पृष्ठ ७७० गा. १४५।
२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६९।
३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६९।

गाथा ९में जिस अनुभाग-अल्पबहुत्वका कथन पूर्वानुपूर्वी क्रमसे किया है चूर्णि-सूत्रकारने उसको पश्चातानुपूर्वी क्रमसे कहा है। चूर्णिसूत्रोमे कथन इसप्रकार है—विवक्षितसमयके अनन्तरकालमे होनेवाला अनुभागबन्ध अल्प है। इस अनुभागबन्धसे उसीसमय होनेवाला उदय अनन्तगुणा है, इसका कारण गाथा न० ७ में कहा गया है। इसके अनन्तर समयवर्ती अनुभागोदयसे विवक्षित समयमें अनुभागबन्ध अनन्तगुणा है, क्योकि प्रतिसमय अनन्तगुणी बढ़नेवाली विशुद्धिके माहात्म्यसे विवक्षित समयकी विशुद्धि से अनन्तरसमयकी विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इसलिए पूर्व-पूर्व समयके उदयसे उत्तरोत्तर समयका बन्ध भी अनन्तगुणा हीन होता है अथवा उत्तरोत्तर समयके उदयसे पूर्व पूर्व समयका बन्ध अनन्तगुणा होता है यह सब विशुद्धिका माहात्म्य है[1]।

मोहनीयकर्मके अतिरिक्त अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके अन्तसमयमें शेष कर्मोका स्थितिबन्ध—

चरिमे बादररागे णामा-गोदाणि वेदणीयं च।
वस्सस्संतो बंधदि दिवसस्संतो य जं सेसे ॥१०॥[2]

अर्थ—बादरसाम्परायके चरमसमयमें नाम-गोत्र-वेदनीय इन तीन अघातिया-कर्मोका स्थितिबन्ध अन्तःवर्षप्रमाण और शेष तीन घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध अन्तः-दिवस प्रमाण होता है।

विशेषार्थ—चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायके नाम, गोत्र व वेदनीयकर्मोका स्थितिबन्ध कुछकम एक वर्ष प्रमाण होता है और तीन घातिया कर्मोका पृथक्त्वमुहूर्त-प्रमाण स्थितिबन्ध अन्तःवर्षप्रमाण और तीन घातियाकर्मोका पृथक्त्वमुहूर्तप्रमाण स्थिति-बन्ध होता है, किन्तु मोहनीयकर्मका अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है[3]।

[4]जं चावि संछुहंतो खवेदि किट्टिं अबंधगो तिस्से।
सुहुमम्हि संपराए अबंधगो बंधगियराणं ॥११॥

---

१ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७०।

२ क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७४ गा० २०९ व पृष्ठ ९९९ गा० १०, ज. ध. मूल पृष्ठ २२२१ व २२७४।

३ जयधवल मूल पृष्ठ २२२२।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८८१ गा० २१७ व पृष्ठ ९९९ गा० ११; ज. ध मूल पृ० २२३५ व २२७४।

अर्थ—जिस कृष्टिको भी संक्रमण करता हुआ क्षय करता है उसका अबन्धक होता है। सूक्ष्मसाम्परायमें भी अबन्धक होता है, किन्तु इतरकृष्टियोंके वेदन व क्षपणाकालमें उनका बन्धक होता है।

विशेषार्थ—दो समयकम दो आवलिपूर्व नवकबन्धकृष्टियोंका संक्रमण करके क्षय करनेवाला उस अवस्थामें उन कृष्टियोंका अबन्धक होता है। सूक्ष्मसाम्पराय नामक १०वें गुणस्थानमें सूक्ष्मकृष्टियोंका वेदन करते हुए भी उनका अबन्धक होता है, क्योंकि वहांपर बन्धशक्तिका अभाव है। बादरसाम्परायगुणस्थानमें क्षय होनेवाली कृष्टियोंके वेदककालमे कृष्टियोंका बाधक होता है। अर्थात् जिस जिस कृष्टिका क्षय करता नियमसे उसका बन्धक होता है, किन्तु दो समयकम दो आवलिबद्ध कृष्टियोके क्षपणाकालमें सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियोंके क्षपणाकालमें उनका बन्ध नही करता। इन ग्यारह गाथाओं द्वारा सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त चारित्रमोहकी क्षपणाविधि चूलिकारूपसे कही गई। कुछ गाथा पूर्वमें कही जा चुकी हैं, किन्तु पुनरुक्त दोष नही आता[1]।

[2]जाव ण छदुमत्थादो तिण्हं घादीण वेदगो होइ।
अहऽणंतरेण खइया सव्वण्हु सव्वदरिसी य ॥१२॥

अर्थ—जबतक क्षीणकषायवीतरागसंयतछद्मस्थ अवस्थासे नही निकलता तबतक वह तीनघातियाकर्मोंका वेदक होता है। इसके पश्चात् अनन्तर समयमें तीनघातियाकर्मोंका क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है।

विशेषार्थ—जबतक छद्मस्थ पर्यायको निष्क्रान्त नही करता तबतक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका नियमसे वेदन करता है, अन्यथा छद्मस्थभाव उत्पन्न नही होंगे। अनन्तर समयमें द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा समस्त घातिया कर्मरूपी गहन वनको दग्ध करके छद्मस्थ पर्यायसे निष्क्रान्त होकर क्षायिकलब्धिको प्राप्त कर [क्षायिकज्ञान दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र दान-लाभ-भोग उपभोग और वीर्य इन ९ क्षायिक भावोको प्राप्तकर] सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए विहार करते हैं। १२ गाथाओके समाप्त होनेपर चारित्रमोहक्षपणा चूलिका सम्पूर्ण होती है[3]।

---

[1] पृष्ठ २२३५।
[2] २२७४।
[3] ७५।

नोट—उपर्युक्त १२ गाथाओंका ग्रन्थान्तर (जयधवल मूल) से क्षपणाधिकार-की चूलिकाका कथन हिन्दी टीकाकारने उद्धृत किया है। इसके अनन्तर आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा क्षपणासारका उपसंहार करते हुए अन्तिम मंगल दो गाथाओं द्वारा किया गया है।

उसीको कहते हैं—

वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण ।
दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिदा णेमिचंदेण ॥२६१॥६५२॥

अर्थ—इसप्रकार वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिआचार्यके वत्स तथा अभयनन्दि-आचार्यके शिष्य मुझ अल्पज्ञ नेमिचन्द्रने दर्शन व चारित्रलब्धिको भले प्रकारसे कहा है।

अब आचार्य गुरुनमस्कार पुरस्सर अन्तिममङ्गल करते हैं—

जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥२६२॥६५३॥

अर्थ—वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि आचार्यका वत्स मैं नेमिचन्द्रआचार्य जिनके चरणप्रसादसे अनन्तसंसारसमुद्रसे पार हुआ उन अभयनन्दिनामक गुरुको नमस्कार करता हूँ।

शुद्धि-पत्र

क्षपणासार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	खमणाए	खवणाए
२	१६	असख्यातवा भाग मात्र	सख्यातवाँ भाग मात्र
४	५	चतुर्स्थानिक	चतु:स्थानिक
६	११	देशामर्सक	देशामर्शक
८	६	दुस्वर	दुःस्वर
८	१५	हो जाती है। यहा पर	हो जाती है, क्योंकि इनका उदय प्रमत्तसयत गुणस्थान तक पाया जाता है। यहाँ पर
८	२४	सक्रामण	सक्रमण
६	६	कर्मों का अनुभागकाण्डक घात	कर्मों का स्थितिघात होने पर स्थिति स्थान कौन सा रह जाता है अर्थात् स्थितिकाण्डक होने पर कितनी स्थिति शेष रह जाती है ? अनुभाग मे प्रवर्तमान कर्मों का अनुभागकाण्डकघात
६	२३	पल्य के असख्यातवे भाग	पल्य के सख्यातवें भाग
१०	१	अन्तरसमय	अनन्तर समय
११	६	ओव्वट्टणा	ओव्वट्टणा
१२	२१	१८वें निपेक तक	१७वें निषेक तक
१३	५	९७८	६६८
१३	६	६७७	६६७
१४	२२	अपकर्षित प्रदेशाग्र दूसरे	अपकर्षित प्रदेशाग्र का दूसरे
१५	२	सक्रमण के लिये	सक्रमण तथा उदीरणा के लिये
१५	३	जाते है, अपकर्पण	जाते है, कुछ का अपकर्षण
१८	३	(५) उत्कर्ष सम्बन्धी	(५) उत्कर्षण सम्बन्धी
२३	२६	अणियट्टस्स	अणियट्टिस्स
२४	१२	ठिदिखडपं	ठिदिखडयं
२६	१५	जवतक	
२९	१५	हो जाता उससे	हुआ है अतः
३१	२१	असख्यात गुणा	संख्यात गुणा
३४	१०	कहते है और वही	कहना है या वहाँ
३४	११	कहेगे	कहना चाहिये
३५	१३	सख्यात गुणा है। पुनः	असख्यात गुणा है। पुनः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	११	सक्रमण होता है। इसप्रकार	सक्रमण होता है। ऐसे ही द्वितीयकाण्डक का सक्रमण होता है। ऐसे क्रम से पृथक्त्व स्थितिकाण्डक के द्वारा ८ कषाय के द्रव्य का पर प्रकृतिरूप सक्रमण होता है। इसप्रकार
३८	७-८	प्रथमकाण्डकघात होकर	प्रथम काण्डकघात होता है। ऐसे
४२	२२	चक्खू	चक्खु
४३	८	किन्तु स्थितिवन्ध पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण ही होता है। इसप्रकार	
४३	९	अनुभाग स्तोक होने से	अनुभाग स्तोक व अधिक होने से
४३	१२	णो कसायाण	णोकसायाण
४३	१७	उपरितनवर्ती	उपरितन
४४	२१	अपकर्षित द्रव्य को निषिद्ध है।	उत्कर्षित द्रव्य को निषिद्ध है।
४५	२२	परप्रकृति समस्थितिसक्रम	परप्रकृतिसक्रम
४५	२४	प्रथमस्थिति मे अपकर्षण और	प्रथमस्थिति मे अपकर्षण सक्रमण द्वारा देता है, उदय को प्राप्त सज्वलनो की प्रथम स्थिति मे अपकर्षण और
४६	८	असख्यातवें भाग को	सख्यातवें भाग को
४६	२४	इति पाठो।	इति पाठ:।
४६	२५	"आउत्तकरण" इति पाठो स च उपयुक्तो प्रतिभाति।	"आउत्तकरण" इति पाठ., स च उपयुक्त: प्रतिभाति।
४७	१६	(६) नपुसकवेदता	नपुसकवेदका
	१६	त्रय हो जाता है।	क्षय हो जाता है।
५१	२३	इति पाठो प्रतिभाति।	इति पाठ: प्रतिभाति।
५२	२१	भेवरूप	भेदरूप
५२	२२	लिये स्थिति	लिये अन्य स्थिति
५६	२	होता है।१	होता है।१ इसी क्रम से अर्थात् प्रतिसमय अनन्त गुणित हीन क्रम से अप्रशस्त प्रकृतियो के अनुभाग का बन्ध भी होता है।
५६	७	वही	वही
५६	९	वही	वहीं
५६	११	विवक्षित समय मे	विवक्षित समय से
५८	११	करना	करनी
५८	२३	आडत्ते	आढत्ते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	२१	उपपादानुच्छेद	उत्पादानुच्छेद
६१	२	अनुपपादानुच्छेद	अनुत्पादानुच्छेद
६१	१४	एणेण	एदेण
६३	८	इस नवकसमयप्रवद्ध का	उस नवकसमयप्रवद्ध का
६३	८	अपगतवेदी का	अपगतवेदी की
६६	४	असंख्यातवर्ष	असख्यात हजार वर्ष
७१	१६	परितासख्यातस्पर्धककी	परीतासख्यातवें स्पर्धक की
७१	१६	आदि वर्गणा मे नीचे के	आदि वर्गणा मे तदनन्तर नीचे के
७१	१८	जघन्यपरीतानन्त	जघन्यपरीतानन्तवें
७३	८	तु होंदि अपुव्वदिवग्गणाउ	तु देदि अपुव्वादिमवग्गणाउ
७५	११	अपूर्वस्पर्धक वर्गणा पूर्व-स्पर्धक वर्गणाओ के	अपूर्वस्पर्धक की सकलवर्गणाए पूर्व स्पर्धक की आदि वर्गणा के
७७	२२	करके जो प्रमाण	करके रूपाधिक करके जो प्रमाण
७८	२	अपूर्व खण्डो के	अपूर्वस्पर्धक के सकल खण्डो के
७९	९	क्रोधादि चार	क्रोधादि चारो
७९	१६	काण्डकप्रमाण मे एक	काण्डकप्रमाण मे क्रमशः एक
८०	१२	वोध हो जावे जयधवला टीकाकार	वोध हो जावे, एतदर्थ जयधवला टीकाकार
८१	१७	दूसरी कषाय का	दूसरी कषाय की
८२	४ से ७	इससे अपूर्वस्पर्धको का .... भागहार असख्यातगुणा है।	इससे अपूर्वस्पर्धको की अपेक्षा एक प्रदेश गुणहानिस्थानान्तर का अवहारकाल असख्यातगुणा है। क्योकि एक प्रदेश गुणहानिस्थानान्तर के स्पर्धको को स्थापित करके पुन: उनमे से अपूर्व स्पर्धको का प्रमाण एक बार अपहृत करना (घटाना) चाहिये। और एक अवहारशलाका स्थापित करनी चाहिये। इसप्रकार पुनः पुनः अपहृत करने पर [घटाते जाने पर] अपकर्षण-उत्कर्षणभागहार से असख्यातगुणा, पल्योपम का असख्यातवा भाग प्राप्त होता है। इस कारण यह अवहारकाल पूर्वोक्त से असख्यातगुणा है, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है। [ज०ध० २०३२]
८२	२०	मुवदेहि	ममुदेदि
८३	१९	हीणो अनुभाग	हीणो अणुभाग अथवा रसस्सबधो या "रसबधोय"
८३	२३	अनुभाग	अणुभाग
८३	२४	७४९	७९४
८६	५	अनुभागसम्वन्ध	अनुभागसम्वन्धी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६	१४	असख्यातवें भाग गुणी	असख्यातवें भाग गुणित अनन्तगुणी
८९	१६	स्पर्धको की सख्या	स्पर्धको के वर्गणाओ की सख्या
८९	२२	वर्गणा का	सर्ववर्गणाओ का
८९	२२-२३	पूर्वस्पर्धको के अनन्तवें भाग प्रमाण	अब चू कि
८६	२५	जाता है।	जाता है।१
८९	२८	क्योकि अनुभाग खण्ड के	क्योकि प्रथम अनुभागखण्ड के

नोट—पृष्ठ ८६ की टिप्पणी

$$१\text{-सकल अपूर्व स्पर्धक वर्गणाए} = \frac{\text{एक गुणहानि० की स्पर्धक सख्या}}{\text{असख्यात}} \times \frac{\text{एक स्पर्धकगत अनन्त वर्गणा}}{१}$$

.... (1)

$$\text{जबकि सकलपूर्व स्पर्धक} = \frac{\text{पूर्व स्पर्धक सबधी नानागुणहानिशलाका}}{१} \times \frac{\text{एक गुणहानि मे स्पर्धक सख्या}}{१}$$

$$\text{या ,, ,,} = \frac{\text{एक स्पर्धक की वर्गणाएँ} \times \text{अनत}}{१} \times \frac{\text{एक गुणहानि मे स्पर्धक संख्या}}{१}$$

[ज० ध० मूल पृ० २०४३ से]

या सकल पूर्व स्पर्धक=एक स्पर्धक गत अनत वर्गणा × अनन्त × एकगुणहानि मे स्पर्धक सख्या

............(11)

अब सूत्र (1) से सूत्र (11) मे मान स्पष्टतया अनन्तगुणा होने से यह सिद्ध होता है कि—सकल अपूर्व स्पर्धक वर्गणाओ से पूर्व स्पर्धको की सख्या अनन्तगुणी है। इति सिद्धम्।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९०	३	अनन्तगुणी वर्गणाओ से मायास्पर्धक	अनन्तगुणी उनकी वर्गणाओ से माया के पूर्व स्पर्धक
९२	१०	है एव	है।
९४	२२	जयधवल पु० ६ पृष्ठ ३८१	धवल पु० ६ पृष्ठ ३८१
९६	११	उपर्युक्त सूत्र से	उपर्युक्त कथन से
९६	१२	प्रदेशाग्र सख्यात गुणित है।	प्रदेशाग्र सबसे कम हैं। तृतीय सग्रह कृष्टि मे विशेष अधिक हैं क्रोध की तृतीय सग्रह कृष्टि से ऊपर उसकी ही प्रथम सग्रह कृष्टि मे प्रदेशाग्र सख्यात गुणित है।
९६	१	प्रकार क्रोध कषाय की	से क्रोध कषाय की
१००	२३	अतराइणाम	अतराइ णाम।
१००	२७-२६	अर्थात्.... (जयधवल मूल पृष्ठ २०५१)	अर्थात् स्वस्थान गुणकार की "कृष्टि-अन्तर", ऐसी सज्ञा है तथा परस्थान गुणकारो की "सग्रह कृष्टि अन्तर", ऐसी सज्ञा है। (जयधवल मूल पृ० २०५०)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	संदृष्टि के १० वार दुगुणा करने पर नीचे से तीसरी लाइन		दुगुणा-दुगुणा करने पर
१०५	१७	निक्षिप्तमान	देता हुआ
१०५	२०-२३	इन विधान से..........अन्य कोई	इसप्रकार इस विधान से अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा ऊपर सर्वत्र एक-एक वर्गणा विशेष प्रमाण हीन करते हुए तब तक ले जाना चाहिये जब तक कि समस्त सग्रह कृष्टियो की अन्तर कृष्टियो को उल्लघन करके सर्वोत्कृष्ट चरम क्रोध कृष्टि (यानी क्रोध की तृतीय सग्रह कृष्टि की अन्त कृष्टि) को प्राप्त हो जाय। क्योकि इस अध्वान मे अनन्तर उत्तर की अनन्तर पूर्व से अनन्तभाग हानि को छोडकर प्रकारान्तरता सभव नही है।
१०५	२५	इति पाठो	इति पाठः।
१०६	१	पर्याय असम्भव है।	
१०६	३	अनन्तवे भाग प्रमाण है और	अनन्तवें भाग प्रमाण है यहा हीन सकल द्रव्य का प्रमाण
१०६	४	विशेप से हीन समस्त द्रव्य है।१	विशेप है।१
१०७	५	१२ कृष्टियो के नीचे	१२ कृष्टियो मे से प्रत्येक की जघन्य कृष्टि के नीचे
१०७	१८	जानना। दृश्यमान मे	जानना। इसप्रकार देय (दीयमान) द्रव्य मे तेवीस स्थानो मे उष्ट्रकूट रचना होती है। दृश्यमान मे
१०८	१४	प्रथमसग्रह कृष्टि मे अनन्त भाग से हीन	प्रथम सग्रहकृष्टि की जघन्यकृष्टि से अनन्तर द्वितीय-कृष्टि मे अनन्तभाग से हीन
१०९	३	जाते है। अपूर्व	जाते हैं, अपूर्व
१०९	६	तृतीयसग्रहकृष्टि के नीचे अन्तर कृष्टियो मे भी	तृतीय सग्रह कृष्टि मे भी
१०९	१७	चरम कृष्टि से बारह	चरम कृष्टियो से बारह
११०	१०	सुज्जुत्तो	सजुत्तो
१११	२०	अनुभवता	भोगता
११२	७	वेदना	वेदन करना
११३	१४	जानना कि	जानना। तथा
११३	१५	ये सर्वनिषेक	अवशेष सर्वनिषेक
११४	१४	तब संज्वलन के	वहाँ सज्वलन के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	२३-२४	लब्ध मे से एक भाग	लब्ध एक भाग
११५	६	था उसको	है उसको
११६	६-७	उपरितन कृष्टि प्रमाण का	उपरितन, कृष्टि प्रमाण का
११६	१६	द्वितीयादि अधस्तन	द्वितीयादि निचली
११६	२०	प्रमाण पश्चात्	प्रमाण है। पश्चात्
११७	६	अधस्तन व उपरितन अनुभय आदि	निचली अनुभय कृष्टि आदि
११८	१६	वर्तमान मे उत्तर-	वर्तमान उत्तर-
११८	२६	नीचे की केवल	नीचे की कृष्टि केवल
११९	१	सप्रति	साम्प्रतिक
११९	२३	उदय कृष्टि मे	उदय की उत्कृष्ट कृष्टि मे
१२०	२	अनुभाग वाली है। इसप्रकार	अनुभाग वाली है। उससे दूसरे समय मे बन्ध की जघन्य कृष्टि अनन्तगुणे हीन अनुभाग युक्त है। उससे उसी समय मे जघन्य उदय कृष्टि अनन्तगुणे हीन अनुभागयुक्त है। इसप्रकार
१२०	५	द्वितीयसग्रहकृष्टिवेदक के	द्वितीय तृतीय सग्रह कृष्टि वेदक के
१२४	१६	घातक द्रव्य से व्यय और	घात द्रव्य से व्ययद्रव्य और
१२५	७	एक भाग के	एक भाग का
१२६	२२	चदुसट्ठाणेसु	चदुसुट्ठाणेसु
१२७	१०	रची जाती हैं, क्योकि	रची जाती हैं, क्योकि बध्यमान द्रव्य एक समयप्रबद्ध प्रमाण है। सक्रम्यमाण प्रदेशाग्र से असख्यातगुणी अपूर्वकृष्टिया रची जाती हैं। क्योकि
१२८	३	अर्थात् अपकर्पित समस्त द्रव्य	[अर्थात् अपकर्षित समस्त द्रव्य]
१२८	४	जो	—
१२९	४	रची जाती है उससे	रची जाती हैं।
१२९	११	'इदराणाम'	'इदराणं'
१३०	१२	कृष्टिवेदककाल की	कृष्टिवेदककाल मे
१३०	१३	प्रथमसमय मे निर्वर्त्यमान	प्रथम समय मे उस प्रदेशाग्र के द्वारा निर्वर्त्यमान
१३०	१४	चरमकृष्टि मे निर्वर्तित	चरमकृष्टि के
१३०	१४	जघन्य कृष्टि के प्रथम समय मे	जघन्य अर्थात् प्रथम कृष्टि मे
१३०	२०	उसके आने	उसके आगे
१३१	७	पूर्वकृष्टि मे से	पूर्व सग्रहकृष्टि मे से
१३१	१५	अर्थात् प्रथम	अर्थात् पल्योपम के प्रथम
१३२	१९-२१	प्रथम समय मे विनष्ट कृष्टियो से रहित शेप बची हुई कृष्टियो के	द्वितीय समय मे असख्यात गुणीहीन कृष्टियो का नाश करता है। क्योकि घाते गये अनुभाग के बाद शेष रहे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		असख्यातवे भाग का घात करता है इसलिए द्वितीय समय मे असख्यातगुणीहीन कृष्टियो का नाश करता है। इसीप्रकार	अनुभाग को नष्ट करने मे कारणभूत यहा की विशुद्धियो की उसी प्रकार से प्रवृत्ति होने का नियम देखा जाता है। इसीप्रकार
१३४	२०	प्राप्त होते है, जो कि प्रथम सग्रह-कृष्टि वेदककाल के त्रिभाग से कुछ अधिक है।	प्राप्त होते है। प्रथम सग्रह कृष्टि वेदककाल त्रिभाग से कुछ अधिक है।
१३७	१	उस सग्रहकृष्टि को	उस सग्रहकृष्टि की
१३७	२	चरमसमयवर्ती	चरम समय मे
१३९	४	करता है,	करता है। किन्तु
१३६	१४	अतिस्थापना	प्रतिस्थापना
१४०	१०	सहिया	अहिया
१४०	१२	अवयव कृष्टियो के द्रव्य का	अवयव कृष्टियो का और द्रव्य का
१४०	१४	द्वितीय कृष्टि मे कृष्टियो का	द्वितीय कृष्टि मे सख्यातगुणा कृष्टियो का
१४०	१५	सख्यातगुणा	× ×
१४१	१०	चौदह गुणा हो गया। १	चौदह गुणा हो गया। १ इन अन्तरकृष्टियो के प्रदेशाग्र का भी अल्पबहुत्व इसी प्रकार जानना चाहिए।
१४६	५	प्रथमस्थिति शेष रह	प्रथम शुद्ध स्थिति मे समयाधिक आवली काल शेष रह
१४९	१८	अन्तर कृष्टियो के नीचे	कृष्टि अन्तरो मे
१५०	७	वेद करके	वेदन करके
१५१	६	अपेक्षा असख्यात-	अपेक्षा सख्यात-
१५३	१	विशेष कृष्टियो का	अन्तर कृष्टियो का
१५४	१४	एक भाग प्रमाण द्रव्य दिया जाता है।	एक भाग प्रमाण द्रव्य चढे गये अध्वान प्रमाण विशेषो से हीन करके दिया जाता है।
१५४	१५	एक खण्ड द्रव्य जघन्य बादर	एक खण्ड द्रव्य विशेषाधिक करके (चयाधिक करके) जघन्य बादर
१५५	१५	जाता तथा	जाता है तथा
१५५	२२	दिया जाता है। इससे आगे	दिया जाता है। पूर्वनिर्वतित कृष्टि को प्रतिपद्यमान प्रदेशाग्र का असख्यातवा भाग हीन दिया जाता है। इससे आगे
१५७	१	अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारक	अर्थ—लोभ की तृतीय संग्रहकृष्टि से जो द्रव्य सूक्ष्म कृष्टि रूप परिणत हुआ वह स्तोक है। उससे लोभ की द्वितीय सग्रह कृष्टि से जो द्रव्य लोभ की तृतीय संग्रह कृष्टिरूप परिणत हुआ वह सख्यातगुणा है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			उससे लोभ की द्वितीय संग्रहकृष्टि मे जो द्रव्य सूक्ष्म कृष्टिरूप परिणत हुआ वह सख्यात गुणा है। विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारक
१५७	११	प्रतिग्राह्य के अल्पवहुत्व के अनुसार	प्रतिग्रह के माहात्म्य के अनुसार ही
१५७	११	अर्थात् प्रतिग्राह्य	अर्थात् प्रतिगृह्यमाण
१५७	१२	का अल्पवहुत्व	की प्रवृत्ति
१५८	१५	करने वाले के क्रोध की	करने वाले के जो प्रदेशाग्र क्रोध की
१५८	२८	होता है, अतः यहाँ पर	होता है, किन्तु लोभ की प्रथम सग्रह कृष्टि के द्रव्य का लोभ की द्वितीय तृतीय सग्रह कृष्टि मे सक्रमण होता है अतः यहा पर
१६०	१६	ही होता है तथा	ही होता था, वह भी रुक गया तथा
१६२	१०	वादरकृष्टिवेदन ने	वादरकृष्टिवेदन के
१६३	४	आयाम भी इतना है।	आयाम भी सामान्य से इतना है।
१६३	१७	अधिक, क्योंकि	अधिक है, क्योकि
१६३	१९	अवरहिया	अवहरिया
१६५	२६	असख्यातगुणेहीन	विशेष (चय) हीन
१६८	२३	गुणसेढि	गुणसेढिसीसए
१६८	२३	होदि विसेसाहिय	होदि, विसेसाहियं
१६८	२४	अट्ठ वस्सट्ठि	अट्ठवस्सट्ठिदि
१६९	१५	तत्प्रायोग्य सख्यातगुणा	तत्प्रायोग्य सख्यात
१७०	१३	उदीर्णमान	उदीर्यमान
१७०	१४	सख्यातवेंभाग को	असख्यातवें भाग को
१७०	१८	उदीर्णमान	उदीर्ण
१७१	३	स्थितिकाण्डको को	स्थितिकाण्डको के यथाक्रम बीत जाने पर चरम स्थितिकाण्डक को
१७२	२३	ऊपर जो	ऊपर पहले (पुरातन) जो
१७२	२४	दिया जाता है, यह द्रव्य	दिया जाता है, यहा प्रथम निषेक मे दिया गया द्रव्य
१७३	३	अनन्तर स्थिति मे देता है।	अनन्तर स्थिति मे [तृतीय पर्व की प्रथम स्थिति मे] देता है।
१७६	४	देयमान	दीयमान
१७७	११-१२	क्षीणकषायगुणस्थान के ऊपर और	×
१७८	१	पडिदे	पदिदे
१७९	१७	तत्स्मृतम्	तत्सस्मृतम्
१८०	१०	जिस काल मे अश्वकर्णकरण	जिस काल मे चार कषायो का अश्वकर्णकरण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८०	२६	अश्वकर्णकरणकाल, कृष्टिकरणकाल	
१८१	१६	” ” ”	
१८३	१	सेढेक्क	सढेक्क
१८४	७	कर्मप्रकृतिया सत्त्व से	कर्म प्रकृतिया उदय और सत्त्व से
१८५	९	निर्गल	निर्मल
१८६	३	अन्तरित	अन्तरित कहलाता है।
१८७	१६	विग्घ च उक्कारण	विग्घचउक्कारण
१८९	१	स्तुविक	स्तिवुक
१८९	२३	केवलज्ञान अविनश्वरता को	केवलज्ञान की अविनश्वरता को
१९०		प्रमेय आनन्त्य	प्रमेय मे आनन्त्य
१९०	३	अतः उनके	अतः उनको
१९०	३	आनन्त्यपना	आनन्त्य
१९०	४	केवलज्ञान उपचारमात्र से	केवलज्ञान मे उपचारमात्र से
१९१	१०	आवरक	आवारक
१९१	२१	अनवस्था	अनवस्थान
१९३	५	अभाव और	अभाव है और
१९३	१९	केवलज्ञानरूपी	जिसका केवलज्ञानरूपी
१९३	२२-२३	और घातिया कर्मों को जीत लेने अर्थात् क्षय कर देने से जिन कहे जाते हैं	कहा जाता है
१९५	५	सकता	सकते
१९५	६	आदि व्यापार स्वाभाविक	व्यापार आदि स्वाभाविक
१९५	१५	पादाम्बुजे	पादाम्बुजेः
१९६	९	बघादि	वधदि
१९७	१४	पाविसिय	पविसिय
१९७	२१	अवशिष्टकाल; और अयोग	अवशिष्ट काल; अयोगी का सर्वकाल और अयोग
१९७	२२	सर्वकालका संख्यातवाभाग इन दोनोको	काल का संख्यातवा भाग इनको
१९८	७	आत्मप्रदेशो को कपाटरूप	आत्मप्रदेशो को प्रतररूप करता है। द्वितीयसमय मे प्रतर समेट कर आत्मप्रदेशो को कपाटरूप
१९८	२२-२३	गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम	गुणश्रेणिशीर्ष से वर्तमान गुणश्रेणिशीर्ष नीचे है। किन्तु पूर्व की अपेक्षा असख्यातगुणे प्रदेशाग्र का विन्यास करता है। यह गुणश्रेणी के ११ स्थानो की प्ररूपणा वाले सूत्र से सिद्ध है। गुणश्रेणि शीर्ष से उपरिम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	२७	परमगुत्सम्पदा	परमगुरुसम्प्रदाय
१६९	३	वीर्यपरिणामो मे	वीतराग परिणामों मे
१६६	३	होने पर भी अन्तर्मुहूर्त	होने पर भी आयु के अन्तर्मुहूर्त
२००	११	नत्यातवे	असंख्यातवें
२००	२७	होता है। कार्मण	होता है। क्योकि कार्मण
२०१	१०	जाते हैं। मूल	जाते हैं। क्योकि वहा मूल
२०१	११	असम्भव है क्योकि	असम्भव है और क्योकि
२०२	३	क्षपण के उपदेश मे यह	
२०३	६	लोकव्यापी, पाचवें समय मे सकोच-क्रिया	लोकव्यापी, फिर क्रमशः पाचवें समय मे लोकपूरण की संकोचक्रिया
२०३	७	उसका सकोच होकर आठवें समय मे दण्ड हो जाता है।	आठवें समय मे दण्ड का संकोच हो जाता है।
२०३	१४	काल मे और	बाद
२०३	१८	सण्णिविनुहुमाणि	सण्णिविसुहुमणि
२०६	१३	व्यतीत कर	तक
२०७	३	अनख्यातवे भागरूप परिणमाकर	असंख्यातवें भाग प्रमाण अविभागी प्रतिच्छेद अपूर्व स्पर्धको की चरम वर्गणा मे होते हैं। अर्थात् पूर्व स्पर्धको मे से जीव प्रदेशो का अपकर्षण कर उनको पूर्व स्पर्धको की आदि वर्गणा के अविभागी प्रतिच्छेदो के असंख्यातवें भाग रूप परिणमाकर
२०८	१६	एत्ता	एत्तो
२०९	५	स्यातगुणे क्रम से	प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रम से
२११	१२	परिणमन	परिणत
२११	२३-२८	अथवा द्वितीय उपदेशानुसार........ . ... द्वितीय समय मे नष्ट होती हैं।	अथवा प्रथम समय मे स्तोक कृष्टियो का वेदन करता है; क्योकि अधस्तन और उपरिम असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कृष्टियां प्रथम समय मे विनाश को प्राप्त होती हुई प्रधानरूप से विवक्षित हैं। दूसरे समय मे असख्यातगुणी कृष्टियो का वेदन करता है। क्योकि प्रथम समय मे विनाश को प्राप्त होने वाली कृष्टियो से दूसरे समय मे, अधस्तन और उपरिम, असंख्यातवें भाग से सम्बन्ध रखने वाली, असख्यातगुणी कृष्टिया विनाश को प्राप्त होती हैं; यह उक्त कथन का तात्पर्य है।
२१४	१४-१५	पुराणे रिशोर्प की जघन्य स्थिति	स्थितिकाण्डक की जघन्यस्थिति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	१६	प्रदेशाग्र देता है। यहा से	प्रदेशाग्र देता है। पुरातन गुणश्रेणिशीर्ष से अनन्तर उपरिम स्थिति मे असख्यातगुणा हीन देता है। उसके ऊपर सर्वत्र विशेषहीन–विशेषहीन प्रदेशाग्र देता है। यहा से
२१६	१	परिपूर्ण	अपरिपूर्ण
२१६	६	निर्जरा जिसका	निर्जरा ही जिसका
२२०	८	एकद्रव्य या पर्याय को	एक द्रव्य या गुण-पर्याय को
२२१	२१	एक तथा एक शब्द के	एक योग तथा एक शब्द के
२२२	२०	वीचार हो वह एकत्ववितर्क	वीचार हो वह पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान है। जिस ध्यान मे अर्थ, व्यंजन व योग की सक्रान्ति न हो, वह एकत्ववितर्क
२२३	९	परमात्मध्यान सगच्छते	परमात्मध्यानं न सगच्छते।
२२५	४	जिण-साहुगुणुक्कित्ताण	जिण-साहुगुणुक्कित्तण
२२६	८	घृतघट	घृतघट
२२९	१२	वह घी का घट कहलाता है।	"घी का घडा लाओ", ऐसा कहा जाता है। वैसे ही
२३१	५	पु वेद	पु वेद
२३२	१०	खीण	झीण
२३२	११-१२	अर्थ-स्त्यानगृद्धि........................करके नाश करता है।	अर्थ—मध्यम ८ कषायो के क्षय करने के अनन्तर स्त्यानगृद्धिकर्म, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, इन तीन दर्शनावरण की प्रकृतियो को, तथा नरकगति और तिर्यंचगति सम्बन्धी नामकर्म की १३ प्रकृतियो को सक्रम आदि करते समय (अर्थात् सर्वसक्रम आदि मे यानी सक्रम काण्डकघात आदि करके) क्षीण करता है
२३३	२५	गा० १३६, १३८-१३९	गा० ३-४-५
२३४	२३	अहिय	अहिओ
२३४	२४	वोधव्वो	बोधव्वा
२३४	२४	अणुभागो	अणुभागे
२३५	३	अणुभागो	अणुभागे
२३५	८	अनुभागविषयक	अनुभाग की अपेक्षा साम्प्रतिक वन्ध से साम्प्रतिक उदय अनन्तगुणा होता है। इसके अनन्तरकाल मे होने वाले उदय से
२३६	२	पश्चातानुपूर्वी	पश्चादानुपूर्वी
२३६	१३	सेसे	सेस
२३६	१८-१९	और तीन घातिया कर्मों का पृथक्त्व-	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		मुहूर्त प्रमाण स्थितिबन्ध अन्त:वर्षप्रमाण	
२३७	८	वाधक	बन्धक
२३७	९	करता नियम से	करता है, नियम से
२३७	१०	क्षपणाकाल मे सूक्ष्मसाम्परायिक	क्षपणाकाल मे और सूक्ष्मसाम्परायिक
२३८	१	उपर्युक्त १२ गाथाओ का	
२३८	१	(जयधवलमूल) से	(जयधवलमूल) के
२३८	२	चूलिका का कथन	चूलिका मे स्थित उपर्युक्त १२ गाथाओ का कथन

लक्षणावली

क्षपणासार

शब्द	ग्रन्थ में जहां आया वह पृष्ठ	परिभाषा
अधस्तन कृष्टि	११५	प्रथम, द्वितीय आदि कृष्टियो को अधस्तन कृष्टि कहते हैं ।
अधःप्रवृत्त सक्रम भागहार		पल्य के अर्द्धच्छेद के असख्यातवे भाग प्रमाण अधःप्रवृत्त सक्रम भागहार होता है । जहा जिसका बन्ध सम्भव हो, ऐसी जो विवक्षित प्रकृति, उसके परमाणुओ को अधःप्रवृत्त सक्रम भागहार का भाग देने पर एक भाग मात्र परमाणु अन्य प्रकृति रूप हो जाते हैं, यह अधःप्रवृत्तसक्रम कहलाता है ।
अनुत्पादानुच्छेद	२३१-६०	देखो—उत्पादानुच्छेद की परिभाषा मे ।
अनुभागकाण्डक काल	५६	एक अनुभागकाण्डक का घात अन्तर्मुहूर्त काल मे पूरा होता है, इस काल का नाम अनुभागकाण्डकोत्कीरण काल या अनुभागकाण्डककाल है ।
अनुसमयापवर्तन	१६७, १३४	जहा प्रति समय अनन्त गुणे क्रम से अनुभाग घटाया जाय वहा अनुसमयापवर्तन कहलाता है । पूर्व समय मे जो अनुभाग था उसको अनन्त का भाग देने पर बहुभाग का नाश करके एक भाग मात्र, अनुभाग अवशेष रखता है । ऐसे समय-समय अनुभाग का घटाना हुआ, अतः इसका नाम अनुसमयापवर्तन है । कहा भी है—उत्कीरण काल के बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है । (धवला १२/३२) अर्थात् प्रतिसमय कुल अनुभाग के अनन्त बहुभाग का अभाव करना अनुसमयापवर्तना है । शका—अनुसमयापवर्तना को अनुभाग काण्डकघात क्यो नही कहते ? समाधान—नहीं कहते, क्योकि प्रारम्भ किये गये प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभागकाण्डकघात है; परन्तु उत्कीरण काल के बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है। दूसरे, अनुसमयापवर्तना मे नियम से अनन्तबहुभाग नष्ट होता है, परन्तु अनुभागकाण्डकघात मे यह नियम नही है, क्योकि छह प्रकार की हानि द्वारा काण्डकघात की उपलब्धि होती है । धवल १२ पृष्ठ ३२
अन्तरकृष्टि	६६	एक-एक सग्रह कृष्टि मे अनन्तर कृष्टि अनन्त होती हैं। क्योकि अनन्तकृष्टि के

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		समूह का ही नाम संग्रह कृष्टि है। तथा संग्रह कृष्टि की ये अवान्तर कृष्टिया ही "अन्तर कृष्टि" कहलाती है। (अवयवकृष्टि=अन्तरकृष्टि क० पा० ८०६)
अन्तरित	१८६, १८९	अतीत, अनागत काल सम्बन्धी* अन्तरित कहलाता है। जैसे राम, रावण आदि। आप्त मीमासा० वृ० ५ तथा न्याय दी० पृ० ४१। परन्तु पंचाध्यायी मे ऐसे कहा है—अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नायनगाधिपा: ॥२/४८४ अर्थात् द्वीप, समुद्र, पर्वत आदिक पदार्थ अन्तरित हैं; क्योकि इनके बीच मे बहुत सी चीजें आ गई हैं, इसलिये ये दिख नहीं सकते।
अन्तर्दिवस	२३६	दिवस से कुछ कम को अन्तर्दिवस (अन्त:दिवस) कहते हैं।
अन्त:कोटा-कोटि सागर	२१	अन्त. अर्थात् अन्दर। अत: जहा विवक्षित प्रमाण से कुछ कम हो वहा अन्त: संज्ञा होती है। इसी तरह कोडा कोडी से नीचे तथा कोड़ी से ऊपर को अन्तः कोटा कोटी कहते हैं। कहा भी है—"अन्तः कोडा कोडी सागर" ऐसा कहने पर एक कोडा कोड़ी सागरोपमको सख्यात कोटियो से खण्डित करने पर जो एक खण्ड होता है वह अन्तः कोड़ा कोडी सागर का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। (धवल ६/१७४ चरम पेरा)
अपवर्तनोद्वर्तनकरण	६४	अश्वकर्णकरण, आदोलकरण, अपवर्तनोद्वर्तनकरण; ये तीनो एकार्थक नाम हैं। उनमे से अश्वकर्णकरण ऐसा कहने पर उसका अर्थ होता है अश्व का कर्ण अश्व कर्ण। अश्वकर्ण के समान जो करण वह अश्वकर्णकरण है। जिस प्रकार अश्व

---

* मूल कथन दिया जाता है ताकि अन्तर सुस्पष्ट हो जायगा—

(I) अन्तरिता: कालविप्रकृष्टा: अर्था· आ० मी० वृ० ५	(I) अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नायनगाधिपा: लाटीसंहिता सर्ग ४ श्लोक ८ पूर्वार्ध पृ० ५१
(II) अन्तरिता: कालविप्रकृष्टा रामादय: न्यायदीपिका पृ० ४१	(II) अंतरिता यथा द्वीपसरिन्नायनगाधिपा। पंचाध्यायी २/४८४ राजमल्ल
(III) अतीत अनागतकाल सम्बन्धी अतरित कहिये। प० टोडरमलजी	(III)
नोट—यहा उक्त ग्रन्थो में काल से अतरित (व्यवहित) अथवा विप्रकृष्ट (दूर) पदार्थ को "अन्तरित" कहा है।	नोट—ऊपर दोनो ग्रन्थो मे क्षेत्र से अंतरित व्यवहित (यानी विप्रकृष्ट) को "अन्तरित" कहा है।

शब्द पृष्ठ परिभाषा

आगे से लेकर मूल तक क्रम से घटता हुआ दिखाई देता है उसी प्रकार यह करण भी क्रोध सज्वलन से लेकर लोभ संज्वलन तक क्रम से अनन्तगुणे हीन अनुभाग के आकाररूप से व्यवस्था का कारण होकर अश्वकर्णकरण इस नाम से लक्षित होता है। अब आदोलकरण का अर्थ—आदोल नाम हिंडोला का है। आदोल के समान जो करण वह आदोल करण है। जिसप्रकार हिंडोले के खम्भे और रस्सी अन्तरान्त मे त्रिकोण होकर कर्ण रेखा के आकार रूप से दिखाई देते हैं, वैसे ही यहा भी क्रोधादिक कषायो का अनुभाग का सन्निवेश क्रम से हीयमान दिखाई देता है। इसलिये अश्वकर्णकरण की आदोलकरण सज्ञा हो गई है। इसीप्रकार अपवर्तना-उद्वर्तनाकरण यह पर्यायवाचक शब्द भी अनुगत अर्थ वाला है, ऐसा ज्ञातव्य है। यत: क्रोधादि सज्वलन कषायो के अनुभाग का विन्यास हानि-वृद्धि रूप से अवस्थित देख कर उसकी पूर्वाचार्यों ने "अपवर्तना-उद्वर्तना करण", यह सज्ञा प्रवर्तित की है। जय धवला मूल पृष्ठ २०२२ एव धवल पु० ६/३६४, कषाय पाहुड सुत्त पृ० ७८७ अभिप्राय यह है कि प्रकृत मे अश्वकर्णकरण की अपवर्तनोद्वर्तनकरण और आदोलकरण ये दो सज्ञाए होने का कारण यह है कि सज्वलन क्रोध से सज्वलन लोभ तक के अनुभाग को देखने पर वह उत्तरोत्तर अनतगुणा हीन दिखलाई देता है और सज्वलन लोभ से लेकर सज्वलन क्रोध तक के अनुभाग को देखने पर वह उत्तरोत्तर अनंतगुणा अधिक दिखलाई देता है। जैसे घोडे के कान मूल से लेकर दोनो ओर क्रम से घटते जाते है वैसे ही क्रोध सज्वलन से लेकर अनुभाग स्पर्धक रचना क्रम से अनन्तगुणी हीन होती चली जाती है इस कारण तो अश्वकर्णकरण सज्ञा है। आदोल (हिंडोला) के खम्भे और रस्सी अन्तराल मे कर्ण रेखा के आकाररूप से दिखाई देते है उसी प्रकार यहा भी क्रोधादि कषायो के अनुभाग की रचना क्रम से दोनो ओर घटती हुई दिखाई देती है अतः आदोलकरण नाम है। इसी तरह इसी अपवर्तन-उद्वर्तन करण सज्ञा भी सार्थक है, क्योकि क्रोधादि सज्वलनो के अनुभाग की रचना हानि-वृद्धि रूप से अवस्थित है। जै० ल० १/१९५

अपूर्व स्पर्धक ४, २ जिन स्पर्धको को पहले कभी प्राप्त नही किया, किन्तु जो क्षपक श्रेणी मे ही अश्वकर्णकरण के काल मे प्राप्त होते हैं और जो ससार अवस्था मे प्राप्त होने वाले पूर्व स्पर्धको से अनन्तगुणित हानि के द्वारा क्रमश: हीयमान स्वभाव वाले हैं, उन्हे अपूर्व स्पर्धक कहते हैं।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		क० पा० सु० पृष्ठ ७८६, जय ध० अ० ११०६; कहा भी है—वधर्मान तो पूर्व स्पर्धक तथा हीयमान अपूर्व स्पर्धक हैं। इसप्रकार दो प्रकार के स्पर्धक जानना चाहिये। पच स० अमित० १/४६ अश्वकर्णकरण के प्रथम समय से लगाकर उसके अन्तिम समय पर्यन्त वरावर यह अपूर्वस्पर्धक बनाने का कार्य चलता रहता है।[1] अर्थात् अश्वकर्ण करण का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ही इसकी विधि का काल है (इसके ऊपर कृष्टिकरण का काल प्रारम्भ होता है।) ऐसा जानना चाहिये।
अवयव कृष्टि	६४	एक-एक सग्रह कृष्टि की अनन्त अवयव कृष्टिया होती है। एक-एक संग्रह कृष्टि मे जो अनन्त कृष्टिया होती है, वे ही अवयव कृष्टिया हैं। क० पा० सु० ८०६
अश्वकर्णकरण	६४, ८७, ८६, ८८	देखो—अपवर्तनोद्वर्तनकरण की परिभाषा मे।
आदोलकरण	" "	" "
आयद्रव्य	१२१	जिस प्रकार लोक व्यवहार मे जमा-खर्च कहा जाता है। उसी प्रकार यहा भी आयद्रव्य और व्ययद्रव्यरूप कथन करते हैं। अन्य सग्रह कृष्टियो का जो द्रव्य सक्रमण करके विवक्षित सग्रहकृष्टि मे आया, (प्राप्त हुआ) उसे आय द्रव्य और विवक्षित सग्रहकृष्टि का द्रव्य सक्रमण करके अन्य सग्रह कृष्टियो मे गया उसे व्यय द्रव्य कहते हैं।
आवर्जितकरण	१९८	केवलि समुद्घात के अभिमुख होने को आवर्जित करण कहते हैं। अर्थात् केवलि-समुद्घात करने के लिये जो आवश्यक तैयारी की जाती है उसे शास्त्रकारो ने "आवर्जितकरण" सज्ञा दी है। इसके किये बिना केवलि समुद्घात का होना सम्भव नही है, अत: पहले अन्तर्मुहूर्त तक केवली आवर्जितकरण करते हैं। क० पा० सु० पृ० ९००
उच्छिष्टावलि	३८	सत्त्व के घटते २ जो आवली मात्र स्थिति अवशिष्ट रह जाती है उसका नाम

१ वैसे तो कृष्टिकरण काल मे भी अश्वकर्णकरण पाया जाता है। क्योकि वहा भी अश्वकर्ण के आकार सज्वलनो का अनुभागसत्त्व या अनुभागकाण्डक होता है। क्ष० सा० ४९१ परन्तु "अपूर्वस्पर्धक सहित अश्वकर्णकरण का काल" यहा प्रकृत है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		“उच्छिष्टावली” है। यानी स्थितिसत्त्व मे आवली मात्र के अवशिष्ट रहने पर वह उच्छिष्टावली कहलाती है।
उत्कृष्ट कृष्टि	११९	सबसे अधिक अनुभाग सहित अन्तिम कृष्टि उत्कृष्ट कृष्टि है।
उपरितन कृष्टि	११५	चरम, द्विचरम आदि कृष्टियो को उपरितन कृष्टि कहते हैं।
उष्ट्रकूट श्रेणी	१०९	जिस प्रकार ऊँट की पीठ पिछले भाग मे पहले ऊँची होती है पुनः मध्य मे नीची होती है, फिर आगे नीची-ऊँची होती है, उसी प्रकार यहा भी प्रदेशो का निषेक आदि मे बहुत होकर फिर थोडा रह जाता है। पुनः सन्धिविशेषो मे अधिक और हीन होता हुआ जाता है। इस कारण से यहा पर होने वाली प्रदेश श्रेणी की रचना को उष्ट्रकूट श्रेणी कहा है। क० पा० सु० पृ० ८०३, जय धवल २०५९–६४
काण्डक	४८	अन्तर्मुहूर्त मात्र फालियो का समूह रूप “काण्डक” है।
कृष्टि अन्तर	१००-१०१	एक-एक कृष्टि सम्बन्धी अवान्तर कृष्टियो के अन्तर की सज्ञा “कृष्टि अन्तर” है। क० पा० सु० ७९९
केवलि-समुद्घात	१९९	केवली भगवान् अघातिया कर्मों की हीनाधिक स्थिति के समीकरण के लिये जो समुद्घात (अपने आत्म प्रदेशो को ऊपर, नीचे और तिर्यक् रूप से फैलाना) करते है, उसे केवलि-समुद्घात कहते है। इस समुद्घात की दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणरूप चार अवस्थाएं होती है। दण्ड समुद्घातमे आत्म प्रदेश दण्ड के आकार रूप फैलते है। कपाट समुद्घात मे कपाट (किवाड) के समान आत्मप्रदेशोका विस्तार बाहुल्य की अपेक्षा तो अल्प परिमाणमय ही रहता है, पर विष्कम्भ और आयाम की अपेक्षा बहुत परिमाणमय होता है। तृतीय समुद्घातमे अघातिया कर्मों की स्थिति और अनुभाग का मन्थन किया जाता है, अत: तीसरा “मन्थसमुद्घात” कहलाता है। इसे (तृतीय समुद्घातको) प्रतर समुद्घात और रुजक समुद्घात भी कहते हैं। समस्त लोक मे आत्म प्रदेशो का फैलाव, चौथे समयमे हो जाने से, चौथे समयमे लोकपूरण समुद्घात कहलाता है। विशेष के लिए जयधवला का पश्चिमस्कन्ध अर्थाधिकार तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १९९ से २०३ देखना चाहिए।
कोटाकोटीसागर	१६	दस कोडाकोडी पल्य (अद्धापल्य) का एक सागर (अद्धासागर) होता है। तथा एकसागर को “करोड × करोड़” से गुणा करने पर जो आवे वह कोटाकोटी-

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		सागर कहलाता है। अर्थात् करोड × करोड × सागर = कोडाकोडीसागर। [कर्मो की स्थिति अद्धापल्य, अद्धासागर से वर्णित है]
क्रोधकाण्डक	७९	क्रोध की अपूर्वस्पर्धकसख्या को मान कषाय की अपूर्व स्पर्धक सख्या मे से घटाने पर जो शेष रहे उसका क्रोध की अपूर्वस्पर्धक सख्या मे भाग देने पर "क्रोध के काण्डक" का प्रमाण प्राप्त होता है। तथा उस काण्डकप्रमाण मे क्रमश. एक-एक अधिक करने से मान, माया एव लोभ, इन तीन काण्डको का प्रमाण प्राप्त होता है। यानी क्रोध के काण्डक (क्रोध काण्डक) से एक अधिक का नाम मान काण्डक है। इससे एक अधिक का नाम माया काण्डक है। तथा इससे भी एक अधिक का नाम लोभकाण्डक है।
क्षायिक चारित्र		सकल चारित्रमोहनीय के क्षय से उत्पन्न होने वाले चारित्र को क्षायिक चारित्र कहते हैं। त वृत्ति २-४, ल सा ६०६, धवल पु १४/१६ [चारित्तमोह-क्खएण समुप्पण्ण खइय चारित्त], त वा २/४/७; स सि २/४ आदि।
गुणश्रेणिनिर्जरा	३९	विशुद्धिवश गुणश्रेणी के द्वारा कर्मप्रदेशो की निर्जरा होना गुणश्रेणि निर्जरा है। "गुणश्रेणी" की परिभाषाके लिए देखो—उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आयाम की परिभाषा मे। इतना विशेष जानना कि गुणश्रेणि निर्जरा कर्म की होती है, नोकर्म की नही। ध० ९/३५२
गुणसक्रम	११	"समय पडि असखेज्जगुणाए सेढीए जो पदेससकमो सो गुणसकमो त्ति भण्णदे।" अर्थात् प्रत्येक समय असख्यातगुणी श्रेणी के द्वारा जो प्रदेश सक्रम (अन्य प्रकृति रूप परिणमन) होता है वह गुणसक्रम कहलाता है। जयधवल पु० ९ पृ० १७२ गो० क० जी० प्र० ४१३ आदि कहा भी है—अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुण-स्थानो मे बन्ध से रहित प्रकृतियो का गुणसक्रम और सर्व सक्रम होता है। धवल १६/४०९ प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कहा है कि प्रतिसमय असख्यातगुणे क्रम से युक्त, अबन्ध अप्रशस्त प्रकृतियोका द्रव्य, बध्यमान स्वजातीय प्रकृतियो मे सक्रान्त होता है, यह गुणसक्रम है। ल सा. ४००, गो० क० ४१६ अर्थात् विशुद्धि के वश प्रतिसमय असख्यातगुणित वृद्धि के क्रम से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियो के द्रव्य को जो शुभ प्रकृतियो मे दिया जाता है इसका नाम गुण सक्रम है।
चूलिका	२३१	सूत्र-सूचित अर्थ के प्रकाशित करने का नाम चूलिका है। धवल १०/३९५ जिस अर्थ-प्ररूपणा के किये जानेपर पूर्व मे वर्णित पदार्थ के विषय मे शिष्य को निश्चय

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		उत्पन्न हो, वह चूलिका है । धवल ११।१४० पूर्व निरूपित अनुयोग द्वारों मे एक, दो अथवा सभी अनुयोगद्वारो से सूचित अर्थों की विशेष प्ररूपणा जिस सन्दर्भ के द्वारा की जाती है उसका नाम चूलिका है । धवल पु० ७ पृ० ५७५
छद्मस्थ	२३७	ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का नाम "छद्म" है । इस छद्म मे जो स्थित रहते हैं, उन्हे छद्मस्थ कहते है । धवल १०।२९६, धवल १।१९०, धवल १।१८८
जघन्य कृष्टि	११९	सबसे स्तोक अनुभाग वाली प्रथम कृष्टि ही जघन्य कृष्टि कहलाती है ।
दूरवर्ती	१८६-१८९	दूरवर्ती क्षेत्र मे स्थित "दूर" कहलाती है । क्ष. सार ६११ एव न्यायदीपिका पृ ४१ कहा भी है—"स्वभाव विप्रकर्षी परमाणु आदि, काल विप्रकर्षी राम, रावण आदि और देश विप्रकर्षी हिमवान् आदि सूक्ष्म, अन्तरित एव दूरार्थ माने गये हैं ।" आ. मी ५ (कारिकाकार स्वामी समन्तभद्र) पृ० ३५, ३४ अनु० मूलचन्दजी न्यायतीर्थ अत: हिमवान् पर्वत आदि "दूर" कहलाते है । (दूर अर्थात् दूरवर्ती) परन्तु पचाध्यायी उ० श्लोक ४८४ मे लिखा है कि राम, रावण, चक्रवर्ती (बल-भद्र, अर्द्धचक्री, चक्री) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ (दूरवर्ती) कहलाते हैं (यथा—दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिण) यही बात लाटी-सहिता ४-८ पर लिखी है । फर्क इतना है कि पचाध्यायी व लाटीसहिता मे काल की अपेक्षा दूर से "दूर" लिया है । परन्तु ऊपर प्रस्तुत ग्रन्थ मे एव आप्तमीमासा मे देश (क्षेत्र) की अपेक्षा दूर को "दूर" कहा है । अन्य कोई बात नही है ।
परमुख क्षय	२३३	अर्थात् विवक्षित कर्मद्रव्य का परप्रकृतिरूप सक्रमण होकर क्षय होना ।
परस्थान सक्रमण	१२०-१३६	निकटतम अन्य कषाय की प्रथम सग्रह कृष्टि मे विवक्षित कषाय के द्रव्यका सक्रमण करना परस्थान सक्रमण कहलाता है । ज. ध २१८३-८४ जो द्रव्य जिस कषाय मे सक्रमण करता है वह उसी कषायरूप परिणमन कर जाता है ।
पश्चादानुपूर्वी	२३६	जो प्ररूपणा ऊपर से नीचे की परिपाटी से अर्थात् विपरीत क्रम से की जाती है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहा जाता है । जैसे—मैं मोक्ष सुख की इच्छा से वर्धमान स्वामीको तथा शेष तीर्थंकरो को भी नमस्कार करता हू[1]—यह प्ररूपणा ।

[1] अर्थात् पहले वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हू । और विलोमक्रम से वर्धमान के बाद पार्श्वनाथ को, पार्श्वनाथ के बाद नेमिनाथ को; इत्यादि क्रम से शेष जिनेन्द्रो को भी नमस्कार करता हू । (ध. १।७४, मूलाचार १०५) यह पश्चादानुपूर्वी है ।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		धवल १।७४ कहा भी है—विलोमेण परूवणा पच्छाणुपुव्वी णाम । धवल ९।१३५ अर्थात् विलोम क्रम से प्ररूपणा करना पश्चादानुपूर्वी है। (ध ९।१३५ प्रथम पेरा) जयधवल पुस्तक १ पृ २५ प्रकरण २२ (प्रथम पेरा) मे भी कहा है कि—उस पदार्थ की विलोम क्रमसे अर्थात् अन्त से लेकर आदि तक गणना करना पश्चादानुपूर्वी है।
पूर्वानुपूर्वी	२३६	उद्दिष्ट क्रम से अर्थाधिकार की प्ररूपणा का नाम पूर्वानुपूर्वी है। (धवल ९।१३५ प्रथम पेरा।) जो पदार्थ जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, अथवा जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो उसकी उसी क्रम से गणना करना पूर्वानुपूर्वी है। जयधवल १।२५। जो वस्तु का विवेचन मूल से परिपाटी द्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। उसका उदाहरण इस प्रकार है—'ऋषभनाथ की वन्दना करता हू, अजितनाथ की वन्दना करता हू' इत्यादि क्रम से ऋषभनाथ को आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रम वार वन्दना करना, सो वदना सम्बन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है। धवल १।७४
प्रदेश	४९	(i) जितने क्षेत्र मे एक परमाणु रहता है उसका नाम प्रदेश है। ꙮ स. सि. ५–८; द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र १४०, प्र. सा. (जय.) २,४५; नियमसार पृ० ३५ (ii) अन्य विवक्षा मे—स्कन्ध के आधे के आधे भाग को या देश के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं। ꙮ त० सा० ३।५७; वसुनन्दिश्राव० १७ गो० जी०, जी० प्र० ६०४, पं० का० ७५; मूला० ५–३४ (वट्टकेराचार्य), भाव स० ३०४, गो० जी० ६०४ आदि। (iii) परन्तु यहा कर्म शास्त्र मे, प्रकृत मे प्रदेश शब्द से, परमाणुरूप द्रव्य जानना चाहिए। लब्धिसार–क्षपणासार मे जहा प्रदेश शब्द आया है, वहा प्रायः "कर्मपरमाणु" अर्थ मे ही आया है। प्रदेश = कर्मपरमाणु। (देखो क्षपणासार गा० ४४१ पृ० ४९ आदि पर आगत प्रदेश शब्द]
प्रध्वसाभाव	१८९	(i) कार्य के विनाश का नाम प्रध्वसाभाव है। धवल १५।२९ (ii) दही मे जो दूध का अभाव है वह प्रध्वसाभाव स्वरूप है। जै० ल० ३।७६५ (iii) प्रध्वस अर्थात् कार्य का विघटन नामक धर्म।

ꙮ नोट—ये दोनो (i) व (ii) परिभाषाए परिज्ञान मात्र के लिए दी गई है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		(IV) आगामी पर्याय मे वर्तमान पर्याय के अभाव को प्रध्वसाभाव कहते हैं। जै० सि० प्र० १८३
फालि	४८	(I) समय-समय मे जितना द्रव्य सक्रमित होता है वह फालि है। (सक्रम प्रकरण मे)
		(II) स्थिति काण्डक के प्रकरण मे जितना द्रव्य काण्डक मे से प्रति समय अवशिष्ट नीचे की स्थिति मे दिया जाता है वह फालि है।
		(III) ऐसे ही उपशमनकाल मे पहले समय जितना द्रव्य उपशमाया वह उपशम की प्रथम फालि, द्वितीय समय मे उपशमाया वह उसकी द्वितीय फालि इत्यादि। भावतः समुदायरूप एक क्रिया मे पृथक्-पृथक् खण्ड करके विशेष करना "फालि" कहलाता है।
बन्धावली		इसे अचलावली भी कहते हैं। प्रकृति का बन्ध होने के बाद आवली मात्र कालतक वह उदय, उदीरणादिरूप होने योग्य नही होता, यही आवलीकाल बन्धावली है। इसे आबाधावली भी कहते हैं।
मान काण्डक	८०	देखो—क्रोधकाण्डक की परिभाषा मे।
माया काण्डक	८१	,, ,,
लोभ काण्डक	८२	,, ,,
व्ययद्रव्य	१२१	देखो—आयद्रव्य की परिभाषा मे।
सक्रमावली		जिस आवली मे सक्रमण पाया जाय वह सक्रमावली है।
सग्रहकृष्टि	९४	क्रोधादि सज्वलन कषायो की जो बारह, नौ, छः और तीन कृष्टिया होती हैं क० पा० सु० पृ० ८०६ वे ही सग्रह कृष्टिया हैं। पुन. इस एक-एक सग्रह कृष्टि की अवयव या अन्तर कृष्टिया अनन्त होती है। (क० पा० सुत्त पृ० ८०६) क्योकि अनन्त कृष्टियो के समूह का ही नाम सग्रह कृष्टि है।
सग्रहकृष्टि अतर	१००-१०१	(I) परस्थान गुणकार का नाम सग्रहकृष्टि-अन्तर है। (जयधवल मू० २०५०)
		(II) सग्रहकृष्टियो के और सग्रहकृष्टियो के अधस्तन-उपरिम अन्तर ११ होते है, उनकी सज्ञा "सग्रहकृष्टिअन्तर", ऐसी है। क. पा सु. पृ. ७९९ सू. ६११
सूक्ष्म	१८६-१८६	परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं। धर्मद्रव्य, कालाणु, पुद्गलपरमाणु आदि सूक्ष्म हैं। पचाध्यायी २।४८३, लाटी सहिता ४।७ आदि।
सूक्ष्मसाम्पराय-कृष्टिकरण	१५०	सज्वलन लोभकषाय के अनुभाग को वादर साम्परायिक कृष्टियो से भी अनन्त गुणित हानिरूप से परिणमित करके अत्यन्त सूक्ष्म या मन्द अनुभागरूप से

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		अवस्थित करने को सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकरण कहते हैं। जयधवल मूल पृ० २१६४-९५ तथा क० पा० सुत्त पृ० ८६२
स्थितिकाण्डककाल	५३	एक स्थितिकाण्डकघात मे लगने वाला काल स्थितिकाण्डककाल कहलाता है। यह अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। यह स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल भी कहलाता है।
स्थितिबधापसरणकाल	५३	एक स्थितिबन्धापसरणकाल मे लगने वाले काल को स्थितिबन्धापसरण काल कहते हैं। यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। इसे स्थितिबन्धकाल भी कहते हैं। एक स्थितिकाण्डकका काल (यानी स्थितिकाण्डककाल) और स्थितिबधापसरण का काल परस्पर तुल्य होते हैं। (ल० सा० गाथा ७९ पृ० ६४, ६५, ७६ क्ष० सा० पृ० ३४ आदि)
स्वमुखक्षय	२३३	स्वस्वरूपसे उदित होते हुए क्षय होना।
स्वस्थान सक्रमण	१२०-१३९	विवक्षित कषाय की सग्रह कृष्टि का द्रव्य जब अन्य सग्रह कृष्टि मे सक्रमण करता है तो उस विवक्षित कषाय की ही शेप अधस्तनकृष्टियो मे सक्रमण करता है यह स्वस्थान सक्रमण है। स्वस्थान मे अर्थात् अपनी ही अन्य सग्रहकृष्टियोमे। सक्रमण करना, अर्थात् तद्रूप परिणमन करना, ऐसा अर्थ है।

❖

क्षपणासार

"टीकायामुद्धृतगाथासूचिः"

पृष्ठ	गाथांश	अन्य ग्रन्थ में जहां आई है—
२२३	अट्टरउद्द भाण	भावसग्रह गा० ३५७
२३१	अण मिच्छ मिस्स	ज० ध० मूल पृ० २२७२ गा० १
२३२	अध थीणगिद्धि–	ज० ध० मूल पृ० २२७३ गा० २ तथा क०पा०सु० पृ० ७५६ गा० १२८
२२७	अविदक्कमवीचार अणियट्टी	धवल १३ पृ० ८७ गा० ७७
२२५	अविदक्कमवीचार सुहुम-	भ० आ० गा० १८८६
१६३	असहायणाणदसण	ज० ध० मूल पृ० २२७७ गा० २ तथा धवल पु० १ पृ० १६१-६२
२३५	उदयो च अणंतगुणो	ज० ध० मू० पृ० २२७४ गा० ६
२१३	अंतोमुहुत्तमद्ध	ज० ध० मू० पृ० २२६१ गा० १५७
४	काणि वा पुव्वबद्धाणि	क० पा० सु० पृ० ६१४ गा० ६२
१६४	कायवाक्यमनसां	ज० ध० मू० पृ० २२७१ गा० १४८ तथा स्वयंभू-स्तोत्र ७४
४	कि ट्ठिदियाणि कम्माणि	क० पा० सु० पृ० ६१५ गा० ६४
४	के असे खीयदे पुव्व	क० पा० सु० पृ० ६१५ गा० ६३
१६३	केवलणाणदिवायर-	ज० ध० मूल पृ० २२७० गा० १ तथा धवल १/१६१–६२
२३३	कोहस्स छुहइ माणे	ज० ध० मू० पृ० २२७३ गा० ५ तथा क० पा० सु० पृ० ७६४–६५
२२३	घरवावारा केई	भावसग्रह गा० ३८५
२३६	चरिमे बादररागे	ज० ध० मू० पृ० २२७४ गा० १० तथा क० पा० सु० पृ० ८७४ गा० २०६
१६४	जगते त्वया हितम–	ज० ध० पृ० २२७१ गा० १४७
२२७	जहसव्वसरीरगद	धवल १२ पृ० ८७ गा० ७५
२३७	जाव ण छदुमत्थादो	ज० ध० मू० पृ० २२७४ गा० १२
२२५	जिण साहुगुणुक्कित्तण-	धवल १३ पृ० ७६
२२८	जोगविणास किच्चा	स्वा० कार्ति० अनु० गा० ४८७
२३४	जो जम्हि सछुहतो	ज० ध० मूल पृ० २२७३ गा० ६ तथा क० पा० सु० पृ० ७६५ गा० १४०
२३६	जं चावि संछुहंतो	ज० ध० मूल पृ० २२७४ गा० ११, क० पा० सु० पृ० ८८१ गा० २१७ तथा क० पा० सु० पृ० ६२५ गा० ११

❖

क्षपणासार
विशेष शब्द-सूची

"क्षपणासारस्य गाथानुक्रमणिका"

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित

लब्धिसार

(सिद्धान्तबोधिनी टीका समन्वित)

सम्पादक :
स्व. ब्र. पं. रतनचन्द्र मुख्तार
सहारनपुर (उ.प्र)

लब्धिसार विषयानुक्रमणिका

❖

लब्धिसार

"सिद्धान्तबोधिनी हिन्दीटीका"

"मंगलाचरणम्"

सिद्धे जिणिंदचंदे आयरिय उवज्झाय साहुगणे ।
वंदिय सम्मद्दंसण-चरित्तलद्धिं परूवेमो ॥१॥

अर्थ—मैं नेमिचन्द्रआचार्य सिद्ध-अरिहन्त-आचार्य-उपाध्याय तथा सर्वसाधुओ को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति (के उपाय) को कहूगा ।

विशेषार्थ—चन्द्रमाके समान सम्पूर्णलोकके प्रकाशक अरहन्त भगवान्को, जिनके सभी कार्य सिद्ध होनेसे जो कृतकृत्य हो गये है अर्थात् जिन्होने सम्पूर्णकर्मोका क्षय कर दिया है ऐसे सिद्ध भगवान्को, तेरहप्रकारके चारित्रमे जो स्वय प्रवृत्ति करते है तथा अन्यको प्रवृत्ति कराते है ऐसे आचार्यको, जिनवाणीके पठन-पाठनमे रत उपाध्यायो को और रत्नत्रयके साधक साधुगणोको अर्थात् इन पचपरमेष्ठियोको नमस्कार करके श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने लब्धिसारग्रन्थको कहनेकी प्रतिज्ञा की है । इस लब्धिसार ग्रन्थमे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की प्राप्तिके उपायका कथन किया जावेगा ।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य जीवको बताते हैं—

[1]चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो ।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धिचरिमम्हि ॥२॥

---

१. दृश्यता षट्खण्डागम, जीवस्थान चूलिका (अष्टमी) सूत्र ४ एव किंचित् पाठान्तरेण जीवकाडेऽपि आगता गाथेयं । (गो. जी. गा. ६५२)

अर्थ—चारोगतिका मिथ्यादृष्टि-सज्ञी-पर्याप्त-गर्भज-विशुद्धपरिणामी-साकारोपयोगी जीव अतिम पचमलब्धिका अत होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करनेवाला जीव सामान्यरूपसे चारो ही गतियोमे होता है। **'सण्णी'** पदसे तिर्यञ्चगति सम्बन्धी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवोका प्रतिषेध किया गया है। पर्याप्तावस्थामे ही सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता होती है, अपर्याप्तावस्थामे नही इसलिये **'पुण्णो'** विशेषण दिया गया है। लब्ध्यपर्याप्त और निवृत्यपर्याप्तावस्थाको छोडकर नियमसे सज्ञीपचेन्द्रियपर्याप्तजीव ही प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके योग्य होता है[1]।

नरकगतिसम्बन्धी सर्व नारकपृथ्वियोके सभी इन्द्रकबिलोमे, सर्व श्रेणिबद्ध व प्रकीर्णकबिलोमे विद्यमान नारकीजीव यथोक्तसामग्रीसे परिणत होकर वेदनाअभिभवादि कारणोसे प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते है। भवनवासियोके जितने आवास है, उन सभीमे उत्पन्न हुए जीव जिनबिम्बदर्शन और देवर्धिदर्शनादि कारणोसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न करते है। सर्व द्वीप और समुद्रोमे रहनेवाले सज्ञीपचेन्द्रियतिर्यञ्चपर्याप्त तथा ढाईद्वीप-समुद्रोमे सख्यातवर्षकी आयुवाले गर्भज और असख्यातवर्षकी आयुवाले सभी मनुष्य जातिस्मरण, धर्मश्रवणादि निमित्तोसे अपने-अपने लिए सर्वत्र प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते है, यहा देशविशेषका नियम नही है।

शका—त्रसजीवोसे रहित असख्यातसमुद्रोमे तिर्यञ्चोका प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करना कैसे सम्भव है ?

समाधान—उन असख्यातसमुद्रोमे भी बैरीदेवोके द्वारा ले जाये गये तिर्यचोके प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति पाई जाती है। असख्यातद्वीप-समुद्रोमे जो व्यन्तरावास है उन सभीमे वर्तमान वानव्यन्तरदेव जिनमहिमादर्शनादि कारणोसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते है।

ज्योतिषीदेव भी जिनबिम्बदर्शन और देवर्द्धिदर्शनादि कारणोसे सर्वत्र प्रथमोपशमसम्यग्दर्शनको उत्पन्नकरनेके योग्य होते है। सौधर्मकल्पसे उपरिमग्रैवेयकपर्यन्त सर्वत्र विद्यमान और अपनी-अपनी जातिसे सम्बन्धित सम्यक्त्वोत्पत्तिके कारणोसे परिणत हुए देव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते है।

---

१ ज ध. पु १२ पृ. २१७।

शंका—उनसे (उपरिमग्रैवेयकसे) आगे अनुदिश और अनुत्तरविमानवासी-देवोमे प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्यो नही होती ?

समाधान—अनुदिश व अनुत्तरविमानोमे प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति नही होती, क्योंकि उनमें सम्यग्दृष्टिजीवोंके ही उत्पन्न होनेका नियम है ।

आभियोग्य और किल्विषिकादि अनुत्तमदेवोमे भी यथोक्त हेतुओका सन्निधान होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति अविरुद्ध है[1] । तिर्यञ्च व मनुष्योमे गर्भजको ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है, सम्मूर्च्छनको नही होता ।

दर्शनमोहके उपशामक जीव विशुद्धपरिणामी ही होते है, अविशुद्धपरिणामी नही । अधःप्रवृत्तकरणके पूर्व ही अन्तर्मुहूर्तसे लेकर अनन्तगुणी विशुद्धि प्रारम्भ हो जाती है ।

शंका—ऐसा किस कारणसे है ?

समाधान—जो जीव अतिदुस्तर मिथ्यात्वरूपी गर्तसे उद्धार करनेका मनवाला है, जो अलब्धपूर्व सम्यक्त्वरूपी रत्नको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छावाला है जो प्रतिसमय क्षयोपशमलब्धि और देशनालब्धि आदि के बलसे वृद्धिगत सामर्थ्यवाला है और जिसके सवेग व निर्वेदसे उत्तरोत्तर हर्षमे वृद्धि हो रही है उसके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिकी प्राप्ति होनेका निषेध नही है[2] ।

जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है । अर्थके ग्रहणरूप आत्म परिणामको भी उपयोग कहते है । उपयोगके साकार और अनाकारके भेदसे दो प्रकार है । इनमें से साकार तो ज्ञानोपयोग और अनाकार दर्शनोपयोग है, इनके क्रमसे मतिज्ञानादिक और चक्षुदर्शनादिक भेद है । दर्शनमोहका उपशामकजीव साकारोपयोगसे परिणत होता हुआ प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, क्योकि अविमर्शक और सामान्यमात्रग्राही चेतनाकार दर्शनोपयोगके द्वारा विमर्शकस्वरूप तत्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके प्रति अभिमुखपना नही बन सकता । इसलिए मति-श्रुतअज्ञान (कुमति व कुश्रुतज्ञान) से या विभगज्ञानसे परिणत होकर यह जीव प्रथमोपशम-

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २९८ से ३०० ।

२. ज. ध. पु. १२. पृ. २०० ।

सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके योग्य होता है[१] । विमर्शकका अर्थ है किसी तथ्यका अनुसधान, किसी विषयका विवेचन या विचार ।

सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदकसम्यग्दृष्टिजीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त नही होता है, क्योकि इन जीवोके प्रथमोपशमसम्यक्त्वरूप परिणमन होनेकी शक्तिका अभाव है । उपशमश्रेणिपर चढनेवाले वेदकसम्यग्दृष्टिजीव उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्वका 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' यह नाम नही है, क्योकि उस उपशमश्रेणिवाले उपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति सम्यक्त्वपूर्वक होती है[२] इसलिये प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिए[३] ।

अथानन्तर सम्यक्त्वोत्पत्तिसे पूर्व मिथ्यात्वगुणस्थानमें जो पांचलब्धियां होती हैं उनका व्याख्यान करते हैं—

[४]खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धि य ।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते ॥३॥

अर्थ—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करणलब्धि ये पाच लब्धियां हैं उनमेसे चार लब्धिया तो सामान्य है[५] तथा करणलब्धिके होनेपर (उपशम) सम्यक्त्व या चारित्र अवश्य होता है ।

विशेषार्थ—यहा गाथामे जो **'सामण्णा'** शब्द है इसका प्रयोग आगे गाथा ७ व १५ मे भी हुआ है, किन्तु प्रत्येकगाथामे 'सामण्णा' शब्द विभिन्न विषयोका द्योतक है । यहापर 'करण सम्मत्तचारित्ते' से यह स्पष्ट हो जाता है कि करणलब्धिसे पूर्वकी

---

१ ज ध. पु १२ पृ २०३-२०४

२ 'सम्यग्दृष्टिरेव द्वितीयोपशम प्राप्नोति,' ध. पु १ पृ २११-१२, मूलाचार अ. १२ गा २०५ की टीका, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८४ की टीका ।

३ ध. पु ६ पृ. २०६-७ व ध पु १ पृ ४१० ।

४ ध पु ६ पृ २०५,-पर तत्र चतुर्थचरणे "करण पुण होइ सम्मत्ते" इति पाठ. । इयमेव गाथा धवला जीवस्थानचूलिकाया (षष्ठे पुस्तके) अप्यागता, ध पु ६ पृ. १३९; गो जी. गा. ६५१ ।

५ एदाओ चत्तारि लद्धीओ भवियाभवियमिच्छाइट्ठीण साहारणाओ ।

(क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना व प्रायोग्य) चार लब्धियां होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिका नियम नही है, किन्तु करणलब्धिके प्रारम्भ होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्व अवश्य उत्पन्न होगा। जिन जीवोको प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना है उनको तथा जिनको नही होना है उनको भी क्षयोपशमादि चारलब्धिया हो जाती है। अत. प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति और अनुत्पत्तिकी अपेक्षा आदिकी चारो लब्धिया साधारण (सामान्य) है।

अब क्रमप्राप्त क्षयोपशमलब्धिका स्वरूप कहते है—

कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयमणंतगुणविहीणकमा ।
होदूणुदीरदि जदा तदा खओवसमलद्धी दु ॥४॥

अर्थ—प्रतिसमय क्रमसे अनन्तगुणी हीन होकर कर्ममलपटल शक्तिकी जब उदीरणा होती है तब क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशेषार्थ—पूर्वसचित कर्मोके मलरूप पटलके अर्थात् अप्रशस्त (पाप) कर्मोके अनुभागस्पर्धक जिससमय विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणेहीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होते है उससमय, क्षयोपशमलब्धि होती है[1]।

अब विशुद्धिलब्धिका स्वरूप कहते है—

आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं ।
सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धलद्धी सो ॥५॥

अर्थ—आदि (प्रथम) लब्धि होनेपर साताआदि प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियोके बन्धयोग्य जो जीवके परिणाम वह विशुद्धिलब्धि है।

विशेषार्थ—प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरित अनुभागस्पर्धकोसे उत्पन्न हुआ साताआदि शुभकर्मोके बन्धका निमित्तभूत और असाताआदि अशुभकर्मोके बन्धका विरोधी जो जीवका परिणाम, वह विशुद्धि है उसकी प्राप्तिका नाम विशुद्धिलब्धि है[2]।

---

१. ध. पु. ६ पृ. २०४।

२ ध. पु ६ पृ. २०४।

अथानन्तर देशनालब्धिका स्वरूप कहते हैं—

छद्दव्वणवपयत्थोवदेसयरसूरिपहुदिलाहो जो ।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥

अर्थ—छहद्रव्य और नवपदार्थका उपदेश देनेवाले, आचार्यआदिका लाभ अथवा उपदेशित पदार्थोंको धारण करनेका लाभ, यह तृतीयलब्धि है ।

विशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहद्रव्योंके और जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम 'देशना" है । उस देशनासे परिणत आचार्यादिकी उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशनालब्धि कहते हैं[1] ।

गाथाके अन्तमे 'दु' शब्द आया है उसके द्वारा वेदनानुभव, जातिस्मरण, जिनविम्वदर्शन, देवऋद्धि दर्शनादि कारणोका ग्रहण होता है, क्योकि इन कारणोसे नैसर्गिक प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है । जो प्रथमोपशमसम्यक्त्व धर्मोपदेशके विना जिनविम्वदर्शनादि कारणोसे उत्पन्न होता है वह नैसर्गिकसम्यग्दर्शन है,[2] क्योकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शनके बिना नैसर्गिक प्रथमसम्यग्दर्शनका उत्पन्न होना असम्भव है[3] । जिनविम्वदर्शनसे निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्म-कलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बदर्शन प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे कारण होता है[4] । जिनपूजा, वदना और नमस्कारसे भी बहुत कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होती है[5] । सामान्यरूपसे भवस्मरण (जातिस्मरण) के द्वारा सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नही होती, किन्तु धर्मवुद्धिसे पूर्वभवमे किये गये मिथ्यानुष्ठानोकी विफलताका दर्शन प्रथमो-पशमसम्यक्त्वके लिए कारण होता है[6] ।

---

१ ध पु. ६ पृ २०४ ।

२ "बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्" [सर्वार्थसिद्धि १।३ व राजवार्तिक १।३।५]

३ जाइस्म जिणविंबदसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असभावादो (ध. पु. ६ पृ ४३१)

४ ध पु ६ पृ ४२७ ।　　५. ध पु. १० पृ २८९ ।

६ ध पु ६ पृ ४२२ ।

अब प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप कहते हैं—

अंतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं ।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ।।७।।

अर्थ—कर्मोकी स्थितिको अन्त:कोडाकोड़ी तथा अनुभागको द्विस्थानिक करनेको प्रायोग्यलब्धि कहते है । यह लब्धि भव्य और अभव्यके समानरूपसे होती है ।

विशेषार्थ—अत:कोडाकोडीसागर कर्मस्थिति रह जानेपर सज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्याप्त-जीवके प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता होती है । इस प्रायोग्यलब्धिमे इतनी विशुद्धता हो जाती है कि सर्वकर्मोकी उत्कृष्टस्थितिका काण्डकघातके द्वारा घातकरके अन्त:कोडाकोडीसागरप्रमाण स्थिति कर देता है तथा अप्रशस्तप्रकृतियोके चतु स्थानीय अनुभागको घातकरके द्विस्थानीयअनुभागमे स्थापन कर देता है अर्थात् घातियाकर्मोका अनुभागलता-दारुरूप और अप्रशस्त अघातियाकर्मोका अनुभाग निम्ब-काजीररूप द्विस्थानगत शेष रह जाता है, किन्तु प्रशस्तप्रकृतियोका अनुभाग गुड-खाड-शर्करा और अमृतरूप चतु स्थानीय ही होता है, क्योकि विशुद्धिके द्वारा प्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागका घात नही होता है[1] । इन अवस्थाओके होनेपर करण अर्थात् पचम करणलब्धि होनेके योग्य भाव पाए जाते है[2] । इतनी विशुद्धि भव्यसिद्धिक और अभव्यसिद्धिक इन दोनो प्रकारके जीवोके हो सकती है; इसबातको बतलानेके लिए गाथा मे **'भव्वाभव्वेसु सामण्णा'** पद दिया है; इसमे किसी भी आचार्यको विवाद नही है ।

अथानन्तर प्रसंगप्राप्त प्रथमोपशमसम्यक्त्वग्रहणकी योग्यताका प्रतिपादन करते हैं—

जेट्ठवरट्ठिदिबंधे जेट्ठवरट्ठिदितियाण सत्ते य ।
ण य पडिवज्जदि पढमुवसमसम्मं मिच्छजीवो हु ।।८।।

गाथार्थ—उत्कृष्ट अथवा जघन्यस्थितिबन्ध करनेवाले तथा स्थिति-अनुभाग व प्रदेश इन तीनोके उत्कृष्ट या जघन्य सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टिजीवके प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नही होता ।

---

१. ध. पु ६ पृ. २०९ एवं ध. पु. १२ पृ १८ व ३५ ।
२. ध. पु ६ पृ २०५ ।

विशेषार्थ—जो सर्वपर्याप्तियोसे पर्याप्त है, साकार जागृत श्रुतोपयोगसे उपयुक्त है, उत्कृष्टस्थितिवन्धके साथ उत्कृष्टस्थितिबन्धके योग्य संक्लेश परिणामवाला है अथवा ईषत् मध्यमसक्लेशपरिणामवाला है ऐसा कोई एक सज्ञीपंचेन्द्रियमिथ्यादृष्टि-जीव सातकर्मो (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय) के उत्कृष्टस्थितिवन्धका स्वामी है[1]। जो अन्यतर सूक्ष्मसाम्परायिकक्षपक अन्तिमबंधमे अवस्थित है, ऐसा सम्यग्दृष्टिजीव छहकर्मो (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय) के जघन्यस्थितिवन्धका स्वामी है। जो अनिवृत्तिकरणक्षपक अंतिम-स्थितिवन्धमे अवस्थित है वह मोहनीयकर्मके जघन्यस्थितिबन्धका स्वामी है[2]। उत्कृष्ट-विशुद्धिके द्वारा जो स्थितिवन्ध होता है वह जघन्य होता है, क्योकि सर्वस्थितियोके प्रशस्तभावका अभाव है। सक्लेशकी वृद्धिसे सर्वप्रकृतिसम्बन्धी स्थितियोंकी वृद्धि होती है और विशुद्धिकी वृद्धिसे उन्ही स्थितियोकी हानि होती है[3]। असातावेदनीयके बन्ध-योग्य परिणाम सक्लेशित और साताके बंधनेयोग्य परिणाम विशुद्ध होते है[4]। जो चतुःस्थानीय यवमध्यके ऊपर अन्त कोडाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिको वांधता हुआ स्थित है और अनन्तर उत्कृष्टसक्लेशको प्राप्त होकर जिसने उत्कृष्टस्थितिका बन्ध किया है ऐसे किसी भी मिथ्यादृष्टिजीवके उत्कृष्टस्थितिसत्त्व होता है[5]। किसी भी क्षपकजीवके सकषायावस्थाके अन्तिमसमयमे अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके चरमसमयमें मोहनीय-कर्मका जघन्यस्थितिसत्त्व होता है[6]। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मोंका जघन्यस्थितिसत्त्व क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिमसमयमे होता है। चार अघातिया कर्मों का जघन्यस्थितिसत्त्व अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमे होता है, क्योकि इन सर्वकर्मोका वहा-वहा एकसमयमात्र स्थितिसत्त्व पाया जाता है। जो जीव उत्कृष्टअनु-भागका वन्ध करके जवतक उस अनुभागका घात नही करता तवतक वह जीव उत्कृष्ट अनुभागसत्त्ववाला होता है[7]। सकषाय क्षपकके अर्थात् दसवेगुणस्थानके अन्तिमसमयमे मोहनीयकर्मका जघन्यअनुभागसत्त्व होता है[8]। शेष तीन घातिया कर्मोंका जघन्यअनु-भागसत्त्व क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तिमसमयमें होता है और उत्कृष्ट-प्रदेशसत्त्व गुणित-

---

१ महाबन्ध पु २ पृ ३३। २. महाबन्ध पु २ पृ. ४०।
३ ध पु ११ पृ ३१४। ४ ध पु ६ पृ १८०।
५. ज ध पु ३ पृ १६। ६ ज. ध. पु ३ पृ. २०।
७ ज. ध पु ५ पृ ११। ८. ज ध. पु. ५ पृ १५।

कर्मांशिकके सातवें नरकमें चरमसमयमें होता है। क्षपितकर्मांशिकके दसवेगुणस्थानके अन्तिमसमयमे मोहनीयकर्मका और १२वे गुणस्थानके चरमसमयमे तीनघातिया कर्मोंका जघन्य प्रदेशसत्त्व है। विशेष जाननेके लिए ध पु १० देखना चाहिए। स्वामित्व-सम्बन्धी उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्कृष्टस्थितिबन्ध व उत्कृष्ट-स्थिति-अनुभाग व प्रदेशसत्त्व उत्कृष्टसक्लेशपरिणामी मिथ्यादृष्टिजीवके होता है जिसके उत्कृष्टसक्लेशके कारण प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नही हो सकता तथा जघन्यस्थिति-बन्ध व जघन्यस्थिति-अनुभाग-प्रदेशसत्त्व क्षपकश्रेणिमे होता है वहापर तो क्षायिक-सम्यक्त्व होता है।

अब आगे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुखजीवके स्थितिबंधपरिणामोंको कहते हैं—

सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहि वड्ढमाणो हु।
अंतोकोडाकोडिं सत्तण्हं बंधणं कुणदी ॥९॥

अर्थ—विशुद्धिकी वृद्धिद्वारा वर्धमान तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव सातकर्मोका अन्त कोडाकोडीसागरप्रमाण स्थितिबन्ध करता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सभी मिथ्यादृष्टिजीव एककोडा-कोडीसागरके भीतरकी स्थिति अर्थात् अन्त'कोडाकोडीसागरोपमको बांधता है, इससे बाहर अर्थात् अधिकस्थितिको नही बाधता[1]। **कहा भी है**—स्थितिबन्ध भी इन्ही अर्थात् बधनेवाली प्रकृतियोका अन्त कोडाकोडीसागरोपमप्रमाण ही होता है, क्योकि यह अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीव विशुद्धतरपरिणामोसे युक्त होता है[2]।

अथानन्तर प्रायोग्यलब्धिकालमें प्रकृतिबंधापसरणको कहते हैं—

तत्तो उदय सदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडि बंधुच्छेदपदा होंति चोत्तीसा ॥१०॥

अर्थ—उससे अर्थात् अन्त कोड़ाकोड़ीसागर स्थितिसे पृथक्त्व सौ सागरहीन स्थितिको बाधकर पुनः पुनः पृथक्त्व १०० सागर घटाकर स्थितिबन्ध करनेपर प्रकृति-बन्ध व्युच्छित्ति के ३४ स्थान होते है।

---

१. ध. पु. ६ पृ. १३५। २. ज. ध. पु. १२ पृ. २१३।

विशेषार्थ—अन्त-कोडाकोडीसागरोपम स्थितिबन्धसे पृथक्त्व १०० सागर-प्रमाण स्थितिबन्ध घटनेका क्रम इसप्रकार है—अन्त कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिबंधसे पल्यके सख्यातवेभागसे हीन स्थितिको अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त-समानता लिये हुए ही बाधता है, फिर उससे पल्यके संख्यातवेभागहीन स्थितिको अन्तर्मुहूर्ततक बाधता है । इसप्रकार पल्यके सख्यातवेभागहीन क्रमसे एकपल्यहीन अन्त:कोड़ाकोड़ीसागरोपम स्थितिको अतर्मुहूर्ततक बाधता है तथा इसी पल्यके सख्यातवेभाग हीन क्रमसे स्थितिबन्धापसरण करता हुआ दो पल्यसे हीन, तीनपल्यसे हीन इत्यादि स्थितिको अतर्मुहूर्ततक बांधता है । पुन इसीक्रमसे आगे-आगे स्थितिबन्धका ह्रास करता हुआ एक सागरसे हीन, दो सागरसे हीन, तीन सागरसे हीन इत्यादि क्रमसे सात-आठसौ सागरोपमोसे हीन अत-कोटाकोटीप्रमाण स्थितिको जिससमय बाधने लगता है, उससमय प्रकृतिबध-व्युच्छित्ति-रूप एकबन्धापसरण होता है । उपर्युक्त क्रमसे ही स्थितिबन्धका ह्रास होता है और जब वह ह्रास सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमित हो जाता है तब प्रकृति बन्ध व्युच्छित्तिरूप दूसरा बन्धापसरण होता है । यहीक्रम आगे भी जानना चाहिए[1] ।

आगे चौंतिस प्रकृतिबंधापसरणोंको पांच गाथाओके द्वारा कहते हैं—

आऊ पडि णिरयदुगे, सुहुमतिये सुहुमदोण्णि पत्तेयं ।
बादरजुत दोण्णि पदे, अपुण्णजुद बितिचसण्णिसण्णीसु ॥११॥

अट्ठ अपुण्णपदेसु वि, पुण्णेण जुदेसु तेसु तुरियपदे ।
एइंदिय आदावं, थावरणामं च मिलिदव्वं ॥१२॥

तिरिगदुगुज्जोवो वि य, णीचे अपसत्थगमणदुभगतिए ।
हुंडासंपत्ते वि य, णउंसए वामखीलीए ॥१३॥

खुज्जद्धं णाराए, इत्थीवेदे य सादिणाराए ।
णग्गोधवज्जणाराए मणुओरालदुगवज्जे ॥१४॥

अथिरअसुभ जस अरदी, सोयअसादे य होंति चउतीसा ।
बंधोसरणट्ठाणा, भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥१५॥

---

[1] विशेषार्थ [illegible] संस्कृतटीकाके आधारसे लिखा है ।

अर्थ—आयुबन्धव्युच्छित्ति स्थानोके पश्चात् क्रमश नरकद्विक, सूक्ष्मादि तीन, सूक्ष्मादि दो व प्रत्येक, बादर-अपर्याप्ति-साधारण, बादर-अपर्याप्त-प्रत्येक, अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-त्रीन्द्रिय, अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त-असंज्ञी-पचेन्द्रिय, अपर्याप्त-सज्ञीपचेन्द्रिय ॥११॥ आठ पदोमें अपर्याप्तके स्थानपर पर्याप्ति जोड़ना चाहिए, किन्तु चतुर्थपद एकेन्द्रिय-आतप-स्थावर भी मिलाना चाहिए। अर्थात् (पूर्वोक्त छठे पदसे १३वे पदतक ८ पदोमे अपर्याप्तके स्थानपर पर्याप्त जोडना चाहिए)। तिर्यञ्चद्विक व उद्योत, नीचगोत्र, अप्रशस्तविहायोगति और दुर्भगादि तीन (दुर्भग-दुस्वर-अनादेय), हुण्डसस्थान-सृपाटिकासंहनन, नपुसकवेद, वामनसस्थान व कीलितसहनन। कुब्जसस्थान-अर्धनाराचसहनन, स्त्रीवेद, स्वातिसस्थान-नाराचसहनन, न्यग्रोधसंस्थान-वज्रनाराच-सहनन, मनुष्यगतिद्विक (मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी)-औदारिकद्विक (औदारिक-शरीर-औदारिकअङ्गोपाङ्ग)-वज्रर्षभनाराचसहनन। अस्थिर-अशुभ-अयश कीर्ति-अरति-शोक व असातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। ये ३४ बन्धापसरणस्थान भव्य व अभव्यके समानरूपसे होते है।

विशेषार्थ—सात-आठसौ सागरोपमसे हीन अन्त कोड़ाकोडीसागरप्रमाण स्थितिको जिससमय बाधने लगता है उससमय एक **नरकायु** प्रकृति [1]बन्धसे व्युच्छिन्न होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे अपसरणकरके **तिर्यञ्चायुकी** [2]बधव्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **मनुष्यायुका** बन्धव्युच्छेद[3] होता है तथा उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **देवायुकी** [4]बन्धव्युच्छित्ति होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे **नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी** इन दोनो प्रकृतियोका एकसाथ [5]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **बादर-अपर्याप्त-साधारणशरीर** परस्परसयुक्त इन तीनो प्रकृतियोका युगपत् [6]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे जाकर **सूक्ष्म-अपर्याप्त-प्रत्येक** परस्पर सयुक्त इन तीन प्रकृतियोका [7]बन्धव्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **बादर-अपर्याप्त-साधारणशरीर** परस्पर सयुक्त इन तीन प्रकृतियोका [8]बन्धव्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे जाकर परस्परसयुक्त **बादर-अपर्याप्त-प्रत्येकशरीर** इन तीनो प्रकृतियोकी एकसाथ [9]बन्धव्युच्छित्ति होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **द्वीन्द्रियजाति और अपर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोका [10]बंध-व्युच्छेद युगपत् होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त

त्रीन्द्रियजाति और अपर्याप्त इन दोनो प्रकृतियोकी [११]बन्धव्युच्छित्ति एकसाथ होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **चतुरिन्द्रियजाति और अपर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोका एकसाथ [१२]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **असंज्ञोपंचेन्द्रियजाति और अपर्याप्त** परस्परसयुक्त इन दोनो प्रकृतियोका युगपत् [१३]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **संज्ञोपंचेन्द्रियजाति और अपर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोकी एकसाथ [१४]बन्धसे व्युच्छित्ति होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर सयुक्त **सूक्ष्म-पर्याप्त-साधारण** इन तीनो प्रकृतियोकी एकसाथ [१५]बन्धव्युच्छित्ति होती है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **सूक्ष्म-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर** ये तीनो प्रकृतिया युगपत् [१६]बन्धसे व्युच्छिन्न होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर-सयुक्त **बादर-पर्याप्त-साधारणशरीर** इन तीनो प्रकृतियोका युगपत् [१७]बन्धसे व्युच्छेद होता है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-शरीर-एकेन्द्रिय-आतप-स्थावर** इन छहो प्रकृतियोकी [१८]बन्धव्युच्छित्ति युगपत् होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **द्वीन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोका एकसाथ [१९]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसयुक्त **त्रीन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोका एकसाथ [२०]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **चतुरिन्द्रियजाति और पर्याप्त** ये दोनो प्रकृतिया युगपत् [२१]बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **असंज्ञोपंचेन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनो प्रकृतियोकी युगपत् [२२]बन्धव्युच्छित्ति होती है। उससे सागरोपमशत-पृथक्त्व नीचे उतरकर **तिर्यंचगति-तिर्यंचगत्यानुपूर्वी और उद्योत** इन तीनो प्रकृतियोका एकसाथ [२३]बन्धसे व्युच्छेद हो जाता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **नीचगोत्रकी** [२४]बन्धव्युच्छित्ति होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय** ये चारो प्रकृतिया [२५]बन्धसे व्युच्छिन्न होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **हुण्डकसंस्थान व असंप्राप्ता-सृपाटिकासंहनन** ये दो प्रकृतिया युगपत् [२६]बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **नपुंसकवेदका** [२७]बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **वामनसंस्थान और कीलितशरीरसंहनन** ये दोनो

प्रकृतिया [28]बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती है। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचशरीरसंहनन** इन दोनो प्रकृतियोका एकसाथ [29]बंधव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **स्त्रीवेदका** [30]बधव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **स्वातिसंस्थान और नाराचशरीरसंहनन** इन दोनो प्रकृतियोकी [31]बधव्युच्छित्ति युगपत् होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान और वज्रनाराचसंहनन** ये दो प्रकृतियां युगपत् [32]बन्धसे व्युच्छिन्न होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर-औदारिकशरीरअंगोपांग और वज्रर्षभनाराचसंहनन** इन पांच प्रकृतियोकी युगपत् [33]बन्धव्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **अरति-शोक, अस्थिर-अशुभ, अयशःकीर्ति-असातावेदनीय** इन छहो प्रकृतियोका युगपत् [34]बन्धव्युच्छेद होता है[1]।

शंका—प्रकृतियोके बन्धव्युच्छेदका यह क्रम किस कारणसे है ?

समाधान—अशुभ, अशुभतर और अशुभतमके भेदसे प्रकृतियोका अवस्थान माना गया है उसी अपेक्षासे यह प्रकृतियोके बन्धव्युच्छेदका क्रम है। बन्धव्युच्छेदका यह क्रम विशुद्धिको प्राप्त होनेवाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टिजीवोमे साधारण अर्थात् समान है,[2] किन्तु जयधवलाकारने कहा है कि "जो अभव्योके योग्य विशुद्धिसे विशुद्ध हो रहा है उसके तत्प्रायोग्य अन्त कोडाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिबन्धकी अवस्था मे एक भी कर्मप्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति नही होती[3]।" इसप्रकार इससम्बन्धमे दो मत है। इसीप्रकार ३४ स्थितिबन्धापसरणोके सम्बन्धमे भी दो मत है—ध. पु ६ पृ १३६ से १३९ तक प्रत्येक बन्धापसरणमे सागरोपमशतपृथक्त्व स्थितिबन्ध घटनेका क्रम बताया है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ. २२१ से २२४ तक मात्र सागरोपमपृथक्त्व स्थितिबन्ध घटनेका उल्लेख है।

अन्तिम ३४ वे बन्धापसरणमे असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्ति इन छह प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीवके हो जाती है। यद्यपि ये प्रकृतिया प्रमत्तसयतगुणस्थानतक बन्धके

---

१. ज. ध. पु १२ पृ. २२१ से २२५ एव ध पु. ६ पृ १३४ से १३९।

२ ध पु ६ पृ १३६-१३९।

३ ज. ध पु १२ पृ २२१।

योग्य है, तथापि यहां इनकी बन्धव्युच्छित्तिका कथन विरोधको प्राप्त नही होता, क्योंकि उन प्रकृतियोके बन्धयोग्य संक्लेशका उल्लंघनकर उनकी प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोके बन्ध की निमित्तभूत विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुए सर्वविशुद्ध इस जीवके उन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होनेमे कोई विरोध नही[1]। इन उपर्युक्त प्रकृतियोके बन्धसे व्युच्छिन्न होनेपर अवशिष्ट प्रकृतियोको सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य तब तक बाधता है जबतक वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके चरमसमयको प्राप्त होता है[2]।

उपर्युक्त ३४ बंधापसरणोंमे से चारोंगतिमें कौन-कौनसे बंधापसरणस्थान होते हैं सो कहते हैं—

णरतिरियाणं ओघो भवणतिसोहम्मजुगलए बिदियं।
तिदियं अट्ठारसमं तेवीसदिमादि दसपदं चरिमं ॥१६॥
ते चेव चोद्दसपदा अट्ठारसमेण हीणया होंति।
रयणादिपुढविछक्के सणक्कुमारादिदसकप्पे ॥१७॥
ते तेरस विदिएण य तेवीसदिमेण चावि परिहीणा।
आणदकप्पादुवरिमगेवेज्जंतोत्ति ओसरणा ॥१८॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यंचोमें ओघ अर्थात् चौतीसबन्धापसरण होते हैं। भवनत्रिक और सौधर्मयुगलमे दूसरा, तीसरा, अठारहवां और तेईसवां आदि दश व अन्तिम ३४वा ये १४ बन्धापसरण होते हैं। रत्नप्रभा आदि छह नरकपृथ्वियोमें और सनत्कुमार आदि दशकल्पो (स्वर्गों) में उपर्युक्त १४ बन्धापसरणोमे से १८वां बधापसरण नही होता (शेष १३ बन्धापसरण होते हैं)। आनतकल्पसे लेकर उपरिम नौवे ग्रैवेयकपर्यन्त उपर्युक्त १३ स्थानोमे से दूसरा और २३वां बन्धापसरण नही होते (शेष ११ बन्धापसरण होते है)।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मनुष्य व तिर्यंचोके पूर्वोक्त ३४ बधापसरण होते है जिनमे ४६ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। प्रथमोपशम-सम्यक्त्वके अभिमुख देव तथा सातवे नरकको छोड़कर शेष छह पृथ्वीके नारकी जीवोके

---

१. ज. ध. पु १२ पृ. २२४-२२५।
२ ध पु ६ पृ १४०।

नही बंधनेवाली प्रकृतियोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, चारोंआयु, नरकगति, तिर्यंगति, देवगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, समचतुरस्रसंस्थानको छोड़कर शेष पाचसस्थान, वैक्रियिकशरीर-अगोपाग, आहारशरीर अगोपाग, वज्रर्षभनाराचसंहननको छोड़कर शेष पाच सहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अप्रशस्तविहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नीचगोत्र, और तीर्थकर[1]। इनमेसे अपनी-अपनी बन्ध-अयोग्य प्रकृतियोको घटाकर शेष प्रकृतियोका बन्धापसरणो द्वारा बन्धव्युच्छेद हो जाता है।

भवनत्रिक (भवनवासी, वानव्यतर, ज्योतिष) देवो व सौधर्म-ऐशानस्वर्गके देवोमे तिर्यगायु, मनुष्यायु, एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर, तिर्यंचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उद्योत, नीचगोत्र, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, हुण्डकसस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकासहनन, नपुंसकवेद, वामनसस्थान, कोलितसंहनन, कुब्जकसस्थान, अर्धनाराचसहनन, स्त्रीवेद, स्वातिसस्थान, नाराचसहनन, न्यग्रोधसस्थान, वज्रनाराचसंहनन, अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति, अरति, शोक, असातावेदनीय इन ३१ प्रकृतियोकी बधव्युच्छित्ति प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके होती है। प्रथमादि छहनरक और तृतीयस्वर्ग से बारहवेस्वर्गतकके जीवोमे उपर्युक्त ३१ प्रकृतियोमेसे बन्धके अयोग्य एकेन्द्रियजाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियोको कम करनेसे शेष २८ प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति सम्यक्त्वके अभिमुखजीवके होती है। १३वे स्वर्गसे १६वे स्वर्ग तथा नौग्रैवेयकतकके देवोंमें उपर्युक्त २८ प्रकृतियोमे से बन्धके अयोग्य तिर्यगायु, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी और उद्योत इन चार प्रकृतियोको कम करनेसे शेष २४ प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीवके होती है।

शंका—जिसप्रकार मनुष्य व तिर्यचोके औदारिकशरीर और औदारिकअगोपाग इन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती है उसीप्रकार उसी विशुद्धिमे वर्तमान देव और नारकियोके औदारिकशरीर व अगोपांगका बन्धव्युच्छेद क्यो नही होता ?

समाधान—सहकारीकारणरूप मनुष्यगति और तिर्यचगतिके उदयसे वर्जित अकेली (केवल) विशुद्धि औदारिकशरीर व औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्गका बन्धव्युच्छेद

१ ध. पु ६ पृ १४१-४२। एवं जयधवल पु. १२ पृ २२५

करनेमें समर्थ नही है, क्योंकि कारणसामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले कार्यकी विकलकारणसे उत्पत्तिका विरोध है। देव और नारकियोमें औदारिकशरीरादि प्रकृतियोका ध्रुवबन्ध होता है अतः उनकी बन्धव्युच्छित्ति नही होती है। इसीप्रकार वज्रर्षभनाराचसंहननके विषयमें भी जानना चाहिए[1]।

अब सातवीं नरकपृथ्वीमें बंधापसरणपदोंको कहते हैं—

ते चेवेक्कारपदा तदिऊणा विदियठाणसंपत्ता।
चउवीसदिमेणूणा सत्तमिपुढविम्हि श्रोसरणा ॥१६॥

अर्थ—गाथा १८ मे कहे गये ११ बन्धापसरणोमें से तीसरा व २४वा बन्धापसरण घटानेपर तथा दूसरा बन्धापसरण मिलानेपर सातवी नरकपृथ्वीमे १० बन्धापरण होते हैं।

विशेषार्थ—सातवे नरकमे मनुष्यायु बन्धयोग्य नही है इसलिये तीसरा बधापसरण कम किया गया है। प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सातवे नरकके नारकीजीवके नीचगोत्रकी बन्धव्युच्छित्ति नही होती[2] अत २४वां बन्धापसरण भी कम किया गया है। मिथ्यादृष्टि सप्तमपृथ्वीस्थ नारकीके तिर्यंचायु बधयोग्य है, किंतु प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके तिर्यचायुकी बंधव्युच्छित्ति हो जाती है अतः दूसरा बधापसरण मिलाया गया है। इसप्रकार सप्तमनरकमे १० बधापसरण होते है, जिनके द्वारा २३ प्रकृतियोकी बधव्युच्छित्ति होती है। सप्तमनरकमे बन्धयोग्य ९६ प्रकृतिया है,[3] उसमेसे २३ प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेपर ७३ प्रकृतियां बन्धयोग्य शेष रह जाती है। इन ७३ प्रकृतियोमे उद्योतप्रकृतिका बन्ध भजनीय है अर्थात् बन्ध होता भी है और नही भी होता है। यदि उद्योतप्रकृति बंधती है तो ७३ प्रकृतियोंका बंध होता है, यदि उद्योतका बन्ध नही होता तो ७२ प्रकृतियोका बन्ध होता है।

शंका—तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत और नीचगोत्र इन प्रकृतियोकी सातवे नरकमे बन्धव्युच्छित्ति क्यो नही होती ?

---

१. ध पु ६ पृ १४१।

२. ज ध पु. १२ पृ २२३, ध. पु ८ पृ. ११०, गो. क. गा १०७।

३. गो क. गा १०५ से १०७ की टीका व मूल एव ज. ध पु १२ पृ. २२५। क पा सुत्त पृ. ६१९

समाधान—नही होती, क्योकि भवसम्बन्धी संक्लेशके कारण शेषगतियोके बन्धके प्रति अयोग्य ऐसे सातवी पृथ्वीके नारकी मिथ्यादृष्टिके तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उद्योत और नीचगोत्रको छोडकर सदाकाल इनकी प्रतिपक्षस्वरूप प्रकृतियो का बन्ध नही होता है[1] तथा विशुद्धिके वशसे ध्रुवबन्धी प्रकृतियोका बन्धव्युच्छेद नही होता, अन्यथा उस विशुद्धिके वशसे ज्ञानावरणादि प्रकृतियोके भी बन्धव्युच्छित्तिका प्रसग प्राप्त हो जावेगा, किन्तु ऐसा है नही, क्योकि वैसा माननेपर अनवस्थादोष आता है[2] ।

आगे मनुष्य व तिर्यंचगतिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीवके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंको तथा मनुष्यगतिमें अप्रमत्तगुणस्थानमें बंधनेवाली २८ प्रकृतियों को दो गाथाओंमें कहते हैं—

घादिति सादं मिच्छं कसायपुंहस्सरदि भयस्स दुगं ।
अपमत्तडवीसुच्चं बंधंति विसुद्धणरतिरिया ॥२०॥
देवतसवण्णअगुरुचउक्कं समचउरतेजकम्मइयं ।
सग्गमणं पंचिंदी थिरादिछणिमिणमडवीसं ॥२१॥

अर्थ—विशुद्ध (सम्यक्त्वके अभिमुख प्रायोग्यलब्धिमें स्थित मिथ्यादृष्टि) मनुष्य या तिर्यंच तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्म सातावेदनीय, मिथ्यात्व, कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भयद्विक (भय-जुगुप्सा), अप्रमत्तगुणस्थान-सम्बन्धी २८ और उच्चगोत्रको बाधता है । देवचतुष्क, त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, समचतुरस्रसस्थान, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, प्रशस्तविहायोगति, पचेन्द्रियजाति, स्थिरादि ६ और निर्माण ये २८ प्रकृतियां अप्रमत्तगुणस्थानसम्बन्धी जानना ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख, प्रायोग्यलब्धिमें जिसने ३४ बन्धापसरणोसे ४६ प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति कर दी है ऐसा विशुद्ध मिथ्यादृष्टि गर्भजसज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्ततिर्यच अथवा मनुष्य, पाचो ज्ञानावरणीय (मति-श्रुत-अवधि-

---

१. णवरि सत्तमपुढविणेरइयमस्सियूण तिरिक्खगइ-तिरिक्खगइ पाओग्गाणुपुव्वीउज्जोव-णीचागोदाण बधवोच्छेदो णत्थि । (ज. ध. पु. १२ पृ. २२३; गो. क. गा. १०७) तिरिक्खगई-तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्वीणीचागोदाण ''' एत्थ धुवबधित्तादो। (ध पु ८ पृ. ११०; ज.ध पु. १३ पृ २२६)

२. ध. पु. ६ पृ. १४३-१४४ ।

मनःपर्यय-केवलज्ञानावरण) नौ दर्शनावरण (चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला) पांच अंतराय (दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यांतराय) इसप्रकार तीन घातियाकर्मोकी १९ प्रकृतियां, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ ये १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीरअङ्गोपाङ्ग (देवचतुष्क), त्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर (त्रसचतुष्क), वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श (वर्णचतुष्क), अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास (अगुरुलघुचतुष्क), समचतुरस्रसंस्थान, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति (स्थिरादिछह) निर्माण और उच्चगोत्र इन ७१ प्रकृतियोंको बांधता है[1] ।

आगे देव-नरकगतिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुख मिथ्यादृष्टिके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंको कहते हैं—

तं सुरचउक्कहीणं णरचउवज्जजुद पयडिपरिमाणं ।
सुरछप्पुढवीमिच्छा सिद्धोसरणा हु बंधंति ॥२२॥

अर्थ—उन (उपर्युक्त ७१ प्रकृतियों) में से देवचतुष्कको कम करके मनुष्य चतुष्क (मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिकशरीरअंगोपांग) और वज्रर्षभनाराचसंहननको मिलानेसे इन ७२ प्रकृतियोको, बन्धापसरण कर चुकनेपर मिथ्यादृष्टिदेव और प्रथमादि छह पृथिवियोके नारकी बांधते हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव व प्रथम छह पृथ्वीके नारकी प्रायोग्यलब्धिमें बन्धापसरण करनेके पश्चात् इन ७२ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं—पाचज्ञानावरण, नौदर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरअंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पांचअन्तराय ये ७२ प्रकृतियां हैं[2] ।

---
१. ध. पु. ६ पृ. १३३-३४ । ज. ध पु. पृ. २११ । एवं पृ. २२५-२२६ ।
२. ध. पु ६ पृ. १४०-१४१ । ज. ध. पु. १२ पृ. २११-१२ ।

अथानन्तर सप्तमपृथ्वीमें बन्धप्रकृतियोंको कहते हैं—

तं णरदुगुच्चहीणं तिरियदु णीचजुद पयडिपरिमाणं ।
उज्जोवेण जुदं वा सत्तमखिदिगा हु बंधंति ॥२३॥

अर्थ—उन (पूर्वोक्त ७२ प्रकृतियों) मे से मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी) और उच्चगोत्रको कम करनेसे तथा तिर्यंचगतिद्विक (तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी) व नीचगोत्रको मिलानेपर ७२ प्रकृतियां होती है। यदि उद्योतप्रकृति मिलाई जाती है तो ७३ प्रकृतियां हो जाती है। उन ७२ अथवा ७३ प्रकृतियोको (प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख) सातवींपृथ्वीका मिथ्यादृष्टि नारकी बाधता है।

विशेषार्थ— सम्यक्त्वके अभिमुख सप्तमपृथ्वीका मिथ्यादृष्टि नारकी बन्धापसरण कर चुकनेके पश्चात् जिन ७२ प्रकृतियोंका बन्ध करता है वे इसप्रकार है— पाचज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तिर्यंचगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसस्थान, औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्ग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र और पाचों अन्तराय ये ७२ प्रकृतिया है। उद्योत प्रकृतिको कदाचित् बांधता है और कदाचित् नही बाधता है। यदि बाधता है तो ७३ प्रकृतियोका बन्ध होता है[1]।

इसप्रकार सम्यक्त्वके अभिमुखमिथ्यादृष्टिजीवके प्रकृतिवन्ध-अबन्धका विभाग समाप्त हुआ।

अथानन्तर स्थिति-अनुभागबन्धभेदका कथन करते हैं—

अंतोकोडाकोडीठिदिं असत्थाण सत्थगाणं च ।
बिचउट्ठाणरसं च य बंधाणं बंधणं कुणदि ॥२४॥

अर्थ—(सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि) वधनेवाली प्रकृतियोंका स्थितिबंध अन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाण करता है। अप्रशस्तप्रकृतियोका द्विस्थानीय अनुभागबंध करता है और प्रशस्तप्रकृतियोंका चतु स्थानीय अनुभागबन्ध करता है।

---

१. ध. पु. ६ प. १४२-४३। ज. ध पु. १२ पृ. २१२।

विशेषार्थ—गाथा २१-२२ व २३ में कही गई प्रकृतियोंका स्थितिबन्ध अंत. कोड़ाकोड़ीसागरोपमप्रमाण ही होता है, क्योंकि सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव विशुद्धतर परिणामोसे युक्त होता है, इसलिए उसके इससे अधिक स्थितिबन्ध सम्भव नहीं है। अनुभागबन्ध भी अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्विस्थानीय होता है, प्रशस्तप्रकृतियोका चतुःस्थानीय होता है[1]।

आगे सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके प्रदेशविभागको कहते हैं—

मिच्छणथीणति सुरचउ समवज्जपसत्थगमणसुभगतियं।
णीचुक्कस्सपदेसमणुक्कस्सं वा पबंधदि हु ॥२५॥
एदेहिं विहीणाणं तिण्णि महादंडएसु उत्ताणं।
एकट्ठिपमाणाणमणुक्कस्सपदेसबंधणं कुणदि ॥२६॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्त्यानगृद्धित्रिक, देवचतुष्क, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसहनन, प्रशस्तविहायोगति, सुभगादि तीन और नीच गोत्रका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है। इन प्रकृतियोसे रहित तीन महादण्डक अर्थात् गाथा २१-२२ व २३ मे कही गई शेष ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव जिन प्रकृतियोको बांधता है उसका कथन तीन महादण्डक द्वारा किया गया है प्रथम महादण्डकमें मनुष्य व तिर्यंचके बंधयोग्य प्रकृतियोका कथन है, द्वितीय महादण्डकमे देवो व प्रथमछह नारकियोके बन्धयोग्य प्रकृतियोका कथन है। तृतीय महादण्डकमें सप्तमपृथ्वीके नारकी द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियोका कथन है[2]। निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभ, देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकशरीरअंगोपाग, वज्रर्षभनाराच-संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और नीचगोत्र इन १९-प्रकृतियोंका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। पांच ज्ञानावरणीय, छहदर्शनावरणीय, सातावेदनीय, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभरूप १२ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर,

---

१. ज. ध पु १२ पृ २१३; ध. पु. ६ पृ २०९-१०।
२. ध. पु ६ पृ १३३-३४, १४०-४१-४२-४३।

कार्मणशरीर, औदारिकशरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पांचअन्तराय (दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य) इन ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध होता है[1]।

उक्त तीन महादण्डकोंमें कथित अपुनरुक्त प्रकृतियोंको कहते हैं—

पढमे सव्वे विदिये पण तिदिये चउ कमा अपुणरुत्ता ।
इदि पयडीणमसीदी तिदंडएसु वि अपुणरुत्ता ॥२७॥

अर्थ—क्रमश प्रथमदण्डकमे सर्वप्रकृतिया, द्वितीयदण्डकमे पांचप्रकृतिया और तृतीयदण्डकमें चारप्रकृतियां, इसप्रकार तीनो दण्डकोमें सर्व ८० प्रकृतिया अपुनरुक्त हैं।

विशेषार्थ—प्रथमदण्डक (गाथा २०) में प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिमनुष्य व तिर्यचोके बन्धयोग्य ७१ प्रकृतियोका नामोल्लेख है; ये ७१ प्रकृतिया अपुनरुक्त है, क्योकि ये प्रकृतिया प्रथमदण्डकसम्बन्धी हैं। द्वितीयदण्डक (गाथा२२) में प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिदेव व प्रथमादि छह पृथ्वियों के नारकसम्बन्धी बन्धयोग्य ७२ प्रकृतियोका कथन है; इन ७२ प्रकृतियोंमें ६७ प्रकृतियां तो प्रथमदण्डकसम्बन्धी हैं, किन्तु मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वज्रर्षभनाराचसहनन ये पाच प्रकृतिया प्रथमदण्डकसम्बन्धी नही हैं, अतः अपुनरुक्त है। तृतीयदण्डक (गाथा २३) में ६९ प्रकृतिया तो द्वितीयदण्डकसम्बन्धी हैं, किन्तु तिर्यचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, नीचगोत्र और उद्योत ये चार प्रकृतियां प्रथम व द्वितीयदण्डकमे नही है अत अपुनरुक्त है। तृतीयदण्डकमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सातवीपृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकीसम्बन्धी बन्धयोग्य प्रकृतियोंका कथन है और सातवी पृथ्वीका उक्तजोव निरन्तर तिर्यचगतिआदि प्रकृतियोका बन्ध करता है। इसप्रकार प्रथमदण्डककी सर्व ७१, द्वितीयदण्डककी ५ प्रकृति तथा तृतीयदण्डककी ४ ये सर्वमिलकर (७१+५+४) ८० प्रकृतिया अपुनरुक्त कही गई है।

इसप्रकार प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख विशुद्धमिथ्यादृष्टिके प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेशोंके बन्ध-प्रबन्धरूपभेद को कहकर उसीके उदयका कथन करते हैं—

---

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २१३।

उदये चउदसघादी णिद्दापयलाणमेक्कदरगं तु ।
मोहे दस सिय णामे वचिठाणं सेसगे सजोगेक्कं ॥२८॥

अर्थ—तीन घातियाकर्मोंकी १४ प्रकृतियां, निद्रा या प्रचलामें से कोई एक, मोहनीयकर्मकी स्यात् (कथंचित्) १० प्रकृति, नामकर्मकी भाषापर्याप्तिकालमे उदययोग्य प्रकृतियां और शेष वेदनीय, गोत्र व आयुकर्मकी एक-एक प्रकृति भी मिला लेना चाहिए। ये सर्वप्रकृतियां उदययोग्य है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख चारोगतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टिजीवके सर्व मूल प्रकृतियोंका उदय होता है तथा उत्तरप्रकृतियोमे से पाचज्ञानावरण, चारदर्शनावरण, पांचअंतराय ये (५+४+५) १४ प्रकृतियां, मिथ्यात्व, पंचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण इन प्रकृतियोका नियमसे उदय होता है, क्योकि यहांपर इन प्रकृतियोका ध्रुव उदय होता है। साता व असातावेदनीयमे से किसी एकका उदय होता है, क्योंकि ये दोनो प्रकृतिया परावर्तमान उदयस्वरूप है[1]। मोहनीयकर्मकी १०—९ अथवा ८ प्रकृतिका उदय होता है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभमे से कोई एक, अप्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया व लोभमे से कोई एक, प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया व लोभमे से कोई एक, सज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभमे से कोई एक (क्रोधादिमें से जिसकषायका उदय हो, अनन्तानुबन्धीआदि चारोमे उसी कषायका उदय होगा) स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन तीनो वेदोमे से कोई एक, हास्य-रति और अरति-शोक इन दोनो युगलोमे से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा, मोहनीयकर्मकी ये १० प्रकृतिया उदयस्वरूप होती है। इन १० प्रकृतियोमे से भय या जुगुप्सा (किसी एक) को कम कर देनेसे मोहनीयकर्मकी ९ प्रकृतियां उदयस्वरूप रह जाती है। इन्ही १० प्रकृतियोमे से भय और जुगुप्सा इन दोनो प्रकृतियोको कम कर देनेपर मोहनीयकर्मकी आठ प्रकृतियां उदयस्वरूप रह जाती हैं[2]। चारो आयुओमे से किसी एक आयुकर्मका उदय होता है,

---

१ ज. ध पु. १२ पृ २१५-१६। यस्माच्च—वेदणीयस्स सादासादाण णत्थि उदएण झीणदा। (ज ध. पु १२ पृ. २२७)

२ ध पु ६ पृ २११। गो क. ४७५ से ४७९ एव प्राकृतपचसग्रह सप्तति अ. पृ. ३२५ गा. ३९ तथा ध पु १५ पृ ८२-८३, ज. ध. पु. १२ पृ २३०।

क्योकि ये चारो पृथक्-पृथक् प्रतिनियत गतिविशेषसे प्रतिबद्ध है इसलिए तदनुसार ही उस-उस आयुकर्मके उदयका नियम देखा जाता है। चारगति, दोशरीर, छहसस्थान और दो अगोपांग; इनमेसे अन्यतर एक-एक नामकर्म प्रकृतिका उदय होता है। छह-सहननोंमे से कदाचित् किसी एक-एकका उदय होता है और कदाचित् उदय नही होता। यदि मनुष्य या तिर्यच प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख है तो किसी एक सहननका नियमसे उदय होता है। यदि देव या नारकी प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख है तो किसी भी सहननका उदय नही होता। उद्योतका कदाचित् उदय पाया जाता है; क्योकि पचेन्द्रियतिर्यचोमे किन्हीके उद्योतका उदय होता है। दो विहायोगति, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दु स्वर, आदेय-अनादेय, यश कीर्ति और अयश कीर्ति इन पाच युगलोमे से किसी एक-एक प्रकृतिका उदय होता है अर्थात् इन पाच युगलोमे से प्रत्येकयुगलकी किसी एक प्रकृतिका उदय होता है। उच्चगोत्र और नीचगोत्र इनमेसे किसी एक प्रकृतिका उदय होता है। यह प्रकृतियोके उदयसम्बन्धी कथन चारोंगतिकी अपेक्षासे है। आदेशकी अपेक्षा चारोगतियोमे जो विशेषता है वह इसप्रकार है—चारो आयुओमे से जिसगतिमें जो आयु अनुभव की जाती है उस आयुका उसगतिमे उदय होता है। नरकगति व तिर्यचगतिमे नीचगोत्रका ही उदय है,[1] मनुष्यगतिमे नीचगोत्र और उच्च-गोत्रमेसे एकका उदय है[2] और देवगतिमे उच्चगोत्रका ही उदय है[3]। नामकर्मकी अपेक्षा यदि नारकी है तो नरकगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डकसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुभग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण; नाम-कर्मकी इन २९ प्रकृतियोका उदय होता है। यदि तिर्यंच है तो तिर्यंचगति, पचेन्द्रिय-जाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर कार्मणशरीर, छह सस्थानोमे से कोई एक सस्थान, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, छह सहननोमे से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, कदाचित् उद्योत, दो विहायोगतिमे से कोई एक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग-दुर्भगमे से कोई एक, सुस्वर-दु स्वरमे से कोई एक, आदेय-अनादेयमे से कोई एक, यश कीर्ति-अयश कीर्तिमें से कोई एक और निर्माण। नामकर्मकी इन ३० या ३१ प्रकृतियोका उदय होता है।

१. २. ३. ध पु १५ पृ ६१।

यदि मनुष्य है तो उपर्युक्त ३० प्रकृतियोमे तिर्यंचगतिके स्थानपर मनुष्यगतियुक्त ३० प्रकृतियोका उदय होता है। मनुष्योमें उद्योतका उदय सम्भव नही है अतः नामकर्मकी ३१ प्रकृतियोका उदय नहं होता है। यदि देव है तो देवगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण; नामकर्मकी इन २९ प्रकृतियोंका उदय होता है[1]।

उपर्युक्त गाथामे तथा ध. पु ६ पृ. २१० पर निद्रा और प्रचला किसी एकके उदयके साथ दर्शनावरणीयकर्मकी पांचप्रकृतियोका उदय बतलाया है, किन्तु ज. ध पु. १२ पृ २२७ पर पांचो निद्राकी उदयव्युच्छित्ति कही गई है, क्योकि साकारोपयोग और जागृत अवस्थाविशिष्ट दर्शनमोह-उपशामकके पांच निद्रादिके उदयरूप परिणामका विरोध है। इसप्रकार निद्रा व प्रचलाके उदयमे दोमत है। एकमत निद्रा या प्रचलाका उदयस्वीकार करता है, दूसरा मत निद्रा या प्रचलाका उदय स्वीकार नही करता[2]।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके निद्रादि पांचदर्शनावरण, चारजातिनामकर्म, चारो आनुपूर्वी नामकर्म, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारणशरीर, ये प्रकृतिया उदयसे व्युच्छिन्न होती है[3]।

अथ प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख विशुद्ध मिथ्यादृष्टिके उदययोग्य प्रकृति-सम्बन्धी स्थिति व अनुभागका तथा प्रदेशोंकी उदय-उदीरणाका कथन करते हैं—

उदइल्लाणं उदये पत्तेक्कठिदिस्स वेदगो होदि।
विचउट्ठाणमसत्थे सत्थे उदयल्लरसभुत्ती ॥२९॥
अजहण्णमणुक्कस्सप्पदेसमणुभवदि सोदयाणं तु।
उदयिल्लाणं पयडिचउक्काणमुदीरगो होदि ॥३०॥

---

१ ज. ध. पु १२ पृ २१९-२२०। गो क. गा. ५९५-५९७ व ३०३-३०४। अत्र भाषापर्याप्तिस्थाने उदयागतप्रकृतिकथन वर्तते।
२ ज ध पु १२ पृ २२६-३०।
३ ज ध पु १२ पृ २२६-२७।

अर्थ—उदयवान् प्रकृतियोका उदय प्राप्त होनेपर एकस्थितिका वेदक होता है। अप्रशस्तप्रकृतियोके द्विस्थानरूप और प्रशस्तप्रकृतियोके चतु स्थानरूप उदयमान अनुभागको भोगता है। उदयरूप प्रकृतियोके अजघन्य-अनुत्कृष्टप्रदेशाग्रको अनुभव करता है। उदयस्वरूप प्रकृतियोके प्रकृति-प्रदेश-स्थिति व अनुभागका उदीरक होता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीवके जिन प्रकृतियोका उदय है, उन प्रकृतियोकी स्थितिक्षयसे उदयमे प्रविष्ट एकस्थितिका वेदक होता है तथा शेषस्थितियोका अवेदक होता है। उक्त जीवके जिन अप्रशस्तप्रकृतियोका उदय होता है उनके लता-दारुरूप अथवा निम्ब-काञ्जीररूप द्विस्थानीय अनुभागका वेदक होता है। उदयमे आई हुई प्रशस्तप्रकृतियोके चतु स्थानीय अनुभागका वेदक होता है, उदयागत प्रकृतियोके अजघन्य-अनुत्कृष्टप्रदेशोका वेदक होता है। जिन प्रकृतियोका वेदक होता है, उन प्रकृतियोके प्रकृति-स्थिति और प्रदेशोकी उदीरणा करता है।

शंका—उदय और उदीरणामे क्या अन्तर है?

समाधान—जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोगके बिना स्थितिक्षयको प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते है उन कर्मस्कन्धोकी 'उदय' सज्ञा है (जो महान् स्थिति और अनुभागमें अवस्थित कर्मस्कन्ध अपकर्षित करके फल देनेवाले किये जाते है, उन कर्मस्कधोकी 'उदीरणा' संज्ञा है, क्योकि अपक्व कर्मस्कन्धके पाचन करनेको उदीरणा कहते है[1]। ध. पु ६ पृ. २१३ पर अजघन्य-अनुत्कृष्टप्रदेशोका उदय कहा है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ. २२९ पर अनुत्कृष्ट प्रदेशपिण्डका उदय कहा है।

उदय-उदीरणाका कथन करनेके अनन्तर सत्त्वको कहते हैं—

दुति आउ तित्थहारचउक्कणा सम्मगेण हीणा वा।
मिस्सेणूणा वा वि य सव्वे पयडी हवे सत्तं ॥३१॥

अर्थ—दो या तीन आयु, तीर्थकर और आहारकचतुष्क; इन प्रकृतियोसे रहित तथा सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वबिना शेष सर्वप्रकृतियोका सत्त्व होता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव यदि अबद्धायुष्क है तो उसके भुज्यमान आयुके बिना तीन आयुका सत्त्व नही होता। यदि वह जीव

---

१. ध. पु. ६ पृ. २१३-१४

बद्धायुष्क है तो उसके भुज्यमान व बद्ध्यमानआयुके बिना शेष दो आयुका सत्त्व नही होता। जिसने दूसरे या तीसरे नरककी आयुका बन्ध करनेके पश्चात् तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध किया है वह जीव एक अन्तर्मुहूर्तके लिए मिथ्यात्वमे जाता है[1] पुनः वेदकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, क्योकि पल्योपमके असंख्यातवेभागपर्यन्त वेदकसम्यक्त्वका उत्पत्ति-काल है[2]। वेदकसम्यक्त्वोत्पत्तिकालके पश्चात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वका ग्रहण हो सकता है[3]। आहारकचतुष्कके उद्वेलनाकालसे वेदकसम्यक्त्वोत्पत्तिकाल बडा है[4] अत आहारकचतुष्ककी उद्वेलना किये बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नही हो सकता। प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख किसी जीवके सम्यक्त्वप्रकृतिका सत्त्व नही होता और किसी जीवके सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन दोनों ही का सत्त्व नही होता अथवा दोनोका सत्त्व होता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीवके आठों ही मूलप्रकृतियोंका सत्त्व होता है। उत्तरप्रकृतियोमे भी ज्ञानावरणकी पाच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, १६ कषाय और नव नोकषाय ये छब्बीस प्रकृतिया सत्कर्म रूपसे होती हैं, क्योकि अनादिमिथ्यादृष्टि तथा २६ प्रकृतियोंके सत्कर्मवाले सादि मिथ्यादृष्टिके इनका सद्भाव पाया जाता है। अथवा सादिमिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व-प्रकृतिके विना मोहनीयकर्मकी २७ प्रकृतियां सत्कर्मरूपसे होती हैं, क्योकि सम्यक्त्व-प्रकृतिकी उद्वेलनाकरके उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख हुए जीवके उनके होनेमें कोई विरोध नही है। अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके साथ २८ प्रकृतियां सत्कर्मरूपसे होती है, क्योकि वेदकसम्यक्त्वके योग्यकालको उल्लघकर जिसने सम्यक्त्वप्रकृतिकी पूर्णरूपसे उद्वेलना नही की है, ऐसे उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके उक्तप्रकारसे २८ प्रकृतियो का सद्भाव देखा जाता है। आयुकर्मकी एक या दो प्रकृतिया सत्कर्मरूपसे होती है। जिसने परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध किया है, उसके आयुकर्मकी दो प्रकृतियां होती है और जिसने परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध नही किया, उसके भुज्यमानआयुकी एकप्रकृति होती है। नामकर्मकी चारगति, पाचजाति, औदारिक-वैक्रियिक-तैजस व कार्मणशरीर,

---

१. ध पु. ८ पृ. १०४–प्रथमपृथिव्या तीर्थंकरप्रकृतियुक्तमिथ्यात्वीनारकीनामभावः।
२. गो क. गा ६१५।
३ गो क गाया ६१५ तथा ध पु ५ पृ. ९-१० और ३३-३४।
४ गो क. गा. ६१३ तथा ज. ध पु. १२ पृ. २०९।

इन्ही शरीरोके बन्धन और सघात, छहसंस्थान, आहारकशरीरांगोपागके बिना दो अङ्गोपाङ्ग, छहसहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, चारोआनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति, त्रस-स्थावरादि १० युगल और निर्माण ये प्रकृतियां सत्कर्मरूप है। गोत्रकर्मकी नीच-उच्चगोत्ररूप दो प्रकृतिया सत्कर्मरूप है तथा अन्तरायकर्मकी पाचोप्रकृतिया सत्कर्मरूप है। इन प्रकृतियोका प्रकृतिसत्कर्म है, शेष प्रकृतियोका नही है।

शंका—पहले उत्पन्न किये गये सम्यक्त्वके साथ आहारकशरीरका बन्धकरके पुन मिथ्यात्वमे जाकर तत्प्रायोग्य पल्यके असख्यातवे भागप्रमाण कालके द्वारा उपशम-सम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले जीवके आहारकद्विकका सत्कर्म यहा क्यों नही उपलब्ध होता ?

समाधान—आहारकद्विकका सत्कर्म उपलब्ध नही होता, क्योकि आहारक-शरीरकी उद्वेलना किये बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता नही होती। वेदकसम्यक्त्वके योग्य कालसे आहारकशरीरका उद्वेलनाकाल स्तोक है ऐसा परमागमका उपदेश है[1]।

अथानन्तर सत्कर्मप्रकृतियोंके स्थितिआदि सत्कर्मके कथन पूर्वक प्रायोग्यता-लब्धिका उपसंहार करते हैं—

अजहण्णमणुक्कस्सं ठिदीतियं होदि सत्तपयडीणं।
एवं पयडिचउक्कं बंधादिसु होदि पत्तेयं ॥३२॥

अर्थ—उक्त सत्त्वप्रकृतियोका स्थितित्रिक (स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) अजघन्य-अनुत्कृष्ट होता है। बन्धादि (बन्ध-उदय-उदीरणा) प्रत्येकमे इसीप्रकार प्रकृतिचतुष्क (प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—आयुकर्मके अतिरिक्त इन्ही उक्त प्रकृतियोका स्थिति-सत्कर्म अंत-कोडाकोडीसागर होता है। आयुकर्मका तत्प्रायोग्य स्थितिसत्कर्म होता है। पाचज्ञाना-वरण, नौदर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, १६ कषाय, नवनोकषाय, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रियादि चारजाति, पाचसस्थान, पाचसहनन, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त-

1. ज. ध पु. १२ पृ. २०७-२०८-२०९। गो. क. गाथा ६१४-१५।

विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नीचगोत्र और पांचअन्तराय इन अप्रशस्तप्रकृतियोका द्विस्थानीय (लता-दारु या निम्ब-कांजीर) अनुभागसत्कर्म होता है। सातावेदनीय, मनुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर तथा उन्हीके बन्धन और संघात, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराचसहनन, प्रशस्तवर्णचतुष्क, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र इन प्रशस्तप्रकृतियोका चतु स्थानीयअनुभागसत्कर्म होता है।

जिन प्रकृतियोका सत्कर्म है, उनका अजघन्य-अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म होता है[1]।

अब क्रमप्राप्त करणलब्धिको कहते हैं—

तत्तो अभव्वजोग्गं परिणामं बोलिऊण भव्वो हु।
करणं करेदि कमसो अधापवत्तं अपुव्वमणियट्टिं ॥३३॥

अर्थ—उसके पश्चात् अर्थात् प्रायोग्यलब्धिके पश्चात् अभव्यके योग्य परिणामोको उल्लघकर भव्यजीव क्रमश· अध·प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको करता है।

विशेषार्थ—गुरूपदेशके बलसे अथवा उसके बिना भी अभव्यजीवोके योग्य-विशुद्धियोको व्यतीत करके भव्यजीवोके योग्य अध प्रवृत्तकरण सज्ञावाली विशुद्धिमें भव्यजीव परिणत होता है[2]। जिस परिणामविशेषके द्वारा दर्शनमोहका उपशमादिरूप विवक्षितभाव उत्पन्न किया जाता है वह विशेषपरिणाम करण कहा जाता है[3]।

शंका—परिणामोकी 'करण' यह सज्ञा कैसे है?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि असि (तलवार) और वासि (बसूला) के समान साधकतमभावकी विवक्षामें परिणामोके करणपना पाया जाता है[4]।

---

१. ज ध पु. १२ पृ. २०९-२१०।
२. ध पु ६ पृ २०६।
३. ज ध पु १२ पृ. २३३।
४. ध. पु ६ पृ २१३। ध पु. १ पृ १८१।

वह करण यहा तीनप्रकारका होता है। प्रथम अधःप्रवृत्तकरण, द्वितीय अपूर्वकरण और तृतीय अनिवृत्तिकरण। ये तीनोंकरण क्रमशः होते है[1]। अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीनप्रकारकी विशुद्धिया होती है[2]।

आगे तीनोंकरणोंके कालका अल्पबहुत्वसहित कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तकाला तिण्णिवि करणा हवंति पत्तेयं।
उवरीदो गुणियकमा कमेण संखेज्जरूवेण ॥३४॥

अर्थ—तीनों करणोमे से प्रत्येककरणका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल होता है, किन्तु ऊपरसे नीचेके करणोंका काल सख्यातगुणा क्रम लिये हुए है।

विशेषार्थ—अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोमे से प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्त है। इसमे भी अनिवृत्तिकरणका काल स्तोक है, उससे सख्यातगुणा अपूर्वकरणका काल है, उससे संख्यातगुणा अध.प्रवृत्तकरणका काल है[3]। अन्तर्मुहूर्तकालके बहुत भेद है।

अथानन्तर अधःप्रवृत्तकरणका निरुक्तिपूर्वक कथन करते हैं—

[4]जम्हा हेट्ठिमभावा उवरिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥३५॥

अर्थ—क्योंकि अधस्तन (नीचेके) भाव उपरितनभावोंके साथ सदृश होते है अत प्रथमकरणको अध प्रवृत्तकरण कहा गया है।

विशेषार्थ—प्रथमकरणमे विद्यमानजीवके करणपरिणाम अर्थात् उपरितन समयके परिणाम (पूर्व) समयके परिणामोके समान प्रवृत्त होते है वह अध प्रवृत्तकरण है। इसकरणमे उपरिमसमयके परिणाम नीचेके समयोमे भी पाये जाते है,[5] क्योकि

---

१. ज ध पु. १२ पृ. २३३।
२. ध पु ६ पृ २१४; ज. ध. पु. १२ पृ. २३३, क. पा. सु पृ ६२१।
३. क पा सुत्त पृ ६२१।
४. किंचित् पाठान्तरेणेयमेवगाथाऽऽगता गोम्मटसारजीवकाण्डे (गाथा ४८)।
५. ज. ध. पु १२ पृ. २३३।

उपरितनसमयवर्ती परिणाम अध अर्थात् अधस्तनसमयवर्ती परिणामोमे समानताको प्राप्त होते है अत अध प्रवृत्त यह सज्ञा सार्थक है[1]।

आगे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

[2]समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो दु।
[3]अणियट्टीवि तहं वि य पडिसमयं एक्कपरिणामो ॥३६॥

अर्थ—प्रतिसमय भिन्न भाव होते है इसलिये यह अपूर्वकरण है और प्रतिसमय एक समान ही परिणाम होते है अत वह अनिवृत्तिकरण है[4]।

विशेषार्थ—जिस करणमे प्रतिसमय अपूर्व अर्थात् असमान व नियमसे अनन्तगुणरूपसे वृद्धिगत करण अर्थात् परिणाम होते है वह अपूर्वकरण है। इसकरण में होनेवाले परिणाम प्रत्येक समयमे असख्यातलोकप्रमाण होकर भी अन्यसमयमें स्थित परिणामोके सदृश नही होते यह उक्तकथनका भावार्थ है[5]।

जिसकरणमे विद्यमान जीवोके एकसमयमें परिणाम भेद नही है वह अनिवृत्तिकरण है[6]। अनिवृत्तिकरणमे एक-एक समयमे एक-एक ही परिणाम होता है, क्योकि यहा एकसमयमे जघन्य व उत्कृष्टभेदका अभाव है[7]। एकसमयमें वर्तमानजीवोके परिणामोकी अपेक्षा निवृत्ति या विभिन्नता जहा नही होती वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते है[8]।

आगे अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी विशेष कथन ५ गाथाओंमें करते हैं—

गुणसेढी गुणसकम ठिदिरसखंडं च णत्थि पढमम्हि।
पडिसमयमणंतगुणं विसोहिवड्ढीहिं वड्ढदि हु ॥३७॥

---

१. ध. पु ६ पृ २१७।
२. गो जी गा ५१, प्रा पं स अ १ गा. ८, ध पु. १ पृ. ८३।
३. 'होंति अणियट्टिणोते, पडिसमय जेस्सिमेक्कपरिणामा' गो. जी. गा. ५७; ध. पु १ पृ. १८६; ध पु ६ पृ २२, प्रा. पं. स अ. १ गा. २२।
४ क पा सुत्त पृ. ६२१।
५ ज. ध पु. १२ पृ. २३४।
६ ज. ध पु. १२ पृ २३४।
७ ध पु ६ पृ २२१।
८. ध. पु. ६ पृ २२२।

सत्थाणमसत्थाणं चउविट्ठाणं रसं च बंधदि हु।
पडिसमयमणंतेण य गुणभजियकमं तु रसबंधे ॥३८॥
पल्लस्स संखभागं मुहुत्तअंतेण ओसरदि बंधे।
संखेज्जसहस्साणि य अधापवत्तम्मि ओसरणा ॥३९॥
आदिमकरणद्धाए पढमट्ठिदिबंधो दु चरिमम्हि।
संखेज्जगुणविहीणो ठिदिबंधो होइ णियमेण ॥४०॥
तच्चरिमे ठिदिबंधो आदिमसम्मेण देससयलजमं।
पडिवज्जमाणगस्स वि संखेज्जगुणेण हीणकमो ॥४१॥

अर्थ—प्रथम (अधःकरण) में गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्ड और अनुभागखण्ड नही होते, किन्तु प्रतिसमय विशुद्धिमे अनन्तगुणीवृद्धिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है। प्रशस्तप्रकृतियोका चतु स्थानीय (गुड, खाड, शर्करा और अमृत) अनुभाग-बन्ध होता और अप्रशस्तप्रकृतियोका द्विस्थानीय (लता-दारु या निब-काजीर) अनुभाग-बन्ध होता है। प्रतिसमय प्रशस्तप्रकृतियोका अनन्तगुणे क्रम सहित बन्ध होता है और अप्रशस्तप्रकृतियोके अनन्तवेभागप्रमाण अनुभागबन्ध होता है। तथा एक-एक अतर्मुहूर्तके अन्तरालसे पल्यका सख्यातवाभाग घटता हुआ स्थितिबन्ध होता रहता है। अध प्रवृत्त-करणकालमें सख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण होते रहते है। अध प्रवृत्तकरणके आदिमे जो प्रथम स्थितिबन्ध होता है तथा अन्तमे नियमसे उससे सख्यातगुणाहीन स्थितिबन्ध होता है। इस चरमस्थितिबन्धसे देशसयमसहित प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाले जीवके स्थितिबन्ध सख्यातगुणाहीन होता है। इसस्थितिबन्धसे सकलसयमसहित प्रथमो-पशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवालेके सख्यातगुणाहीन स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव अध प्रवृत्तकरणकालमे प्रत्येक समयमे अनतगुणी विशुद्धिसे अत्यन्तविशुद्ध होता जाता है तथापि स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघातके योग्य विशुद्धिको प्राप्त नहीं होता है। इसलिए अध प्रवृत्तकरणभावमे विद्यमान इसके स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकघात नही होता[1]। अध प्रवृत्तकरणमे स्थितिकाण्डक-घात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नही होता, क्योकि इन अध -

---

१. ज ध पु. १२ पृ. २३२।

प्रवृत्तकरणपरिणामोमें पूर्वोक्त चतुर्विध कार्योंके उत्पादन करनेकी शक्तिका (विशुद्धिका) अभाव है; मात्र अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ यह जीव अप्रशस्तकर्मोंके द्विस्थानीय (नीब-काञ्जीर) अनुभागको प्रतिसमय अनंतगुणाहीन बांधता है और प्रशस्तकर्मोका गुड-खांड-शर्करा-अमृतरूप चतु स्थानीय अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणा बांधता है। अध प्रवृत्तकरणकालमें एक स्थितिबंधका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। एक-एक स्थितिबन्धका काल पूर्ण होनेपर पल्योपमके संख्यातवे-भागसे हीन अन्य स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार सख्यातसहस्रबार स्थितिबन्धापसरण हो जानेपर अध-प्रवृत्तकरणकाल समाप्त हो जाता है। अध-प्रवृत्तकरणके प्रथमसमय-सम्बन्धी स्थितिबन्धसे उसीका अन्तिमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है। यहीपर (अध प्रवृत्तकरणके चरमसमयमे) प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीवके जो स्थितिबन्ध होता है, उससे प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित संयमासयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध सख्यातगुणाहीन होता है, इससे प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित सकलसंयमके अभिमुख जीवका अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्ध सख्यातगुणाहीन होता है[1]।

अब ८ गाथाओंमें अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी अनुकृष्टि और अल्पबहुत्व इन दो अनुयोगद्वारोंका कथन करते हैं—

आदिमकरणद्धाए पडिसमयमसंखलोगपरिणामा।
अहियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥४२॥

ताए अधापवत्तद्धाए संखेज्जभागमेत्तं तु।
अणुकट्टीए अद्धा णिव्वग्गणकडयं तं तु ॥४३॥

पडिसमयगपरिणामा णिव्वग्गणसमयमेत्तखंडकमा।
अहियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥४४॥

पडिखंडगपरिणामा पत्तेयमसंखलोगमेत्ता हु।
लोयाणमसंखेज्जा छट्ठाणाणी विसेसेवि ॥४५॥

---

1 ध. पु ६ पृ. २२२-२३। ज ध पु १२ पृ २५८-५९।

पढमे चरिमे समये पढमं चरिमं च खंडमसरित्थं ।
सेसा सरिसा सव्वे अट्ठुव्वंकादिअंतगया ॥४६॥
चरिमे सव्वे खंडा दुचरिमसमओत्ति अवरखंडाए ।
असरिसखंडाणोली अधापवत्तम्हि करणम्हि ॥४७॥
पढमे करणे अवरा णिव्वग्गणसमयमेत्तगा तत्तो ।
अहिगदिणा वरमवरं तो वरपंती अणंतगुणिदकमा ॥४८॥
पढमे करणे पढमा उड्ढगसेढीय चरिमसमयस्स ।
तिरियगखंडाणोली असरित्थाणंतगुणिदकमा ॥४६॥

अर्थ—आदिकरण (अध प्रवृत्तकरण) के कालमे प्रतिसमय अधिकक्रम लिए हुए असख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते है। विशेष (चय) को प्राप्त करनेके लिए अन्तर्मु हूर्तप्रमाण प्रतिभाग है। उस अध प्रवृत्तकरणकालके (समयोके) संख्यातवेभाग-प्रमाण अनुकृष्टिरचनाका आयाम है और जितना वह आयाम है उतने समयोका एक-निर्वर्गणाकाण्डक होता है। निर्वर्गणाकाण्डकके समान प्रतिसमयके परिणामोके क्रमशः खण्ड होते है, वे खण्ड अधिकक्रमवाले होते है। यहा विशेषको प्राप्त करनेका प्रतिभाग अन्तर्मु हूर्तप्रमाण है। प्रत्येकखण्डमे असख्यातलोकप्रमाण परिणाम है। प्रत्येकखण्डमे षट्स्थानपतितवृद्धि असख्यातलोकबार होती है। एक-एक विशेष (चय) मे भी षट्स्थानपतितवृद्धि असख्यातलोकबार होती है। प्रथमसमयका प्रथमखण्ड और चरम-समयका अन्तिमखण्ड ये विसदृश और शेषखण्ड सदृश है। सर्वखण्डोका आदि 'अष्टाक' है और अन्त 'उर्वांक' है। चरमसमयके सर्वखण्ड और प्रथमसमयसे लेकर द्विचरम-समयपर्यन्तका सर्वप्रथमखण्ड, यह अध प्रवृत्तकरणमे असदृशखण्डोकी पंक्ति है। प्रथम (अध प्रवृत्त) करणमे निर्वर्गणाकाण्डकप्रमाण समयोमे प्रत्येकसमयके प्रथमखण्डके जघन्यपरिणाम ऊपर-ऊपर अनन्तगुणे क्रमसे है। निर्वर्गणाकाण्डकके चरमसमयसम्बन्धी जघन्यपरिणामसे प्रथमसमयका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है, उससे द्वितीय निर्वर्गणा-काण्डकके प्रथमसमयके प्रथमखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है इसप्रकार जघन्यसे उत्कृष्ट और उससे जघन्य सर्पकी चालवत्[1] अनन्तगुणेक्रमसे है। प्रथम (अध प्रवृत्त)

१. क. पा सुत्त पृ. ६२६।

करणमे सर्वसमयोके प्रथमखण्डकी उर्ध्वश्रेणीरूपसे और चरमसमयके सर्वखण्डोंकी तिर्यगावलिरूपसे रचना करनेपर सर्व असदृशखण्डोकी पक्ति हो जाती है जो अनतगुणित क्रमसे स्थित है।

विशेषार्थ—इन गाथाओमे अध प्रवृत्तकरणसम्बन्धी अनुकृष्टि और अल्पबहुत्व, इन दो अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है। अनुकृष्टिका कथन करनेके पश्चात् अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। अनुकृष्टिका कथन इसप्रकार है— [1]अध प्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर चरमसमयपर्यन्त पृथक्-पृथक् एक-एकसमयमें छह वृद्धियोके क्रमसे अवस्थित और स्थितिबन्धापसरणादिके कारणभूत असख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थान होते है। परिपाटीक्रमसे विरचित इन परिणामोके पुनरुक्त और अपुनरुक्तभावका अनुसधान करना अनुकृष्टि है। 'आकुर्षणमनुकृष्टि' अर्थात् उनपरिणामोकी परस्पर समानताका विचार करना यह अनुकृष्टिका अर्थ है। अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अवस्थितकालका जो कि अध प्रवृत्तकरणके सख्यातवेभागप्रमाण है, विच्छेद होनेपर अर्थात् निर्वर्गणाकाण्डकके व्यतीत होनेपर अनुकृष्टिका विच्छेद होता है। अध प्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमे असख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थान होते है। पुनः दूसरे समयमें वे ही परिणामस्थान अन्य अपूर्व परिणामस्थानोके साथ विशेष अधिक होते है। प्रथमसमयके परिणामस्थानोमे अन्तर्मुहूर्तका भाग देनेपर जो एकभागप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण परिणाम प्राप्त होते है वह विशेषका प्रमाण है। इसप्रकार इस प्रतिभागके अनुसार प्रत्येकसमय मे विशेषअधिक परिणामस्थान करके अध प्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक लेजाना चाहिए[2]। अध प्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामस्थानके अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अध प्रवृत्तकरणकालके सख्यातवेभागप्रमाण कालके जितने समय है उतने खण्ड करने चाहिए, वही निर्वर्गणाकाण्डक है। विवक्षितसमयके परिणामोका जिसस्थानसे आगे अनुकृष्टिविच्छेद होता है वह निर्वर्गणाकाडक कहा जाता है। ये खंड परस्पर सदृश नही होते, विसदृश ही होते हैं, क्योकि एक दूसरेसे यथाक्रम विशेषअधिकक्रमसे अवस्थित हैं। अन्तर्मुहूर्तका भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतना विशेष (चय) का प्रमाण है। पुनः प्रथमखडको छोडकर इन्ही परिणामस्थानोको दूसरेसमयमें परिपाटीको उल्लघकर स्थापित करना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि इस दूसरे समयमे असख्यातलोक-

१ ज ध. पु १२ पृ २३४ अंतिमपंक्ति।
२ ज. ध पु १२ पृ २३५-२३६।

प्रमाण अन्य अपूर्व परिणामस्थान होते हैं जो प्रथमसमयके चरमखण्डके परिणामोमे अन्तर्मुहूर्तका भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतने विशेषअधिक होते हैं, उन्हे यहा अन्तिमखण्डरूपसे स्थापित करना चाहिए। इसप्रकार स्थापित करनेपर दूसरे समयमें भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण परिणामखण्ड प्राप्त होते है। इसीप्रकार तृतीयादि समयोमे भी परिणामस्थानोकी रचना अध प्रवृत्तकरणके चरमसमयके प्राप्त होनेतक क्रमसे करना चाहिए।

[1]दूसरे समयके जघन्यपरिणामके साथ प्रथमसमयका जो परिणामस्थान समान होता है उससे भिन्न पूर्वके समस्त परिणामस्थानोको ग्रहणकर प्रथमसमयमे प्रथमखण्ड होता है। पुन. तृतीयसमयके जघन्यपरिणामके साथ प्रथमसमयका जो परिणामस्थान समान होता है उससे पहले ग्रहण किये गए पूर्वके समस्त परिणामोंसे शेष बचे हुए परिणामस्थानोको ग्रहणकर वही दूसरे खडका प्रमाण होता है। इसप्रकार क्रमसे जाकर पुन. प्रथम निर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयके जघन्यपरिणामोके साथ प्रथमसमयके परिणामस्थानोमे जो परिणाम सदृश होते है उससे पहले ग्रहण किये गये पूर्वके समस्त परिणामोसे शेष बचे परिणामस्थानोको ग्रहणकर प्रथमसमयमे द्विचरम खडका प्रमाण होता तथा उससे आगेके शेष समस्त विशुद्धिस्थानोके द्वारा अन्तिम-खंडका प्रमाण उत्पन्न होता है। ऐसा करनेपर अध प्रवृत्तकरणकालके सख्यातभाग करके उनमेंसे एकभागमें जितने समय होते है उतने ही खड हो जाते है। इसीप्रकार अध.प्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयके प्राप्त होनेतक द्वितीयादिसमयोमे भी पूर्वोक्त कही गई विधिसे पृथक्-पृथक् अन्तर्मुहूर्तप्रमाण खड जानना चाहिए। इसप्रकार कहे गए समस्त-परिणामोकी सदृष्टि निम्नप्रकार है—

	समय	प्रथमखण्ड	द्वितीयखण्ड	तृतीयखण्ड	अन्तिमखण्ड
अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डक	अन्तिम समय	१००००००००००००	१०००००००००००००	१००००००००००००००	१०००००००००००००००
	द्विचरम समय	१०००००००००००	१००००००००००००	१०००००००००००००	१००००००००००००००
	छठा समय	१००००००००००	१०००००००००००	१००००००००००००	१०००००००००००००
	पाचवा समय	१०००००००००	१००००००००००	१०००००००००००	१००००००००००००

1. ज. ध. पु. १२ पृ. २३८-३९।

प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डक					
	चतुर्थ समय	१०००००००	१००००००००	१०००००००००	१००००००००००
	तृतीय समय	१००००००	१०००००००	१००००००००	१०००००००००
	द्वितीय समय	१०००००	१००००००	१०००००००	१००००००००
	प्रथम समय	१००००	१०००००	१००००००	१०००००००

उपर्युक्तसदृष्टिमे अधःकरणकालके ८ समय और एकनिर्वर्गणाकाण्डकके चारसमय, प्रत्येक समयके चारखण्ड, अधःप्रवृत्तकरणकालमे दो निर्वर्गणाकाण्डक। चयंका (विशेषका) प्रमाण एक शून्यरूपसख्या परिणामोकी संख्याकी द्योतक है। इसी उपर्युक्त कथनकी अकसदृष्टि निम्न प्रकारसे है—

	प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक				द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक				तृतीय निर्वर्गणाकाण्डक				चतुर्थ निर्वर्गणाकाण्डक			
समय	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
प्रथमखड	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२	५३	५४
द्वितीयखड	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२	५३	५४	५५
तृतीयखड	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२	५३	५४	५५	५६
चतुर्थखड	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२	५३	५४	५५	५६	५७
सर्वधन	१६२	१६६	१७०	१७४	१७८	१८२	१८६	१९०	१९४	१९८	२०२	२०६	२१०	२१४	२१८	२२२

इस अकसदृष्टिमे अधःप्रवृत्तकरणका १६ समय, एकनिर्वर्गणाकाण्डकमें चार-समय, प्रतिसमय चयका प्रमाण ४, प्रतिखड चयका प्रमाण १ तथा निर्वर्गणाकांडकोकी सख्या ४[1]।

अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी प्रथमखडके परिणाम उपरिमसमय-सम्बन्धी परिणामोमे से किन्ही भी परिणामोके समान नही होते है; वहीपर द्वितीय-खडके परिणाम दूसरे समयके प्रथमखडके परिणामोके समान होते है। इसीप्रकार यहाके अर्थात् प्रथमसमयके तृतीयादि खडोके परिणामोंका भी तृतीयादि समयोके

१ ध पु. ६ पृ २१६ से उक्त सदृष्टि बनाई है।

प्रथमखंडके परिणामोंके साथ क्रमसे पुनरुक्तता तबतक जानना चाहिए जब जाकर प्रथमसमयसम्बन्धी अन्तिमखडके परिणाम प्रथमनिर्वर्गणाकाडकके अन्तिमसमयके प्रथम-खण्डसम्बन्धी परिणामोके साथ पुनरुक्त होकर समाप्त होते है। इसीप्रकार अधःप्रवृत्त-करणके द्वितीयादि समयोके परिणामखण्डोको भी पृथक्-पृथक् विवक्षितकरके वहाके द्वितीयादि खण्डगत परिणामोंका विवक्षितसमय [द्वितीयादिसमय] से लेकर ऊपर एक समयकम निर्वर्गणाकाण्डकप्रमाण समयपक्तियोके प्रथमखण्डसम्बन्धी परिणामोके साथ पुनरुक्तपनेका कथन करना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि सर्वत्र प्रथमखडके परिणाम अपुनरुक्तपनेसे अवशिष्ट जानना चाहिये। अर्थात् प्रत्येकसमयके प्रथमखंड-सम्बन्धी परिणाम अगले समयके किसी भी खडसम्बन्धी परिणामोंके सदृश नही होते। इसीप्रकार द्वितीयनिर्वर्गणाकाण्डकके परिणामखण्डोका तृतीयनिर्वर्गणाकाडकके परिणामखडोके साथ पुनरुक्तपना जानना चाहिए, किन्तु यहा भी प्रथमखंडसम्बन्धी परिणाम ही अपुनरुक्तरूपसे अवशिष्ट रहते है। इसीक्रमसे तृतीय, चतुर्थ और पंचमादि निर्वर्गणाकाण्डकोंके भी अनन्तर उपरिम निर्वर्गणाकाण्डकोके साथ पुनरुक्तपना वहातक जानना चाहिए जब जाकर द्विचरमनिर्वर्गणाकाण्डकके प्रथमादिसमयोंके सर्व परिणाम-खड प्रथमखंडको छोड़कर अन्तिमनिर्वर्गणाकाडकसम्बन्धी परिणामोके साथ पुनरुक्त होकर समाप्त होते है। अब अन्तिमनिर्वर्गणाकाडकसम्बन्धी परिणामोके स्वस्थानमें पुनरुक्त अपुनरुक्तपनेका अनुसन्धान परमागमके अविरोधपूर्वक करना चाहिए[1]। अक-सदृष्टिके अनुसार अपुनरुक्तखंड अपनेसे उपरिम किसी खंडके सदृश नही है—

---

१. ज. ध. पु १२ पृ. २४०-४१ प्रकरण ६१।

५४	५५	५६	५७
५३			
५२			
५१			
५०			
४६			
४८			
४७			
४६			
४५			
४४			
४३			
४२			
४१			
४०			
३६			

प्रथमसमयमे जो प्रथमखण्ड है वह ऊपर किसीके साथ भी समान नही है। पुनः प्रथमसमयका दूसरा खड (४०) तथा द्वितीयसमयका प्रथमखंड (४०) दोनो सदृश ही है, तथैव प्रथमसमयका तृतीयखण्ड (४१) और द्वितीयसमयका दूसराखड (४१) समान है। इसीप्रकार आगे जाकर पुनः प्रथमसमयका अन्तिमखंड (४२) एव द्वितीयसमयका द्विचरमखण्ड (४२) सदृश है, तथैव द्वितीयसमयके परिणामखडोका और तृतीयसमयके परिणामखंडोका सन्निकर्ष करना चाहिए। एवमेव ऊपर भी पिछले की तदन्तरोके साथ सन्निकर्षविधि जानकर कहनी चाहिए[1]। **इसप्रकार अनुकृष्टि-प्ररुपणा समाप्त हुई।**

---

१. ज. ध पु १२ पृ २४१ प्रकरण ६२।

अल्पबहुत्व स्वस्थान और परस्थानके भेदसे दो प्रकारका है। **स्वस्थान अल्पबहुत्व इसप्रकार है**—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें प्रथमखंडका जघन्यपरिणाम सबसे स्तोक है, उससे वहीपर द्वितीयखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है। उससे वहींपर तीसरेखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है। इसप्रकार वहीपर अन्तिमखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है इसस्थानके प्राप्त होनेतक जानना चाहिये। इसप्रकार मात्र प्रथमसमयके परिणामखण्डोंके जघन्यपरिणामस्थानोका अवलम्बन लेकर स्वस्थान-अल्पबहुत्व किया। अब प्रथमसमयमे प्रथमखण्डका उत्कृष्टपरिणाम स्तोक है। उससे वहीपर दूसरे खन्डका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है, उससे वहीपर तृतीयखण्डका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है। इसीप्रकार आगे भी अन्तिमखण्डका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है इसस्थानके प्राप्त होनेतक कथन करना चाहिए। इसप्रकार प्रथमसमयके सर्वखण्डोके उत्कृष्टपरिणामोंका अवलम्बन लेकर स्वस्थान अल्पबहुत्वका कथन किया। इसीप्रकार दूसरे समयसे लेकर अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक प्रत्येकखण्डके प्रति प्राप्त जघन्य और उत्कृष्टपरिणामोंका स्वस्थान अल्पबहुत्व जानना चाहिए। इसके पश्चात् स्वस्थान अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ[1]।

परस्थान अल्पबहुत्व इसप्रकार है—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमे जघन्य-विशुद्धि सबसे स्तोक है, क्योकि इससे कम अन्य कोई जघन्यविशुद्धिस्थान अधःप्रवृत्त-करणमें नही है। उससे दूसरे समयमें जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योकि प्रथमसमयके जघन्यविशुद्धिस्थानसे षट्स्थानक्रमसे असंख्यातलोकमात्र विशुद्धिस्थानोंको उल्लघकर स्थित हुए द्वितीयखण्ड (४०) के जघन्यविशुद्धिस्थानका दूसरे समयमे जघन्यपना देखा जाता है; इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त जानना चाहिए तथा अन्तर्मुहूर्त से ऊपर जाकर स्थित प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयके प्राप्त होनेतक इस क्रमसे जघन्यविशुद्धिका ही प्रतिसमय अनन्तगुणित क्रमसे कथन करना चाहिए। उससे प्रथमसमयकी (४२की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि इसके अनन्तर पूर्व जो जघन्यविशुद्धि कही गई है वह अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमखण्ड (४२) की जघन्यविशुद्धि है और यह उस अतिमखड (४२) की उत्कृष्टविशुद्धि है जो उक्त जघन्यविशुद्धिसे छहस्थान क्रमसे वृद्धिरूप असख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थानोंको उल्लंघकर अवस्थित है। इसलिए अनन्तरपूर्वकी जघन्यविशुद्धिसे यह उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी हो गई है। इस उत्कृष्ट-

---

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २४४-४५।

विशुद्धिसे द्वितीय निर्वर्गणाकांडकके प्रथमसमयकी (४३) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथमसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि 'उर्वंक' रूपसे अवस्थित है और द्वितीयनिर्वर्गणाकांडकके प्रथमसमयकी जघन्यविशुद्धि 'अष्टांक' रूपसे अवस्थित है इसलिये अनन्तगुणी हो गई। उससे प्रथमनिर्वर्गणाकांडकके दूसरेसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि पूर्वकी जघन्यविशुद्धि दूसरे समयके अन्तिमखण्डके जघन्यपरिणामस्वरूप है और यह उत्कृष्टविशुद्धि असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानवृद्धिको उल्लंघकर स्थित हुए दूसरे समयके अन्तिमखंडकी उत्कृष्टविशुद्धि है, इसलिये यह उत्कृष्टविशुद्धि पूर्वकी जघन्यविशुद्धिसे अनन्तगुणी सिद्ध हो जाती है। इस पद्धतिसे अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण एक निर्वर्गणाकाण्डकको अवस्थितकरके उपरिम और अधस्तन जघन्य और उत्कृष्टपरिणामोंसे अल्पबहुत्व साधना चाहिए। अल्पबहुत्वका यह क्रम सर्व निर्वर्गणाकाण्डकोंको क्रमसे उल्लंघकर पुनः द्विचरमनिर्वर्गणाकांडकके अन्तिमसमयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिम निर्वर्गणाकांडककी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी होकर जघन्यविशुद्धिका अन्त प्राप्त होनेतक करना चाहिए। इतनी दूर तक जो एक-एक निर्वर्गणाकाण्डकके अन्तरसे जघन्य और उत्कृष्ट विशुद्धिस्थानोंका अल्पबहुत्व कहा गया है उसमें कोई भेद नहीं है। **इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—** प्रथमनिर्वर्गणाकांडकके दूसरे समयकी (४३ की) उत्कृष्टविशुद्धिसे दूसरे निर्वर्गणाकांडकके दूसरे समयकी (४४ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे प्रथमनिर्वर्गणाकांडकके तीसरेसमयकी (४४ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे द्वितीयनिर्वर्गणाकांडकके तीसरेसमयकी (४५ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे प्रथमनिर्वर्गणाकांडकके चौथेसमयकी (४५ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। इसप्रकार दूसरे निर्वर्गणाकांडकके अंतिमसमयकी जघन्यविशुद्धिपर्यन्त अनन्तगुणत्व ले जाना चाहिए। इसीप्रकार तृतीय निर्वर्गणाकांडकके समयोंकी जघन्यविशुद्धि और द्वितीयनिर्वर्गणाकांडकके समयोंकी उत्कृष्टविशुद्धिका परस्पर अल्पबहुत्व कहना चाहिये। इसीप्रकार अनन्तर उपरिम निर्वर्गणाकांडकके जघन्यपरिणामोंका अनन्तर अधस्तन निर्वर्गणाकांडकके उत्कृष्टपरिणामोंके साथ क्रमसे अनुसन्धान करते हुए, अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयकी जघन्यविशुद्धि द्विचरमनिर्वर्गणाकांडकके अन्तिमसमयकी उत्कृष्टविशुद्धिसे अनन्तगुणी होकर जघन्यविशुद्धिके अन्तको प्राप्त होती है; यहां ले जाना चाहिए। पुनः द्विचरमनिर्वर्गणाकांडकके अन्तिमसमयकी (५३ की) उत्कृष्टविशुद्धिसे अधःप्रवृत्तकरणके अंतिमसमयकी

(५४ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चरमनिर्वर्गणाकाडकके प्रथमसमयकी (५४ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चरमनिर्वर्गणाकाडकके द्वितीय समय (५५ की) उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे तीसरे समयकी (५६ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चतुर्थसमयकी (५७ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। इसप्रकार यह क्रम अध प्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक (अन्तिमनिर्वर्गणाकाडकके अन्तिमसमयतक) ले जाना चाहिए[1]।
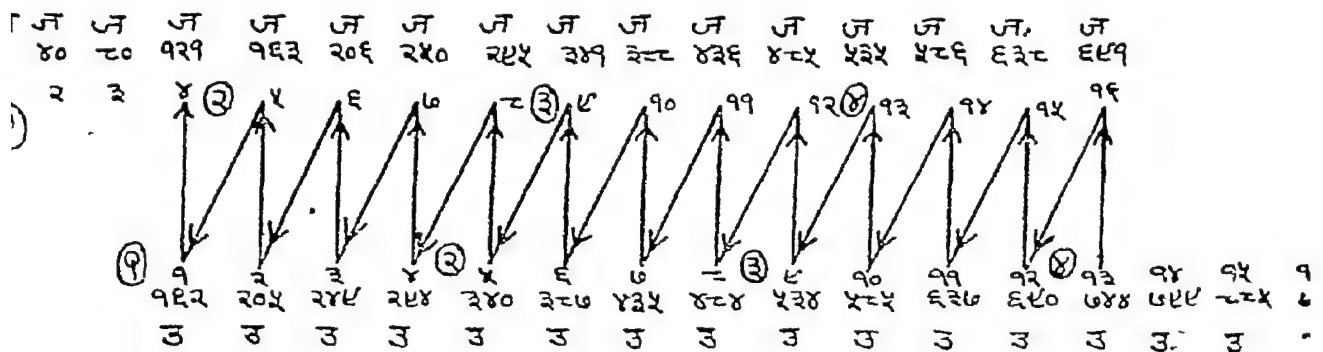
उपर्युक्तसंदृष्टिमे—१ से १६ तक की सख्या अध:प्रवृत्तकरणके समयोकी सूचक है।

अब अपूर्वकरण सम्बन्धी कथन करते है—

[2]पढमं व विदियकरणं पडिसमयमसंखलोगपरिणामा।
अहियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥५०॥

अर्थ—प्रथम अर्थात् अध प्रवृत्तकरण के समान द्वितीय अर्थात् अपूर्वकरण है। इसमे प्रतिसमय अधिक क्रमसहित असख्यातलोक परिणाम होते है। विशेष (चय) के लिए अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रतिभाव है।

विशेषार्थ—अध प्रवृत्तकरणमे प्रतिसमय असंख्यातलोक परिणाम होते हैं और वे चय अधिकक्रमसे होते है ऐसा कथन पहले गाथा ४२ में किया जा चुका है। यहां द्वितीय अपूर्वकरणसम्बन्धी कथन किया जावेगा। अपूर्वकरणसम्बन्धी तीन अनुयोगद्वार है—(१) प्ररुपणा (२) प्रमाण और (३) अल्पबहुत्व। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें परिणामस्थान हैं, दूसरेसमयमे परिणामस्थान हैं। इसप्रकार अपूर्वकरणके अन्तर्मुहूर्त-

---

१ ज. ध. पु १२ पृ. २४५ से २५१ तक।

१. अपूर्वकरणद्धाए सव्वत्थ समए समए असखेज्जलोगा परिणामट्ठाणाणि। (क पा.सुत्त पृ. ६३३)

कालके चरमसमयतक प्रतिसमयसे परिणामस्थान जानना और इसप्रकार अनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

एक-एक समयमें परिणामस्थान असंख्यातलोक प्रमाण है। ऐसा प्ररूपणानुयोगद्वार समाप्त हुआ।

अल्पबहुत्व दो प्रकारका है—विशुद्धियोंकी तीव्रता-मंदतासम्बन्धी अल्पबहुत्व और परिणामोंकी पंक्तियोंकी दीर्घता (संख्या) सम्बन्धी अल्पबहुत्व। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें परिणामोंकी पंक्तिका आयाम (संख्या) सबसे स्तोक है, उससे दूसरे समयमें विशेष अधिक है। प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामोंके अन्तर्मुहूर्तके समयप्रमाण खण्ड करनेपर उनमेंसे एकखण्डप्रमाण विशेषअधिकका प्रमाण है। अर्थात् प्रथमसमयके परिणामोंको अन्तर्मुहूर्तके समयोंसे भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतने (असंख्यात-लोक) प्रमाण विशेषअधिक है। इसप्रकार अन्तरोपनिधाका आश्रय करके अर्थात् निरन्तर विशेषअधिकके क्रमसे अन्तिमसमयके परिणामोंकी पंक्तिके आयाम (परिणामोंकी संख्या) के प्राप्त होनेतक कथन करते हुए ले जाना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येकसमयमें अपूर्व ही परिणामस्थान होते हैं। इसप्रकार अपूर्वकरणके अन्तर्मुहूर्तकालमें सर्वत्र प्रत्येकसमयमें असंख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थान होते हैं[1]।

दूसरे करणको अपूर्वकरण संज्ञा देनेका कारण कहते हैं—

जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं णत्थि सरिसत्तं[2]।
तम्हा विदियं करणं अपुव्वकरणं त्ति णिद्दिट्ठं ॥५१॥

अर्थ—क्योंकि उपरिम समयके परिणाम नीचले समयसम्बन्धी परिणामोंके समान नहीं होते इसलिये इस दूसरे करणको अपूर्वकरण कहा गया है।

विशेषार्थ—जितने स्थान ऊपर जाकर विवक्षित समयके परिणामोंकी अनुकृष्टिका विच्छेद होता है उसीका नाम निर्वर्गणाकांडक है, किन्तु यहाँ अपूर्वकरणके प्रत्येकसमयमें निर्वर्गणाकाण्डकको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि विवक्षितसमयके परिणाम ऊपरके एक भी समयमें सम्भव नहीं है। प्रत्येकसमयमें अनुकृष्टिके विच्छेद स्वरूप अपूर्वकरणका लक्षण जानना चाहिए[3]।

---

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २५२-५३-५४।
२. दृश्यताम् ध. पु. १ पृ. १८३। प्रा. पं. स. अ. १ गा. १८३, गो. जी. गा. ५१।
३. ज. ध. पु. १२ पृ. २५४।

—है । करण नाम परिणामका है । अपूर्व जो करण होते हैं उन्हें अपूर्वकरण कहते है, जिनका अर्थ असमान परिणाम होता है । इसप्रकार अपूर्वकरणका लक्षण निरुपण किया गया है[2] ।

अब परिणामोंमें परस्पर विशेषता कहते हैं—

विदियकरणादिसमयादंतिमसमओत्ति अवरवरसुद्धी ।
अहिगदिणा खलु सव्वे होंति अणंतेण गुणिदकमा ॥५२॥

अर्थ—दूसरे अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर अंतसमयपर्यन्त प्रत्येक समयके जघन्यपरिणामसे उसी समयका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिवाला है । इस उत्कृष्टपरिणामसे अनन्तर उत्तरसमयका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिवाला है । इसप्रकार सर्पकी चालके समान विशुद्धतासम्बन्धी अल्पबहुत्वका कथन है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे असख्यातलोकप्रमाण विशुद्धिस्थानोंके मध्य जो जघन्यविशुद्धि है वह सबसे स्तोक अर्थात् मन्दअनुभागवाली है । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे जो उत्कृष्टविशुद्धि है वह असख्यातलोक षट्स्थानवृद्धिको उल्लघकर अवस्थित है और वह पूर्वकी जघन्यविशुद्धिसे अनन्तगुणी है । प्रथमसमयकी उत्कृष्ट-विशुद्धिसे द्वितीयसमयकी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानवृद्धिके अन्तरसे इसकी उत्पत्ति होती है । अपूर्वकरणके दूसरे समयकी उत्कृष्ट-विशुद्धि उसीसमयकी जघन्यविशुद्धिसे अनन्तगुणी है[4] । द्वितीयसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि-से तृतीयसमयकी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है । तृतीयसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि अनन्त-गुणी है; कारण पूर्ववत् ही है । इसप्रकार यह क्रम अपूर्वकरणके चरमसमयतक ले जाना चाहिए[5] ।

---

१. ध. पु १ पृ. १८१ ।
२. ध पु. ६ पृ २२१ । एव क पा. सुत्त पृ ६२३ ।
३ क. पा. सुत्त पृ. ६२३ सूत्र ६५-७१ ।
४. ज ध. पु. १२ पृ. २५३-५४ ।
५ ध पु ६ पृ २२१ ।

आगे अपूर्वकरणपरिणामका कार्यविशेष बतानेके लिए गाथासूत्र कहते हैं—

गुणसेढीगुणसंकमठिदिरसखंडा अपुव्वकरणादो ।
गुणसंकमेण सम्मा मिस्साणं पूरणोत्ति हवे ॥५३॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर, गुणसक्रमण से सम्यक्त्व-मिश्रद्वय प्रकृतिके पूरनेके कालके चरमसमयपर्यन्त गुणश्रेणि, गुणसक्रमण, स्थितिकाडकघात और अनुभागकाडकघात होते है ।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्वके कालमे यद्यपि दर्शनमोहकी गुणश्रेणि व स्थितिकाडकघातादि नही होते, किन्तु आयुकर्म और मिथ्यात्वको छोडकर शेपकर्मोके स्थितिघात, अनुभागघात और गुणश्रेणिरूप कार्य तबतक होते रहते है जबतक गुणसक्रमण (मिथ्यात्वका) होता रहता है[1] । प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजोवके अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे गुणसक्रमण प्रारम्भ नही होता, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्वके प्रथमसमयसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिमे असख्यातगुणे क्रमसे प्रदेशपुज देनेके लिये गुणसक्रमण प्रारम्भ होता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक गुणसक्रमण होता है उसके पश्चात् उपशमसम्यक्त्वके अन्ततक विध्यातसक्रमण होता है[2] ।

स्थितिबन्धापसरण कब तक होता है सो कहते हैं—

[3]ठिदिबंधोसरणं पुण अधापवत्तादुपूरणोत्ति हवे ।
ठिदिबंधट्ठिदिखंडुक्कीरणकाला समा होंति ।५४॥

अर्थ—स्थितिबधापसरण भी अध प्रवृत्तकरणसे लेकर सम्यक्त्व व मिश्रप्रकृतियोके पूरणकालतक होता है । स्थितिबधापसरणकाल और स्थितिकाडकघातका उत्कीरणकाल, ये दोनो काल समान अर्थात् तुल्य होते है ।

विशेषार्थ—स्थितिबधापसरण यद्यपि प्रायोग्यलब्धिमें भी होता है, किन्तु यहा उसकी विवक्षा नही है, क्योकि प्रायोग्यलब्धि भव्य और अभव्य दोनोके समानरूपसे होनेसे प्रायोग्यलब्धिमे सम्यक्त्वोत्पत्तिका नियम नही है । (देखो गा. ७) प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमे मिथ्यात्वका बन्ध नही होता इसलिये सम्यक्त्वकालमे दर्शनमोहनीयकर्मका वन्धापसरण नही होता, किन्तु अन्यकर्मोका बन्धापसरण होता रहता है ।

१. ज ध पु १२ पृ २८५; ध. पु ६ पृ. ४१५; गो क. गा ४१६ ।
२. ज. ध. पु १२ पृ २८२ से २८४ ।
३. तम्हि ट्ठिदिखडयद्धा ठिदिवधगद्धा च तुल्ला । क. पा सुत्त पृ. ६२५ सूत्र ८७ ।

अन्तर्मुहूर्तकालतक समान स्थितिका बन्ध होनेके पश्चात् स्थिति घटकर बंधती है वह स्थिति भी अन्तर्मुहूर्तकालतक बधी है। इसप्रकार एकस्थितिबन्धापसरणका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहा गया है। स्थितिकांडकघात करनेमें भी अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है, क्योकि अन्तर्मुहूर्तके प्रत्येकसमयमें एक-एक फाली (कुछद्रव्य) उत्कीर्ण की जाती है। अन्तिमफाली द्वारा शेषद्रव्य उत्कीरण होने पर स्थितिघात होता है। अतः स्थिति-काडकघातमे जितनाकाल लगता है वह काल और स्थितिबन्धापसरणकाल दोनो तुल्य व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। अपूर्वकरणमे प्रथमस्थितिबन्धापसरणकाल व स्थितिकाडको-त्कीरणकाल तुल्य है। द्वितीयादि स्थितिकांडक और स्थितिबधका काल परस्पर समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथमस्थितिकांडकके उत्कीरणकालसे और प्रथमस्थिति-बन्धके कालसे द्वितीयादिकोका काल यथाक्रम विशेषहीन-विशेषहीन जानना चाहिए[1]।

अथानन्तर गुणश्रेणीके स्वरूपका निर्देश करते हैं—

गुणसेढीदीहत्तमपुव्वदुगादो दु साहियं होदि।
गलिदवसेसे उदयावलिबाहिरदो दु णिक्खेवो ॥५५॥

अर्थ—गुणश्रेणीकी दीर्घता अर्थात् गुणश्रेणीआयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणकालसे अधिक होता है वह गुणश्रेणीआयाम गलितावशेष है तथा उदयावलीसे बाह्यनिक्षेप होता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख यह जीव अपूर्वकरणके प्रथम-समयमे आयुकर्मके अतिरिक्त शेषकर्मोका गुणश्रेणिनिक्षेप प्रारम्भ कर देता है।

शंका—आयुकर्मका गुणश्रेणिनिक्षेप क्यो नही करता है?

समाधान—आयुकर्मका गुणश्रेणिनिक्षेप स्वभावसे ही नही करता है, क्योकि इसमे गुणश्रेणिनिक्षेपकी प्रवृत्ति असभव है।

उस गुणश्रेणिनिक्षेपका प्रमाण अपूर्वकरणकालसे और अनिवृत्तिकरणकालसे अर्थात् इन दोनो कालोसे विशेषअधिक है। यहां अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणके समुदित कालका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है, उससे विशेषअधिक इस गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम है।

---

१. ज. ध. पु. १२ पृ २६६।

शंका—विशेषका प्रमाण कितना है ?

समाधान—अनिवृत्तिकरणकालके सख्यातवेभाग विशेषका प्रमाण है।

नोट—जिन निषेकोमे गुणाकार क्रमसे अपकर्षितद्रव्य निक्षेपित किया जाता है अर्थात् दिया जाता है उन निषेकोका नाम गुणश्रेणिनिक्षेप है उन निषेकोंकी सख्याका प्रमाण गुणश्रेणीआयाम है।

अथानन्तर निक्षेप व अतिस्थापनाके स्वरूप-भेद-प्रमाणादिका कथन करते हैं—

णिक्खेवमदित्थावणमवरं समऊणआवलितिभागं ।
तेणूणावलिमेत्तं विदियावलियादिमणिसेगे ॥५६॥

अर्थ—द्वितीयावलिका आदिनिषेक अर्थात् उदयावलिसे अनन्तर उपरिमनिषेक मे से द्रव्य अपकर्षितकरके नीचे उदयावलिमे देता है तब एकसमयकम आवलिका त्रिभाग तो जघन्यनिक्षेप है तथा आवलिके शेषनिषेक जघन्यअतिस्थापना है।

विशेषार्थ—जो स्थिति अभी उदयावलिके अन्तिमसमयमे प्रविष्ट नही हुई है, किन्तु अनन्तर अगले समयमें प्रविष्ट होनेवाली है उसके निक्षेप और अतिस्थापना सर्व-जघन्य है। **स्पष्टीकरण इसप्रकार है**—उस स्थितिका अपकर्षण करके, उदयसमयसे लेकर आवलिके तृतीयभागतक उसका निक्षेप करता है और $\frac{2}{3}$ भागप्रमाण ऊपरके हिस्सेको अतिस्थापनारूपसे स्थापित करता है। इसलिए आवलिका तृतीयभाग उस अपकर्षितस्थितिके निक्षेपका विषय है और आवलिका $\frac{2}{3}$ भाग अतिस्थापना है।

शंका—आवलिकी परिगणना कृतयुग्म सख्यामे की गई अत उसका तृतीय-भाग कैसे ग्रहण किया जाता है[1] ?

समाधान—आवलिका प्रमाण जघन्ययुक्तासंख्यात है, अत आवलिकी परि-गणना कृतयुग्मसख्यामे की गई है, (जो सख्या ४ से पूर्णरूपेण विभाजित हो जावे वह 'कृतयुग्म' सख्या है[2]) इसलिए उसका शुद्ध तीसराभाग नही हो सकता अत आवलिसे एककम करके उसका तृतीयभाग ग्रहण करना चाहिए। अब यहा आवलिमे से जो

---

१. ज ध. पु ८ पृ २४३-४४।

२ ध पु १२ प्रस्तावना पृ ३, ध पु १४ पृ १४७, ध. पु. १२ पृ १३४, भगवतीसूत्र लो प्र १२।७६, ध पु. ३ प २४९, ध. पु १० प्रस्तावना पृ. ३, ध पु १० मूल पृ. २२-२३।

एककम किया गया है उसको त्रिभागमें मिला देनेपर जघन्यनिक्षेप होता है और एककम आवलिका $\frac{2}{3}$ भागप्रमाण जघन्य अतिस्थापना होती है जो जघन्यनिक्षेपके दूनेसे दो समयकम है[1]।

उदाहरण—आवलिका प्रमाण १६ समय है। (१६–१)=१५; १५÷३=५; ५+१=६ जघन्यनिक्षेप है। १६–६=१० समय जघन्यअतिस्थापना है[2]।

एत्तो समऊणावलितिभागमेत्तो तु तं खु णिक्खेवो ।
उवरिं आवलिवज्जिय सगट्ठिदी होदि णिक्खेवो ॥५७॥

अर्थ—इस प्रथमनिषेकसे ऊपर एकसमय कम आवलिके त्रिभागतकके निषेकोके अपकृष्टद्रव्यका निक्षेप तो पूर्वोक्त ही है। इससे ऊपर अतिस्थापनारूप आवलिको छोड़कर अपनी-अपनी स्थितिप्रमाण निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—उदयावलिसे बाह्य अनन्तर प्रथमस्थितिसे ऊपर अनन्तरसमयवर्ती द्वितीयस्थितिके अपकर्षितद्रव्यका उतना ही निक्षेप होता है, क्योकि इसमे कोई भेद नही है, किन्तु अतिस्थापना एकसमय अधिक होती है, चू कि उदयावलिके बाहर की स्थिति भी अतिस्थापनामे मिल गई है। इसप्रकार अतिस्थापनामे उदयावलिके बाहरसे जघन्य-निक्षेपप्रमाण स्थितियोके प्रविष्ट होनेतक निक्षेपको अवस्थितरूपसे ले जाना चाहिए और अतिस्थापनाको उत्तरोत्तर एक-एकसमयअधिक क्रमसे अनवस्थितरूपसे ले जाना चाहिए। यहा जो स्थिति प्राप्त होती है उसकी अतिस्थापना पूर्ण एकावलिप्रमाण है तथा निक्षेप जघन्य ही रहता है।

शंका—जिसस्थिति विशेषके प्राप्त होनेपर अतिस्थापना पूरी एकावलिप्रमाण होती है, वह स्थितिविशेष किसस्थानमें प्राप्त होता है ?

समाधान—उदयावलिके बाहर आवलिके तृतीयभागकी जो अंतिमस्थिति है, वहां वह स्थितिविशेष प्राप्त होता है[3]। (यहा अन्तिम स्थितिसे तदनन्तर उपरिम-स्थिति विशेष ग्राह्य है।)

---

१. ज. ध. पु. ८ पृ. २५१।
२ ज. ध. पु. ८ पृ. २५१।
३. ज. ध. पु. ८ पृ. २४५।

गाथामें जो '**समऊणावलितिभाग**' पद आया है उससे एकसमयकम आवलिका त्रिभाग व एकसमयअधिक ऐसा ग्रहण करना चाहिये। उदयावलिके बाहर जघन्य-निक्षेपप्रमाण स्थितिका उलघनकरके जो स्थिति स्थित है उसके प्राप्त होनेपर पूरी एकावलिप्रमाण अतिस्थापना होती है। उससे आगे निक्षेप बढता है, क्योकि उत्कृष्ट-निक्षेपके प्राप्त होनेतक जघन्यनिक्षेपसे आगे एक-एकसमयाधिक क्रमसे निक्षेपकी वृद्धि होनेमे कोई विरोध नही आता, क्योकि निर्व्याघातप्ररूपणामे सत्त्वप्रकृति पर्याप्त है। (स्थितिकाडकघातका अभाव निर्व्याघात कहलाता है[1]।)

उदयस्थितिसे लेकर एकसमयाधिक दोआवलिप्रमाण स्थान आगे जाकर वहा अतिस्थापना व निक्षेप दोनो ही एक-एक आवलि प्रमाण हो जाते है उदयावलिके बाहर वहातककी सर्वस्थितियोके प्रदेशाग्रोका निक्षेप उदयावलिके भीतर ही होता है। सर्वत्र अपकर्षितस्थितिको छोडकर उससे नीचे अनन्तरवर्ती स्थितिसे लेकर एकावलिप्रमाण स्थितिया अतिस्थापना होती हैं तथा उदयस्थितिसे लेकर अतिस्थापनासे पूर्वतककी सर्व-स्थितियोंमे निक्षेप होता है।

उक्कस्सट्ठिदिबंधो समयजुदावलिदुगेण परिहीणो।
ओक्कट्टिदम्मि चरिमे ठिदिम्मि उक्कस्सणिक्खेवो ॥५८॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिका बन्ध होनेपर चरमस्थितिके अपकर्षितद्रव्यका समयाधिक दोआवलिहीन उत्कृष्टस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप होता है।

विशेषार्थ—उत्कृष्टस्थितिको बाधकर और बन्धावलि (अचलावलि) को व्यतीतकर फिर चरम अर्थात् अग्रस्थितिका अपकर्षणकरनेपर अतिस्थापनाकी एक आवलिको छोडकर, उदयपर्यन्त उस अपकर्षितद्रव्यके निक्षिप्त करनेपर निक्षेपका प्रमाण एकसमयाधिक दोआवलिसे न्यून[2] उत्कृष्ट कर्मस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप उपलब्ध होता है।

---

१. ज. ध. पु ८ पृ. २४७।

२. वन्धके वाद बद्धद्रव्यावलि तक तो सकलकरणोके अयोग्य होनेसे बद्धद्रव्यका आवलिकाल तक अपकर्षण भी नही होगा सो १ आवलि तो यह कम पडी तथा अतिस्थापना (आवलीप्रमाण) मे अपकृष्ट द्रव्य का निक्षेप नही होता। आवली यह और गई तथा अन्तिमनिषेकके द्रव्यका उसी निषेकमे तो निक्षेप या अतिस्थापना होती नही अत. एक वह स्वय कम पडा। इसप्रकार बधा-वलि+अतिस्थापनावलि+अपकृष्यमाण निषेक=कुल एक समय अधिक दो आवलिमे निक्षेपण का अभाव हुआ।

उदाहरण—कर्मस्थिति ४८०० समय। एकसमयाधिक दो आवलि (१६×२ +१)=३३ समय। ४८००-३३=४७६७ उत्कृष्टनिक्षेप[1]।

अब व्याघातापेक्षा उत्कृष्टअतिस्थापनाका कथन करते हैं—

उक्कस्सट्ठिदि बंधिय मुहुत्तअंतेण सुज्झमाणेण।
इगिकंडएण घादे तम्हि य चरिमस्स फालिस्स ॥५९॥
चरिमणिसेओक्कड्डे जेट्ठमदित्थावणं इदं होदि।
समयजुदंतोकोडाकोडि विणुक्कस्सकम्मठिदी ॥६०॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिको बाधकर अन्तर्मुहूर्तके द्वारा विशुद्ध होता हुआ, अंतः-कोड़ाकोड़िसागरप्रमाण स्थितिके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण उत्कृष्टस्थितिका एककाडक-घातके द्वारा घात करनेवालेके काडककी चरिमफालिके चरमनिषेकके अपकर्षितद्रव्यकी उत्कृष्टअतिस्थापना समयाधिक अन्त कोडाकोडिसागरसे होन उत्कृष्टकर्मस्थिति होती है।

विशेषार्थ—स्थितिका घात करते हुए जिसने स्थितिघात करनेके लिये उत्कृष्ट-कांडकको ग्रहण किया है, उसके उत्कृष्टअतिस्थापना होती है।

शंका—उत्कृष्टकाडक कितना है ?

समाधान—जितनी उत्कृष्टकर्मस्थिति है उसमेसे अन्त कोड़ाकोडिसागर कम कर देनेपर जो स्थिति शेष रहे उतना उत्कृष्टस्थितिकाडकघात होता है। इस स्थिति-काडकको प्रारम्भ करनेपर उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है और प्रतिसमय होनेवाले घातसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितिकाडकसम्बन्धी फालिया भी उतनी ही होती है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तके जितने समय होते है उतनी ही कांडककी फालिया होती हैं। उसकाडकमें से प्रथमसमयमे जो प्रदेशाग्र उत्कीरण होते है उसकी अतिस्थापना एकावलिप्रमाण होती है, क्योकि कांडकरूपसे ग्रहण की गई इन सर्व स्थितियोका अभी अभाव नही होनेसे इनका व्याघात नही होता इसलिए यहांपर भी निर्व्याघातविपयक अतिस्थापना होती है। इसप्रकार द्विचरमसमयवर्ती अनुत्कीर्ण स्थितिकाडकके प्राप्त होनेतक ले जाना चाहिए, क्योकि कांडकरूपसे ग्रहण की गई इन सर्व स्थितियोंका

---

१. ज. ध पु. ८ पृ. २५२।

अभी अभाव नही हुआ है। उस उत्कृष्टस्थितिकाडकघातके अन्तिमसमयकी चरमफालि मे जो अग्रस्थिति अर्थात् चरमनिषेकका द्रव्य होता है उसकी अतिस्थापना एकसमयकम काडकप्रमाण होती है, क्योकि उस अन्तिमसमयकी फालीमे स्थितिकाडकघातके भीतर आई हुई सभी स्थितियोका व्याघातके कारण घात होता है। इसलिये चरमस्थितिकी एकसमयकम उत्कृष्टकाडकप्रमाण (उत्कृष्टस्थितिमे से अन्त.कोड़ाकोडीसागर कम कर देने पर शेषस्थिति उत्कृष्टकांडक है) उत्कृष्टअतिस्थापना होती है।

शंका—इस अतिस्थापनाको एकसमयकम क्यो कहा ?

समाधान—क्योकि अपकर्षणको प्राप्त होनेवाली अग्रस्थिति (अन्तिमनिषेक) अतिस्थापनासे वहिर्भूत होती है।

यह एकसमयकम उत्कृष्टस्थितिकाडकप्रमाण उत्कृष्टअतिस्थापना स्थिति-काडकविषयक व्याघातके होनेपर होनी है, अन्यत्र नही होती[1]।

अब सातगाथाओंमें उत्कर्षणका कथन करते हैं—

सत्तग्गट्ठिदिबंधो आदिट्ठियुक्कड्डणे जहण्णेण।
आवलिअसंखभागं तेत्तियमेत्तेव णिक्खिवदि ॥६१॥

अर्थ—बन्ध होनेपर सत्त्वकर्मकी अग्रस्थिति (अन्तिमस्थितिके द्रव्य) का उत्कर्पण होता है उस उत्कर्षणकी अतिस्थापना (आदिस्थिति) जघन्यसे आवलिके असख्यातवेभाग होती है और जघन्यनिक्षेप भी उतना ही होता है।

विशेषार्थ—नवीन अधिकस्थितिबन्धके सम्बन्धसे पूर्वकी स्थितिमेसे कर्म-परमाणुओं (प्रदेशो) की स्थितिका बढ़ाना [2]उत्कर्षण है[3]। उसके दो भेद है—निर्व्या-घातविपयक और व्याघातविषयक। जहां आवलिके असंख्यातवेभागादि निक्षेपसे सबध रखनेवाली एकआवलिप्रमाण अतिस्थापनाका प्रतिघात नही होता वहां निर्व्याघात-विपयक अतिस्थापना होती है, क्योकि उसप्रकारके निक्षेपके साथ-प्राप्त हुई एकआवलि-प्रमाण अतिस्थापनाका प्रतिघात यहा व्याघातरूपसे विवक्षित है।

---

१ ज. ध पु. ८ पृ २४८ से २५०।

२ अयं विशेषो यद् उदयावलिपरमाणूनामुत्कर्षणं कदापि न सम्भवति उदयावलि बहि: स्थितेष्वपि केषाचिदेव उत्कर्पण सम्भवति न सर्वेषाम् (ध. पु. ७ पृ. २४३)

३. ज. ध पु. ७ पृ. २४३।

शंका—इसप्रकारका व्याघात कहां नही होता ?

समाधान—जहां सत्कर्मसे ऊपर एकसमयाधिक आदिके क्रमसे स्थितिबन्ध वृद्धिको प्राप्त होता हुआ एकआवलिके असख्यातवेभागसे युक्त एकआवलि बढ़ जाता है वहासे लेकर उत्कृष्ट स्थितिबन्धके प्राप्त होनेतक सर्वत्र ही निर्व्याघातविषयक उत्कर्षण होता है[1] ।

व्याघातकी अपेक्षा उत्कर्षण—यदि सत्कर्मसे बन्ध एकसमयअधिक हो तो उसस्थितिमे अग्रस्थितिका उत्कर्षण नही होता, क्योकि वहां जघन्यअतिस्थापना और निक्षेप इन दोनोंका अभाव है । यदि सत्कर्मसे दो समयाधिक स्थितिका बन्ध होता है तो उस बन्धस्थितिमे भी पूर्व-विवक्षित सत्कर्मकी अग्रस्थितिका स्वभावसे ही उत्कर्षण नही होता । इसप्रकार तीनसमयाधिक आदिसे लेकर आवलिके असंख्यातवेभागतक बन्धकी वृद्धि हो जानेपर भी उत्कर्षण नही होता, क्योंकि यहां जघन्यअतिस्थापनाके होते हुए भी उससे सम्बन्ध रखनेवाला जघन्यनिक्षेप अभी भी नही पाया जाता और निक्षेप विषयक स्थितिके बिना उत्कर्षण नही हो सकता, जघन्यअतिस्थापनाके ऊपर फिर भी आवलिके असंख्यातवेभागप्रमाण बन्धकी वृद्धि होने पर जघन्यनिक्षेपका होना सम्भव है । यदि सत्कर्मसे जघन्यअतिस्थापना और जघन्यनिक्षेपप्रमाण स्थितिबन्ध अधिक हो तो सत्कर्मकी उस अग्रस्थितिका उत्कर्षण होता है, क्योकि यहांपर जघन्य-अतिस्थापना और जघन्यनिक्षेप अविकलरूपसे पाये जाते है[2] ।

तत्तोदित्थावणगं वड्ढदि जावावली तदुक्कस्सं ।
उवरीदो णिक्खेओ वरं तु बंधिय ट्ठिदि जेट्ठं ॥६२॥
बोलिय बंधावलियं ओक्कड्डिय उदयदो दु णिक्खिविय ।
उवरिमसमये विदियावलिपढमुक्कट्टणे जादे ॥६३॥
तक्कालवज्जमाणे वारट्ठिदीए अदित्थियावाहं ।
समयजुदावलियाबाहूणो उक्कस्सठिदिबंधो ॥६४॥

---

१. ज. ध. पु. ८ पृ. २५३ एवं ज. ध पु. ७ पृ. २४५ ।

२. ज. ध. पु. ८ पृ २५७-२५६ ।

अर्थ—उसके पश्चात् अतिस्थापना एक-एक समय बढ़ते हुए आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना हो जाती है, इसके पश्चात् निक्षेपआवलिके असख्यातवेभ ाग से उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त होनेतक बढता है। उत्कृष्टनिक्षेप–उत्कृष्टस्थितिको बाधकर बधावलि बीत जानेपर उस उत्कृष्टस्थितिके अन्तिमनिषेकसम्बन्धी द्रव्यका अपकर्षणकरके उदयादि निषेकोमे निक्षेपण किया अर्थात् दिया। अनन्तर अगले समयमे द्वितीयआवलि के प्रथमनिषेकका उत्कर्षण करनेके लिये उस अनन्तरसमयमें उत्कृष्टस्थितिस हित बंधनेवाले कर्मकी उत्कृष्ट आबाधाको अतिस्थापना कर प्रथमादि निषेकोमे निक्षेपण होता है, किन्तु अन्तके एक समयाधिक आवलिप्रमाण निषेकोमे निक्षेपण नही होता। अत एकसमयअधिक आवली और आबाधाकाल इन दोनोसे न्यून उत्कृष्टस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप है[1]।

विशेषार्थ—तदनन्तर एकसमयाधिक स्थितिबन्धके होनेपर निक्षेप उतना ही रहता है, किन्तु अतिस्थापना वृद्धिको प्राप्त होती है।

शका—ऐसा क्यो है ?

समाधान—क्योकि सर्वत्र अतिस्थापनाकी वृद्धिपूर्वक ही निक्षेपकी वृद्धि देखी जाती है।

शंका—किन्तु वह अतिस्थापनाकी उत्कृष्टवृद्धि कितनी होती है ?

समाधान—अतिस्थापनाके एक आवलिप्रमाण होनेतक उसकी वृद्धि होती रहती है। स्थितिबन्धकी वृद्धिके साथ वह जघन्यअतिस्थापना एक-एक समयाधिकके क्रमसे बढती हुई पूरी एक आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापनाके प्राप्त होनेतक बढती जाती है।

शंका—इससे आगे भी अतिस्थापना क्यों नही बढाई जाती है ?

समाधान—नही, क्योकि परमप्रकर्षको प्राप्त हो जानेपर फिर उसकी वृद्धि होनेमे विरोध आता है[2]।

उसके आगे उत्कृष्टनिक्षेपके प्राप्त होनेतक निक्षेपकी वृद्धि होती है। यहांपर पूर्वमे विवक्षित सत्कर्मकी अग्रस्थितिके उत्कृष्ट निक्षेपकी वृद्धि एक-एक समयअधिकके

---

१. ज. ध. पु ८ पृ २५९-२६१।
२. ज. ध. पु ८ प २६०।

क्रमसे होती हुई अतिस्थापनावलिसे अधिक जो अधस्तन अन्तःकोड़ाकोड़ी उससे हीन कर्मस्थितिप्रमाण होती है, किन्तु इतनी विशेषता है कि बन्धावलिके साथ अन्तःकोड़ाकोडीको कम करना चाहिए। यह आदेशसे उत्कृष्टवृद्धि है। फिर इससे नीचेकी सत्कर्मसम्बन्धी द्विचरमादि स्थितियोकी एक-एक समय अधिकके क्रमसे पश्चादानुपूर्वीकी अपेक्षा निक्षेपवृद्धि तबतक कहनी चाहिए जबतक वह ओघसे उत्कृष्टनिक्षेपको प्राप्त न हो जावे, किन्तु ओघकी अपेक्षा वह उत्कृष्टनिक्षेप होता है ऐसा निर्णय करनेके लिये कहते है।

शंका—उत्कृष्टनिक्षेप कितना है ?

समाधान—जो उत्कृष्टस्थितिका बन्ध करनेके बाद एकआवलिको बिताकर उस उत्कृष्टस्थितिका अपकर्षणकरके उदयावलिके बाहर दूसरी स्थितिमें निक्षेप करता है फिर तदनन्तर समयमे उदयावलिके बाहर अनन्तरवर्तीस्थितिको प्राप्त होगा कि इसस्थितिके कर्मद्रव्यका उत्कर्षणकरके उसका एकसमयाधिक एकआवलिसे कम अग्रस्थितिमे निक्षप करता है। यह उत्कृष्टनिक्षेप है[1]

स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

जिस सज्ञीपचेन्द्रियपर्याप्त जीवने साकारोपयोगसे उपयुक्त होकर जागृतावस्था के रहते हुए सर्वोत्कृष्ट सक्लेशके कारण उत्कृष्टदाहको प्राप्त होकर ७० कोडाकोडीसागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिका बन्ध किया। फिर बन्धावलिके व्यतीत हो जानेपर उस उत्कृष्टस्थितिका अपकर्षण करके उसे उदयावलिके बाहरकी प्रथमस्थितिके निषेकसे विशेषहीन दूसरी स्थितिमे निक्षिप्त किया। फिर तदनन्तर समयमें अनन्तरपूर्व समयवर्ती स्थितिका उदयावलिके भीतर प्रवेश करवाकर और उस दूसरी स्थितिको प्रथमस्थितिरूपसे स्थापित करके तदनन्तर समयमे विवक्षित स्थितिको उदयावलिके भीतर प्राप्त कराता, इसप्रकार स्थित होकर उसी समयमे, इससे पूर्व समयमें अपकर्षणको प्राप्त हुए प्रदेशाग्रका उत्कर्षणके वशसे उसी समय हुए नवीनबधसे सम्बन्ध रखनेवाली उत्कृष्टस्थितिमें निक्षेप किया। यहां इस निक्षेपको आबाधामे नवीनबन्धके परमाणुओका अभाव होनेसे उत्कृष्टआबाधाको अतिस्थापनारूपसे स्थापित करके आबाधाके बाहर प्रथमनिषेककी स्थितिसे लेकर एकसमयअधिक एकआवलिसे न्यून अग्रस्थितिके प्राप्त होनेतक

---

१. क. पा सुत्त पृ. ३१८ सूत्र ३६।

करता है, क्योकि इसके ऊपर शक्ति स्थिति नही है । जो जीव इसप्रकार निक्षेप करता है उसके उत्कृष्टनिक्षेप होता है । इस निक्षेपका प्रमाण समयाधिक आवलि और आबाधासे हीन उत्कृष्ट कर्मस्थितिप्रमाण उत्पन्न होता है[1] ।

अहवावलिगदवरठिदिपढमणिसेगे वरस्स बंधस्स ।
विदियणिसेगप्पहुदिसु णिक्खित्ते जेट्ठणिक्खेओ ॥६५॥

अर्थ—अथवा, आवलि व्यतीत हो जानेपर उत्कृष्टस्थिति के प्रथमनिषेकका द्रव्य बंधनेवाली उत्कृष्टस्थितिके द्वितीयादि निषेकमे निक्षेपण करनेपर उत्कृष्टनिक्षेप होता है[2] ।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट आबाधा और एकसमयाधिक एकआवलि इनसे न्यून जितनी उत्कृष्टकर्मस्थिति है उतना उत्कृष्ट निक्षेप है । अथवा, (इस "अथवा" शब्द से 'यहा आचार्यान्तर के मतानुसार निक्षेप का निरूपण किया गया है'; ऐसा ज्ञातव्य है) उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने के पश्चात् बन्धावली को बिताकर उसके प्रथम निषेक का उत्कर्षण किया । इस उत्कृष्यमाण निषेक के द्रव्य-का, इस उत्कर्षण क्रिया के समय बद्ध उत्कृष्टस्थितियुक्त समयप्रबद्ध के द्वितीयादि समस्त निषेको मे निक्षेपण किया; किन्तु चरम आवलीप्रमाण स्थिति मे निक्षेपण नही किया । ऐसा करने पर उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है और इस उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण एकसमयाधिकआवली और आबाधाकाल, (वर्तमान मे बद्ध समयप्रबद्धका) इन दोनोके योग से हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप होता है[2] ।

टिप्पण :—

१ ज ध पु. ८ पृ. २५६ से २६१ । क पा सुत्त पृ ३१८; ज. पु ७ पृ. २४६; ज. ध. पु. ८ पृ. २५६ ।

२. यहा उत्कर्षण के विधान मे इतना ज्ञातव्य है कि—१. उत्कर्षण बन्धके समय मे ही होता है । अर्थात् जब जिसकर्मका बन्ध हो रहा हो तभी उस कर्म के सत्ता मे स्थित कर्मपरमाणुओ का उत्कर्षण हो सकता है; अन्य का नही । उदाहरणार्थ—यदि कोई जीव साता प्रकृति का बन्ध कर रहा है तो उस समय सत्ता मे स्थित साता प्रकृति के कर्मपरमाणुओ का ही उत्कर्षण होगा, असाता के कर्म-परमाणुओ का नही । (ज ध. ७।२५१)

२. उदयावली के कर्म-परमाणुओ का उत्कर्षण नहीं होता। (ज. ध. ७।२४४ एवं २४०, २४१, २४२ आदि।)

३. बन्धे हुए कर्म अपने बन्ध समय से लेकर एक आवली काल तक तदवस्थ रहते है। (अर्थात् बन्धावली सकलकरणों के अयोग्य है।)

४. बधने वाले कर्म की अपने आबाधाकाल मे निषेकरचना नही पाई जाती। (ज.ध.७।२५१)

५. अतिस्थापना—कर्मपरमाणुओ का उत्कर्षण होते समय उनका अपने से ऊपर की जितनी स्थिति मे निक्षेप नही होता, वह "अतिस्थापना" स्थिति कहलाती है। अव्याघात दशा मे जघन्य अतिस्थापना एकआवलीप्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना, उत्कृष्ट आबाधाप्रमाण होती है, किन्तु व्याघातदशा मे जघन्य अतिस्थापना आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना एक समयकम आवली प्रमाण होती है। (ज. ध. ७।२५०)

६. निक्षेप—उत्कर्षण होकर कर्मपरमाणुओ का जिन स्थितिविकल्पो मे पतन होता है उनकी निक्षेप सज्ञा है। अव्याघात दशा मे जघन्य निक्षेप का प्रमाण एकसमय (क. पा. सु पृ. २१५) और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण उत्कृष्ट आबाधा और एक समयाधिक आवली; इन दोनो के योग से हीन ७० कोटाकोटीसागर है। व्याघात दशा मे जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण आवली के असख्यातवे भागप्रमाण है। (ल. सा. गा. ६१; ६२ एव ज. ध. पु ८ पृ २५३; ज. ध. ७।२४५)

७. बन्ध के समय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने पर अन्तिमनिषेक की सब की सब व्यक्तस्थिति होती है। इसका मतलब यह है कि अन्तिम निषेक की एकसमयमात्र भी शक्तिस्थिति नही पाई जाती। उपान्त्य निषेक की एक समयमात्र शक्तिस्थिति होती है और शेष स्थिति व्यक्त होती है। तथा त्रिचरम निषेक की दो समयमात्र शक्तिस्थिति होती है और शेषस्थिति व्यक्त होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक नीचे जाने पर शक्तिस्थिति का एक-एक समय बढता जाता है और व्यक्ति स्थिति का एक-एक समय घटता जाता है। इस क्रम से प्रथम निषेक की शक्तिस्थिति और व्यक्तिस्थिति का विचार करने पर व्यक्तस्थिति एक समय अधिक उत्कृष्ट आबाधाप्रमाण प्राप्त होती है और इस व्यक्तस्थिति को पूरी स्थिति मे से घटा देने पर जितनी शेष रहे उतनी शक्तिस्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह बन्ध के समय जैसी निषेक-रचना होती है उसके अनुसार विचार हुआ, किंतु उत्कर्षण से इसमे कुछ विशेषता आजाती है। यथा—उत्कर्षण द्वारा जिस निषेक की जितनी व्यक्तस्थिति बढ़ जाती है, उतनी उसकी शक्तिस्थिति घट जाती है। अपकर्षण करने पर जिस निषेक की जितनी व्यक्त स्थिति घट जाती है उतनी उसकी शक्ति स्थिति बढ जाती है। यह सब उत्कृष्टस्थितिबन्ध की अपेक्षा शक्तिस्थिति और व्यक्तिस्थिति का विचार है। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध न होने पर जितना स्थितिबन्ध कम हो उतनी अन्तिमनिषेक की शक्ति-स्थिति होती है और शेष निषेको की भी इसी अनुक्रमसे शक्तिस्थिति बढती जाती है। (जयधवल ७।२५०)

८ अपकर्षण के समय उत्कर्षण नही होता, उत्कर्षण के समय अपकर्षण नही होता। अब इन सभी (आठो) नियमो को ध्यान मे रखते हुए गाथा ६५ को समझने के लिए उदाहरण देते है। मानाकि आवली = ३ समय तथा विवक्षित कर्म का उत्कृष्टस्थितिबन्ध ४८ समय है तथा प्रारम्भ के १२ समय आबाधा के है; शेष ३६ समयो मे निषेकरचना हुई है, तो प्रथमनिषेक की १३ समय

स्थिति पड़ी। (क्योकि आबाधामे निषेक रचना नही होती नियम ४) बन्धावली (३ समय) के बीतने पर प्रथम निषेक (जिसकी कि बन्ध के समय शक्तिस्थिति तो ३५ समय तथा व्यक्तस्थिति १३ समय थी (ज. ध. ७।२५६) की व्यक्तस्थिति १० समय ही रहेगी। तब उस प्रथम निषेक का उत्कर्षण होने पर (नियम न० ३ से) उससमय बध्यमान उत्कृष्ट प्रबद्ध की उत्कृष्ट आबाधा १२ के बाद १३ वे निषेक मे भी निक्षेपरण सम्भव नही होगा; क्योकि विवक्षित उत्कृष्यमाण १० समयस्थितिक प्रथम निषेक से ३ समय स्थितिरूप अतिस्थापनावली छोडकर बादमे ही निक्षेप सम्भव होगा, अतः निक्षेप बध्यमान समयप्रबद्ध के १४ वे समय से होगा और यही चौदहवाँ समय उससमय बध्यमानप्रबद्ध का द्वितीयनिषेक का है (क्योकि आबाधा के बाद तेरहवा समय प्रथम निषेक का तथा चौदहवा समय द्वितीय निषेक का है। अतः उत्कर्षण के समय बध्यमान प्रबद्ध के द्वितीयनिषेक से उत्कर्षित द्रव्य का निक्षेपरण होगा तथा बध्यमान वर्तमानप्रबद्ध की अन्तिमआवली मे निक्षेप नही करता, क्योकि उन कर्मपरमाणुओ की उनमे निक्षेपकरने योग्य शक्ति-स्थिति नही पाई जाती। (नियम ७ देखो) (ज ध. ७।२४९) शेष कथन सुगम है। इसप्रकार द्वितीय निषेक से लगाकर सर्वत्र उत्कर्षितद्रव्य का निक्षेप होता है, मात्र चरमावली मे नही होता।

चित्र—
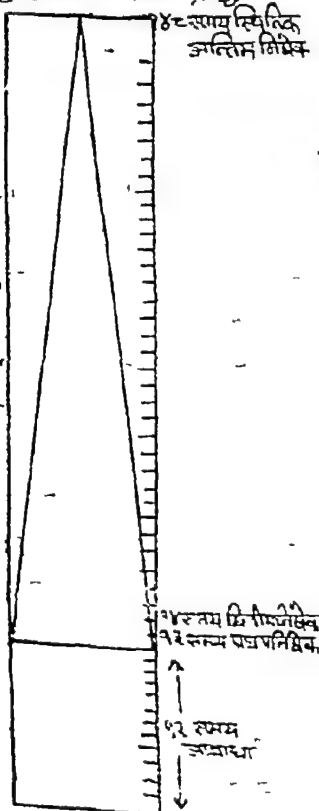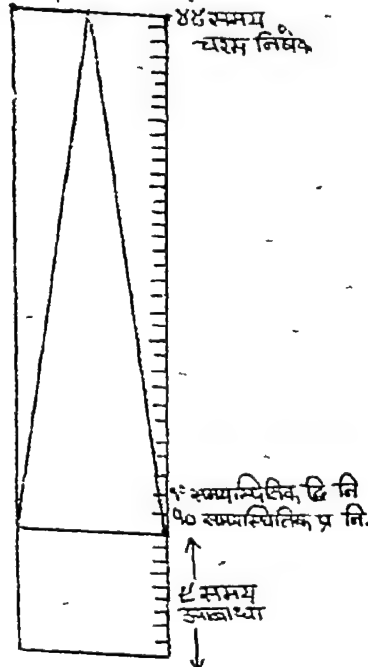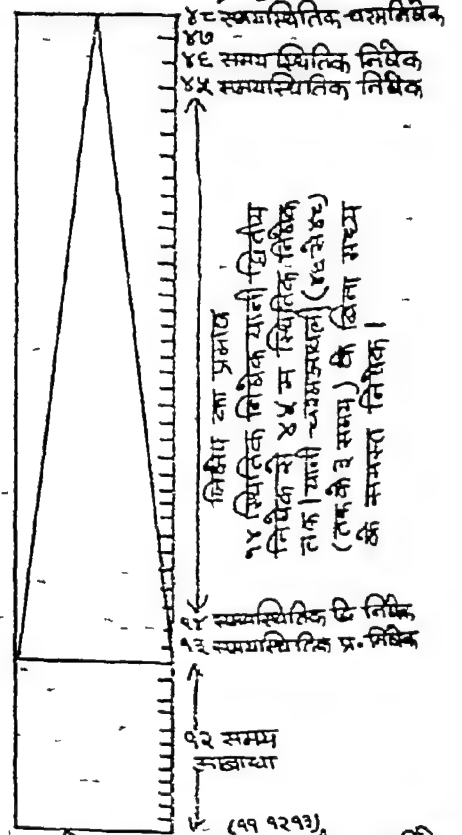
उक्कस्सट्ठिदिबंधे आबाहागा ससमयमावलियं।
ओदरियणिसेगेसुक्कड्डेसु अवरमावलियं ॥६६॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिका बन्ध होनेपर उस कर्मबन्धके आबाधाकालसम्बन्धी चरमसमयसे एकसमयअधिक आवलिकाल पूर्वतक जो उदय आने योग्य सत्कर्मनिषेक है, उनके द्रव्यका उत्कर्षण होनेपर आवलिप्रमाण जघन्यअतिस्थापना होती है।

विशेषार्थ—इस गाथासूत्रका यह भाव है कि जो स्थितिया बधती है, उनमें पूर्वबद्ध स्थितियोंका उत्कर्षण होता है और उत्कर्षणको प्राप्त हुई स्थितिकी एक-आवलिप्रमाण अतिस्थापना होती है जो निर्व्याघात उत्कर्षणकी जघन्यअतिस्थापना है। वह इसप्रकार है—७० कोड़ाकोडीसागरके बन्धयोग्य कर्मकी पूर्वमे अन्तःकोडाकोड़ी-सागरप्रमाण स्थितिका बन्ध हुआ। इसस्थितिके ऊपर बन्ध करनेवाले जीवके एक-समयअधिक, दो समयअधिक आदिके क्रमसे जबतक एकआवलि और एकआवलिके असख्यातवेभाग अधिक स्थितिका बन्ध नही होता, तबतक उसस्थितिके अन्तिमनिषेकका उत्कर्षण सम्भव नही है, क्योकि निर्व्याघातउत्कर्षणका प्रकरण है। इसलिये एक-आवलिप्रमाण अतिस्थापना और आवलिके असंख्यातवेभागप्रमाण जघन्यनिक्षेपके परिपूर्ण हो जानेपर ही निर्व्याघातविषयक उत्कर्षण प्रारम्भ होता है। इससे आगे आवलिप्रमाण अतिस्थापनाके अवस्थित रहते हुए अपने उत्कृष्टनिक्षेपकी प्राप्ति होनेतक निरन्तर क्रमसे निक्षेपकी वृद्धिका कथन करना चाहिए। इसीप्रकार अन्त.कोडाकोडी-सागरप्रमाण स्थितिके द्विचरमनिषेकका भी कथन करना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि पूर्वके निक्षेपस्थानोसे इसके निक्षेपस्थान एकसमयअधिक होते हैं। इसीप्रकार नीचेकी सर्वस्थितियोकी प्रत्येकस्थितिको विवक्षित करके प्ररूपणा करनी चाहिए। नवीन कर्मबन्धकी आबाधाके भीतर एकसमयअधिक आवलिप्रमाण नीचे जाकर जो पूर्व सत्कर्मकी स्थिति स्थित है, उसके प्राप्त होनेतक अतिस्थापना एकआवलिप्रमाण ही रहती है। इससे नीचेकी स्थितियोका उत्कर्षण होनेपर निक्षेप तो पूर्वके समान रहता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि उदयावलीके बाहरकी स्थितिके प्राप्त होनेतक इन स्थितियोकी अतिस्थापना एक-एकसमय बढती जाती है[1]।

---

१. ज. ध. पु. ८ पृ २५४-५५।

वह बढ़ती हुई कितनी होती है सो ही कहते हैं—

ओदरिय तदो बिदीयावलिपढमुक्कड्डणे वरं हेट्ठा ।
अइच्छावणमाबाहा समयजुदावलियपरिहीणा ॥६७॥

अर्थ—वहासे उतरकर सत्कर्मसम्बन्धी द्वितीयावलिके प्रथमनिषेक (जो वर्तमानसमयसे आवलिकालके बाद उदयमे आवेगा) का उत्कर्षण होनेपर अधस्तन समयाधिकआवलिसे हीन आबाधाकालप्रमाण उत्कृष्ट-अतिस्थापना होती है।

विशेषार्थ—पूर्वके सत्कर्मसम्बन्धी उदयावलिके निषेकोका उत्कर्षण सम्भव नही है। उदयावलिसे बाह्य-अनन्तर प्रथमनिषेकका उत्कर्षण होनेपर वर्तमान उत्कृष्ट-स्थितिवाले कर्मबन्धकी उत्कृष्टआबाधाके बाहर स्थित निषेकोमे उत्कर्षितप्रदेशोका निक्षेपण होता है। आबाधाकाल अतिस्थापना होती है। वर्तमानसमयमे बंध होनेसे आबाधाकाल वर्तमान समयसे प्रारम्भ हो जाता, किन्तु जिसनिषेकका उत्कर्षण हुआ है, वह वर्तमानसमयसे एकआवलिके ऊपर स्थित है अत आबाधाकालमे से एकआवलि और एकसमय (उत्कर्षण होनेवाले निषेकसम्बन्धी) कम करनेपर उत्कृष्ट अतिस्थापना होती है।

उदाहरण—उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण ४८ समय, उत्कृष्टआबाधा १२ समय, आवलिका प्रमाण ४ समय, वर्तमानमे ४८ समय उत्कृष्टस्थितिवाले कर्मका बन्ध हुआ है। वर्तमानसमयसे १२ समयवाली उत्कृष्टआबाधा प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु जिस निषेकका उत्कर्षण हुआ है वह उदयावलि (४ समय) से बाहरका प्रथमनिषेक अर्थात् वर्तमानसे पाचवा निषेक है, अत आबाधाकाल (१२ समय) मे से पाचसमय कम करनेपर (१२-५) ७ समय उत्कृष्ट-अतिस्थापना है[1]।

अब प्रकरण प्राप्त गुणश्रेणिनिर्जराका कथन करते हैं—

उदयाणमावलिम्हि य उभयाणं बाहरम्मि खिवणट्ठं ।
लोयाणमसंखेज्जो कमसो उक्कड्डणो हारो ॥६८॥
ओक्कड्डिदइगिभागे पल्लासंखेण भाजिदे तत्थ ।
बहुभागमिदं दव्वं उव्वरिल्लठिदीसु णिक्खिवदि ॥६९॥

---

1 ज ध. पु ८ पृ २५६।

सेसगभागे भजिदे असंखलोगेण तत्थ बहुभागं ।
गुणसेढीए सिंचदि सेसेगं च उदयम्हि ॥७०॥
उदयावलिस्स दव्वं आवलिभजिदे दु होदि मज्झधणं ।
रूऊणद्धाणद्धेणूणेण णिसेयहारेण ॥७१॥
मज्झिमधणमवहरिदे पचयं पचयं णिसेयहारेण ।
गुणिदे आदिणिसेयं विसेसहीणे कमं तत्तो ॥७२॥
ओक्कड्डिदम्हि देदि हु असंखसमयप्पबद्धमादिम्हि ।
संखातीदगुणक्कममसंखहीणं विसेसहीणकमं ॥७३॥

अर्थ—उदयवान प्रकृतियोका उदयावलिमे क्षेपण करनेके लिए तथा उदय व अनुदयरूप दोनो प्रकारकी प्रकृतियोका उदयावलिसे बाहर क्षेपण करनेके लिए भागहार क्रमश असख्यातलोक व अपकर्षणभागाहारप्रमाण है । एकभागप्रमाण अपकर्षितद्रव्य को पल्यके असख्यातवेभागसे भाजित करनेपर बहुभाग उपरितन स्थितियोमे दिया जाता है । शेष एकभावको असख्यातलोकसे भाजित करनेपर बहुभाग गुणश्रेणिमे दिया जाता है और शेष एकभाग उदयावलिमे दिया जाता है । उदयावलिमे दिये जाने वाले द्रव्यको आवलिसे भाजित करनेपर मध्यधन होता है । एककम अद्ध्वानके आधे को निपेकभागहारमे से घटानेपर जो शेष रहे उसका मध्यमधनमे भाग देनेपर चयका प्रमाण प्राप्त होता है । चयको निषेकभागाहारसे गुणा करनेपर प्रथमनिषेक प्राप्त होता है, उससे ऊपरके निषेक चयहीन-चयहीन क्रमसे है । अपकर्षितद्रव्यमे से गुणश्रेणिके प्रथमनिषेकमे असख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण द्रव्य देता है आगे गुणश्रेणिशीर्षतक असख्यात-गुणित क्रमसे देता है, अनन्तर असंख्यातगुणे हीन और उससे आगे क्रमसे चयहीन द्रव्य देता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें डेढगुणहानिप्रमाण समयप्रबद्धोको अर्थात् सत्त्वद्रव्यको अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे भाजितकर वह लब्धरूपसे प्राप्त एक-खण्डप्रमाण द्रव्यका अपकर्षणकरके उस एकभागप्रमाण अपकर्षितद्रव्यमे पल्यके असंख्यातवेभागसे भाग देनेपर एकभागप्रमाण द्रव्यको असख्यातलोकसे भाजितकर जो एकभागरूप द्रव्य प्राप्त हो उसे उदयावलिके भीतर गोपुच्छाकार रूपसे निक्षिप्त किया

जाता है अर्थात् चयहीन क्रमसे दिया जाता है। उसका विधान इसप्रकार है—उदयावलि प्रमाण द्रव्य (३२००) को आवलिरूप गच्छ (८) से भाजित करनेपर मध्यम धन (३२००÷८=४००) प्राप्त होता है। एकएक अद्ध्वान (८–१=७) के आधे (७/२) को निषेक भागाहार (८×२=१६) में से घटानेपर जो शेष (१६–७/२=२५/२) का भाग मध्यमधनमे देनेपर चयका प्रमाण (४००÷२५/२=३२) प्राप्त होता है। इस चय (३२) को निषेकभागाहार (१६) से गुणा करनेपर प्रथमनिषेक (३२×१६=५१२) हो जाता है। इस प्रथमनिषेक (५१२) से ऊपरके निषेक (४८०–४४८–४१६–३८४–३५२–३२०–२८८) चय (३२) हीनक्रमसे हैं (५१२–३२=४८०, ४८०–३२=४४८ इत्यादि)। पुन: बहुभागप्रमाण (असख्यातलोक बहुभाग) द्रव्यको उदयावलिसे बाहर गुणश्रेणिमे देता है। इसमें से उदयावलिसे बाह्य अनन्तरस्थितिमे असख्यात समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यको निक्षिप्त करता है तथा उससे उपरिमस्थितिमे असख्यातगुणे द्रव्यको देता है। इसप्रकार अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे विशेप अधिककालमे गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होनेतक उत्तरोत्तर असख्यातगुणित श्रेणिरूपसे निक्षिप्त करता है। इसप्रकार पल्यके असंख्यातवेभागसे भाजित अपकर्षितद्रव्यके एकभाग द्रव्यका विभाजन हुआ। शेष बहुभागको गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिमनिषेकोमे देता है। गुणश्रेणिशीर्षकी उपरिम अनन्तरस्थितिमे असंख्यातगुणा हीनद्रव्य देता है, उसके पश्चात् अतिस्थापनावलिको प्राप्त न होता हुआ उससे पूर्वकी अन्तिमस्थितिपर्यन्त क्रमसे विशेष (चय) हीन द्रव्यका निक्षेप होता है[1]। गुणश्रेणिके प्रथमसमयकी एकशलाका, इससे असख्यातगुणी द्वितीयसमयवर्ती शलाका, इससे भी असख्यातगुणी तृतीयसमयकी शलाका इसप्रकार गुणश्रेणिके अन्ततक प्रतिसमय शलाका असंख्यातगुणित क्रम लिये हुए है। सर्वसमयसम्बन्धी शलाकाओंका जोड देकर जो प्राप्त हो उससे गुणश्रेणीके लिये अपकर्षितद्रव्यको भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उसको अपनी-अपनी शलाकाओसे गुणा करनेपर अपने-अपने निषेकके निक्षिप्तद्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है। पुन. गुणश्रेणिसे उपरिमस्थितियोंके लिए अपकर्षितद्रव्यको कुछ अधिक डेढगुणहानिसे भाजित करनेपर गुणश्रेणिसे उपरिम प्रथमनिषेकमें निक्षिप्तद्रव्यका प्रमाण प्राप्त होता है जो गुणश्रेणिके अन्तिमनिपेकमें निक्षिप्त द्रव्यका

---

१. ज ध पु १२ पृ २६५।

असंख्यातवाभाग है। इससे द्वितीयादि निषेकोमें क्रमसे चयहीन द्रव्य दिया जाता है। प्रत्येक गुणहानिमे दीयमान द्रव्य आधा-आधा होता जाता है।

पडिसमयमोक्कड्डदि असंखगुणिदक्कमेण सिंचदि य।
इदि गुणसेढीकरणं आउगवज्जाण कम्माणं ॥७४॥

अर्थ—प्रतिसमय असंख्यातगुणित क्रमसे द्रव्यका अपकर्षण करके सिचन करता है। आयुके बिना शेष कर्मोंकी इसप्रकार गुणश्रेणि करता है[1]।

विशेषार्थ—उपरितन द्वितीयादि सर्वसमयोमे की जानेवाली गुणश्रेणिसंबधी प्रथमसमयके विधानानुसार कथन करना चाहिए, विशेषता केवल यह है कि प्रथम-समयमे अपकर्षित किये गये प्रदेशाग्रसे द्वितीयसमयमे असख्यातगुणित प्रदेशाग्रको अप-कर्षित करता है, द्वितीयसमयके प्रदेशाग्रसे तृतीयसमयमे असख्यातगुणित प्रदेशाग्र अपकर्षित करता है। इसप्रकार यह क्रम सर्वसमयोमे जानना चाहिए। प्रथमसमयमें दिये जानेवाले प्रदेशाग्रसे द्वितीयसमयमे स्थितिके प्रति दिये जानेवाला प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है। इसप्रकार सर्वसमयोमे दिये जानेवाले प्रदेशाग्रका यही क्रम कहना चाहिए[2]। इतनी और विशेषता है कि प्रतिसमय गलित होनेसे जो काल शेष रहे उसके आयामके अनुसार अपकर्षितद्रव्य निक्षिप्त करता है[3]।

अथानन्तर दो गाथाओंमें गुणसंक्रमणका कथन किया जाता है—

पडिसमयमसंखगुणं दव्वं संकमदि अप्पसत्थाणं।
बंधुज्झियपयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु ॥७५॥
एवंविह संकमणं पढमकसायाण मिच्छमिस्साणं।
संजोजणखवणाए इदरेसिं उभयसेढिम्मि ॥७६॥

अर्थ—प्रतिसमय बन्धरहित अप्रशस्तप्रकृतियोका द्रव्य असख्यातगुणित क्रमसे वध्यमान स्वजाति प्रकृतियोंमें संक्रमण करता है। प्रथमअनन्तानुबन्धीकषायका ऐसा

---

१. किमट्ठमाउगस्स गुणसेढिणिक्खेओ णत्थि त्ति चे ? ण सहावदो चेव। तत्थ गुणसेढिणिक्खेव-पउत्तीए असंभवादो। (ज. ध. पु. १२ पृ. २६४; क. पा. सु. पृ. ६२५)

२. ध. पु. ६ पृ २२७।

३. ज. ध पु. १२ पृ. २६५।

गुणसंक्रमण विसंयोजनाके कालमे होता है। मिथ्यात्व[1] व सम्यग्मिथ्यात्व[2] का गुण-संक्रमण दर्शनमोहनीयकर्मकी क्षपणामे होता है। शेष अप्रशस्तप्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपकश्रेणियोमे होता है।

विशेषार्थ—गाथा ७५ व क्षपणासार की गाथा (६–४००) शब्दश. एक ही हैं। गाथा ७५ प्रथमोपशमसम्यक्त्वके प्रकरणमे आई है और गाथा ४०० का सम्बन्ध चारित्रमोहकी क्षपणासे है। वन्धरहित अप्रशस्तप्रकृतियोंके द्रव्यका प्रतिसमय असंख्यात-गुणित क्रमसे सक्रमण होना गुणसक्रमण है। प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके गुणसक्रमण नही होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभका गुणसक्रमण तो अनन्तानुवन्धीकषायकी विसयोजना करनेवाले जीवके होता है। मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोका गुणसंक्रमण इनकी ही क्षपणाके समय होता है। अन्य अवद्धचमान अप्रशस्तप्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपक इन दोनो श्रेणियोमें होता है[3]। प्रशस्त व अप्रशस्तरूप उद्वेलनप्रकृतियोंको उद्वेलनके अन्तिमकाडकमें गुणसक्रमण होता है।

अब स्थितिकाण्डकका स्वरूप कहते हैं—

पढमं अवरवरट्ठिदिखंडं पल्लस्स संखभागं तु ।
सायरपुधत्तमेत्तं इदि संखसहस्सखंडाणि ॥७७॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिखण्ड आयामका प्रमाण जघन्यसे तो पल्यका सख्यातवाभाग और उत्कृष्टसे पृथक्त्वसागरप्रमाण है। अपूर्वकरणमे संख्यातहजार स्थितिखण्ड होते हैं।

विशेषार्थ—अध प्रवृत्तकरणके कालको व्यतीतकर अपूर्वकरणमें प्रविष्ट हुआ जीव प्रथमसमयमे ही स्थितिकांडक और अनुभागकाडकघात प्रारम्भ करता है, क्योकि अपूर्वकरणकी विशुद्धिसे युक्त परिणामोमे इन दोनोके घात करनेकी हेतुता है।

१. प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक उपशम सम्यक्त्वीके मिथ्यात्वका गुणसंक्रमण होता है। (ध पु १६ पृ ४१५; ज ध पु १२ पृ. २८४)
२ मिथ्यात्व को प्राप्त सम्यक्त्वीके ...... अन्तिम काण्डकमे द्विचरम फाली तक गुणसक्रमण होता है। (ध. पु १६ पृ ४१६) टिप्पण नं० १-२ मे कथित कार्य (गुणसक्रम) क्षपणामे तो होते ही हैं। (ध पु १६ पृ ४१५-१६)
३ ध पु १६ पृ ४०६ एव गो. क. गा. ४१६।

शंका—अपूर्वकरणमें प्रथमस्थितिकांडकका प्रमाण एकप्रकारका है या उसमें जघन्य व उत्कृष्ट भेद भी सम्भव है ?

समाधान—जघन्यरूपसे पल्यके संख्यातवेभाग आयामवाला होता है, क्योंकि दर्शनमोहनीयकी उपशामनाके योग्य सबसे जघन्य अन्त:कोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थितिसत्कर्म से आये हुए जीवके प्रथमस्थितिकाण्डकका आयाम पल्योपमका संख्यातवाभाग पाया जाता है, किन्तु उत्कृष्टरूपसे सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण आयामवाला प्रथमस्थितिकांडक होता है, क्योकि पूर्वके जघन्यस्थिति सत्कर्मसे सख्यातगुणे स्थिति सत्कर्मके साथ आकर अपूर्वकरणमें प्रविष्ट हुए जीवके उसकी उपलब्धि होती है।

शका—दोनो जीवोंके ही विशुद्धिरूप परिणामोंके समान होनेपर घात करने से शेष रहे स्थितिसत्कर्मोमे इसप्रकारकी विसदृशता क्यो होतो है ?

समाधान—ऐसी आशका नही करना चाहिए, क्योकि संसारावस्थाके योग्य अध:करणविशुद्धियां सभी जीवोमे समान होती है, ऐसा कोई नियम नही है[1]।

आगे स्थितिकाण्डकघातकी विशेषताएं कहते हैं—

आउगवज्जाणं ठिदिघादो पढमादु चरिमठिदिसत्तो।
ठिदिबंधो य अपुव्वो होदि हु संखेज्जगुणहीणो ॥७८॥

अर्थ—आयुकर्मको छोड़कर शेषकर्मोका स्थितिघात होता है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयके स्थितिसत्त्व और स्थितिबन्धसे चरमसमयमे अपूर्व स्थितिसत्त्व तथा स्थितिबन्ध सख्यातगुणाहीन होता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणमे सख्यातहजार स्थितिकाडक होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम स्थितिकांडक से दूसरा स्थितिकांडक सख्यातवांभागहीन है। इसप्रकार अन्तिम स्थितिकाडकके प्राप्त होने तक पूर्व-पूर्वके स्थितिकाडकसे आगे-आगे का स्थितिकाडक विशेष-विशेषहीन होता जाता है[2]। अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिसत्कर्म से अन्तिमसमयवर्ती स्थिति सत्कर्म सख्यातगुणा होन है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम-समयमे जो पूर्वकी अन्त कोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण स्थिति है उसके संख्यातबहुभाग-

---

१ ज ध.पु १२ पृ २६०।

२. ज.ध.पु १२ पृ. २६८।

प्रमाण स्थितिका अपूर्वकरण-विशुद्धि-निमित्तक सहस्रों स्थितिकांडकोके द्वारा घात होने पर उसके अन्तिमसमयमे सख्यातवेभागमात्र ही स्थितिकर्म शेष रहता है। अव अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर चरमसमयतक जितने सागरोपम स्थितियोका घात हुआ है वह सव त्रैराशिकके द्वारा प्राप्त हो जाता है। तत्प्रायोग्य सख्यात संख्या प्रमाण स्थितिकाडकोका यदि एक-पल्योपम प्राप्त होता है तो इनसे संख्यातहजारकोटिगुणे स्थितिकाण्डकोमे कितने पल्योपम प्राप्त होगे ? इसप्रकार त्रैराशिकसे स्थितिकाण्डक स्थितिकाण्डकके सदृश है अत· उनका अपनयन करके अधस्तन सख्यात सख्यासे उपरितन सख्यात सख्याको भाजित करनेसे जो लब्ध आवे उससे पल्योपमको गुणा करनेपर स्थितिकाण्डकसम्बन्धी गुणाकारके माहात्म्यसे सख्यातकोड़ाकोड़ीप्रमाण पल्योपम प्राप्त होते है। पुन इन सख्यातकोडाकोडी पल्योपमोको त्रैराशिकविधिसे सागरोपमप्रमाणसे करनेपर सख्यातकोटिप्रमाण सागर होते हैं। इतने होते हुए भी अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे विवक्षित अन्त.कोडाकोडीके सख्यातबहुभागप्रमाण होते हैं, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा अपूर्वकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिसत्कर्मसे अतिमसमयका स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणाहीन नही बन सकता। स्थितिवन्धापसरणके विषयमे भी इसीप्रकारकी योजना करनी चाहिए[1]।

अब अनुभागकाण्डकघातका कथन करते हैं—

एक्केक्कट्ठिदिखंडयणिवडणठिदिबंधओसरणकाले ।
संखेज्जसहस्साणि य णिवडंति रसस्स खंडाणि ॥७६॥

अर्थ—एक स्थितिकाण्डकके पतनकालमे अथवा एक स्थितिवन्धापसरणकालमे संख्यातहजार अनुभागकाडकोंका पतन होता है[2]।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणमे प्रथम स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल और प्रथम स्थितिवन्धका काल अर्थात् स्थितिबन्धापसरणकाल अन्तर्मुहूर्त होकर परस्पर तुल्य होते हैं। इसीप्रकार द्वितीयादि स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धापसरण (स्थितिबन्ध) काल परस्पर तुल्य हैं। एक स्थितिकाडक में हजारो अनुभागकाण्डकोंका घात होता है, क्योकि स्थितिकाडकोत्कीरणकाल से अनुभाग काण्डकोत्कीरण काल सख्यात-

---

१. ज ध पु. १२ पृ. २६६-७०।
२. क पा सुत्त पृ ६२५।

गुणा हीन होता है। एक अनुभागकाण्डकोत्कीरणकालका स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालमे भाग देनेपर सख्यातहजार सख्या प्राप्त होती है। पुनः इस सख्याका विरलनकर प्रथम-स्थितिकाण्डकोत्कीरण कालके समान खण्ड करके प्रत्येक विरलन अङ्क के प्रति देयरूप से देने पर वहां एक-एक अकके प्रति अनुभागकाडकके उत्कीरणकालका प्रमाण प्राप्त होता है, पुन यहा पर एक अङ्कके प्रति जो प्राप्त हुआ उसका विरलन कर पृथक् स्थापित करना चाहिये। अब इसप्रकार का जो पृथक् विरलन स्थापित किया उसके प्रथम समयमे पल्योपमके सख्यातवेभाग प्रमाण आयामवाले प्रथम स्थितिकाडककी प्रथमफालिका पतन होता हैं। अनुभागकाडककी भी जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक विरचित स्पर्धको की अनन्त बहुभागप्रमाण प्रथम फालि का वही पर पतन होता है। पृथक् स्थापित हुए उसी विरलनके दूसरे समय मे उसी विधि से स्थितिकाडक की दूसरी फालिका तथा अनुभागकाडक की दूसरी फालि का पतन होता है। इसप्रकार पुन. पुनः उन दोनो को ग्रहण करनेसे पूर्वोक्त विरलनके एक-एक अक प्रति समयका जितना प्रमाण प्राप्त हुआ था, तत्प्रमाण फालियो का पतन होने पर प्रथम अनुभाग-काडक समाप्त हो जाता है, किन्तु प्रथमस्थितिकाडक अभी भी समाप्त नही हुआ, क्योकि उसके उत्कीरणकालका सख्यातवाभाग ही व्यतीत हुआ है। पुन इसी विधि से शेष विरलनो के प्रति प्राप्त सख्यातहजार अनुभागकांडकोका घात करने पर उस समय अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथम स्थितिबन्ध (प्रथमस्थितिबन्धापसरण), प्रथमस्थिति-काडक और यहा तक के सख्यातहजार अनुभागकाडक ये तीनो ही एक साथ समाप्त होते है। इसप्रकार एकस्थितिकाडक के भीतर हजारो अनुभागकाडकघात होते है यह सिद्ध हुआ[1]।

स्थितिकाडक की चरमफालि के पतनकाल मे ही सर्वत्र स्थितिबन्ध समाप्त हो जाता है, क्योकि स्थितिकाडकोत्कीरणकाल के साथ स्थितिबन्धका काल समान होता है उसी समयमे तत्सम्बन्धी अन्तिम अनुभागकाडक की अन्तिमफालि भी नष्ट होती है, क्योकि अनुभागकाडकोत्कीरणकाल से अपवर्तन किये गये स्थितिवन्ध के काल मे विकलरूपता नही हो सकती[2]।

---

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६६-२६८।

२ ध. पु ६ पृ. २२९।

अब शुभ-अशुभप्रकृतियों में अनुभागकाण्डकघातका निषेध-विधिरूप कथन करते हैं—

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा[1] रसस्स खंडाणि ।
सुहपयडीणं णियमा णत्थि त्ति रसस्स खण्डाणि ॥८०॥

अर्थ—अप्रशस्त प्रकृतियोके अनन्तबहुभागका घात होता है। प्रशस्त प्रकृतियो के अनुभाग का घात नियम से नही होता।

विशेषार्थ—अप्रशस्तप्रकृतियो के तत्कालभावी द्विस्थानीय अनुभागसत्त्व को अनन्तका भाग देने पर एक भाग तो अवशेष रहता है और शेप वहुभाग अनुभागकाडक द्वारा घाता जाता है। अवशेष रहे अनुभागको अनन्तका भाग देने पर वहुभाग अनुभागका घात होता है और एक भाग शेष रह जाता है, क्योकि करण परिणामो के द्वारा अनन्त बहुभाग अनुभाग घाते जानेवाले अनुभागकाडकके शेष विकल्पो का होना असम्भव है। प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभागकाडकघात नियम से नही होता, क्योकि विशुद्धिके कारण प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग, वृद्धिको छोड़कर उसका घात नही वन सकता[2]। एक-एक अन्तर्मुहूर्त मे एक-एक अनुभागकाडक होता है। एक अनुभाग-काडकोत्कीरण काल के प्रत्येक समयमे एक-एक फालिका पतन होता है।

अनुभागगतस्पर्धक आदिका अल्पबहुत्व कहते हैं—

रसगदपदेसगुणहाणिट्ठाणगफड्डयाणि थोवाणि ।
अइत्थावणणिक्खेवे रसखंडेणंतगुणिदकमा ॥८१॥

अर्थ—अनुभागसम्बन्धी एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तरमे स्पर्धक स्तोक है। उनसे अतिस्थापना अनन्तगुणी है, उससे निक्षेप अनन्तगुणा और उससे अनन्तगुणा अनुभागकाडक है।

विशेषार्थ—अनुभागविषयक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर के भीतर जो स्पर्द्धक हैं वे अभव्यो से अनन्तगुणे और सिद्धो के अनन्तवेभागप्रमाण होकर आगे कहे जाने वाले पदो की अपेक्षा स्तोक है। अनुभागसम्बन्धी स्पर्धको का अपकर्षण करते हुए

---

१ क पा. सुत्त पृ. ६२५।
२. ज ध पु १२ पृ २६१ से २६३; ध. पु ६ पृ २०६; ध पु १२ पृ १८ एव ३५ आदि।

जितने अनुभाग-स्पर्धको को जघन्यरूपसे अतिस्थापित कर उनसे नीचे के स्पर्धकरूप से अपकर्षित करता है वे जघन्य अतिस्थापना विषयक स्पर्धक एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तर के स्पर्धको से अनन्तगुणे होते है, क्योंकि जघन्य अतिस्थापना के भीतर अनन्त प्रदेश-गुणहानि स्थानान्तरोंका अस्तित्व पाया जाता है। जघन्य अतिस्थापना स्पर्धको को छोडकर नीचे के शेष सर्व स्पर्धकोका निक्षेपरूपसे ग्रहण करने पर वे निक्षेप-स्पर्धक जघन्य अतिस्थापना सम्बन्धी स्पर्धकोसे अनन्तगुणे होते है। अपूर्वकरणके प्रथम अनुभागकाण्डकमे काण्डकरूपसे जो स्पर्धक ग्रहण किये गये वे निक्षेपसम्बन्धी स्पर्धको से अनन्तगुणे होते है, क्योकि अपूर्वकरण के प्रथम समयमे द्विस्थानीय अनुभागसत्कर्म के अनन्तवे भागको छोडकर शेष अनन्त बहुभागको काडकरूप से ग्रहण किया है[1]।

अब प्रशस्त-अप्रशस्तप्रकृतिसम्बन्धी अनुभाग विशेषका कथन करते हैं—

[2]पढमापुव्वरसादो चरिमे समये पसत्थइदराणं।
रससत्तमणंतगुणं अणंतगुणहीणयं होदि ॥८२॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समय सम्बन्धी प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियो का जो अनुभाग सत्त्व है उससे अपूर्वकरण के चरम समय मे प्रशस्तप्रकृतियो का अनुभाग तो अनन्तगुणा बढता हुआ तथा अप्रशस्त प्रकृतियो का अनन्तगुणा हीन होता हुआ अनुभाग सत्त्व है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियो का अनन्तगुणा बढता अनुभाग सत्त्व है तथा अनुभागकाण्डकघात के माहात्म्य से अप्रशस्तप्रकृतियों का अनन्तवा भाग अनुभाग सत्व चरमसमय मे होता है।

अब अनिवृत्तिकरण परिणामोंका स्वरूप और उसका कार्य कहते हैं—

[3]बिदियं व तदियकरणं पडिसमयं एक्क एक्क परिणामो।
अण्णं ठिदिरसखंडे अण्णं ठिदिबंधमाणुवई ॥८३॥

---

१. ज. ध. पु १२ पृ. २६२-६३।

२. ध. पु. ६ पृ २२६।

३ ध पु. ६ पृ २२६-३०। ज. ध. पु. १२ पृ. २७१।

अर्थ—दूसरे करण (अपूर्वकरण) के समान ही तृतीयकरण (अनिवृत्तिकरण) होता है, किन्तु प्रतिसमय एक-एक परिणाम होता है। अन्य स्थितिकाडक, अन्य अनुभागकाडक और अन्य स्थितिवन्ध को प्रारम्भ करता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण मे भी स्थितिकाडकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिवन्धापसरण, गुणश्रेणी ये सभी क्रिया अपूर्वकरणवत् होती है, किन्तु इनका प्रमाण अन्य होता है। अपूर्वकरण मे प्रत्येक समयके परिणाम असख्यातलोक प्रमाण होते है, किन्तु अनिवृत्तिकरणमे प्रत्येक समयमे नानाजीवो के एक सा ही परिणाम होता है। नानाजीवो के परिणामो मे निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद जिसमे नही है वह अनिवृत्तिकरण है[1]।

अनिवृत्तिकरण मे प्रविष्ट होनेके प्रथम समय से ही अपूर्वकरण के अन्तिम स्थितिकाडक से विशेष हीन अन्य स्थितिकाडक को आरम्भ करता है। पूर्व के स्थिति-वन्ध से पल्योपम के सख्यातवेभागप्रमाण हीन स्थितिवन्ध भी वही पर आरम्भ करता है तथा घात करने से शेष रहे अनुभागके अनन्त बहुभागप्रमाण काण्डकको भी वही पर ग्रहण करता है, किन्तु गुणश्रेणिनिक्षेप पूर्वका ही रहता है जो अध स्तनस्थितियो के गलने पर जितना शेष रहे उतना होता है तथा प्रतिसमय असख्यातगुणे प्रदेशो के विन्यास से विशेषता को लिए हुए होता है। शेष विधि भी पूर्वोक्त ही जाननी चाहिए[2]।

अव अनिवृत्तिकरणकालमें विशेष कार्यका कथन करते हैं—

संखेज्जदिमे सेसे दंसणमोहस्स अंतरं कुणई।
अण्णं ठिदिरसखंडं अण्णं ठिदिबंधणं तत्थ ॥८४॥

अर्थ—(अनिवृत्तिकरणकाल का) सख्यातवाभाग शेष रह जाने पर दर्शन-मोहनीयकर्मका अन्तर करता है। वहा पर अन्यस्थितिकाण्डक अन्य अनुभागकाण्डक और अन्य ही स्थितिवन्ध होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार अनन्तर पूर्व कही गई विधि के अनुसार जो प्रत्येक स्थितिकाण्डक हजारो अनुभाग काण्डको का अविनाभावी है, ऐसे बहुत हजार स्थिति-

---

१. ध पु. ६ पृ १८३ एवं क पा. सुत्त पृ ६२४, ज. ध. पु १२ पृ २५६।
२. ज. ध. पु १२ पृ. २७१।

काण्डकों के द्वारा अनिवृत्तिकरणकाल के सख्यात बहुभाग को बिताकर संख्यातवे भागप्रमाण काल शेष रहने पर अन्तरकरण का आरम्भ करता है।

शका—अन्तरकरण किसे कहते है ?

समाधान—विवक्षित कर्मो की अधस्तन और उपरिम स्थितियो को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियो के निषेको का परिणाम विशेष के कारण अभाव करने को अन्तरकरण कहते है[1]।

उस समय पूर्व स्थितिकाडक से अन्यस्थितिकांडक, पूर्व अनुभागकाण्डक से अन्य अनुभागकाण्डक, पूर्व स्थितिबन्ध से अन्य स्थितिबन्ध को प्रारम्भ करता है।

अथानन्तर अन्तरकरण में लगने वाले कालका परिमाण कहते हैं—

एयट्ठिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरस्स णिप्पत्ती।
अंतोमुहुत्तमेत्तं अंतरकरणस्स अद्धाणं ॥८५॥

अर्थ—एक स्थितिकाडकोत्कीरणकाल के द्वारा अन्तरकी निष्पत्ति होती है। अन्तरकरणका अध्वान अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

विशेषार्थ—अन्तर करनेवाला कितने काल के द्वारा अन्तर करता है ? जो उस समय स्थितिबन्ध का काल है अथवा स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल है उतने काल के द्वारा अन्तर करता है। इस वचन के द्वारा यह बतलाया गया है कि एक समय द्वारा अथवा दो या तीन समयों द्वारा इसप्रकार संख्यात और असख्यात समयो द्वारा अन्तरकरण विधि समाप्त नही होती, किन्तु अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा ही यह विधि समाप्त होती है[2]।

अन्तरकरण के प्रारम्भ के समकालभावी स्थितिबन्धके कालप्रमाण द्वारा प्रत्येक समयमे अन्तर सम्बन्धी स्थितियोका फालीरूपसे उत्कीरण करने वाले जीव ने क्रमसे किया जाने वाला अन्तर, अन्तरकरणके काल सम्बन्धी अन्तिम समय मे अन्तर सम्बन्धी अन्तिम फालि का पतन करने पर सम्पन्न किया। यह मिथ्यात्वकर्म का ही

---

१. ज ध पु. १२ पृ २७२, २७४-७५, क. पा सुत्त पृ. ६२६-अन्तरायामके समस्त निषेकोके प्रथम व द्वितीय स्थितिमे देनेको अन्तरकरण कहते है। ध. पु ६ प. २३१, क प्र ग्रन्थ पृ २६०।

२. ज ध. पु १२ पृ २७३।

अन्तरकरण है, क्योंकि दर्शनमोहनीय की उपशामना में अन्य कर्मोंके अन्तरकरणका अभाव है। इतनी विशेषता है कि सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका सत्कर्म वाला जीव यदि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है तो उन कर्मप्रकृतियोंका भी अतर-करण इसी विधि से करता है, किन्तु उन प्रकृतियो सम्बन्धी नीचेकी एक आवलिप्रमाण (उदयावलिप्रमाण) स्थितियोके सिवाय उपरितन स्थितिसे लेकर ऊपर मिथ्यात्वके अन्तर सदृश अन्तर करता है[1]।

अब अन्तरायामका प्रमाण एवं उसमें निषेक रचनाविधिका कथन करते हैं—

गुणसेढीए सीसं तत्तो संखगुण उवरिमठिदिं च ।
हेट्ठुवरिम्हि य आबाहुज्झिय बंधम्हि संछुहदि ॥८६॥

अर्थ—गुणश्रेणी शीर्ष और उससे सख्यातगुणे उपरितन निषेको के मिथ्यात्व द्रव्य को ग्रहण कर नीचे प्रथम स्थिति मे और ऊपर उस समय बधने वाले मिथ्यात्व-कर्म की आवाधा को उल्लघ करके बधने वाले कर्मो के निषेकों के साथ द्वितीय स्थिति मे देता है।

विशेषार्थ—गुण श्रेणी शीर्ष अर्थात् अनिवृत्तिकरण काल से उपरिम विशेष अधिक गुणश्रेणी निक्षेप उस सबको तथा गुणश्रेणी शीर्ष से ऊपर अन्य भी सख्यात गुणी स्थितियो (निषेको) को अन्तर के लिए ग्रहण करता है। अन्तर के लिए जितनी स्थितियो को ग्रहण करता है उसकी अन्तरायाम सज्ञा है, उस अन्तरायाम से नीचे जितना अनिवृत्तिकरण का काल शेष है वह प्रथम स्थिति है। उस अन्तरायाम से जितनी उपरितन कर्मस्थिति है वह द्वितीय स्थिति है। अन्तर के लिये जो द्रव्य ग्रहण किया गया है उसको प्रतिसमय फालि रूप से प्रथमस्थिति व द्वितीयस्थिति मे देता है, किन्तु उस समय बधने वाले मिथ्यात्वकर्म की आबाधा मे नही देता है। अन्तर-फालियों मे असख्यातगुणे क्रम से द्रव्य को ग्रहण करता है। कुछ आचार्यो का यह मत है कि गुणश्रेणिशीर्ष से नीचे सख्यातवे भाग स्थितियो का भी खण्डन करता है। एक स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल के जितने समय है उतनी ही फालियो द्वारा अन्तर सम्बन्धी स्थितियों के द्रव्य का उत्कीरण किया जाता है। अन्तर करने के काल के चरम समय

---

१. ज ध. पु १२ पृ २७५

मे अतरसम्बन्धी अतिमफाली का पतन होने पर अंतर का कार्य सम्पन्न हो जाता है। इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का जो काल शेष रहा वह प्रथमस्थितिप्रमाण है[1]।

अथानन्तर अन्तरकरणकी समाप्ति के पश्चात् होने वाले कार्य को कहते हैं—

अंतरकद्पढमादो पडिसमयमसंखगुणिदमुवसमदि ।
गुणसंकमेण दंसणमोहणियं जाव पढमठिदी ॥८७॥

अर्थ—अन्तर कर चुकने के पश्चात् प्रथम समय से प्रथमस्थिति के अन्त तक प्रतिसमय गुणसक्रमण के द्वारा असंख्यातगुणे क्रमसे दर्शनमोह को उपशमाता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार एक स्थितिकाडकोत्कीरण काल के बराबर काल द्वारा अन्तरकरण कर लेने के पश्चात् का समय प्रथमस्थिति का प्रथम समय है उसी प्रथम-स्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रतिसमय असख्यातगुणे क्रमसे अतरायाम के ऊपरवर्ती निषेकरूप द्वितीयस्थिति मे स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम करता है।

यद्यपि यह जीव पहले ही अध प्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर उपशामक ही है तथापि अनिवृत्तिकरणकाल के सख्यात बहुभागो के बीत जाने पर तथा सख्यातवां भाग शेष रहने पर अन्तर को करके वहा से लेकर दर्शनमोहनीय की प्रकृति, स्थिति और प्रदेशों का उपशामक होता है[2]। करण परिणामो के द्वारा नि शक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते है। उपशम करने वाले को उपशामक कहते है[3]।

अब दर्शनमोहनीय को उपशम क्रियामें पायी जाने वाली विशेषताका कथन करते हैं—

पढमट्ठिदियावलिपडिआवलिसेसेसु णत्थि आगाला ।
पडिआगाला मिच्छत्तस्स य गुणसेढिकरणं पि ॥८८॥

अर्थ—प्रथम स्थिति मे आवली प्रत्यावली अर्थात् उदयावली और द्वितीयावली अवशेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल तथा मिथ्यात्व की गुणश्रेणी नही होती है।

---

१. ध. पु ६ पृ २३२। एव ज. ध. पु. १२ पृ २७३-२७५।
२ ज ध पु. १२ पृ. २७६।
३. ज ध. पु. १२ पृ. २८०।

विशेषार्थ—'आगालनं आगाल:' अर्थात् द्वितीयस्थिति के कर्म परमाणुओ का प्रथम स्थिति मे अपकर्षण वश आना आगाल है। 'प्रत्यागालन प्रत्यागाल:' अर्थात् प्रथमस्थिति के कर्मपरमाणुओ का द्वितीयस्थिति में उत्कर्षण वश जाना प्रत्यागाल है। प्रथम और द्वितीय स्थिति के कर्मपरमाणुओ का उत्कर्षण-अपकर्षण वश परस्पर विषय सक्रमण का नाम आगाल-प्रत्यागाल है। यह आगाल-प्रत्यागाल तब तक व्युच्छिन्न नही होता जब तक प्रथमस्थिति मे एकसमय अधिक आवलि-प्रत्यावलि शेष रहती है। अतएव आवलि-प्रत्यावलि को उसकी मर्यादा स्वरूप से गाथा सूत्र मे निर्देश किया है। आवलि कहने से उदयावलि का ग्रहण होता है प्रत्यावलि शब्द से उदयावलि से उपरिम दूसरी आवलि का ग्रहण होता है। प्रथमस्थिति के आवलि-प्रत्यावलि मात्र शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल के विच्छेद का नियम है।

आवलि और प्रत्यावलि के शेष रहने पर मिथ्यात्व की गुणश्रेणी भी नही होती, क्योकि दूसरी स्थिति से प्रथम स्थिति मे कर्म परमाणुओ के आने का निषेध है। यदि कहा जावे कि प्रथमस्थिति मे प्रत्यावलि के कर्म परमाणुओ का अपकर्षण करके गुणश्रेणी निक्षेप किया जाता है सो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि उदयावलि के भीतर गुणश्रेणी निक्षेप का होना असम्भव है। प्रत्यावलि से अपकर्षित प्रदेशपुंज का वही गुणश्रेणी मे निक्षेप होता है यह भी सम्भव नही है, क्योकि अपनी अतिस्थापना मे अपकर्षित द्रव्य के निक्षेप का विरोध है,[1] किन्तु शेष कर्मो की गुणश्रेणि होती है[2]।

आगे प्रथमसम्यक्त्वके ग्रहणकाल में होने वाले कार्य विशेषका कथन करते हैं—

अंतरपढमं पत्ते उवसमणामो हु तत्थ मिच्छत्तं।
ठिदिरसखंडेण विणा उवट्ठाइदूण कुणदि तिधा ॥८६॥

अर्थ—अन्तर के प्रथम समय को प्राप्त होने पर उपशम सम्यग्दृष्टिजीव वहां पर मिथ्यात्व को अपवर्तन करके स्थितिकांडकघात व अनुभागकाण्डकघात के विना तीन प्रकार करता है।

---

१. ज. व पु १२ पृ २७७-७८।

२ ज. ध पु १२ पृ. २७६, क पा सुत्त पृ ६२८ सूत्र ६६।

विशेषार्थ—अन्तर में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही दर्शनमोहनीय का उपशामक उपशम सम्यग्दृष्टि हो गया, किन्तु यहा पर सर्वोपशम सम्भव नही है, क्योकि उपशमपने को प्राप्त होने पर भी दर्शनमोहनीय के सक्रमण और अपकर्षण करण पाये जाते हैं। उसी समय वह मिथ्यात्वकर्म के तीन कर्म रूप भेद उत्पन्न करता है। जैसे यन्त्र से कोदो के दलने पर उनके तीन भाग हो जाते है, वैसे ही अनिवृत्तिकरण परिणामो के द्वारा दलित किये गये दर्शनमोहनीय के तीन भेदो की उत्पत्ति होने मे विरोध का अभाव है[1]।

अब स्थिति-अनुभागकी अपेक्षा मिथ्यात्वद्रव्यका तीनरूप विभाग बताते हैं—

मिच्छत्तमिस्ससम्मसरूवेण य तत्तिधा य दव्वादो।
सत्तीदो य असंखाणंतेण य होंति भजियकमा ॥९०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), सम्यक्त्व प्रकृतिरूप दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार होता है वह क्रमसे द्रव्य की अपेक्षा असख्यातवा भाग मात्र और अनुभाग की अपेक्षा अनन्तवा भाग प्रमाण जानना[2]।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व के परमाणूरूप द्रव्य को गुणसक्रम भागहार का अर्थात् पल्योपम के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक अधिक असख्यातसे गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने द्रव्य के बिना बहुभाग प्रमाण समस्त द्रव्य मिथ्यात्वरूप है। गुण सक्रमण भागहार से भाजित मिथ्यात्व द्रव्य को असख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध आया उतना द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ और गुणसक्रमभागहार से भाजित मिथ्यात्व द्रव्य को एक से गुणा करने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण द्रव्य सम्यक्त्व-प्रकृतिरूप परिणमित हुआ उससे असख्यातवा भाग रूप क्रम द्रव्यापेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृतिमे प्राप्त हुआ। अनुभागापेक्षा सख्यात अनुभाग-काडको के घात से मिथ्यात्व का अनुभाग पूर्व अनुभाग का अनन्तवाभाग प्रमाण अवशिष्ट रहा उससे अनन्तवाभाग अनुभाग सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग है तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के इस अनुभाग से अनन्तवाभाग सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभाग है।

---

१. ज ध पु. १२ पृ. २८०-८१। ज ध. पु ६ पृ. ८३, क पा सुत्त. पृ. ६२८ सूत्र १०२-१०३; ध. पु ६ पृ. ३८ व २३२, ध. पु १३ प ३५८; अमितगतिश्रावकाचार श्लो. ५३।

२. ध पु ६ पृ २३५।

इस प्रकार अनुभागापेक्षा अनन्तवेभाग रूप क्रम है। अर्थात् मिथ्यात्वप्रकृति के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्वका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभागसे सम्यक्त्वप्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है[1]।

अथानन्तर गुणसंक्रमणकी सीमा और विध्यातसंक्रमके प्रारम्भका कथन करते हैं—

[2]पढमादो गुणसंकमचरिमोत्ति य सम्ममिस्ससम्मिस्से।
अहिगदिणाऽसंखगुणो विज्झादो संकमो तत्तो ॥६१॥

अर्थ—गुणसंक्रम कालके प्रथम समय से अन्तिम समय पर्यन्त प्रतिसमय सर्प की गति के समान असंख्यातगुणे क्रम सहित मिथ्यात्वरूप द्रव्य है वह सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृति रूप परिणमता है। इसके (गुणसंक्रमण के) पश्चात् विध्यात संक्रमण होता है।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती उपशान्त दर्शनमोहनीय जीव के द्रव्यमे से सम्यग्मिथ्यात्व मे बहुत प्रदेशपुञ्ज को देता है, उससे असंख्यातगुणे हीन प्रदेशपुञ्ज को सम्यक्त्व प्रकृति मे देता है। प्रथम समय मे सम्यग्मिथ्यात्व मे दिये गये प्रदेशों से द्वितीय समय मे सम्यक्त्वप्रकृति मे असंख्यातगुणित प्रदेशो को देता है और उसी दूसरे समयमे सम्यक्त्वप्रकृति में दिये गये प्रदेशो की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व मे असंख्यातगुणित प्रदेशो को देता है। इसप्रकार इस परस्थान अल्पबहुत्व विधि से अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यंत गुणसंक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व के द्रव्य मे से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को पूरित करता है। यहा गुणसंक्रम भागहार प्रतिभाग है जो पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण है। इतनी विशेषता है कि सम्यग्मिथ्यात्व के प्रदेशों के आने के निमित्तरूप गुणसंक्रम भागहार से सम्यक्त्व के प्रदेशो के आने का निमित्त गुणसंक्रम भागहार असंख्यातगुणा है। स्वस्थान अल्पबहुत्व का कथन करने पर प्रथम समय मे सम्यग्मिथ्यात्व मे संक्रमित हुआ प्रदेशपुञ्ज स्तोक है। दूसरे समय मे संक्रमित हुआ प्रदेशपुञ्ज असंख्यात गुणा है। यह असंख्यातगुणा क्रम गुणसंक्रमण के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। इसीप्रकार सम्यक्त्व का भी स्वस्थान अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए। यहा

---

१. ध.पु ६ पृ. २३५।
२ ध पु. ६ पृ. २३५; ज. ध. पु १२ पृ. २८२।

उपशम सम्यग्दृष्टि के द्वितीय समय से लेकर जहा तक मिथ्यात्व का गुरण सक्रम होता है वहा तक सम्यग्मिथ्यात्व का भी सक्रमरण होता है, क्योकि सूच्यगुल के असख्यातवे भाग के प्रतिभागरूप विध्यातगुरणसक्रमरण द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व के द्रव्य का सम्यक्त्व मे सक्रमरण उपलब्ध होता है। इस गुरणसक्रमरण के पश्चात् सूच्यगुल के असख्यातवे भाग प्रमाणवाला मिथ्यात्व द्रव्य का विध्यातसक्रमरण होता है। जब तक उपशमसम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि है। विध्यात् अर्थात् मन्द हुई है विशुद्धि जिसकी ऐसे जीव के स्थितिकाडक, अनुभागकाडक और गुरणश्रेणि आदि परिणामो के रुक जाने पर प्रवृत्त होने के कारण यह विध्यातसक्रमरण है। जब तक मिथ्यात्व का गुणसक्रमण होता है तब तक एकान्तानुवृद्धिरूप परिरणामो के द्वारा दर्शनमोहनीय को छोडकर शेष कर्मों के स्थितिकाडक घात और गुणश्रेणी निक्षेप होते रहते है, किन्तु उपशान्त अवस्था को प्राप्त मिथ्यात्व का स्थितिकाडक आदि का अभाव है। अनिवृत्तिकरणरूप परिणामो के उपरम (समाप्त) हो जाने पर भी पूर्व प्रयोग वश कितने ही काल तक अन्य कर्मो का स्थितिकाडक आदि होने मे बाधा नही उपलब्ध होती[1]।

अब ५ गाथाओंमें अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल आदि २५ पदों का अल्पबहुत्व कहते हैं—

विदियकरणादिमादो गुणसंकमपूरणस्स कालोत्ति ।
वोच्छं रसखंडुक्कीरणकालादीणमप्प बहु ॥९२॥

अर्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय से गुणसक्रमणकाल के पूर्ण होने तक किये जाने वाले अनुभागकाडकोत्कीरणकालादि का अल्पबहुत्व कहेगे। (इस प्रकार प्रस्तुत गाथा मे आचार्यदेव ने आगे किये जाने वाले कथन की प्रतिज्ञा की है।)

अंतिमरसखंडुक्कीरणकालादो दु पढमओ अहिओ ।
तत्तो संखेज्जगुणो चरिमट्ठिदिखंडहदिकालो ॥९३॥

अर्थ—अन्तिम अनुभागकाडकोत्कीरण काल से प्रथम अनुभाग काडकोत्कीरण-काल विशेषाधिक है। उससे अन्तिम स्थितिकाडक काल व स्थितिबधापसरणकाल सख्यातगुणा है।

१　ध पु ६ पृ. २३५-३६; जयधवल पु. १२ पृ. २८२ से २८४ के आधार से।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय की प्रथम स्थिति के चरम समय में होने वाले तथा अन्य कर्मों के गुणसंक्रमण काल के अन्तिम समय में जो अनुभागकांडक होता है उसका घात करने का जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल है वह अन्तिम अनुभागखंडोत्कीरण काल है जो कि आगे कहे जाने वाले अनुभाग काडकोत्कीरण काल से स्तोक है। इससे इसीके सख्यातवे भागप्रमाण अर्थात् सख्यात आवलि विशेष से अधिक अपूर्वकरण के प्रथम समय मे प्रारम्भ होने वाले अनुभागकाडकोत्कीरण का काल है, क्योंकि अन्तिम अनुभागकाडक से विशेष अधिक क्रम से संख्यातहजार अनुभागकांडक नीचे उतरने पर उसकी उपलब्धि होती है। इससे सख्यातगुणा काल अन्तिम स्थितिकांडकोत्कीरण काल और स्थिति बन्धापसरण काल है ये दोनों परस्पर समान हैं, क्योंकि एक स्थितिकांडक-काल के भीतर संख्यात हजार अनुभागकाण्डक होते है। मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति के अन्त मे होने वाला स्थितिकाडक और अन्य कर्मों का गुणसंक्रम काल के अन्त में होने वाला स्थितिकाण्डक, सो अन्तिम स्थितिकाण्डक काल है[1]।

तत्तो पढमो अहिओ पूरणगुणसेढिसीसपढमठिदी।
संखेण य गुणियकमा उवसमगद्धा विसेसहिया ॥६४॥

अर्थ—चरम स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल से प्रथमस्थितिकाण्डकोत्कीरण काल अधिक है। इससे सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र प्रकृति) के पूरण का काल सख्यात गुणा है। इससे गुणश्रेणीशीर्ष संख्यातगुणा है, इससे प्रथम स्थिति सख्यातगुणी है और इससे उपशम करने का काल विशेषाधिक है।

विशेषार्थ—यद्यपि गाथा में अन्तर करने का काल नही कहा गया है, किन्तु कषायपाहुड चूर्णिसूत्रकार ने 'अन्तर करने का काल' इस अल्पबहुत्व में ग्रहण किया है। उसके अनुसार गाथा ६३ मे पूर्वोक्त चरम स्थितिकाण्डकघात काल से अन्तर करने का काल और वहीं पर होने वाले स्थितिबन्ध का काल ये दोनों परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक हैं, क्योंकि पूर्वोक्त काल से नीचे अन्तर्मुहूर्तकाल पीछे जाकर इन दोनों कालो की प्रवृत्ति होती है[2]। उससे प्रथमस्थितिकाण्डकोत्कीरण काल और स्थिति बंध का

---

1. ज ध पु १२ पृ २८६-८७।
2. ज.ध.पु. १२ पृ २८७।

काल ये दोनो परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक है, क्योकि पूर्वोक्त दोनों कालों से नीचे अन्तर्मुहूर्त काल पीछे जाकर अपूर्वकरण के प्रथम स्थितिकाण्डक के समय इनकी प्रवृत्ति होती है। इन दोनो से उपशामक जीव जब तक गुणसक्रम के द्वारा सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रप्रकृति को पूर्ण करता है वह काल सख्यातगुणा है, क्योकि उस काल के भीतर सख्यात स्थितिकाण्डक और स्थितिबन्ध सम्भव है। प्रथम समयवर्ती उपशामक (अन्तर करने वाला) का गुणश्रेणीशीर्ष अर्थात् अन्तर सम्बन्धी अन्तिम फालिका पतन होते समय गुणश्रेणी निक्षेप[1] के अग्राग्रसे सख्यातवे भाग का खडन कर जो फालि के साथ निर्जीर्ण होने वाला गुणश्रेणि शीर्ष है वह पूर्वके गुणसक्रम सम्बन्धीकाल से सख्यातगुणा है, क्योकि गुणश्रेणिशीर्ष के सख्यातवे भाग मे ही गुणसक्रमकाल का अत हो जाता है। अथवा गाथा सूत्र मे प्रथम समयवर्ती उपशामक सम्बन्धी मिथ्यात्व का गुणश्रेणीशीर्ष ऐसा विशेषण लगाकर नही कहा गया है, किन्तु सामान्यरूप से गुण-श्रेणी शीर्ष कहा गया है, इसलिये प्रथम समयवर्ती उपशामक के शेष कर्मोके गुणश्रेणि-शीर्षका ग्रहण करना चाहिए क्योकि उन कर्मोका अन्तरकरण न होने से प्रथमसमय-वर्ती उपशामकके उसके सम्भव होने मे कोई विरोध नही पाया जाता। उससे प्रथम-स्थिति सख्यातगुणी है, क्योकि प्रथमस्थिति के सख्यातवे भाग मात्र ही गुणश्रेणीशीर्ष को अन्तर के लिये ग्रहण किया गया है। उससे उपशामक का काल विशेष अधिक अर्थात् एक समय कम दो आवलिमात्र विशेष अधिक है, क्योकि अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के द्वारा बांधे गये मिथ्यात्व सम्बन्धी नवक बन्ध का एक समय प्रथम स्थिति मे ही गल जाता है, पुनः इस प्रथमस्थिति सम्बन्धी अन्तिम समय को छोड़कर उपशम सम्यक्त्व काल के भीतर एक समय कम दो आवलि प्रमाण (बन्धावलि व सक्रमावलि) काल ऊपर जाकर उस नवक बन्ध की उपशामना समाप्त होती है इस-लिये प्रथमस्थिति मे एक समय कम दो आवलिकाल प्रवेश कराकर यह विशेष अधिक हो जाता है[2]।

अणियट्टीसंखगुणो णियट्टिगुणसेढियायदं सिद्धं।
उवसंतद्धा अंतर अवरवराबाह संखगुणियकमा ॥६५॥

---

१. गुणश्रेणीनिक्षेप = गुणश्रेणी–आयाम।

२. ज. ध पु. १२ पृ. २८८-२६०।

अर्थ—अनिवृत्तिकरण का काल सख्यातगुणा है इससे अपूर्वकरण का काल, गुणश्रेणि का आयाम, उपशम सम्यक्त्वका काल, अन्तरायाम, जघन्य आबाधा और उत्कृष्ट आबाधा ये सख्यातगुणित क्रम से है।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति से एक समय कम दो आवलि अधिक उपशमावने (उपशामक) के काल से अनिवृत्तिकरण का काल सख्यातगुणा है, क्योंकि सर्वदा अनिवृत्तिकरणकाल के सख्यातवें भाग मे प्रथमस्थिति की उपलब्धि होती है। इससे अपूर्वकरण का काल सख्यातगुणा है, क्योकि सर्वदा अनिवृत्तिकरणकाल से अपूर्वकरण-काल सख्यातगुणा होता है। इससे गुणश्रेणि आयाम (गुणश्रेणिनिक्षेप) विशेष अधिक है, क्योकि अपूर्वकरण के प्रथमसमय से गुणश्रेणिआयाम की उपलब्धि होती है जो अनिवृत्तिकरणकाल व अनिवृत्तिकरणकाल के सख्यातवे भाग सहित अपूर्वकरण-कालप्रमाण है। इसलिये गुणश्रेणीआयाम, अपूर्वकरणकालसे अनिवृत्तिकरणकाल व अनिवृत्तिकरणकालके सख्यातवे भाग काल प्रमाण अधिक है। गुणश्रेणि आयाम से उपशान्ताद्धा अर्थात् उपशमसम्यक्त्वका काल सख्यातगुणा है, इससे संख्यातगुणा अंत-रायाम है, क्योकि अन्तर का आयाम अर्थात् जितने निषेको के मिथ्यात्वद्रव्य का अभाव किया गया है उन निषेको का काल सख्यातगुणा है, क्योकि अन्तरायाम के सख्यातवें भाग मे ही उपशमसम्यक्त्व के काल को गलाकर उससे आगे दर्शनमोहनीयकी तीनो प्रकृतियो मे से किसी एक का अपकर्षण कर उसका वेदन करता हुआ अन्तर को समाप्त करता है। अन्तरायाम से सख्यातगुणी जघन्य आबाधा है। अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के जो नवकबन्ध होता है, उसकी आबाधा जघन्य होती है, क्योकि अन्यत्र मिथ्यात्व की जघन्य आबाधा उपलब्ध नही होती, परन्तु शेष कर्मो का गुणसंक्रमण के अन्तिम समय मे जो नवक बन्ध होता है, उसकी आबाधा जघन्य होती है, क्योकि गुणसंक्रमण काल को उल्लघकर विध्यातसक्रम को प्राप्त हुए जीव के मन्दविशुद्धि वश स्थितिबन्ध वृद्धि-गत होता है इसलिये वहा की आबाधा सबसे जघन्य नही हो सकती। जघन्य आबाधा से उत्कृष्ट आबाधा सख्यातगुणी है। सर्व कर्मो की अपूर्वकरण के प्रथम समय मे स्थितिबन्ध सम्बन्धी आबाधा यहा पर उत्कृष्ट आबाधारूपसे विवक्षित है। जघन्य स्थिति-बन्ध से यह स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है इसलिए इसकी आबाधा भी सख्यातगुणी है[1]।

---

1 ज. ध पु १२ पृ २६०-२६३।

पढमापुव्वजहण्णट्ठिदिखंडमसंखसंगुणं तस्स ।
अवरवरट्ठिदिबंधा तट्ठिदिसत्ता य संखगुणियकमा ॥६६॥

अर्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जघन्य स्थितिखण्ड असख्यातगुणा है, इससे सख्यातगुणा जघन्य स्थितिबन्ध है। इससे सख्यातगुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है, इससे सख्यातगुणा जघन्य स्थितिसत्त्व तथा उससे सख्यातगुणा उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व है। इसप्रकार सख्यात गुणित क्रम से स्थान जानना।

विशेषार्थ—गाथामें "पढमापुव्वजहण्णट्ठिदिखंडमसखसगुणं" पाठ है। ध. पु. ६ पृ. २३७ पर "अपुव्वकरणस्स पढमसमए जहण्णओ ट्ठिदिखडओ असखेज्जगुणो" यह पाठ है। इन दोनो का अर्थ है कि "अपूर्वकरण के प्रथम समयमे जघन्य स्थितिखंड असख्यातगुणा है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ २६३ पर चूर्णिसूत्र "जहण्णय ट्ठिदिखड-यमसखेज्जगुण" पाठ है। इसमे "पढमापुव्व" अर्थात् 'अपूर्वकरणके प्रथम समयमे' यह पाठ नही है। इस पाठ के अभाव मे प्रथमस्थिति के अन्त मे होने वाले 'स्थितिखण्ड' का ग्रहण होता है, क्योकि अपूर्वकरण के प्रथम स्थितिखण्ड की अपेक्षा प्रथमस्थिति के अन्त का स्थितिखण्ड जघन्य है। यह जघन्य स्थिति खण्ड भी पूर्वोक्त उत्कृष्ट आबाधा से असख्यातगुणा है। जयधवला टीका मे कहा भी है—"मिथ्यात्व की प्रथम-स्थिति अल्प शेष रहने पर प्राप्त हुए अन्तिमस्थितिकाण्डक का और शेषकर्मो के गुण-सक्रमण काल के शेष रहने पर प्राप्त हुए अन्तिम स्थितिकाडक का जघन्य स्थिति-काण्डकरूपसे ग्रहण करना चाहिए। यह पल्योपमके सख्यातवेभाग प्रमाण होनेसे पूर्वमें कही गई उत्कृष्ट आबाधा से असंख्यातगुणा है।

यद्यपि गाथामे 'उत्कृष्ट स्थिति खण्ड' का कथन नही है, किन्तु ध पु. ६ पृ. २३७ व जयधवल पु. १२ पृ २६४ के आधारसे यहा उसका कथन किया जाता है—अपूर्वकरण का 'उत्कृष्ट स्थितिखण्ड' जघन्य स्थितिखण्ड से सख्यातगुणा है, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिखण्ड का प्रमाण सागरोपम पृथक्त्व है। उससे जघन्य स्थितिवन्ध सख्यातगुणा है, क्योकि अन्तिमसमयवर्ती मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का जघन्य स्थितिबंध और शेष कर्मो का गुणसक्रम के अन्तिम समय का जघन्य स्थितिवन्ध अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है। उससे उत्कृष्टस्थितिबन्ध सख्यातगुणा है, क्योकि सभी कर्मो का अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जो स्थितिबन्ध होता है वह पूर्व मे कहे गये जघन्य

स्थितिबन्ध से सख्यातगुणा है। उससे जघन्य स्थिति सत्कर्म सख्यातगुणा है, क्योकि मिथ्यादृष्टि के अन्तिम समय में मिथ्यात्व का जो जघन्य स्थिति सत्कर्म होता है और शेष कर्मों का भी गुणसक्रमण काल के अन्तिम समय मे जो जघन्य सत्कर्म होता है, बन्ध की अपेक्षा उस सत्कर्म के सख्यातगुणा होने मे कोई विरोध नही है। उससे उत्कृष्ट सत्कर्म सख्यातगुणा है, क्योकि सभी कर्मों के अपूर्वकरण सम्बन्धी प्रथम समय से सम्बन्ध रखने वाले उत्कृष्ट सत्कर्म का प्रकृत मे अवलम्बन लिया गया है। इसप्रकार पच्चीस पदवाला दण्डक समाप्त हुआ[1]।

अब प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहणकालमें पाये जाने वाले स्थितिसत्त्वका कथन करते हैं—

अंतोकोडाकोडी जाहे संखेज्जसायरसहस्से।
णूणा कम्माण ठिदी ताहे उवसमगुणं गहइ ॥९७॥

अर्थ—जब सख्यात हजार सागर से हीन अन्त:कोडाकोडी प्रमाण स्थिति सत्त्व होता है उस समय मे उपशमसम्यक्त्व गुण को ग्रहण करता है।

आगे देशसंयम व सकलसयमके साथ प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहण करनेवाले जीवके स्थितिसत्त्व को कहते हैं—

तट्ठाणे ठिदिसत्तो आदिमसम्मेण देससयलजमं।
पडिवज्जमाणगस्स वि संखेज्जगुणेण हीणकमो ॥९८॥

अर्थ—उसी स्थान मे यदि देशसयम सहित प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करे तो उसके पूर्वोक्त स्थितिसत्त्व से सख्यातगुणा हीन स्थिति सत्त्व होता है और यदि सकलसयम सहित प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करे तो उसके उससे भी सख्यातगुणा हीन स्थिति सत्त्व होता है।

विशेषार्थ—अनन्तगुणी विशुद्धि की विशेषता के कारण स्थितिखण्डायाम सख्यातगुणा होता है उससे घटाई हुई अवशिष्ट स्थिति सख्यातवे भाग होती है[2]।

---

१. ज. ध पु १२ पृ २९३-२९६। क पा सुत्त पृ ६२९-३०।

२. ध. पु ६ पृ २६८।

के उदय से होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व तीनकरण (अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) होते हैं। अनिवृत्तिकरण काल का बहुभाग व्यतीत हो जाने पर दर्शनमोहनीय कर्म का अन्तर होकर उपशम होता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी चतुष्क का न तो अन्तर होता है और न उपशम होता है। हा! परिणामो की विशुद्धता के कारण प्रतिसमय स्तिवुक सक्रमण द्वारा अनन्तानुबन्धीकषाय का अप्रत्याख्यानादि कषायरूप परिणमन होकर परमुख उदय होता रहता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल मे अधिक से अधिक छह आवलि काल शेष रह जाने पर और कम से कम एक समय काल शेप रह जाने पर यदि परिणामो की विशुद्धता मे हानि हो जावे तो अनन्तानुवन्धीकषाय का स्तिवुकसक्रमण रुक जाता है और अनन्तानुबन्धीका परमुख उदय की बजाय स्वमुख उदय आने के कारण प्रथमोपशम सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) हो जाती है और प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर दूसरा सासादन गुणस्थान हो जाता है। मिथ्यात्वप्रकृति का अभी उदय नही हुआ, क्योकि उसका अन्तर व उपशम है। अतः उसको मिथ्यादृष्टि नही कहा गया। अनन्तानुबन्धीकषाय जनित विपरीताभिनिवेश हो जाने के कारण सम्यक्त्व की विराधना हो जाने से उसकी सासादनसम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्व की विराधना सहित) सज्ञा हो जाती है।

अब उपशमसम्यक्त्व सम्बन्धी प्रारम्भिक सामग्रीका कथन करते हैं—

[1]सायारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजणिज्जो।
जोगे अण्णदरम्हि दु जहण्णए तेउलेस्साए ॥१०१॥

अर्थ—दर्शनमोहके उपशमन का प्रस्थापक जीव साकार उपयोग मे विद्यमान होता है, किन्तु उसका निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनो योगो मे से किसी एक योग मे विद्यमान तथा तेजोलेश्या के जघन्य अश को प्राप्त वह जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है।

विशेषार्थ—उक्त गाथा कषायपाहुड गाथा ९८ से शब्दश मिलती है। दर्शनमोहोपशामना सम्बन्धी १५ गाथाओ मे से यह चतुर्थ गाथा है। इस गाथा सूत्र मे

---

१ किंचित् पाठान्तरेण गाथेय (ज. ध पु. १२ पृ. ३०४ गा ९८ पर) अस्ति। "सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मज्झिमो य भयणिज्जो। जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए। (प. पु. ६ पृ २३९ गा. ५)

के कालमे छह आवलि शेष रहने पर वहा से सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति किन्ही भी जीवो मे सम्भव देखी जाती है। "णीरासाणो य खीणम्मि" अर्थात् उपशम सम्यक्त्व का काल क्षीण होने पर यह जीव सासादनगुणस्थानको नियम से नहीं प्राप्त होता यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

शंका—ऐसा किस कारण से है ?

समाधान—क्योकि उपशम सम्यक्त्वके काल मे जघन्यरूप से एक समय शेष रहने पर और उत्कृष्टरूप से छह आवलि काल शेप रहने पर सासादनगुणस्थान परिणाम होता है, इसके बाद नही ऐसा नियम देखा जाता है। अथवा "णीरासाणो य खीणम्मि" ऐसा कहने पर दर्शनमोहनीयका क्षय होने पर यह जीव निरासान ही है, क्योकि उसके सासादनगुणस्थानरूप परिणाम सम्भव नही है ऐसा यहा ग्रहण करना चाहिये। कारण कि क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपातस्वरूप होता है और सासादन परिणाम के उपशम सम्यक्त्व पूर्वक होनेका नियम देखा जाता है[1]।

आगे सासादनके स्वरूप एवं कालका कथन करते हैं—

[2]उवसमसम्मत्तद्धा छावलिमेत्ता दु समयमेत्तोत्ति।
अवसिट्ठे आसाणो अणअण्णदरुदयदो होदि ॥१००॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके काल मे उत्कृष्टकाल छह आवलि और जघन्य-काल एक समय मात्र अवशेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों मे से किसी एक के उदय होने से सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) होकर सासादन गुणस्थान होता है[3]।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन की घातक मिथ्यात्वप्रकृति व अनन्तानुबन्धीकपाय चतुष्क है। "मिथ्यात्व नाम विपरीताभिनिवेश'। स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते।" (ध पु १ सूत्र ११६ की टीका) विपरीत अभिनिवेश का नाम मिथ्यात्व है और वह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनो कर्मो

१. ज ध पु १२ पृ ३०२-३०३। एव ध पु ६ पृ २३९।
२ पाठान्तरेणाऽत्रोक्तभावो अन्यत्रापि दृश्यते, प्रा. प स. पृ ६३३ श्लो ११; गो जी. गा १९।
३ ज. ध पु ४ पृ २४, ज. ध पु १० प १२३-२४; ज ध. पु. १२ पृ ३०३।

गाथा के '**जोगे अण्णदरम्हि**' का अर्थ है मनोयोग, वचनयोग और काययोग, इनमें से किसी एक योग में वर्तमान जीव दर्शनमोह की उपशमविधि का प्रस्थापक होता है[1]। जीवप्रदेशो की कर्मो के ग्रहण में कारणभूत परिस्पन्दरूप पर्याय का नाम योग है। वह योग मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन प्रकार का है। उनमे से सत्यमनोयोग मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग के भेद से मनोयोग चार प्रकार का है। इसीप्रकार वचनयोग भी चार प्रकार, का है। काययोग सातप्रकार का है। मनोयोग के इन भेदो मे से दर्शनमोहोपशामक के (प्रस्थापक के) अन्यतर मनोयोग होता है, क्योकि उन चारो मनोयोग के ही यहा प्राप्त होने मे किसी प्रकार का विरोध नही पाया जाता। इसी प्रकार वचनयोग का भी अन्यतर भेद होता है, किन्तु काययोग, औदारिक काययोग या वैक्रियिक काययोग होता है, क्योकि अन्य काययोग का प्राप्त होना असम्भव है। इन दस पर्याप्त योगो मे से अन्यतर योग से परिणत हुआ जीव प्रथमसम्यक्त्व को प्राप्त करने के योग्य (प्रस्थापक) होता है। शेप योगो मे परिणत हुआ जीव (प्रस्थापक) नही होता[2]। इसीप्रकार निष्ठापक और मध्यमावस्था वाले जीव के भी कहना चाहिए, क्योकि इन दोनो अवस्थाओ मे प्रस्थापक से भिन्न नियम की उपलब्धि नही होती[3]।

गाथा में "**जहण्णगो तेउलेस्साए**" के द्वारा लेश्या का कथन किया गया है। पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओ में से नियम से कोई एक वर्धमान लेश्या उसके (प्रस्थापक) के होती है। इनमें से कोई भी लेश्या हीयमान नही होती। यदि अत्यन्त मन्द विशुद्धि से परिणमन कर दर्शनमोहोपशमनविधि प्रारम्भ करता है तो भी उसके तेजोलेश्या का परिणाम ही उसके योग्य होता है। इससे नीचे की लेश्याका परिणाम अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्यारूप परिणाम नही होते, क्योकि तीन अशुभ लेश्या सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणरूप करण परिणाम से विरुद्ध स्वरूप है।

शंका—वर्धमान शुभ तीन लेश्याओ का नियम यहा पर किया है वह नही बनता, क्योकि नारकियो के सम्यक्त्वोत्पत्ति करने मे व्यापृत होने पर तीन अशुभ लेश्याए भी सम्भव है?

---

१. ज ध पु १२ पृ ३०६।
२. ज ध पु १२ पृ. २०९।
३. ज. ध पु १२ पृ ३०६।

दर्शनमोहोपशामक के उपयोग, योग और लेश्या परिणामगत विशेष कथन किया गया है। 'सायारे पट्ठवगो' ऐसा कहने पर दर्शनमोह की उपशमविधिको आरम्भ करने वाला जीव अध.प्रवृत्तकरण के प्रथमसमयसे अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त प्रस्थापक कहलाता है[1]।

जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है। आत्मा के अर्थग्रहण-रूप परिणाम का नाम उपयोग है। वह उपयोग साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार का है। साकार तो ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग। इनके क्रमश मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि भेद भी है[2]। दर्शनमोहोपशामना विधि का प्रस्थापक जीव नियम से ज्ञानोपयोग मे उपयुक्त होता है, क्योकि अविमर्शक और सामान्यमात्र-ग्राही चेतनाकार उपयोग के द्वारा विमर्शक स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रति अभिमुखपना नही बन सकता[3]। अर्थात् प्रस्थापक के अविचार स्वरूप दर्शनोपयोग की प्रवृत्ति का विरोध है। इसलिये कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग-ज्ञान मे से कोई एक साकारोपयोग ही होता है, अनाकार उपयोग नही होता। इस वचन द्वारा जागृत अवस्था से परिणत जीव ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है, अन्य नही, क्योकि निद्रारूप परिणाम सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य विशुद्ध परिणामो से विरुद्धस्वभावी है। इसप्रकार प्रस्थापक के साकारोपयोग का नियम करके, निष्ठापकरूप और मध्यम अवस्था में साकारोपयोग और अनाकारोपयोग में से अन्यतर उपयोग के साथ भजनीयपने का कथन करने के लिये गाथा में **'णिट्ठवगो मज्झिमो य भजणिज्जो'** यह वचन कहा है। दर्शनमोह के उपशामनाकरण को समाप्त करने वाला जीव निष्ठापक होता है अर्थात् समस्त प्रथमस्थितिको क्रम से गलाकर अन्तर प्रवेश के अभिमुख जीव निष्ठापक होता है। वह साकारोपयोग से उपयुक्त होता है या अना-कारोपयोग मे, क्योकि इन दोनों उपयोगो मे से किसी एक उपयोग के साथ निष्ठापक होने मे विरोध का अभाव है इसलिये भजनीय है। इसी प्रकार मध्यम अवस्थावाले के भी कथन करना चाहिए। प्रस्थापक और निष्ठापक पर्यायों के अन्तराल काल मे प्रवर्तमान जीव मध्यम कहलाता है। दोनो ही उपयोगो का क्रम से परिणाम होने मे विरोध का अभाव होने से भजनीय है[4]।

१ क पा सुत्त पृ ६३२, ज ध पु १२ पृ ३०४।
२ ज. ध पु. १२ पृ २०३, गो. जी गाथा ६७२-७३, प्रा. प स. अ. १ गा. १७८ पृ. ३७।
३ ज. ध. पु. १२ पृ २०४, क. पा. सुत्त पृ ६३२।
४ ज ध. पु. १२ पृ. ३०५।

अथानन्तर उपशमसम्यक्त्वकालके अनन्तर उदययोग्य कर्मविशेषका कथन करते हैं—

[1]अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होदि उवसंतो ।
तेण परं उदओ खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स ॥१०२॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशमसे उपशान्त रहता है इसके पश्चात् नियम से तीन कर्म प्रकृतियो मे से किसी एक का उदय होता है ।

विशेषार्थ—उक्त गाथा कषायपाहुड मे दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वोपशम से अवस्थानकाल के प्रमाणका अवधारण करने के लिये आई है । गाथा सूत्रमे **"अंतोमुहुत्तमद्धं"** ऐसा कहने पर अन्तरायाम का सख्यातवा भाग प्रमाण काल लेना चाहिए । यह पूर्व मे कहे गये अल्पबहुत्व से जाना जाता है ।

गाथा सूत्र मे **"सव्वोवसमेण"** ऐसा कहने पर सभी दर्शनमोहनीय कर्मो के उपशम से ऐसा ग्रहण करना चाहिये, क्योकि प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश से विभक्त मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीनों ही कर्मप्रकृतियो का यहां पर उपशान्तरूपसे अवस्थान होता है । **"तेण परं उदओ खलु"** उसके पश्चात् दर्शनमोह के भेदरूप तीनो प्रकृतियो मे से किसी एक का नियम से उदय होता है[2] ।

अब दर्शनमोहनीयकर्मके अन्तरायाम पूरणका विधान कहते हैं—

उवसमसम्मत्तुवरिं दंसणमोहं तुरंत पूरेदि ।
उदयिल्लस्सुदयादो सेसाणं उदयबाहिरदो ॥१०३॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्वकाल के ऊपर जो दर्शनमोह के अन्तरायाम का शेष भाग, उसको शीघ्र ही पूरता है । उदयवान प्रकृतिके द्रव्य को तो उदयस्थिति से देना प्रारम्भ करता है और शेष दो अनुदय प्रकृति के द्रव्य को उदयावलि से बाहर देता है ।

---

१. ज. ध पु १२ पृ. ३१४ गाथा १०३ किन्तु वहा 'तेण पर उदओ' के स्थान पर 'तत्तो परमुदयो' ऐसा पाठ है । ध. पु ६ पृ. २४१ । क पा गा १०३ ।

२ ज. ध पु १२ पृ. ३१४-३१५ ।

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि मनुष्य और तिर्यचों की अपेक्षा यह गाथा सूत्र प्रवृत्त हुआ है। तिर्यच और मनुष्यो के सम्यक्त्व प्राप्त करते समय तीन शुभ लेश्याओं को छोडकर अन्य लेश्याए सम्भव नहीं है, क्योकि अत्यन्त मन्द विशुद्धि द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीवके भी वहा जघन्य पीतलेश्या का नियम है।

शका—यहा देव और नारकियो की विवक्षा क्यों नही है ?

समाधान—देव और नारकियो की विवक्षा नही की, क्योकि उनके अवस्थित लेश्याभावका कथन करने के लिये यहां परिवर्तमान सर्व लेश्यावाले तिर्यच और मनुष्यो की ही प्रधान रूप से विवक्षा है। अथवा देवो मे तो यथायोग्य तीन शुभलेश्यारूप परिणाम ही होता है। इसलिये उक्त कथन का वहा कोई व्यभिचार नही आता। नारकियो मे भी अवस्थित स्वरूप कृष्ण, नील और कापोतलेश्यारूप परिणाम होते है, वहा तीन शुभलेश्यारूप परिणाम असम्भव ही है इसलिए उनमे यह गाथा सूत्र प्रवृत्त नही होता अत: तिर्यंचो और मनुष्यो को विषय करनेवाली ही यह गाथा है[1]।

यद्यपि गाथा सूत्र मे कषाय और वेद का कथन नही किया तथापि उनका कथन किया जाता है, क्योकि इस गाथा सूत्र मे एकदेश कथन किया गया है अर्थात् यह देशामर्शक गाथा सूत्र है।

दर्शनमोह का उपशम करनेवाले जीवके क्रोधादि चारो कषायो मे से अन्यतर कषायपरिणाम होता है, किन्तु वह नियमसे हीयमान कषायवाला होता है, क्योकि विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले के वर्धमान कषाय के साथ रहने का विरोध है। इसलिए क्रोधादि कषायो के द्विस्थानीय अनुभागोदय से उत्पन्न हुए तत्प्रायोग्य मन्दतर कषाय परिणाम का अनुभवन करता हुआ सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के लिये आरम्भ करता है[2]।

सम्यक्त्वोत्पत्ति मे व्यापृत हुए जीवके तीन वेदो मे से कोई एक वेद परिणाम होता है, क्योकि द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीन वेदो मे से अन्यतर वेदपर्याय से युक्त जीवके सम्यक्त्वोत्पत्ति मे व्यापृत होनेके विरोध का अभाव है[3]।

---

१ ज ध पु १२ पृ २०५ व ३०६।

२ ज ध पु १२ पृ २०२-२०३ एव क पा सुत्त पृ ६१६।

३ ज ध पु १२ पृ २०६, क पा सुत्त पृ. ६१६ सूत्र १६

विशेषार्थ—अन्तरायामका सख्यातवा भाग उपशम सम्यक्त्व का काल है। उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त हो जाने पर भी अन्तरायाम का सख्यात बहुभाग शेष रहता है जहां पर दर्शनमोहनीय कर्म के सत्त्व का भी अभाव है। अन्तरायाम के ऊपर द्वितीय स्थिति मे दर्शनमोहनीय कर्म का द्रव्य है जिसका अपकर्षण करके अन्तरायामको पूरता है। अर्थात् शेष अन्तरायाम काल मे अपकर्षित द्रव्य का क्षेपण करके दर्शनमोहनीय कर्म का सत्त्व स्थापन करता है। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियो मे से जिस प्रकृति का उदय प्रारम्भ हो जाता है उस प्रकृति के द्रव्य को उदय स्थिति से लेकर सर्व स्थितियो मे देता है और जिन दो प्रकृतियो का उदय नही है उनके द्रव्य को उदयावलि से बाह्य सर्व स्थितियो मे देता है, किन्तु उदयावलि मे नही देता। इतनी विशेषता है कि अपनी-अपनी अतिस्थापना मे तीनो प्रकृतियोका द्रव्य नही दिया जाता।

यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है[1]।

ओक्कट्टिदइगिभागं समपट्टीए विसेसहीणकमं।
सेसासंखाभागे विसेसहीणेण खिवदि सव्वत्थ ॥१०४॥

अर्थ—अपकृष्ट द्रव्यका एक भाग तो चय (विशेष) हीन क्रम से उदयावलि मे देना शेष असख्यात बहुभाग सर्वत्र विशेष (चय) हीन क्रम से दिया जाता है।

विशेषार्थ—यदि उदयरूप सम्यक्त्वप्रकृति होवे तो उसके द्रव्यमे अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से बहुभागप्रमाण द्रव्य यथावस्थित ही रहे। एक भाग को असख्यातलोकका भाग देकर उसमे से एकभागप्रमाण द्रव्य '**उदयावलिस्स दव्वं**'[2] इत्यादि सूत्र द्वारा जैसा पूर्वमे विधान कहा था वैसे ही उदयावलिके निषेकोमे चय हीन क्रमसे निक्षिप्त करना। अपकर्षित द्रव्यमे से अवशिष्ट बहुभागमात्र जो द्रव्य है उसे

---

१ ज ध पु १२ पृ ३१५ के आधार से। क पा सुत्त पृ ६३५, ध पु ६ पृ २४१।
२ ल सा गा. ७१।

अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य कहते है, उस द्रव्यमे से, अन्तरायामके निषेकोका अभाव था उन निषेकोका सद्भाव करने के लिये कितना एक (कुछ) द्रव्य दिया जाता है। उस देय द्रव्यका कितना प्रमाण है यह जाननेका विधान कहते है—

नानागुणहानिमे स्थित सम्यक्त्वप्रकृतिकी द्वितीयस्थितिके द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर एक भाग पृथक् करके अवशिष्ट बहुभागप्रमाण द्रव्यमे **"दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा"**[1] इस सूत्र द्वारा साधिक डेढगुणहानिप्रमाणका भाग देने पर उस द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकका प्रमाण प्राप्त होता है, सो इसके बराबर अतरायामके सर्व निषेकोको चय रहित स्थापित करके जोडनेसे आदिधनका प्रमाण प्राप्त होता है। **'पदहतमुखमादिधन'**[2] इस करण सूत्रसे अन्तरायामप्रमाण गच्छसे उस प्रथम निषेकको गुणा करने पर अन्तरायामके निषेकोका आदिधन प्राप्त हुआ। तथा द्वितीय स्थितिके नीचे अन्तरायामके निषेक है इसलिये द्वितीयस्थितिके आदि निषेकसे चय वृद्धि (बढते) क्रमसे अन्तरायामके निषेक है। चयका प्रमाण प्राप्त करने की विधि कहते है—

द्वितीय स्थितिकी प्रथमगुणहानिके प्रथमनिषेक से अधस्तनवर्ती अन्तरायाम सम्बन्धी गुणहानिके प्रथम निषेकका द्रव्य दोगुणा प्रमाण युक्त चय है। इसको दो गुणहानिका भाग देनेपर अन्तरायाममे चयका प्रमाण प्राप्त होता है। **"सैकपदाहतपददलचयहतमुत्तरधन"**[3] इस सूत्रसे यहा अन्तरायामप्रमाण गच्छ है, सो एक अधिक गच्छसे गच्छके आधेको गुणा करके पुनः चयसे गुणा करनेपर उत्तरधन प्राप्त होता है। इसप्रकार प्राप्त आदिधन और उत्तरधन (चयधन) को जोडनेपर जो प्रमाण प्राप्त हुआ उतना द्रव्य उक्त अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य से ग्रहणकर अन्तरायाममे देना। द्वितीय

---

१. इसका अर्थ—प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणाका द्रव्य=सर्वद्रव्य÷साधिक डेढगुणहानि। (गो जी. गा. ५९ की टीका व ध. पु १० पृ. १२२)

२ आदिद्रव्यको पदसे गुणा करने पर आदिधनका प्रमाण निकलता है। (गो जी. गा ५१ की टीका; गणितसारसंग्रह अ. २।६३)

३ इसका अर्थ—एक अधिक पदसे गुणित 'पदका आधा' गुणित चय=उत्तरधन (पद+१)× $\left(\frac{\text{पद}}{२}\right)$ ×चय= $\frac{(\text{पद}+१)\ \text{पद}\times\text{चय}}{२}$ =उत्तरधन। यहा "व्येकपदार्धघ्न चयगुणो गच्छ उत्तर धनं" सूत्र नही लगता, क्योकि अन्तरायामके निषेको को द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकवत् माननेपर कोई भी निषेक अन्तरायामका सर्वहीन निषेक भी नही बनता। अन्तरायामका सर्वहीन निषेक भी एक चयसे अधिक करने पर बनेगा अतः "सैकपदाहत…… इत्यादि कहा।

अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य कहते है, उस द्रव्यमे से, अन्तरायामके निषेकोका अभाव था उन निषेकोका सद्भाव करने के लिये कितना एक (कुछ) द्रव्य दिया जाता है । उस देय द्रव्यका कितना प्रमाण है यह जाननेका विधान कहते है—

नानागुणहानिमे स्थित सम्यक्त्वप्रकृतिकी द्वितीयस्थितिके द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर एक भाग पृथक् करके अवशिष्ट बहुभागप्रमाण द्रव्यमे **"द्विवड्ढगुण-हाणिभाजिदे पढमा"**[1] इस सूत्र द्वारा साधिक डेढगुणहानिप्रमाणका भाग देने पर उस द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकका प्रमाण प्राप्त होता है, सो इसके बराबर अतरायामके सर्व निषेकोको चय रहित स्थापित करके जोडनेसे आदिधनका प्रमाण प्राप्त होता है। **'पदहतमुखमादिधन'**[2] इस करण सूत्रसे अन्तरायामप्रमाण गच्छसे उस प्रथम निषेकको गुणा करने पर अन्तरायामके निषेकोका आदिधन प्राप्त हुआ । तथा द्वितीय स्थितिके नीचे अन्तरायामके निषेक है इसलिये द्वितीयस्थितिके आदि निषेकसे चय वृद्धि (बढते) क्रमसे अन्तरायामके निषेक है । चयका प्रमाण प्राप्त करने की विधि कहते है—

द्वितीय स्थितिकी प्रथमगुणहानिके प्रथमनिषेक से अधस्तनवर्ती अन्तरायाम सम्बन्धी गुणहानिके प्रथम निषेकका द्रव्य दोगुणा प्रमाण युक्त चय है । इसको दो गुणहानिका भाग देनेपर अन्तरायाममे चयका प्रमाण प्राप्त होता है । **"सैकपदाहतपद-दलचयहतमुत्तरधन"**[3] इस सूत्रसे यहा अन्तरायामप्रमाण गच्छ है, सो एक अधिक गच्छसे गच्छके आधेको गुणा करके पुनः चयसे गुणा करनेपर उत्तरधन प्राप्त होता है। इसप्रकार प्राप्त आदिधन और उत्तरधन (चयधन) को जोडनेपर जो प्रमाण प्राप्त हुआ उतना द्रव्य उक्त अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य से ग्रहणकर अन्तरायाममे देना । द्वितीय

---

१. इसका अर्थ—प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणाका द्रव्य=सर्वद्रव्य÷साधिक डेढगुणहानि । (गो जी. गा. ५९ की टीका व ध. पु. १० पृ. १२२)

२ आदिद्रव्यको पदसे गुणा करने पर आदिधनका प्रमाण निकलता है । (गो जी. गा. ५१ की टीका; गणितसारसग्रह अ. २।६३)

३ इसका अर्थ—एक अधिक पदसे गुणित 'पदका आधा' गुणित चय=उत्तरधन (पद+१)× $\left(\frac{\text{पद}}{२}\right)$ ×चय= $\frac{(\text{पद}+१)\ \text{पद}\times\text{चय}}{२}$ =उत्तरधन । यहा "व्येकपदार्धघ्न चयगुणो गच्छ उत्तर धनं" सूत्र नही लगता, क्योकि अन्तरायामके निषेको को द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकवत् माननेपर कोई भी निषेक अन्तरायामका सर्वहीन निषेक भी नही बनता । अन्तरायामका सर्व-हीन निषेक भी एक चयसे अधिक करने पर बनेगा अतः "सैकपदाहत······ इत्यादि कहा ।

विशेषार्थ—अन्तरायामका सख्यातवां भाग उपशम सम्यक्त्व का काल है। उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त हो जाने पर भी अन्तरायाम का सख्यात बहुभाग शेष रहता है जहां पर दर्शनमोहनीय कर्म के सत्त्व का भी अभाव है। अन्तरायाम के ऊपर द्वितीय स्थिति मे दर्शनमोहनीय कर्म का द्रव्य है जिसका अपकर्षण करके अन्त-रायामको पूरता है। अर्थात् शेष अन्तरायाम काल मे अपकर्षित द्रव्य का क्षेपण करके दर्शनमोहनीय कर्म का सत्त्व स्थापन करता है। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियो मे से जिस प्रकृति का उदय प्रारम्भ हो जाता है उस प्रकृति के द्रव्य को उदय स्थिति से लेकर सर्व स्थितियो मे देता है और जिन दो प्रकृतियो का उदय नही है उनके द्रव्य को उदयावलि से बाह्य सर्व स्थितियो मे देता है, किन्तु उदयावलि मे नही देता। इतनी विशेषता है कि अपनी-अपनी अतिस्थापना मे तीनो प्रकृतियोका द्रव्य नही दिया जाता।

यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है[1]।

ओक्कट्टिदइगिभागं समपट्टीए विसेसहीणकमं।
सेसासंखाभागे विसेसहीणेण खिवदि सव्वत्थ ॥१०४॥

अर्थ—अपकृष्ट द्रव्यका एक भाग तो चय (विशेष) हीन क्रम से उदयावलि मे देना शेष असख्यात बहुभाग सर्वत्र विशेष (चय) हीन क्रम से दिया जाता है।

विशेषार्थ—यदि उदयरूप सम्यक्त्वप्रकृति होवे तो उसके द्रव्यमे अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से बहुभागप्रमाण द्रव्य यथावस्थित ही रहे। एक भाग को असख्यातलोकका भाग देकर उसमे से एकभागप्रमाण द्रव्य **'उदयावलिस्स दव्वं'**[2] इत्यादि सूत्र द्वारा जैसा पूर्वमे विधान कहा था वैसे ही उदयावलिके निषेकोमे चय हीन क्रमसे निक्षिप्त करना। अपकर्षित द्रव्यमे से अवशिष्ट बहुभागमात्र जो द्रव्य है उसे

---

१ ज ध पु १२ पृ ३१५ के आधार से। क पा सुत्त पृ ६३५, ध पु ६ पृ २४१।
२ ल सा. गा ७१।

अर्थ—सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे तत्त्वों का और पदार्थों का अथवा तत्त्वार्थ का चल-मलिन-अगाढ सहित श्रद्धान करता है तथा स्वयं न जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है। सूत्र के द्वारा समीचीनरूप से दिखलाये गये उस अर्थका जब यह जीव श्रद्धान नही करता उस समय से लेकर वही जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वप्रकृति के द्वारा सम्यग्दर्शनकी स्थिरता और निष्कांक्षता का घात होता है[1]। स्थिरता का घात होने से चल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते है। निष्काक्षता का घात होने से मल दोष उत्पन्न होता है। जैसे वृद्धपुरुष लाठी को पकडे रहता है, किन्तु कांपती रहती है, स्थिर नही रहती। इसीप्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि का तत्त्वार्थश्रद्धान स्थिर नही रहता-चलायमान रहता है। स्थिरता के घात के कारण श्रद्धा भी दृढ नही होती। निष्कांक्षता का घात होने से शंका, काक्षा आदि दोष सम्यक्त्व को मलीन करते रहते है। इसीलिये गाथा में कहा गया है कि सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय मे चल-मलिन व अगाढ़ सहित तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है। "**सद्दहइ असब्भाव**" ऐसा कहने पर असद्भूत अर्थ का भी सम्यग्दृष्टि जीव गुरुवचन को प्रमाण करके स्वयं नही जानता हुआ श्रद्धान करता है। इस गाथा के उत्तरार्ध द्वारा आज्ञा-सम्यक्त्वका लक्षण कहा गया है।

शंका—अज्ञानवश असद्भूत अर्थ का ग्रहण करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह परमागम का ही उपदेश है ऐसा निश्चय होने से उस प्रकार स्वीकार करने वाला वह जीव परमार्थ का ज्ञान नही होने पर भी सम्यग्दृष्टिपने से च्युत नही होता।

यदि पुनः कोई परमागमके ज्ञाता विसंवादरहित दूसरे सूत्र द्वारा उस अर्थ को यथार्थ रूप से बतलावे फिर भी वह जीव असत् आग्रहवश उसे स्वीकार नही करता है तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि पद का भागी हो जाता है, क्योकि वह प्रवचन विरुद्ध बुद्धिवाला है ऐसा परमागम का निश्चय है। इसलिये यह ठीक

१. को भागो सम्मत्तस्स तेण घाइज्जदि ? थिरत्तं णिक्कंक्खत्तं। (ज. ध. पु. ५ पृ १३०)

स्थितिके प्रथम निषेकसे गच्छप्रमाण चयोसे अधिक द्रव्य तो अन्तरायामके प्रथम निषेकमे देना चाहिए। यहा गच्छका प्रमाण अन्तरायाम और चयका प्रमाण पूर्वोक्त जानना। तथा द्वितीयादि निषेकोमे एक-एक चयहीन क्रमसे देना। अन्तिम निषेकमे एक चय अधिक (द्वितीयस्थितिके प्रथम निषेककी अपेक्षा) देना। इसप्रकार देने पर जैसे क्रम लिये हुए चाहिए वैसे अन्तरायामके निषेकोंका अभाव हुआ था उनका पुन सद्भाव हो गया। अब अपकृष्टावशिष्ट द्रव्यमे से इतना द्रव्य देने पर किंचित् ऊन हुआ सो उस अवशेष द्रव्यको अन्तरायाम अथवा द्वितीय स्थितिमे देना। वहां अन्तरायाममे तो पूर्वमे जिसप्रकार आदिधन और उत्तरधनको मिलाकर द्रव्यका प्रमाण निकालनेका विधान कहा था उसी प्रकार द्रव्यका प्रमाण प्राप्तकर उतने द्रव्यको अन्तरायामके निषेकोमे[५] देना। इतना द्रव्य अन्तरायामके निषेकोमे देनेके पश्चात् जो द्रव्य अवशिष्ट रहा उसको 'दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा' इत्यादि सूत्र विधान द्वारा द्वितीय स्थितिके नानागुण-हानि सम्बन्धी निषेकोमे से अन्तिम अतिस्थापनावलीप्रमाण निषेक छोडकर सर्वत्र देना चाहिए। इसप्रकार उदय योग्य सम्यक्त्वप्रकृतिका विधान कहा। तथा उदयके अयोग्य सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व प्रकृतियोके द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से एक भाग उदयावलीसे बाहर जो अन्तरायाम है उसमे और द्वितीयस्थितिमें पूर्ववत् निक्षिप्त करना चाहिये उदयावलिमें निक्षिप्त नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्वप्रकृति मे से अन्यतर उदय योग्य होवे अवशेष दो प्रकृति उदययोग्य नही होवे तो वहां यथासम्भव विधान जानना। जैसे गाय की पूछ क्रमसे मोटाईसे हीन होती है वैसे सर्वत्र चय हीन क्रम पाया जाता है, अतः उसे गोपुच्छाकार कहते है।

अथानन्तर सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयका कार्य दो गाथाओं में कहते हैं—

सम्मुदये चलमलिणमगाढं सद्दहदि तच्चयं अत्थं।
[१]सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥१०५॥
[२]सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी [३]जीवो तदो पहुदी ॥१०६॥

---

१. ज ध पु. १२ पृ ३२१ गाथा १०७ का उत्तरार्ध; ध पु. १ पृ १७३; ध. पु. ६ पृ. २४२, प्रा. प. स. अ १ गा. १२

२ ज. ध. पु. १२ पृ. ३२२, ध. पु १ पृ २६२।

३ 'त्ति तदो पहुडि जीवो' इत्यपिपाठः

पना असिद्ध भी नही है, क्योंकि अनेकान्त बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नही बन सकता जबकि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओं का क्रमसे एक आत्मा मे पाया जाना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मा मे एक साथ भी उन दोनो का रहना बन सकता है। यह सर्वकथन काल्पनिक नही है, क्योकि पूर्व स्वीकृत देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरिहन्त भी देव है ऐसा अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है[1] ।*

शंका—औपशमिकादि पाच भावो मे से सम्यग्मिथ्यात्व कौन सा भाव है ?

समाधान—क्षायोपशमिक भाव है, क्योकि प्रतिबन्धी कर्म का उदय होने पर भी जीव के गुण का जो अवयव पाया जाता है वह गुणाश क्षायोपशमिक कहलाता है। गुणो के सम्पूर्णरूप से घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षयरूप ही जो उपशम होता है वह क्षयोपशम कहलाता है, उस क्षयोपशम मे उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय मे रहते हुए सम्यक्त्व की कणिका भी अवशिष्ट नही रहती है, अन्यथा सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघातीपना बन नही सकता। इसलिये सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक है यह कहना घटित नही होता।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक करचित् अर्थात् शवलित या मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्न होता है, उसमे जो श्रद्धानाश है वह सम्यक्त्व का अवयव है उस श्रद्धानाश को सम्यग्मिथ्यात्व कर्मोदय नष्ट नही करता, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है।

शंका—अश्रद्धानभाग के बिना केवल श्रद्धानभाग के ही 'सम्यग्मिथ्यात्व' यह सज्ञा नही है, इसकारण सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक नही है।

समाधान—उक्त प्रकार की विवक्षा होने पर सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक भले ही न होवे, किन्तु अवयवी के निराकरण और अवयवके अनिराकरण की

---

१. ध. पु. १ सूत्र ११ की टीका पृ १६७-१६८। सूर्य को अर्घ देना ...... इस प्रकार की अनेक मूढताए जाननी चाहिये। कोई यदि इन मूढताओ का सर्वथा त्याग नही करता (और सम्यक्त्व के साथ-२ किसी मूढता का भी पालन करता है) उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानो। उपासकाध्ययन। कल्प ४। श्लोक १४४।

कहा गया है कि प्रवचनमे उपदिष्ट अर्थ का आज्ञा और अधिगम से विपरीतता के विना श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है[1] ।

अब मिश्रप्रकृतिके उदयका कार्य कहते हैं—

मिस्सुदये सम्मिस्सं दहिगुडमिस्सं व तच्चमियरेण ।
सद्दहदि एक्कसमये मरणे मिच्छो व अयदो वा ॥१०७॥

अर्थ—मिश्रप्रकृति के उदय मे दधि और गुड के मिश्रित स्वादके समान एक समयमे सम्यक्त्व व मिथ्यात्व मिश्रित तत्त्व का इतर जाति (जात्यन्तर) रूप श्रद्धान होता है । मरणकाल मे मिथ्यात्व या असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार दही और गुड परस्पर इसप्रकार मिल जाते है कि उनका पृथक् पृथक् अनुभव नही हो सकता, किन्तु खट्टा और मीठा मिश्रित रसास्वाद का अनुभव होता है उसी प्रकार एक ही काल मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणाम मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति के उदय से होते है[2] । अभेद विवक्षा में उसके जात्यन्तर भाव कहा है (**अभेदविवक्खाए जच्चंतरत्तं**)[3] किन्तु भेद की विवक्षा करने पर उसमे सम्यग्दर्शन का एक अश है ही । यदि ऐसा न माना जावे तो उसके जात्यन्तर मानने में विरोध आता है[4] ।

शंका—एक जीव मे एक साथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि सम्भव नही है, क्योकि इन दोनो दृष्टियो का एक जीव मे एक साथ रहने मे विरोध आता है । यदि कहा जावे कि ये दोनो दृष्टिया क्रम से एक जीव में रहती है तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम के स्वतन्त्र गुणस्थानो मे ही अन्तर्भाव मानना चाहिए । इसलिये सम्यग्दृष्टि भाव सम्भव नही है ।

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्या-दृष्टि है । इसमे विरोध भी नही आता, क्योकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, इसलिये उसमे अनेक धर्मो का सहानवस्थान लक्षण का विरोध असिद्ध है । आत्मा के अनेकात-

१. ज. ध. पु १२ पृ. ३२१-२२ ।
२. ध. पु १ पृ. १६८, प्रा प. स. १।१०; गो. जी का. गा. २२ ।
३. ध. पु. ५ पृ २०८ ।
४. ध. पु. ५ पृ. २०८ ।

नोट—ऐसा प्रतीत होता है कि सम्यग्मिथ्यात्व के मिथ्यात्व अवयव की दृष्टि से उपर्युक्त कथन जयधवला मे किया गया है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व भाव होता है इसलिये उसको औदयिकभाव कहना चाहिये था।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व को औदयिकभाव नही कहा गया, क्योकि मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से जिसप्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नही होता इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व को औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

शंका—यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश नही करता तो उसको सर्वघाति क्यो कहा गया ?

समाधान—ऐसी शका ठीक नही, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करता है इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाति कहा है[1]।

शङ्का—जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के उदयसे मिथ्यात्वका बंधक होता है उसीप्रकार क्या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व के उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को बाधता है या नही ?

समाधान—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को नही बांधता, क्योकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवो मे दर्शनमोहनीयके बन्धके अभावका मुक्त कण्ठ होकर इस **"सम्मामिच्छाइट्ठी दंसणमोहस्सऽबंधगो होइ"**[2] इत्यादि गाथा सूत्र मे उपदेश दिया गया है। (ज. ध. पु. १२ पृ ३१३) दूसरे सम्यग्मिथ्यात्व बन्ध योग्य प्रकृति नही है सलिये भी उसका बन्ध सम्भव नही है[3]।

जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है वह या तो साकारोपयोगवाला होता है या अनाकार उपयोगवाला होता है, क्योकि दोनो ही उपयोगो के साथ सम्यग्मिथ्यात्व गुण की प्राप्ति होने मे विरोध का अभाव है। दर्शनमोह की उपशामना मे प्रवृत्त हुए जीव के प्रथम अवस्था मे जिसप्रकार उपयोग का नियम है उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व

१- ध. पु १ सूत्र ११ की टीका पृ. १६६।

२. क पा. गा. १०२।

३. गो क. गाथा ३७।

अपेक्षा वह क्षायोपशमिक है। सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाति होवे, क्योकि जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्वता का अभाव है किन्तु श्रद्धानभाग अश्रद्धानभाग नही हो जाता, क्योकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है। श्रद्धानभाग कर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि इसमें विपरीतता का अभाव है और न उनमे सम्यग्मिथ्यात्व सज्ञा का ही अभाव है, क्योकि समुदाय मे प्रवृत्त हुए शब्दो की उनके एक देश मे भी प्रवृत्ति देखी जाती है। अत यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिकभाव है[1]।

सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि क्षायोपशमिक है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व के उदयसे उत्पन्न होती है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धक सर्वघाति ही होते है इसलिये इसके उदयसे उत्पन्न हुआ सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक कैसे हो सकता है ?

समाधान—शका ठीक नही है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धको का उदय सर्वघाति नही होता।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यक्त्वरूप अश की उत्पत्ति अन्यथा बन नही सकती। इससे ज्ञात होता है कि सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नही होता।

सम्यग्मिथ्यात्व के देशघाति स्पर्धको के उदयसे और उसी के सर्वघाती स्पर्धकों की उपशम सज्ञावाले उदयाभाव से सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है इसलिये वह तदुभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कहा गया है[2]।

सम्यग्मिथ्यात्व की अनुभागउदीरणा सर्वघाति और द्विस्थानीय है।

शंका—इसका सर्वघातिपना कैसे है ?

समाधान—मिथ्यात्व की उदीरणा से जिसप्रकार सम्यक्त्वगुण का निर्मूल विनाश होता है उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व की उदीरणा से भी सम्यक्त्व संज्ञावाले जीव का निर्मूल विनाश देखा जाता है[3]।

---

१. ध पु ५ पृ १९८-९९।
२ ध पु १४ पृ २१।
३ ज ध. पु ११ पृ ३८।

जो नियम से मिथ्यादृष्टि जीव है वह नियम अर्थात् निश्चय से जिनेंद्र द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नही करता है।

शङ्का—इसका क्या कारण है ?

समाधान—क्योकि वह दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के उदय के कारण विपरीत अभिनिवेशवाला है। इसलिये वह **'सद्दहइ असब्भावं'** अपरमार्थ स्वरूप असद्-भूत अर्थ का ही मिथ्यात्वोदयवश श्रद्धान करता है। वह **'उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं'** अर्थात् उपदिष्ट या अनुपदिष्ट दुर्मार्गका ही दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के उदयसे श्रद्धान करता है। इसके द्वारा व्युद्ग्राहित और इतर इन दो भेदो से मिथ्यादृष्टि का कथन किया गया है। **कहा भी है**—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाणं होइ अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहिय त्ति तं तिविहं ॥

अर्थ—तत्त्वो का और अर्थो का जो अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है। सशयिक, अभिगृहीत और अनभिगृहीत के भेद से वह मिथ्यात्व तीन प्रकार का है।

जिसप्रकार पित्तज्वर वाले मनुष्य को दूध आदि मधुर पदार्थ रुचिकर नही होते, क्योकि पित्त के कारण मिष्ट पदार्थ भी कटुक प्रतीत होता है। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टिजीव को तत्त्वार्थ का यथार्थ उपदेश रुचिकर नही होता, क्योकि उसके हृदय मे मिथ्याश्रद्धान बैठा हुआ है। इसलिये उसको मिथ्यामार्ग ही रुचता है।

"जीवादि नौ पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यथार्थ है या नही" इत्यादिरूप से जिसका श्रद्धान दोलायमान हो रहा है वह **संशयिक मिथ्यादृष्टि** है। जो कुमार्गियों के द्वारा उपदिष्ट पदार्थो का श्रद्धान करता है वह **अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि** है। जो उपदेश के बिना शरीर आदि में अपनेपन की कल्पना करता है वह **अनभि-गृहीत मिथ्यादृष्टि** है[1]।

---

१ ज. ध. पु. १२ पृ. ३२२-२३।

ऐसा नियम नही है, किन्तु दोनो ही उपयोगो के साथ सम्यग्मिथ्यात्व गुण को प्राप्त होता है[1]।

जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आगामी आयु को बांधकर सम्यग्मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व के साथ ही मरण को प्राप्त होकर उस गति से निकलता है। अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आगामी आयु का बध करके सम्यग्मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होता है वह मिथ्यात्व के साथ ही मरण को प्राप्त हो उस गतिसे निकलता है[2]। सम्यग्मिथ्यात्व में मरण नही है और आयु बन्ध भी नही है[3]।

अब मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका कार्य दो गाथाओंमें कहते हैं—

[4]मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जुरिदो ॥१०८॥
[5]मिच्छाइट्ठी जीवो[6] उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१०९॥

अर्थ—मिथ्यात्व का वेदन करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला होता है। जैसे ज्वर से पीडित मनुष्य को मधुर रस नही रुचता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि को धर्म नही रुचता। मिथ्यादृष्टिजीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नही करता, उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का श्रद्धान करता है।

विशेषार्थ—उपर्युक्त गाथा सख्या १०८ जयधवल पु. १२ पृ. ३२३ पर उद्धृत गाथा न २ के समान है तथा गाथा १०९ कषायपाहुड के गाथा १०८ के सदृश होने से कषायपाहुड गाथा १०८ के अनुसार यहा विशेषार्थ दिया जा रहा है।

---

१ ज ध पु १२ पृ ३२४।
२ ध. पु ५ पृ ३१ ध. पु ४ पृ ३४३।
३. ध पु ७ पृ ४५८, ध पु ४ पृ. ३४३, गो. जी गाथा २४। मिश्रगुणस्थानमे मारणान्तिक समुद्घात भी नही होता है।
४ ज ध पु १२ पृ ३२३।
५ ज ध पु १२ पृ ३२२ गा १०८।
६ 'णियमा' इति पाठान्तरम्।

सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ।।२।।

अर्थ—सम्यक्त्व का प्रथम लाभ सर्वोपशम से ही होता है तथा विप्रकृष्ट जीव के द्वारा भी सम्यक्त्व का लाभ सर्वोपशम से ही होता है, किन्तु शीघ्र ही पुन. पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव सर्वोपशम और देशोपशम से भजनीय है।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड की १०४ वी गाथा है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जो सम्यक्त्व का प्रथम लाभ होता है वह सर्वोपशम से ही होता है, क्योकि उसके अन्यप्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव नही है। **'तह वियट्ठेण'** मिथ्यात्व को प्राप्त हो जो बहुत काल के पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशम से ही प्राप्त करता है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—सम्यक्त्व को ग्रहणकर पुन मिथ्यात्व को प्राप्त होकर सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना कर पल्योपम के असख्यातवेभाग प्रमाण काल द्वारा या अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल द्वारा जो सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशम से ही प्राप्त करता है।

'भजियव्वो य अभिक्ख' जो सम्यक्त्वसे पतित होता हुआ पुन पुन सम्यक्त्व-ग्रहण के अभिमुख होता है, वह सर्वोपशम से अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, क्योकि यदि वह वेदक प्रायोग्यकाल के भीतर ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो देशोपशम से, अन्यथा सर्वोपशमसे प्राप्त करता है'। इसप्रकार वहा भजनीयपना देखा जाता है। तीनो (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व) कर्म प्रकृतियो के उदया-भावका नाम सर्वोपशम है और सम्यक्त्वप्रकृति के देशघातिस्पर्धको का उदय देशोपशम कहलाता है[२]।

मिच्छत्तवेदणीय कम्म उवसामगस्स बोद्धव्व।
उवसंते आसाणे तेण परं होदि भजिदव्वो ।।३।।

अर्थ—दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के मिथ्यात्वकर्म का उदय जानना चाहिए। दर्शनमोह की उपशान्त अवस्था मे मिथ्यात्वकर्म का उदय नही होता। उपशमसम्यक्त्व की आसादना के अनन्तर उसका (मिथ्यात्वका) उदय भजनीय है।

---

१ गो क गा. ६१४-१५।

२ ज ध पु १२ पृ ३१६-१७।

"प्रथमोपशमसम्यक्त्व चूलिका"

लब्धिसार ग्रन्थ मे १०६ गाथाओ द्वारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व नामक प्रथम अधिकार समाप्त हो चुका है, किन्तु कषायपाहुड ग्रन्थ मे प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध मे निम्न गाथाओ मे कुछ विशेष वर्णन किया गया है अत उसे उपयोगी जान-कर टीकाकार द्वारा रचित यहा पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व चूलिका के रूप मे उद्धृत किया गया है—

सव्वेहि ट्ठिदिविसेसेहिं उवसंता होंति तिण्णि कम्मंसा ।
एक्कम्हि य अणुभागे णियमा सव्वे ट्ठिदि विसेसा ॥१॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनो प्रकृतिया सभी स्थिति विशेषो के साथ उपशान्त रहती है तथा सभी स्थिति विशेष नियमसे एक अनुभागमे अवस्थित रहते है।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड की १०० वी गाथा है। इस गाथासूत्र में '**तिण्णि कम्मंसा**' ऐसा कहने पर मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दर्शनमोह की उपशामना का प्रकरण है। ये तीनो ही कर्म-प्रकृतिया सभी स्थिति विशेषो के साथ उपशान्त रहती है, उनकी एक भी स्थिति अनुपशान्त नही होती। अत मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक इन सब स्थिति विशेषो मे स्थित सब परमाणु उपशान्त होते हैं यह सिद्ध हुआ। इसप्रकार उपशान्त हुए उन सब स्थिति विशेषो का अनुभाग एक प्रकार का ही है। '**एक्कम्हि य अणुभागे**' एक ही अनुभाग विशेष मे इन तीनो कर्म प्रकृतियो के सब स्थिति विशेष होते है। अन्तरायाम के बाहर अनन्तरवर्ती जघन्य स्थिति विशेष मे जो अनुभाग है वही उससे उपरिम उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समस्त स्थिति विशेषो मे होता है, अन्य नही होता। मिथ्यात्व का तो घात करने से शेष रहा सर्वघाति द्विस्थानीय अनुभाग सब स्थिति विशेषो मे अवस्थित रूप से स्थित रहता है। इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व का भी जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यात्व के अनुभाग से यह अनन्तगुणा हीन होता है। सम्यक्त्व का अनुभाग तो इससे भी अनन्तगुणा हीन होता है, जो देशघाति द्विस्थानीयरूप होकर दारु समान अनुभाग के अनन्तवेंभागरूप मे अवस्थित उत्कृष्ट स्वरूप एक प्रकार का सर्वत्र होता है।

---

१ [illegible] ३०९-१०।

मिच्छत्तपच्चयो खलु बंधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होदि भजिदव्वो ॥४॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयका उपशम करने वाले जीवके नियम से मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध जानना चाहिए, किन्तु उसके उपशान्त रहते हुए मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध नही होता तथा उपशात अवस्था के समाप्त होने के पश्चात् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड की १०१ वी गाथा है। मिथ्यात्व है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह खलु अर्थात् स्पष्टरूप से मिथ्यात्व प्रत्यय बन्ध है, जो दर्शनमोह उपशामक के प्रथमस्थिति के अन्तिम समय तक होता है।

शंका—मिथ्यात्व प्रत्ययबन्ध किन कर्मो का होता है ?

समाधान—मिथ्यात्व और ज्ञानावरणादि शेष कर्मों का मिथ्यात्वप्रत्यय बध होता है। यद्यपि यहा पर (मिथ्यात्वगुणस्थानमें) शेष असंयम, कषाय और योग का भी प्रत्ययपना है तथापि मिथ्यात्व की ही प्रधानता की विवक्षामें इसप्रकार कहा गया है, क्योकि ऊपरके गुणस्थानो मे मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध के अभाव का कथन करने-वाला यह वचन है।

'उवसते आसाणे' दर्शनमोहनीय के उपशात होने पर अन्तरायाम में प्रवेश करनेके प्रथम समय से लेकर मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध का आसान अर्थात् विनाश ही है। वहां मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नही है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अथवा **'उवसंते'** दर्शनमोहनीय का उपशम होने पर सम्यग्दृष्टि जीव के और **'आसाणे'** अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता इतना वाक्यशेष का योग करके सूत्रार्थ का समर्थन करना चाहिए।

'तेण परं होदि भजिदव्वो' अर्थात् उपशमसम्यक्त्वकाल के समाप्त होने पर मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है, क्योकि उपशमसम्यक्त्व कालके क्षीण होने पर दर्शनमोह की तीनो प्रकृतियो मे से किसी के होने पर कदाचित् (मिथ्यात्वोदय होने पर) मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, कदाचित् (सम्यक्त्व या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर) अन्य (असंयम, कषाय, योग) निमित्तक बन्ध होता है। अत

विशेषार्थ—यह गाथा कषायपाहुड की ९९ वी गाथा है। इस गाथा द्वारा यह वतलाया गया है कि दर्शनमोहनीय के उपशामक जीव का जब तक अन्तर मे प्रवेश नही होता, तव तक उसके मिथ्यात्व का उदय नियम से होता है उसके पश्चात् उपशम सम्यक्त्वकाल के भीतर मिथ्यात्व का उदय नही होता, परन्तु उपशमसम्यक्त्व-काल के समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय भजनीय है। इसप्रकार इस गाथा द्वारा तीन विशेष अर्थ कहे गये हैं। तद्यथा—**'मिच्छत्त वेदणीय कम्म'** ऐसा कहने पर जिस कर्म के द्वारा मिथ्यात्व वेदा जाता है वह मिथ्यात्ववेदनीयकर्म उदय अवस्था से युक्त उपशामक के नियम से होता है ऐसा जानना चाहिये। इसप्रकार गाथा के पूर्वार्ध का पद सम्वन्ध है। इसलिये मिथ्यात्वकर्म का उदय दर्शनमोह के उपशामक के नियम से होता है।

शंका—सूत्र द्वारा अनुपदिष्ट उदय विशेषण कैसे उपलब्ध होता है ?

समाधान—ऐसी आशङ्का नही करना चाहिये, क्योकि अर्थ के सम्बन्ध से ही उसप्रकार के विशेषण की यहा उपलब्धि होती है। अथवा जो वेदा जावे वह वेदनीय है। मिथ्यात्व ही वेदनीय मिथ्यात्ववेदनीय है। उदय अवस्था से परिणत मिथ्यात्वकर्म, यह इसका तात्पर्य है। वह उपशम करनेवाले जीव के होता है। इसप्रकार उक्त विशेपण सूत्रोक्त हो जानना चाहिए।

'उवसते आसाणे' ऐसा कहने पर दर्शनमोहनीय की उपशान्त अवस्थामें उपशमसम्यग्दृष्टिपने को प्राप्त हुए जीव के मिथ्यात्व वेदनीयकर्म के उदयका आसान अर्थात् विनाश ही रहता है, क्योकि अन्तर प्रवेशरूप अवस्थामे उसके उदयका अत्यन्ता-भाव होने से उसका उदय निषिद्ध ही है तथा उसका अनुदय ही उपशान्तरूपसे यहा पर विवक्षित है। अथवा **'उवसते'** अर्थात् उपशमसम्यक्त्व काल के भीतर तथा **'आसाणे'** अर्थात् सासादनकाल के भीतर मिथ्यात्वका उदय नही है। इसप्रकार वाक्यशेष के वश से सूत्र का अर्थके साथ सम्बन्ध करना चाहिए।

'तेण पर होदि भजिदव्वो' ऐसा कहने पर उपशमसम्यक्त्वकाल के समाप्त होने पर तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म के उदयसे वह भजनीय है, क्योकि मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व मे से अन्यतर के उदय का वहा विरोध नही पाया जाता है अर्थात् इन तीनो मे से किसी एक का उदय अवश्य होता है[1]।

---

[1] ज ध पु १२ पृ ३०७-८।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय की उपशामना के सम्बन्धमे जो पचविंशति (२५) स्थानीय अल्पबहुत्वदण्डक कहा गया है उससे यह जाना जाता है।

जो मिथ्यादृष्टि हो गया है वह मिथ्यात्वको प्राप्त होने के प्रथमसमय मे अन्तरकाल के ऊपर दूसरी स्थिति मे स्थित प्रथम निषेक से लेकर मिथ्यात्व की अन्त-कोडाकोडी प्रमाण स्थिति के अन्तिम निषेक तक जितनी स्थितिया है उन सबके कर्म-परमाणुओं में पल्यके असख्यातवे भाग प्रमाण अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार का भाग देकर वहा जो एक भाग प्राप्त होता है उसे अन्तर को पूरा करने के लिये अपकर्षित करता है, फिर इसप्रकार अपकर्षित हुए द्रव्यमे असख्यातलोकप्रमाण भागहार का भाग देकर जो एकभाग प्राप्त हो उसमे से बहुभाग उदय मे देता है। दूसरे समयमे विशेष हीन देता है। यह विशेष का प्रमाण निषेक भागहार से ले आना चाहिए। इसप्रकार उदयावलि के अन्तिम समय तक विशेष हीन विशेष हीन द्रव्य देना चाहिये। यहा उदय समय से लेकर उदयावलि के अन्तिम समयतक असख्यातलोक प्रतिभाग से प्राप्त हुआ एकभाग प्रमाण द्रव्य समाप्त हो जाता है। फिर शेष असंख्यात बहुभागप्रमाण द्रव्य मे से उपरिम अनन्तरवर्ती स्थिति मे[1] असख्यातगुणे द्रव्य का निक्षेप करता है।

शङ्का—यहां गुणकार का प्रमाण क्या है ?

समाधान—असख्यातलोक।

फिर इससे आगे की स्थिति मे दोगुणहानिप्रमाण निषेकभागहार की अपेक्षा विशेषहीन द्रव्यका निक्षेप करता है। इसप्रकार यह क्रम अनन्तरकाल के अन्तिम समय तक प्रारम्भ रहता है। इससे आगे की उपरिम स्थितिमे दृश्यमान कर्मपरमाणुओ के ऊपर असख्यातगुणे हीन द्रव्यका निक्षेप करता है फिर इससे आगे अतिस्थापनावलि के प्राप्त होने के पहले तक पूर्वविधि से विशेषहीन विशेषहीन द्रव्य का निक्षेप करता है[2]।

इसप्रकार दर्शनमोहोपशामना अधिकार पूर्ण हुआ।

१　अन्तर अधस्तनापेक्षा।

२.　ज. ध. पु ७ पृ. ३१५-१६।

उपशम सम्यक्त्व काल के पश्चात् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय होने में विरोध उपलब्ध नही होता[1]

सम्मत्तपढमलंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं ।

लभस्स अपढमस्स दु भजिदव्वो पच्छदो होदि ॥५॥

अर्थ—सम्यक्त्व के प्रथम लाभ-(उपशमसम्यक्त्व) के अनन्तर (पच्छदो) पूर्व मिथ्यात्व ही होता है। अप्रथमलाभ (क्षयोपशम सम्यक्त्व) के (पच्छदो) पूर्व मिथ्यात्व भजनीय है।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड की १०५ वी गाथा है। **'पच्छदो'** यद्यपि 'पश्चात्' का वाचक है, किन्तु यहा पर 'पीछे' का वाचक शब्द ग्रहण करके 'पूर्व' अर्थ किया गया है, क्योकि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् मिथ्यात्व का नियम नही है, सम्यक्त्व या सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का भी उदय हो सकता है जैसा कि उपरोक्त गाथा ३ व ४ मे कहा गया है, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्व से अनन्तरपूर्व मिथ्यात्व का उदय नियमसे होता है, क्योकि मिथ्यादृष्टि ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण के अभिमुख हो सकता है, अन्य नही। अत यहा पर **'पच्छदो'** का 'पीछे' अर्थात् सम्यक्त्व से पूर्व क्या अवस्था थी इस बात का ज्ञान कराने के लिये 'पूर्व' अर्थ किया गया है। इसका समर्थन कषायपाहुड की जयधवल टीका से भी होता है जो इसप्रकार है—

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का जो प्रथम लाभ होता है उसके **'अणतर पच्छदो'** अनन्तरपूर्व पिच्छली अवस्थामे मिथ्यात्व ही होता है, क्योकि उसके प्रथमस्थिति के अन्तिम समयतक मिथ्यात्वके अतिरिक्त प्रकारान्तर सम्भव नही है। **'लभस्स अपढमस्स दु'** अर्थात् जो नियमसे अप्रथम सम्यक्त्व का लाभ है उसके अनतर पूर्व अवस्था मे मिथ्यात्व का उदय भजनीय है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक-सम्यक्त्व (क्षयोपशम सम्यक्त्व) या प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करता है और कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त करता है[2]।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरने का कथन—

यहा उपशम सम्यक्त्व के रहते हुए जितना अन्तरकाल समाप्त हुआ है उससे जो अन्तरकाल शेष बचा रहता है वह उपशमसम्यक्त्व के काल से सख्यातगुणा होता है।

---

१ [illegible] पु [illegible] पृ [illegible]।

२ [illegible] ध पु २ पृ २६८; ध पु ६ पृ २४२, क पा सुत्त पृ ६३५।

वर्तनकर किसमें संक्रमित करता है ऐसा पूछने पर 'सम्मत्ते' अर्थात् सम्यक्त्व कर्मप्रकृति में सक्रमित करता है यह निर्देश किया है[1] ।

मिथ्यात्वका पूरा द्रव्य सक्रमण करने के बाद स्थित हुई सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की ही मिथ्यात्व सज्ञा है[2] । ऐसे जीवके जघन्यसे तेजोलेश्या होनी चाहिए । दर्शनमोहकी क्षपणा करते समय सर्वत्र ही वर्तमान शुभ तीन लेश्याओ में से अन्यतर लेश्या वाला ही होता है, अन्य लेश्या वाला नही होता, क्योकि विशुद्धि के विरुद्ध स्वभाववाली कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओका वहा अत्यन्त अभाव होने से निषेध है । अत. विशुद्धरूप परिणामों मे से जघन्यरूप मन्दपरिणामो में विद्यमान दर्शनमोहनीयका क्षपकजीव भी तेजोलेश्या का उल्लंघन नही करता है[3] ।

अब दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाले प्रस्थापक-निष्ठापकके सम्बन्धमें विशेष कथन करते हैं—

णिट्ठवगो[4] तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य ।
किदकरणिज्जो चदुसु वि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥१११॥

अर्थ—प्रारम्भक काल के अनन्तर समय से लगाकर क्षायिकसम्यक्त्व ग्रहण के समय से पहले तक निष्ठापक होता है । यह निष्ठापक जहा दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ हुआ वहा ही या सौधर्मादिस्वर्गोमे[5] या कल्पातीत विमानो मे या भोग-भूमिज मनुष्य-तिर्यचो मे अथवा प्रथम घर्मानरक मे होता है; अर्थात् निष्ठापक इतनी जगह हो सकता है, क्योकि बद्धायुष्क कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वी मरकर चारो गतियो मे उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहकी क्षपणाको उद्यत हुए जीवके 'प्रस्थापक' सज्ञा कब प्राप्त होती है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है । यथा—जब मिथ्यात्व प्रकृति के सर्व-

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. ५ ।
२. क. पा. सुत्त पृ. ४६० ।
३. ज. ध. पु. १३ पृ. ६ ।
४. "णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ" । अर्थात् दर्शनमोहकी क्षपणाका निष्ठापक चारों गतियोमें होता है (क. पा. गा. ११०; जीवस्थान चूलिका ८ सूत्र १२, ध. पु. ६ पृ २४७)
५. लेकिन भवन त्रको और देवियो को छोड़कर (ज. ध. पु. १३ पृ. ४)

"अथ क्षायिकसम्यक्त्व प्ररुपणा अधिकार"

अब क्षायिक सम्यक्त्वोत्पत्तिकी सामग्रीका कथन करते हैं—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।
तित्थयरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥

अर्थ—कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य तीर्थङ्कर के या अन्यकेवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोहकी क्षपणा का प्रस्थापक-प्रारम्भ करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा द्वारा दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है। यह निश्चय किया गया है, क्योकि अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) मनुष्य के दर्शनमोह की क्षपणा करने की शक्तिका अत्यन्त अभाव होने के कारण वहा उसका निषेध किया गया है। इसलिये शेष गतियोमे दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रतिषेध होनेसे मनुष्यगतिमे ही विद्यमान जीव दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है। मनुष्य भी कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ ही होना चाहिए अकर्मभूमिमें नही ऐसा यहा अर्थग्रहण करना चाहिए। कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य भी तीर्थङ्कर, केवली और श्रुतकेवली के पादमूलमे अवस्थित होकर दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है, अन्यत्र नही, क्योकि जिसने तीर्थङ्करादि के माहात्म्यका अनुभव नही किया है उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणाके कारणभूत करण-परिणामोकी उत्पत्ति नही हो सकती[1]।

अध करण के प्रथम समयसे लेकर मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के द्रव्य का सम्यक्त्वप्रकृतिरूप होकर सक्रमण करने तक अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यंत दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भक कहा जाता है[2]। जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व परिणाम का वेदन करता है उस कर्मको मिथ्यात्वकर्म कहते है। उसके अपवर्तित होने पर अर्थात् सर्वसक्रम द्वारा सक्रमित होनेपर वहासे लेकर यह जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक इस सज्ञाको प्राप्त होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है[3]। परन्तु उसका अप-

---

१. ज. ध पु १३ पृ. २ देखो गाथा ११० कषायपाहुड।

२ लब्धिसार गाथा ११० की टीका।

३ ध पा सुत्त पृ ६४०।

अरिणयट्टीअद्धाए अरणस्स चत्तारि होंति पव्वारिण ।
सायरलक्खपुधत्तं पल्लं दूरावकिट्टि उच्छिट्टं ॥११३॥
पल्लस्स संखभागो संखा भागा असंखगा भागा ।
ठिदिखंडा होंति कमे अरणस्स पव्वादु पव्वोत्ति ॥११४॥
अरिणयट्टीसंखेज्जा भागेसु गदेसु अरणगठिदिसत्तो ।
उदधिसहस्सं तत्तो वियले य समं तु पल्लादी ॥११५॥
उवहिसहस्सं तु सयं परणं परणवीसमेक्कयं चेव ।
वियलचउक्के एगे मिच्छुक्कस्सट्ठिदी होदि ॥११६॥

अर्थ—दर्शनमोह की क्षपरणाके पहले तीनकररण विधान द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की उदयावलिसे बाह्य की स्थितिका अनिवृत्तिकररणके अन्त समयमे नियमसे विसयोजन करता है ।

अनिवृत्तिकररणकाल में अनन्तानुबन्धीकषायके पृथक्त्वलक्षसागर, पल्यप्रमारण, दूरापकृष्टिप्रमारण और उच्छिष्टावलि प्रमारणरूप चार स्थितिसत्त्व होते है ।

अनन्तानुबन्धीके स्थितिसत्त्वके प्रथम पर्वसे दूसरे पर्व पर्यन्त, दूसरे से तीसरे पर्व पर्यन्त और तीसरे से चौथे पर्व पर्यन्त जो स्थितिकाडक होते है उनका आयाम क्रम से पल्यका सख्यातवाभाग, पल्यका सख्यात बहुभाग और पल्यका असख्यात वहु-भागमात्र है ।

अनिवृत्तिकररणकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत होने पर एक भाग अवशिष्ट रहनेपर अनन्तानुबन्धीका स्थितिसत्त्व एक हजारसागर प्रमारण, पश्चात् विकलेन्द्रियके बन्ध समान, पश्चात् पल्य और आदि शब्दसे दूरापकृष्टि और आवलिमात्र होता है ।

विकल चतुष्क अर्थात् असज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्रमसे एकहजारसागर, सौ सागर, पचास सागर, पच्चीससागर और एक सागरप्रमारण होता है । इन्ही के समान अनन्तानुवन्धी का स्थितिसत्त्व होता है । इसका कथन पूर्व मे किया ही है ।

विशेषार्थ—अध:प्रवृत्तकररण, अपूर्वकररण और अनिवृत्तिकररण इन तीनो ही कररणोको; असयत, देशसयत, प्रमत्त और अप्रमत्तसयत जीव करके अनन्तानुवन्धी की

द्रव्यको सम्यग्मिथ्यात्व मे सक्रमण कर देता है और उसके पश्चात् जब सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वद्रव्य को सम्यक्त्वप्रकृति मे सक्रमण करता है, तब उसे 'प्रस्थापक' यह सज्ञा प्राप्त होती है[1]। तथा मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि होने के बाद यह जीव दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका निष्ठापक कहलाता है। इसप्रकार प्रस्थापक-निष्ठापक भेद कहा गया।

प्रस्थापक कौन होता है, यह पूर्व मे कहा ही जा चुका है। निष्ठापक कहा-कहा पर स्थित जीव हो सकता है, यह बात इस गाथा मे मूल मे ही बताई जा चुकी है। जो कुछ विशेष है उसे यहा पर कहा जाता है—

यह कृतकृत्य जीव यदि प्रथमसमय मे मरता है तो नियम से देवो मे उत्पन्न होता है[2] अर्थात् कृतकृत्य होने के प्रथमसमय मे ही यदि मरण करता है तो नियम से देवगति मे ही उत्पन्न होता है, अन्य गतियो मे नही। इसका भी कारण यह है कि अन्यगतियो मे उत्पत्ति की कारणभूत लेश्या का परिवर्तन उस समय असम्भव है[3]। इसी प्रकार कृतकृत्य जीव के तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल के अन्तिमसमयतक द्वितीयादि समयो मे भी देवो मे ही उत्पत्ति का नियम जानना चाहिये। उसके बाद मरण करने वाला कृतकृत्य जीव शेष गतियो मे भी, पहले बाधी आयु के कारण उत्पत्ति के योग्य होता है। कहा भी है—"यदि नारकियो मे, तिर्यचयोनियो मे और मनुष्य मे उत्पन्न होता है तो नियम से कृतकृत्य होने के अन्तर्मुहूर्त काल बाद ही उत्पन्न होता है"[4]। क्योकि अन्तर्मुहूर्त के विना उक्त गतियो मे उत्पत्ति के योग्य लेश्याका परिवर्तन उस समय सम्भव नही है। इसका भी कारण यह है कि कृतकृत्य होने पर यदि लेश्या का परिवर्तन होगा, तो भी पूर्व मे चली आई हुई लेश्या मे वह अन्तर्मुहूर्त तक रहेगा, तत्पश्चात् ही लेश्या-परिवर्तन सम्भव है। शेष कथन सुगम है।

आगे ५ गाथाओं में अनन्तानुबन्धीको विसंयोजनासम्बन्धी कथन करते हैं—

पुव्वं तिरयणविहिणा अणं खु अणियट्टिकरणचरिमम्हि।
उदयावलिबाहिरगं ठिदिं विसंजोजदे णियमा ॥११२॥

---

1. क पा सुत्त पृ ६४०।
2. क पा सुत्त पृ ६५४ सूत्र ८७।
3. ज ध पु १३ पृ ८७।
4. क पा सुत्त पृ ६५४; ज ध पु १३ प ८७।

चारित्रमोहोपशामना और चारित्रमोहक्षपणा में अन्तरकरण सम्भव है, अन्यत्र नही ऐसा नियम है[1]। अनिवृत्तिकरणमे हजारों स्थितकाण्डक और हजारो अनुभागकाडकों के हो जानेपर अनिवृत्तिकरणकालका संख्यात बहुभाग बीत जाता है। पश्चात् विशेष घात वश अनन्तानुबन्धी सत्कर्म असंज्ञियोके स्थितिबन्ध के समान हो जाता है। उसके पश्चात् संख्यातहजार स्थितिकाण्डको के होने पर स्थिति सत्कर्म चतुरिन्द्रिय जीवोके स्थितिबन्धके समान होता है। इसप्रकार त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय के स्थितिबन्धके समान स्थितिसत्कर्म हो जानेपर पुनः पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म हो जाता है। तत्पश्चात् शेष स्थितिके संख्यात बहुभागप्रमाण स्थितिकाडक को ग्रहण करता हुआ अनन्तानुबन्धीका दूरापकृष्टिप्रमाण सत्कर्म करके पश्चात् शेष स्थितिके असख्यात बहु-भागका घात करता हुआ सख्यातहजार स्थितिकाडको के जाने पर अनन्तानुबन्धी के उदयावलि बाह्य समस्त स्थितिसत्कर्मको अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमय मे, पल्योपमके असख्यातवेभागप्रमाण आयामवाले अन्तिम स्थितिकांडक सम्बन्धी अन्तिमफालिरूप से बध्यमान शेष कषायो और नो कषायोमे सक्रमित कर प्रकृत क्रियाओ को समाप्त करता है। इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक विश्राम करता है[2]।

अब अनन्तानुबन्धोकी विसंयोजना वाले जीवके विसंयोजनाके अनन्तर होने वाले कार्यको ११ गाथाओं द्वारा कहते हैं—

अंतोमुहुत्तकालं विस्समिय पुणोवि तिकरणं करिय।
अणियट्टीए मिच्छं मिस्सं सम्मं कमेण णासेइ ॥११७॥

[3]अणियट्टिकरणपढमे दंसणमोहस्स सेसगाण ठिदी।
सायरलक्खपुधत्तं कोडीलक्खगपुधत्तं च ॥११८॥

[4]अमणंठिदिसत्तादो पुधत्तमेत्ते पुधत्तमेत्ते य।
ठिदिखंडेय हवंति हु चउ ति वि एयक्ख पल्लठिदी ॥११९॥

---

१ ज. ध पु १३ प्रस्तावना पृ २०; ज. ध. पु. १३ पृ. २००।
२. ज. ध. पु १३ पृ. २००-२०१, ध. पु. ६ पृ २५१।
३ ज ध पु १३ पृ. ४१, ध पु. ६ पृ २५४।
४ ज ध पु १३ प ४१-४२-४३।

विसयोजना करता है। इन करणोका लक्षण दर्शनमोहकी उपशामनामे जिसप्रकार कहा गया है उसीप्रकार यहा जानना चाहिये, क्योकि कोई विशेषता नही है। अध.-प्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि द्वारा अन्तर्मुहूर्त कालतक विशुद्ध होने वाले जीवके प्रतिसमय केवल अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता जाता है। अध प्रवृत्तकरण मे स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणि और गुणसक्रमण नही होता, क्योकि अध प्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि स्थितिघात आदि का कारण नही है। हजारो स्थितिवन्धापसरण, अशुभकर्मो का प्रतिसमय अनन्तगुणीरूप से अनुभागबन्धापसरण और शुभ कर्मोका अनन्तगुणी वृद्धिरूप से चतु स्थानीय अनुभागबन्ध यह अध प्रवृत्तकरण विशुद्धियोका फल जानना चाहिये[1]।

अपूर्वकरणमे स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण है। यहा की गुणश्रेणि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, सयतासयत और सयतसम्वन्धी गुणश्रेणियोसे प्रदेशोकी अपेक्षा असख्यातगुणी है[2] तथा उनके आयामसे सख्यातगुणी हीन है। परन्तु गुणसक्रम अनन्तानुबन्धियोका ही होता है, अन्य कर्मोका नही होता ऐसा कहना चाहिए। इसप्रकार प्रत्येक हजारो अनुभागकाडकोके अविनाभावी ऐसे स्थितिवन्धापसरणोके साथ होनेवाले हजारो स्थितिकाण्डको के द्वारा अपूर्वकरणके कालको समाप्त करता है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे जो स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्म होता है उससे उसके अन्तिम समयमे स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणा हीन होता है। तत्पश्चात् प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरणवाला हो जाता है। तब अनन्तानुवन्धियोका स्थितसत्कर्म अन्त कोडाकोडीके भीतर लक्षपृथक्त्वसागरोपमप्रमाण होता है। शेप कर्मोका अन्तः-कोडाकोडीके भीतर होता है। फिर भी अनिवृत्तिकरणमे प्रविष्ट हुए जीवके भी इसीप्रकार स्थितिकाडक, अनुभागकाडक, स्थितिबन्धापसरण, गुणश्रेणिनिर्जरा और गुणसक्रम परिणाम व्यामोहके बिना जानना चाहिए[3]।

अनिवृत्तिकरण मे भी पूर्वोक्त स्थितिकाडकघात, अनुभागकाडकघात, गुण-श्रेणि, गुणसक्रमण आदि कार्य होते है। दर्शनमोहकी उपशामना मे जिसप्रकार अनि-वृत्तिकरणमे अन्तरकरण होता है, उसप्रकार यहा पर नही होता है, क्योकि दर्शनमोह-

---

१. ज ध. पु १३ पृ १९८।
२ त सू. अ ९ सू ४५।
३ ज ध. पु १३ पृ १९९।

अर्थ—अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके फिर तीन करणोको करता है। अनिवृत्तिकरणकालमे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति को नष्ट करता है ॥११७॥

अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें दर्शनमोहकी स्थिति पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण है और शेष कर्मोंकी स्थिति पृथक्त्व लक्षकोटिसागर प्रमाण है ॥११८॥

दर्शनमोहकी पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण स्थिति प्रथम समयमे सम्भव होती है उससे आगे सख्यातहजार काण्डक होने पर असंज्ञीके बन्धके समान एक हजारसागर स्थितिसत्त्व रहता है। उसके पश्चात् बहुत-बहुत स्थितिकाडक हो जाने पर क्रमसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान सौ सागर, पचास-सागर, पच्चीससागर और एकसागर स्थितिसत्त्व होता है। पश्चात् बहुत स्थितिखण्ड होने पर पल्यप्रमाण स्थितिसत्त्व होता है ॥११९॥

पल्यकी स्थितिसत्त्वके बाद संख्यात बहुभाग आयामवाले संख्यातहजार स्थिति-घात होजाने पर नियमसे दूरापकृष्टि संज्ञावाला स्थितिसत्त्व होता है ॥१२०॥

दूरापकृष्टि नामक स्थितिसत्त्वका प्रमाण पल्यके सख्यातवे भागमात्र है। उससे आगे पल्यमे असंख्यातका भाग देनेपर उसमेसे बहुभागप्रमाण आयामवाले संख्यातहजार स्थितिकाण्डक होनेपर सम्यक्त्वप्रकृतिके द्रव्यका अपकर्षण किया उसमे असख्यात समयप्रबद्धप्रमाण उदीरणारूप द्रव्यको उदयावलीमे देता है। इसके पश्चात् बहुत स्थितिखण्डों के द्वारा मिथ्यात्वकी उच्छिष्टावलि अर्थात् उदयावलि मात्र स्थिति रह जाती है ॥१२१-१२२॥

जिस अवसरमे असख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होती है उस समयसे उत्तरकालमें उदयावलीमे द्रव्य देने के लिए भागहार पल्यका असख्यातवा भागमात्र है। पूर्ववत् असंख्यातलोक मात्र नही है ॥१२३॥

मिथ्यात्वकी उच्छिष्टावलि स्थितिके बाद पल्यके असंख्यात बहुभागवाले संख्यात स्थितिखण्ड व्यतीत हो जानेपर सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका नियमसे उच्छिष्टावलि-मात्र स्थितिसत्त्व रहता है ॥१२४॥

जब मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) की उच्छिष्टावलि प्रमाण स्थिति रहती है उसी समयमे रहनेके समयसे सम्यक्त्वप्रकृतिके पल्यके असख्यात बहुभाग आयामवाले सख्यात

[1]पल्लट्ठिदिदो उवरिं संखेज्जसहस्समेत्तठिदिखंडे ।
दूरावकिट्ठिसण्णिद ठिदिसत्तं होदि णियमेण ॥१२०॥

[2]पल्लस्स संखभागं तस्स पमाणं तदो असंखेज्जं ।
भागपमाणे खंडे संखेज्जसहस्सगेसु तीदेसु ॥१२१॥

सम्मस्स असंखाणं समयपबद्धाणुदीरणा होदि ।
तत्तो उवरिं तु पुणो बहुखंडे मिच्छउच्छिट्ठं ॥१२२॥

[3]जत्थ असंखेज्जाणं समयपबद्धाणुदीरणा तत्तो ।
पल्लासंखेज्जदिमो हारो णासंखलोगमिदो ॥१२३॥

[4]मिच्छुच्छिट्ठादुवरिं पल्लासंखेज्जभागिगे खंडे ।
संखेज्जे समतीदे मिस्सुच्छिट्ठं हवे णियमा ॥१२४॥

[5]मिस्सुच्छिट्ठे समये पल्लासंखेज्जभागिगे खंडे ।
चरिमे पडिदे चेट्ठदि सम्मस्सडवस्सठिदिसत्तो ॥१२५॥

[6]मिच्छस्स चरमफालिं मिस्से मिस्सस्स चरिमफालिं तु ।
संछुहदि हु सम्मत्ते ताहे तेसिं च वरदव्वं ॥१२६॥

[7]जदि होदि गुणिदकम्मो दव्वमणुक्कस्समण्णहा तेसिं ।
अवरठिदी मिच्छदुगे उच्छिट्ठे समयदुगसेसे ॥१२७॥

---

१ ज ध पु १३ पृ ४४, ५७।

२ ज ध पु १३ पृ ४८-४९-५७, ध पु. ६ पृ २५६।

३ ज ध पु १३ पृ ४९।

४ ज ध पु १३ पृ. ५३, ध. पु. ६ पृ २५८।

५ ज ध पु १३ पृ ५४, ५७।

६ ज ध पु १३ पृ ५१, ५५।

७ ज ध पु १३ पृ ५१-५२, ध. पु ६ पृ २५६-५७-५८।

अधिक भी तथा सख्यातगुणा भी होता है । इसीके अनुसार किसी एकके स्थितिकाडक से दूसरे जीवका स्थितिकाडक तुल्य भी होता है, विशेष अधिक भी होता है, सख्यात-गुणा भी होता है[1] । एक साथ ही प्रथम (उपशम) सम्यक्त्वको ग्रहणकर पुन· एक समय ही अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना कर दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुए दो जीवोका अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे सत्कर्म सदृश होता है तथा स्थितिकाडक भी सदृश होता है[2] । एक जीव दो छ्यासठ सागरोपम तक वेदकसम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वसहित परिभ्रमण करके दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुआ, दूसरा दो छ्यासठसागर कालतक सम्यक्त्वसहित परिभ्रमण किये बिना दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुआ । दूसरे जीवका प्रथमजीवकी अपेक्षा दो छ्यासठ सागरोपमकाल के समयप्रमाण निषेको की अपेक्षा स्थितिसत्कर्म सख्यातवे भाग विशेष अधिक है[3] ।

दो जीवो मे से एक जीव उपशमश्रेणी पर चढकर, स्थितिका सख्यात बहु-भागका घातकर, उपशातमोह से नीचे उतरकर अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा विशुद्धिको पूरकर तथा दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भकर ऐसा प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण परिणामवाला है । दूसरा जीव कषायका उपशम किये बिना दर्शनमोहकी क्षपणाका आरम्भकर ऐसा प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण परिणामवाला हो गया । इन दोनो जीवोमे से दूसरे जीवका स्थिति सत्कर्म प्रथम जीवकी अपेक्षा सख्यातगुणा है[4] । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे जघन्य स्थितिसत्कर्मवाले के स्थितिकाडक पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण है । उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्मवालेका स्थितिकाडक पृथक्त्वसागर प्रमाण है[5] । स्थितिबन्धापसरणका प्रमाण पल्योपमका सख्यातवाभाग है । अप्रशस्तकर्मोके अनुभागकाण्डकका प्रमाण अनुभाग स्पर्द्धकोका अनन्तबहुभाग है, किन्तु प्रशस्तकर्मोका और आयुकमका अनुभाग-काण्डकघात नही होता[6] । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे ही गुणश्रेणिकी रचना की, किन्तु वह यहा पर उदयावलिसे बाहर है, क्योकि यहा पर उदयादि गुणश्रेणिका

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३-२४ ।
२ ज ध. पु. १३ पृ. २४ ।
३ ज. ध. पु. १३ पृ. २५ ।
४ ज. ध. पु १३ पृ. २७ ।
५. ज. ध. पु १३ पृ. ३१ ।
६. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२ ।

स्थितिघात व्यतीत होकर यहा प्रकृत समयमें होते है। अन्तिमकांडकके पतन होनेपर सम्यक्त्वकी आठवर्षमात्र स्थिति शेष रहती है[1] ॥१२५॥

मिथ्यात्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी चरमफालि जिस समय सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिमे सक्रमित होती है उस समयमे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका द्रव्य उत्कृष्ट होता है। तथा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी अन्तिमकांडककी चरमफालिका द्रव्य जिससमय सम्यक्त्व-प्रकृतिमे सक्रमित होता है उस समयमे सम्यक्त्वप्रकृतिका द्रव्य उत्कृष्ट होता है ॥१२६॥

दर्शनमोहनीयका क्षय करनेवाला जीव यदि गुणितकर्मांश अर्थात् उत्कृष्ट कर्मसचय युक्त होता है तो उसके उन दोनों प्रकृतियोंका द्रव्य उस समय उत्कृष्ट होता है और यदि वह जीव उत्कृष्ट कर्मके सचय से युक्त नहीं होता है तो उसको उन्ही दोनो प्रकृतियोका द्रव्य वहा अनुत्कृष्ट होता है। तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी स्थिति उच्छिष्टावलिमात्र रही सो क्रमसे एक-एक समयमे एक-एक निषेक गलकर दो समय अवशेष रहनेपर जघन्यस्थिति होती है ॥१२७॥

विशेषार्थ—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा दर्शनमोह की क्षपणा होती है। जिसप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म की उपशामना मे इन तीनोका लक्षण कहा गया है उसीप्रकार क्षपणामे भी जानना[2]।

अध प्रवृतकरणमे स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं है। इतनी विशेषता है कि वह प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। शुभकर्मोका अनुभाग अनन्तगुणी वृद्धिको लिये हुए बधता है और अशुभ-कर्मोका अनुभाग अनन्तगुणी हानि को लिये हुए बधता है। तथा अन्तर्मुहूर्तकालतक होनेवाले एक स्थितिबन्ध के समाप्त होने पर पल्योपमके सख्यातवे भाग हीन-हीन स्थितिबन्ध होता है[3]।

अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे दो जीवो मे से किसी एक स्थितिसत्कर्म से दूसरे जीवका स्थितिसत्कर्म तुल्य भी होता है और सख्यातवा या असंख्यातवांभाग विशेष

---

१ सम्यग्मिथ्यात्व के उच्छिष्ठावली प्रमित स्थिति रहने का तथा सम्यक्त्व प्रकृति की ८ वर्ष स्थिति रहने का एक ही काल है। यह प्रवाह्यमान उपदेश है। ज. ध. १३।५४ क. पा. चूर्णि।

२. ज. ध पु १३ पृ १५।

३ ज ध पु १३ पृ २२ एव ज ध पु ३ पृ २०३।

करणके प्रथमसमय मे अन्य अनुभागकाण्डक होता है, क्योकि अपूर्वकरणके अंतिमसमय के अनुभागसत्कर्मका अनन्तबहुभाग अनुभागकाण्डकरूप से ग्रहण किया गया है, किन्तु गुणश्रेणि पहलेके समान ही गलितावशेष आयामवाली उदयावलिसे बाहर होती है। मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्कर्म भी उसीप्रकार प्रवृत्त रहता है[1]। अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमे दर्शनमोहनीयकर्मकी अप्रशस्तउपशामनाका विनाश हो जाता है, शेषकर्म उपशान्त और अनुपशान्त दोनो प्रकार से रहते है। कितने ही कर्मपरमाणुओ का बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारणवश उदीरणा द्वारा उदयमें अनागमनरूप प्रतिज्ञा अप्रशस्तोपशामना है। केवल अप्रशस्तउपशामना ही विच्छिन्न नही हुई, किन्तु दर्शनमोहनीयत्रिक के निधत्तिकरण व निकाचितकरण भी नष्ट होगये, क्योकि सभी स्थितियोके सभी परमाणु अपकर्षण द्वारा उदीरणा करनेके लिये समर्थ हो गये है[2]।

गाथा ११८ द्वारा अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें आयुकर्मके अतिरिक्त शेष सात कर्मोकी स्थितिसत्कर्मका निश्चय किया गया है। दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म विशेषघात के वश से पृथक्त्व लक्षसागर हो जाता है[3]। तत्पश्चात् प्रथमस्थितिकाडक से लेकर सहस्रो स्थितिकाडको द्वारा अनिवृत्तिकरणकालके सख्यातबहुभाग व्यतीत होने पर और संख्यातवाभाग शेष रहने पर दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म लक्षपृथक्त्वसागर से क्रमशः घटकर पूरा एकसहस्रसागर असज्ञीपञ्चेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान हो जाता है। उसके बाद स्थितिकाडक पृथक्त्व के सम्पन्न होने पर चतुरिन्द्रिय जीवोके बन्धके समान दर्शनमोहनीयका स्थितिकर्म १०० सागर प्रमाण हो जाता है। उसके पश्चात् स्थितिकाडकपृथक्त्वके सम्पन्न होने पर त्रीन्द्रियजीवो के स्थितिबन्धके समान ५० सागर, उसके बाद स्थितिकाडकपृथक्त्व हो जाने पर द्वीन्द्रियजीवो के स्थितिबधवत् २५ सागर, तत्पश्चात् पृथक्त्व स्थितिकाडकोके द्वारा एकेन्द्रियजीवोके स्थितिबन्ध सदृश एकसागर इसके बाद स्थितिकाडकपृथक्त्वद्वारा पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रह जाता है। यहा 'पृथक्त्व' विपुलवाची है[4]। पल्योपप्रमाण स्थितिसत्कर्म रहनेसे पूर्व सर्वत्र ही अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर स्थितिकाडकायाम पल्यके सख्यातवेभाग प्रमाण होता

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३९।
२. ज. ध. पु. १३ पृ. ४०।
३. ज ध. पु १३ पृ. ४१।
४. ज. ध. पु. १३ पृ. ४२-४३।

निक्षेप सम्भव नही है। परन्तु उसका आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण कालसे विशेषाधिक है। यही पर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका गुण सक्रम भी प्रारम्भ होता है।

अपूर्वकरणके दूसरे समयमे वही स्थितिकाडक है, वही अनुभागकाडक है, वही स्थितिबन्ध है, किन्तु गुणश्रेणि अन्य होती है, क्योकि प्रथमसमयमे जितने द्रव्यका अपकर्षण हुआ है उससे असख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकर उदयावलिके बाहर गलितावशेष आयामरूपसे उसका निक्षेप करता है। इसप्रकार एक अनुभागकाडकके व्यतीत होनेके अन्तर्मुहूर्तकालतक जानना चाहिये। ऐसे हजारो अनुभागकाण्डको के समाप्त होने पर प्रथमस्थितिकाडक व स्थितिबन्ध काल समाप्त होता है। अनन्तर समयमे अन्यस्थितिकाडक, अन्य स्थितिबन्ध और अन्य अनुभागकाडकको प्रारम्भ करता है[1]। प्रथमस्थितिकाण्डक बहुत है उससे दूसरा स्थितिकाडक विशेष हीन है, उससे तृतीय स्थितिकाण्डक विशेषहीन है। इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन होते-होते अपूर्वकरण-कालके भीतर अर्थात् अन्तसे पूर्व (पहले) प्रथमस्थितिकाडक से सख्यातगुणाहीन स्थितिकाण्डक उपलब्ध होता है[2]। इस क्रमसे हजारो स्थितिकाण्डकोके व्यतीत होने पर अपूर्वकरण कालके अन्तिम समयको प्राप्त होता है। उसी समय अनुभागकाडकका उत्कीरणकाल, स्थितिकाडकका उत्कीरणकाल और स्थितिवन्ध युगपत् समाप्त होते है। अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमे स्थितिसत्कर्म थोडा है, क्योकि सख्यातहजारस्थितिकाडको के द्वारा घात होकर वहा का स्थितिसत्त्व शेष रहा है। उससे अपूर्वकरणके प्रथम-समयमे स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणा है, क्योकि अपूर्वकरण परिणामो द्वारा उसका घात नही हुआ है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे स्थितिवन्ध भी वहुत होता है तथा अपूर्व-करणके अन्तिमसमयमे स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है[3]।

अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमे, अपूर्वकरणके अन्तिमस्थितिकाण्डकसे विशेष-हीन अन्यस्थितिकाण्डकसे विशेषहीन अन्य स्थितिकाण्डक होता है, किन्तु वह स्थिति-काण्डक जघन्य स्थितिसत्कर्मवाले के जघन्य होता है और उत्कृष्टस्थिति वाले के उत्कृष्ट होता है। परन्तु द्वितीयादि स्थितिकाण्डक सभी जीवोके सदृश होते है वही अनिवृत्ति-

---

१. ज ध पु १३ पृ ३५।
२ ज ध पु १३ पृ ३६-३७।
३ ज ध पु १३ पृ ३८।

इन तीनो प्रकृतियोका सदृश स्थितिकाण्डक होता था, किन्तु सबसे पहले विनाशको प्राप्त होनेवाली मिथ्यात्वप्रकृतिका इस स्थानपर विशेष घात होता है इसमे कोई विरोध नही है[1] ।

मिथ्यात्वके अन्तिमकाण्डक की अन्तिमफालीका द्रव्य सर्वसंक्रमण द्वारा संक्रान्त होनेपर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका शेष स्थितिसत्कर्मके असंख्यात बहुभागको घात करनेवाले स्थितिकाण्डक होते है । इसप्रकार सख्यातहजार स्थितिकांडको के व्यतीत होनेपर सम्यग्मिथ्यात्वके उदयावलीके बाहर स्थित समस्त द्रव्यका काडकघात द्वारा ग्रहण होता है तथा मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृतिकी मात्र उच्छिष्टावलिप्रमाण स्थिति सत्कर्म शेष रह जाता है[2] । उस समय सम्यक्त्वकी आठवर्षप्रमाण स्थिति शेष रहती है, शेष सर्वस्थितियां स्थितिकाण्डकरूप से घातको प्राप्त हो चुकी है[3] ।

मिथ्यात्वके अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिका पतन होने पर मिथ्यात्वका जघन्यस्थितिसंक्रम होता है, क्योकि मिथ्यात्वका इससे जघन्य अन्य स्थिति सक्रम नही पाया जाता । तथा उसी समय मिथ्यात्वका उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम होता है, क्योकि मिथ्यात्वके समस्तद्रव्यका सर्वसक्रम करनेवाले जीवके उत्कृष्टप्रदेश सक्रमकी व्यवस्था वन जाती है । इतनी विशेषता है कि गुणित कर्मांशिक नारक भवसे आकर अतिशीघ्र मनुष्य पर्यायको ग्रहणकर दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाला होना चाहिये, अन्यथा अजघन्य-अनुत्कृष्ट प्रदेशसक्रम होता है तथा उसी समय सम्यग्मिथ्यात्वका उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म उत्पन्न होता है, क्योकि मिथ्यात्वका कुछ कम डेढगुणहानि गुणित समयप्रवद्धप्रमाण समस्त द्रव्य उसरूपसे परिणम जाता है । इसलिये मिथ्यात्व के जघन्यस्थितिसंक्रमके साथ होनेवाले उत्कृष्ट प्रदेशसक्रमके प्रतिग्रहवश उसी समय सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होता है, यह सिद्ध हो जाता है । तदनन्तर मिथ्यात्व दो समयकम एक आवलि प्रमाण स्थितियोको क्रमसे गलाकर जिससमय दो समयमात्र कालवाली स्थिति शेष रहती है, उससमय मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसत्कर्म होता है, क्योकि मिथ्यात्वका इससे जघन्य स्थितिसत्कर्म उपलब्ध नही होता । जिस समय

---

१ ज ध. पु. पृ. ४८-५० ।

२ ज. ध पु. १३ पृ. ५३ ।

३. ज ध. पु १३ पृ ५४ ।

है, किन्तु दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म पल्योपमप्रमाण अवशिष्ट रहने पर स्थितिकाण्डकायाम पल्योपमके सख्यातबहुभागप्रमाण होता है[1]। उसके पश्चात् जो-जो स्थितिसत्कर्म शेष रहता है उस-उसका सख्यातबहुभाग स्थितिकाण्डकायाम होता है। इसप्रकार सहस्रो स्थितिकाडकोके व्यतीत होनेपर पल्योपमके सबसे अन्तिम सख्यातवें भागप्रमाण दूरापकृष्टि सज्ञा वाला स्थितिसत्कर्म होता है। जिस अवशिष्ट सत्कर्ममेसे सख्यात बहुभागको ग्रहण कर स्थितिकाडकका घात करनेपर घात करने से शेष बचा स्थितिसत्कर्म नियमसे पल्योपमके असख्यातवेभागप्रमाण होकर अवशिष्ट रहता है, उस सबसे अन्तिम स्थितिसत्कर्मकी दूरापकृष्टि सज्ञा है, क्योकि पल्योपप्रमाण स्थितिसत्कर्म से अत्यन्त दूर उतरकर सबसे जघन्य पल्योपमके सख्यातवेभागरूप से इस स्थितिसत्कर्म का अवस्थान है। पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म से नीचे अत्यन्त दूरतक अपकर्षित की गई होनेसे और अत्यन्त कृष-अल्प होने से यह स्थिति दूरापकृष्टि है। यहा से लेकर असख्यात बहुभाग को ग्रहणकर स्थितिकाण्डक घात किया जाता है अत वह स्थिति दूरापकृष्टि कहलाती है[2]। यहा दूरापकृष्टिस्थिति एक भेद स्वरूप है, क्योकि अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोके द्वारा घात करने से अवशिष्ट स्थितिके अनेक भेदवाली होने का विरोध है[3]। पल्यके सख्यातवेभागप्रमाणवाली दूरापकृष्टिसे नीचे सत्त्व असख्यातबहुभागवाले सख्यातहजार स्थितिकाडक व्यतीत होनेपर वहा सम्यक्त्वके असख्यात समयप्रवद्धो की उदीरणा होती है। यहा से पूर्व सर्वत्र ही असख्यातलोकप्रमाण प्रतिभागके अनुसार सम्यक्त्व की उदीरणा प्रवृत्त होती थी, परन्तु यहा पर पल्योपमके असख्यातवेभागप्रमाण प्रतिभागके अनुसार सम्यक्त्वकी उदीरणा प्रवृत्त हुई। अपकर्षित समस्त द्रव्य मे पल्योपमके असख्यातवेभाग का भागदेकर जो लब्ध आवे उतने द्रव्यको उदयावलिसे वाहर गुणश्रेणीमे निक्षिप्त करता है। गुणश्रेणीके असख्यातवेभाग मात्र द्रव्यको जो असख्यात समयप्रबद्ध मात्र है, इस समय उदीरित करता है। तदनन्तर बहुत स्थितिकाण्डको के व्यतीत होने पर मिथ्यात्वके अन्तिमकाण्डक मे मिथ्यात्वकी उदयावलिसे वाहरके सर्वद्रव्यको ग्रहण किया। इसप्रकार मिथ्यात्वका उदयावलि अर्थात् उच्छिष्टावलिमात्र द्रव्य शेष रह जाता है। सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व

---

१. ज ध पु १३ पृ ४४।
२ ज ध पु. १३ पृ ४४-४५।
३ ज ध. पु. १३ पृ ४७।

अर्थ—मिश्रद्विक अर्थात् मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व) और सम्यक्त्व-मोहनीय इन दोनो प्रकृतियोकी अपनी अपनी अन्तिमफालियोका द्रव्य कुछकम डेढगुण-हानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण है। पूर्वोक्त प्रकार उन दोनो अन्तिमफालियोके द्रव्यमे पल्यके असख्यातवेभागका भाग देने पर एक भाग गुणश्रेणी निक्षेपमे दिया जाता है।

गुणश्रेणि आयामरूप अन्तर्मुहूर्तकाल कम आठवर्ष प्रमाण ऊपरकी स्थितियो मे **चरमावलिपर्यन्त** ? सदृश चय से हीन इस रचनारूप शेष बहुभाग द्रव्य दिया जाता है।

सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष स्थिति करनेके समयसे लेकर ऊपर सर्वत्र उदयादि अवस्थिति गुणश्रेणि आयाम है तथा सम्यक्त्वमोहनीयकी स्थितिमे स्थितिखड का आयाम अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। इसके आगे एक-एक स्थितिकाडक द्वारा अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त स्थिति घटाता है।

विशेषार्थ— जिस समय सम्यक्त्वप्रकृतिका स्थितिसत्कर्म आठवर्षप्रमाण होता है, उस समयमें (पतित) होनेवाली अपनी अन्तिमफालिके द्रव्यके साथ सम्यग्मिथ्यात्व की अन्तिमफालिको ग्रहणकर सम्यक्त्वके उपरिम आठवर्षप्रमाण निषेकोमे सिचन करता हुआ[1] उदयमे स्तोक प्रदेशपुजको देता है। उससे ऊपरवर्ती समयसम्बन्धी स्थितिमे असख्यातगुणे प्रदेशपुजको देता है। इसप्रकार पहलेके गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होने तक प्रत्येक स्थितिमे उत्तरोत्तर असख्यातगुणे प्रदेशपुंजको देता है। सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धी अन्तिमफालिके कुछकम डेढगुणहानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यको (अपकर्षणभाग-हारसे असख्यातगुणे) पल्योपमके असख्यातवे भाग से खण्डित कर एक भागमात्र द्रव्य को गुणश्रेणिमे निक्षिप्तकर पुन शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको गोपुच्छाकार से गुणश्रेणि-शीर्ष से ऊपर अन्तर्मुहूर्तकम आठ वर्षकी स्थितियोमे निक्षिप्त करता है। इसप्रकार गुणश्रेणिशीर्ष से अनन्तर उपरिम प्रथमस्थिति मे असख्यातगुणे प्रदेशपुज का निक्षेप होता है, क्योकि द्रव्य बहुभागप्रमाण है और स्थितिआयाम स्तोक है। उससे ऊपर सर्वत्र (अनन्तर उपनिधाके अनुसार) आठ वर्षप्रमाण स्थितिके अन्तिम निषेकके प्राप्त होनेतक विशेषहीन विशेषहीन द्रव्य दिया जाता है। आठवर्षप्रमाण सर्व गोपुच्छोके

---

१. जब सम्यग्मिथ्यात्व की चरमफालीका सक्रमण सम्यक्त्वमे होता है, तब सम्यक्त्वका ८ वर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म होता है। (ज. ध पु ३ पृ २०५)

मिथ्यात्वकी दो समय स्थिति शेष रहती है उस समय वह स्तिबुक संक्रम द्वारा सजातीय प्रकृतिमे सक्रमित हो जाती है। इसलिये तदनन्तर समयमे मिथ्यात्वसम्बन्धी प्रकृति सत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म नि सत्त्व हो जाते है[1]।

इसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वके अन्तिमकाडककी अन्तिमफालिके कुछ कम डेढ गुणहानि समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यको सर्वसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वप्रकृतिमे सक्रमित करनेपर सम्यग्मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसक्रम होता है, क्योकि अनिवृत्तिरूप परिणामोके द्वारा दूरापकृष्टिरूप से घातित करनेके बाद शेष बची स्थितिके जघन्य होनेमे विरोधका अभाव है, परन्तु उससमय सम्यग्मिथ्यात्वका प्रदेशसंक्रम उत्कृष्ट होता है, क्योकि गुणितकर्माशिक जीवकी विवक्षामे उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम होनेमे विरोधका अभाव है तथा उसीसमय सम्यक्त्वप्रकृतिका उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होता है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्वके उत्कृष्ट प्रदेशोका उसमे सक्रम हुआ है। इसके पश्चात् दो समयकम उदयावलि गलित होने पर सम्यग्मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसत्कर्म, दो समय कालप्रमाण, एक स्थितिरूप होता है[2]।

अब मिश्रद्विक को अन्तिमफालिका गुणश्रेणिमें निक्षिप्तद्रव्यके क्रमसहित प्रमाणआदिका कथन करते हैं—

[3]मिस्सदुगचरिमफाली किंचूणदिवड्ढसमयपबद्धपमा।
गुणसेढि करिय तदो असंखभागेण पुव्वं व ॥१२८॥
सेसं विसेसहीणं अडवस्सुवरिमठिदीए संखुद्धे।
चरमाउलिं व सरिसी रयणा संजायदे एत्तो ॥१२९॥
[4]अडवस्सादो उवरिं उदयादिअवट्ठिदं च गुणसेढी।
अंतोमुहुत्तियं ठिदिखंडं च य होदि सम्मस्स ॥१३०॥

---

१ ज घ पु. १३ पृ ५१-५२-५३।

२ ज ध पु १३ पृ ५५-५६।

३ ज घ पु. १३ पृ ६४।

४ ज. ध. पृ. १३ प ५६-६० व ६५-६६।

पुन इन्ही अन्तिम दो फालिके पतन समयमे-आठवर्षकी स्थिति करनेके समयमे अनन्तगुणा हीन होकर लताके समान एक स्थानीय अनुभाग हुआ । यहासे लेकर पूर्वमे जो अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा अनुभागकाडकघात होता था उसका अभाव हुआ और प्रतिसमय अनन्तगुणे हीन क्रमसे अनुभागका अपवर्तन होने लगा । वहा अनन्तरवर्ती आठवर्ष स्थिति करनेके समयसे पूर्व समयमे निषेकका जो अनुभाग सत्त्व था उससे अनन्तगुणाहीन आठवर्ष स्थिति करनेके समयमे उदयावलिके उपरवर्ती उपरितनावलीके प्रथम निषेकका अनुभागसत्त्व अवशिष्ट रहता है । अवशिष्ट अनन्त बहुभागरूप अनुभागका विशुद्धि-विशेषसे अपवर्तन हुआ-नाश हुआ । तथा उसी समयमे उदयावलिके अन्तिम निषेकका अनुभागसत्त्व अपनेसे उपरवर्ती उस उपरितनावलिके (द्वितीयावलि के) प्रथमनिषेक सम्बन्धी अनुभाग सत्त्वसे अनन्तगुणा हीन रहता है तथा अवशिष्टका नाश होता है । पुन उससे अनन्तगुणा हीन उदयावलिके प्रथम निषेका अनुभागसत्त्व रहता है, शेषका नाश होता है । उससे अनन्तगुणाहीन आठवर्ष स्थितिकरनेके समयसे लेकर अनन्तरवर्ती आगामी समयमे अनन्तगुणाहीन अनुभागसत्त्व होता है । इसप्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणा हीन अनुक्रमसे उच्छिष्टावलिके अन्तिम समय पर्यन्त अनुभागका अपवर्तन जानना ।

भावार्थ— जिससमय सम्यक्त्वप्रकृतिका आठवर्षप्रमाण स्थिति सत्कर्म होता है उससे पहले सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभाग लता-दारुरूप द्विस्थानीय था । उसकी अब एक लता स्थानीयरूप से प्रतिसमय अपवर्तना प्रारम्भ होती है, पहले अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अनुभागकाण्डककी रचना करता था अब पूर्वके काण्डकघातका उपसहारकर प्रत्येक समयमे सम्यक्त्वप्रकृतिके अनुभागकी अनन्तगुणी हानिरूपसे अपवर्तना होती है । अनन्तरपूर्व समयके अनुभागसत्कर्मसे वर्तमान समयमे अनुभागसत्कर्म उदयावलिसे बाहर (द्वितीयावलिके प्रथम निषेकमे) अनन्तगुणा हीन है । इस अनुभागसत्कर्म से उदयावलि के भीतर अनुप्रविशमान (उदयावलिके अन्तिम निषेक मे) अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा हीन है । इससे भी उदय समयमे प्रवेश करनेवाला (प्रथमनिषेकमे) अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा हीन है । इसप्रकार दर्शनमोहनीयके क्षय होनेके एकसमय अधिक एक आवलि पूर्वतक प्रत्येक समयमे इसीप्रकार जानना चाहिये । इसके पश्चात् एक आवलि कालतक उदयमे प्रविशमान अनुभागकी प्रतिसमय अपवर्तना पाई जाती है[1] ।

१. ज ध. पु १३ पृ. ६३ ।

ऊपर इस समय दिया जानेवाला द्रव्य प्रत्येक स्थितिके प्रति पूर्वके अवस्थितद्रव्यसे असख्यातगुणा होता है, क्योकि अन्तिमफालि का द्रव्य कुछ कम डेढगुणहानिगुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है[1]।

सम्यक्त्व की आठवर्ष स्थितिसत्कर्म से पूर्व उदयावलिसे वाह्य गुणश्रेणि आयाम था, किन्तु अब यहा से उदयरूप वर्तमान समयसे ही गुणश्रेणि आयाम प्रारम्भ हो जाता है इसलिये यह गुणश्रेणी आयाम 'उदयादि' कहा जाता है। पूर्वमे प्रतिसमय गुणश्रेणि आयाम घटता जाता था इसलिये वह गलितावशेष गुणश्रेणि थी, किन्तु अब नीचे का एकसमय व्यतीत होनेपर उपरिम स्थितिका एकसमय गुणश्रेणिमे मिल जानेसे गुणश्रेणि आयाम जितना था उतना ही रहता है, घटता नही है, अत' यह गुणश्रेणि आयाम अवस्थित स्वरूप है। इसलिये यह उदयादिअवस्थित गुणश्रेणि-आयाम है। पूर्वमे एकस्थिति काण्डक द्वारा पल्यका असख्यातवाभाग स्थितिका घात होता था, किन्तु अब एक स्थितिकाडक द्वारा अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितिका घात होता है, क्योकि इस स्थलपर पल्योपमके असख्यातवेभाग आदि विकल्प सभव नही है[2]।

अनुभाग अपवर्तन का निर्देश करते हैं—

[3]विदियावलिस्स पढमे पढमस्संते य आदिमणिसेये।
तिट्ठाणेणंतगुणेणूणकमोवट्टणं चरमे ॥१३१॥

अर्थ—द्वितीयावलिके प्रथम निषेक, प्रथमावलि (उदयावलि) के अन्तिम निषेक और उदयरूप प्रथमनिषेक, इन तीनस्थानो मे सम्यक्त्वकी आठवर्षकी स्थितिसे उच्छिष्टावलि पर्यन्त सम्यक्त्वप्रकृतिके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणे घटते क्रमसे अपवर्तनघात होता है।

विशेषार्थ— सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी (मिश्र व सम्यक्त्वप्रकृतिकी) द्विचरम दो फालिके पतन समयमे-आठवर्ष स्थिति करनेके समयसे पूर्वसमय तक तो लता-दारुरूप द्विस्थानगत अनुभाग है सो अनुभागकाडकघातसे अनन्तागुणा हीन हुआ।

---

१. ज ध पु १३ पृ ६४-६६। ध पु ६ पृ २५९-६०।
२ ज ध पु १३ पृ. ५९-६०।
३ ज ध पु १३ पृ ६३। ध पु ६ पृ २५९।

ठिदिखंडाणुक्कीरण दुचरिमसमश्रोत्ति चरिमसमये च ।
श्रोक्कट्टिदफालीगददव्वाणि णिसिंचदे जम्हा ॥१३४॥
अडवस्से संपहियं गुणसेढीसीसयं असंखगुणं ।
पुव्विल्लादो णियमा उवरि विसेसाहियं दिस्सं ॥१३५॥
अडवस्से य ठिदीदो चरिमेदर फालिपडिददव्वं खु ।
संखासंखगुणूणं तेणुवरिमदिस्समाणमहियं सीसे ॥१३६॥
जदि गोउच्छविसेसं रिणं हवे तोवि धणपमाणादो ।
जम्हा असंखगुणूणं ण गणिज्जदि तं तदो एत्थ ॥१३७॥
तत्तक्काले दिस्सं वज्जिय गुणसेढिसीसयं एक्कं ।
उवरिमठिदीसु वट्टदि विसेसहीणक्कमेणेव ॥१३८॥

अर्थ—सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष स्थिति शेष रहने के समयमे मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी काण्डक की चरमफालियो का द्रव्य, पूर्व समय के सम्यक्त्वमोहनीय के सत्त्व द्रव्य से असख्यातगुणा है । सम्यक्त्व मोहनीय के सत्त्व द्रव्यसे, स्थितिकाण्डकोत्कीर्णकालके द्विचरम समय पर्यन्त अपकर्षित फालिद्रव्य असख्यातवे भाग है और अन्तिम समयमें अपकर्षित फालिद्रव्य सख्यातवे भाग है । यह द्रव्य निक्षेप किया जाता है ॥१३३-३४॥

सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष स्थिति शेष रहने के समय गुणश्रेणीशीर्ष का द्रव्य अधस्तन गुणश्रेणिशीर्षके द्रव्यसे नियमत असख्यातगुणा है । उपरिम गुणश्रेणि शीर्षो का दृश्यमान द्रव्य अपने अपने से पूर्व गुणश्रेणिशीर्ष के द्रव्यसे विशेपाधिक है ॥ १३५ ॥

सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष प्रमाण स्थिति शेष रहने पर समस्त स्थित द्रव्य से चरम फालि का द्रव्य सख्यातगुणा हीन है और अन्य फालियो का द्रव्य असख्यातगुणा हीन है इसलिये उपरितन गुणश्रेणिशीर्षका द्रव्य विशेष अधिक है ॥१३६॥

यद्यपि अधस्तन गुणश्रेणिशीर्ष से उपरितन गुणश्रेणिशीर्ष मे गोपुच्छ-चय ऋण है अर्थात् घटता है तो भी धन (मिलाया जाने वाला द्रव्य) के प्रमाणसे

आठवर्ष को स्थितिके पश्चात् कहांतक और किस विधिसे द्रव्यनिक्षेप होता है इसका कथन करते हैं—

अडवस्से उवरिम्मि वि दुचरिमखंडस्स चरिमफालित्ति।
संखातीदगुणक्कम विशेषहीणक्कमं देदि ॥१३२॥

अर्थ—आठवर्ष की स्थिति करनेके अनन्तर समयसे लेकर द्विचरमकाण्डककी अन्तिमफालिके पतन समयतक उदयादि अवस्थित गुणश्रेणिआयाममे असख्यातगुणा क्रम लिये हुए तथा ऊपर अन्तर्मुहूर्तकम आठवर्षप्रमाण स्थितियोमे विशेषहीन अर्थात् चय घटता क्रम लिये निक्षेपण होता है अर्थात् दिया जाता है ।

विशेषार्थ—आठवर्षकी स्थितिसत्कर्मके अनन्तरसे लेकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिकाण्डकघात के द्वारा अपवर्तित होनेवाली सम्यक्त्वकी स्थितियोमे जो प्रदेश पुज होता है, अपकर्षण भागहारके प्रतिभागद्वारा उसे ग्रहणकर उदयादि अवस्थित गुणश्रेणिमे निक्षिप्त करता हुआ उदयमे स्तोक प्रदेशपुजको देता है । उससे अनन्तरसमयमे असख्यातगुणा देता है । इसप्रकार क्रमसे गुणश्रेणिशीर्षके अधस्तनसमयके प्राप्त होने तक असख्यातगुणित क्रमसे सिचन करता है । पुन' इससे उपरिम अनन्तर एक स्थितिमे भी असख्यातगुणे प्रदेशपुज का सिचन करता है, क्योकि यहां अवस्थित गुणश्रेणि निक्षेपकी प्रतिज्ञा की गई है । इससमय अपकर्षित हुए द्रव्यके बहुभागको अन्तर्मुहूर्तकम आठवर्षो के द्वारा भाजितकर वहा जो एकभाग प्रमाण द्रव्य प्राप्त हो, विशेष अधिक करके उसे इस समयके गुणश्रेणिशीर्षमे निक्षिप्त करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिमात्रसे अन्तिमस्थितिको नही प्राप्त होने तक विशेपहीन-विशेपहीन द्रव्यका सिंचन करता है । इसप्रकार यह क्रम द्विचरम स्थिति-काण्डकतक होता है[1] ।

आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्त्व अवशिष्ट करनेके प्रथम (पूर्व) समयमें, आठवर्ष-प्रमाण स्थितिसत्त्व करनेके समयमें, आगामी समयमें पाये जानेवाले विधान आदिका कथन—

अडवस्से संपहियं पुव्विल्लादो असंखसंगुणियं ।
उवरिं पुण संपहियं असंखसंख च भागं तु ॥१३३॥

---

१ ज ध पु १३ पृ ६४-७० । क पा. सुत्त पृ. ६५२ ।

श्रेरिणशीर्षका द्रव्य प्राप्त होता है। इस समय के गुणश्रेरिणशीर्ष द्रव्यको लाने की इच्छा होनेपर एक गोपुच्छविशेषसे हीन इसी द्रव्यको स्थापित कर इस समय अपकर्षित द्रव्यके बहुभागको अन्तर्मुहूर्त कम आठवर्षों के द्वारा भाजितकर वहा प्राप्त एकभाग मात्र द्रव्य से इसे अधिक करना चाहिये और यह अधिक द्रव्य, पिछले गुणश्रेरिणशीर्षमें जो गोपुच्छ विशेष अधिक है उससे तथा उसीमे अर्थात् पिछले गुणश्रेणिशीर्षमे इस समय प्राप्त हुआ जो असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण गुणश्रेरिणसम्बन्धी द्रव्य है उससे असंख्यात-गुणा है, क्योंकि पल्योपमके तत्प्रायोग्य असख्यातवेभागप्रमाण अक यहां पर गुणकार-रूपसे पाये जाते है परन्तु वहा के समस्त द्रव्य को देखते हुए वह असख्यातगुणा हीन है, क्योकि साधिक अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार के द्वारा उसके खण्डित करने पर वहां जो एक भाग प्राप्त हो वह तत्प्रमाण है। इसलिये इतने मात्र अधिक द्रव्य को निकाल-कर और पृथक् रखकर वहां अधस्तन गुणश्रेरिणशीर्ष के एक गोपुच्छ विशेष से अधिक तत्काल प्राप्त असख्यात समयप्रबद्धप्रमाण समधिक द्रव्यके निकाल देने पर अपनीत शेष जो रहे उतना पहलेके गुणश्रेरिणशीर्षसे वर्तमान गुणश्रेरिणशीर्ष सम्बन्धी द्रव्य अधिक होता है ऐसा निश्चय करना चाहिए। इसप्रकार आगे भी प्रत्येक समयमे असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकर उदयादि अवस्थित गुणश्रेरिण मे निक्षेप करनेवाले की दीयमान और दृश्यमान द्रव्यकी पूरी प्ररूपणा इसीप्रकार करनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि आठवर्ष प्रमाण स्थिति सत्कर्मवाले जीवके प्रथम स्थितिकाडकसे लेकर द्विचरम स्थिति-काण्डकतक पतित होनेवाली इन सख्यातहजार स्थितिकाण्डको की अन्तिम फालियो मे भेद है, क्योकि उनके पतन समय गुणश्रेरिणशीर्षमे पतित होनेवाला द्रव्य वहा सम्बन्धी पूर्वके सचयरूप गोपुच्छको देखते हुए सख्यातवा भाग अधिक देखा जाता है। अब उसका अपवर्तन द्वारा निर्णय करके बतलाते है। यथा—वहा सम्बन्धी पूर्वके संचयको लाना चाहते है इसलिये डेढ गुणहानिगुणित एक समयप्रबद्धको स्थापितकर पुन. अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्ष प्रमाण इसका भागहार स्थापित करना चाहिए। अब प्रथम स्थितिकाडककी अन्तिम फालिका पतन होते समय काण्डक द्रव्यको लाना चाहते है इसलिये डेढगुणहानिगुणित समयप्रबद्धके अन्तर्मुहूर्तसे भाजित आठ वर्ष प्रमाण आयाम को भागहाररूप से स्थापित करना चाहिए। इसप्रकार स्थापित करने पर प्रथम स्थिति-काण्डककी अन्तिमफालिका द्रव्य आता है[1]। पुन इसके असख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यको

---

१. देशोन काण्डकद्रव्य प्रमाण आता है। अर्थात् चरमफालि द्रव्यकाण्डक द्रव्यके बहुभागप्रमाण है।

असख्यातगुणा हीन है। इसलिये इस चयरूप ऋण को नही गिना अर्थात् द्रव्यप्रमाण लानेमे इसको दृष्टिसे ओझल कर घटाया नही गया ।।१३७।।

उस समय गुणश्रेणिशीर्ष को छोडकर उपरिम स्थितियो मे दृश्यमान द्रव्य प्रत्येक निषेकमे विशेषहीन क्रमसे वर्तन करता है ।।१३८।।

विशेषार्थ—इस समय अपकर्षित हुए द्रव्य के बहुभागको अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्षो द्वारा भाजितकर वहा जो एकभागप्रमाण द्रव्य प्राप्त हो, विशेष अधिक करके उसे इस समयके गुणश्रेणिशीर्षमे निक्षिप्त करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिमात्रसे अन्तिम स्थिति को नही प्राप्त होने तक विशेषहीन-विशेषहीन द्रव्यका सिंचन करता है। इसप्रकार आठवर्ष के स्थितिसत्कर्मवाले जीवके प्रथमसमयमे दीयमान द्रव्यकी प्ररूपणा की।

अब वही दृश्यमान द्रव्य किसप्रकार अवस्थित रहता है इसका निर्णय करेंगे। यथा-पहलेके गुणश्रेणिशीर्षसे इस समयका गुणश्रेणिशीर्ष असख्यातगुणा नही होता है।

इस समय अपकर्षित कर ग्रहण किया गया समस्त द्रव्य भी मिलकर आठवर्ष सम्बन्धी एक स्थितिके द्रव्यको पल्योपमके असख्यातवे भागसे भाजितकर जो एक भाग लब्ध आवे उतना होता है, क्योकि आठवर्ष प्रमाण निषेको मे अपकर्षण भागहार का भाग देने पर जो लब्ध आवे तत्प्रमाण है। पुन उसके भी असख्यातवे भागप्रमाण द्रव्य को ही नीचे गुणश्रेणिमे सिचित करता है। शेष असख्यात बहुभागको इस समय के गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम गोपुच्छाओ मे आगममे प्ररूपित विधि के अनुसार सिचित करता है। इस कारण से पहले के गुणश्रेणिशीर्ष से इस समय का गुणश्रेणिशीर्ष असख्यातगुणा नही हुआ, किन्तु दृश्यमान द्रव्य विशेषाधिक ही है ऐसा निश्चय करना चाहिये। विशेषाधिक होता हुआ भी असख्यातवा भाग ही अधिक है, अन्य विकल्प नही है[1]।

अब इसी असख्यातवे भाग अधिक को स्पष्ट करनेके लिये यह प्ररूपणा करते हैं। यथा अधस्तन समयके गुणश्रेणिशीर्ष का द्रव्य लाना चाहते है इसलिये डेढ गुण-हानि गुणित एक समयप्रबद्ध को स्थापितकर उसका अन्तर्मुहूर्त कम आठवर्ष प्रमाण भागहार स्थापित करना चाहिये। इसप्रकार स्थापित करने पर पिछले समयके गुण-

१ ज ध पु १३ पृ ६८।

उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वके अन्तिम स्थितिकाण्डकको घातके लिये ग्रहण करता हुआ इस समय उपलब्ध होनेवाले अवस्थित गुणश्रेणि आयामके संख्यातवें भाग को अर्थात् अन्तिम स्थितिकाण्डकके उत्कीरणकाल सहित कृतकरणीय कालको छोडकर पुनः शेष संख्यात बहुभाग को ग्रहण करता है। "केवल इतनी ही स्थितियो को नही ग्रहण करता है, किन्तु इनसे संख्यातगुणी उपरिम अन्तर्मुहूर्तप्रमाण

ही नीचे गुणश्रेणिमे निक्षिप्तकर शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको अवस्थित गुणश्रेणिशीर्ष से लेकर अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्षो मे गोपुच्छाकाररूपसे सीचता है। इसलिये अन्तर्मुहूर्तकम आठ वर्षोके द्वारा इस काण्डकद्रव्यके भाजित करने पर विवक्षित समयके अवस्थित गुणश्रेणिशीर्षमे पतित होनेवाला द्रव्य वहा सम्बन्धी पूर्वके सचयके समनन्तर अधस्तन गुणश्रेणिशीर्ष के सख्यातवां भाग आता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि उस अवस्था मे द्विचरम गुणश्रेणिशीर्ष से अन्तिम गुणश्रेणिशीर्षका द्रव्य सख्यातवा भाग अधिक होकर दिखाई देता है। इसीप्रकार ऊपर भी सर्वत्र द्विचरमस्थितिकाडक की अन्तिमफालि के प्राप्त होने तक ले जाना चाहिये, क्योकि एक कम स्थितिकाण्डकके उत्कीरणकालप्रमाण कालतक असख्यातवा भाग अधिक और काण्डकके अन्तिम समय मे सख्यातवाभाग अधिक गुणश्रेणिशीर्षमे दृश्यमान द्रव्य होता है। इस प्रकार इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका कोई भेद नही पाया जाता है। इसप्रकार द्विचरम स्थिति-काण्डककी अन्तिम फालि पर्यन्त ही यह प्ररूपणाप्रबन्ध है[1]।

आगे अन्तिमकाण्डकका विधान कहते हैं—

गुणसेढिसंखभाग तत्तो संखगुण उवरिमठिदीओ।
सम्मत्तचरिमखंडो दुचरिमखंडादु संखगुणो ॥१३६॥

अर्थ—गुणश्रेणि के सख्यात बहुभाग को और उससे सख्यातगुणी उपरितन स्थितियोको घात के लिये ग्रहण करने वाला चरम स्थितिकाण्डक, द्विचरम स्थिति-काण्डक घात से सख्यातगुणा है।

विशेषार्थ—पहले आठ वर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म से लेकर विशेषहीनके क्रमसे अन्तर्मुहूर्त आयामवाले स्थितिकाडको का घात कर यहा द्विचरम स्थितिकाण्डकसे सख्यातगुणे आयामरूपसे अन्तिम स्थितिकाण्डको को ग्रहण करता है यह तात्पर्य है। इसप्रकार इस अल्पबहुत्वके द्वारा अन्तिम स्थितिकाण्डकका प्रमाण-विषयक निर्णय करके अब सम्यक्त्वके अन्तिम स्थितिकाण्डकको ग्रहण करता हुआ इस विधि से ग्रहण करता है इस वातका ज्ञान कराने के लिये कहते हैं—

"चरम स्थितिकाण्डकको घात के लिये ग्रहण करता हुआ गुणश्रेणिके (उपरिम) सख्यात बहुभाग को ग्रहण करता है और उपरिम अन्य सख्यातगुणी स्थितियो को ग्रहण करता है।"

---

१ ज. ध पु १३ पृ ६७-७०।

विशेषार्थ—सम्यक्त्व मोहनीयकी उदयावलि से बाह्य सभी स्थितियो मे से प्रदेशो को अपकर्षित कर वर्तमान गुणश्रेणि मे निक्षिप्त करता हुआ उदय स्थितिमे अल्प प्रदेश पुंज को दिया जाता है, क्योकि आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म से लेकर उदयादि गुणश्रेणिकी प्रतिज्ञाके प्रवर्त्तमान होनेमे कोई रुकावट नही पाई जाती । पुनः तदनन्तर उपरिम स्थिति मे असख्यातगुणे प्रदेशपुंज को देता है । यहा पर गुणकार तत्प्रायोग्य पल्योपमका असख्यातवा भाग है । इसप्रकार तब तक असख्यातगुणे प्रदेश-पुंजको देता है जबतक चरमसमय स्वरूप स्थितिकाण्डक की प्रथम स्थिति प्राप्त नही होती । यही स्थिति गुणश्रेणिशीर्ष बन गई है, यह प्रथम पर्व है । अब तक अपकर्षित द्रव्यके असंख्यातवे भाग को ही गुणश्रेणि मे देता था, किन्तु यहा से असख्यात बहुभाग को गुणश्रेणिमे निक्षिप्त करने लगा और शेष असख्यातवे भागको उपरिम स्थितियोके समयमे अविरोधपूर्वक निक्षिप्त करता है । इस शेष बचे असख्यातवे भाग मे से असख्यातवे भागको पृथक् रखकर वहा प्राप्त बहुभाग को स्थितिकाण्डकके भीतर प्राप्त हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण गुणश्रेणि अध्वानसे भाजित कर वहां प्राप्त एक खण्डको विशेष अधिक कर इस समयके गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम अनन्तर स्थितिमे अर्थात् स्थिति-काण्डककी आदि स्थितिमे दिया जाता है । उसके पश्चात् प्राचीन गुणश्रेणिशीर्ष तक यहा के बहुभाग द्रव्यको उत्तरोत्तर विशेष हीन दिया जाता है, यह दूसरा पर्व है ।

पृथक् रखे हुए असख्यातवे भाग प्रमाण द्रव्यको अधस्तन आयामसे सख्यात-गुणे उपरिम समस्त आयामसे भाजितकर जो एक भाग प्राप्त हो उसे विशेष अधिक करके वहा की गोपुच्छा मे सिंचितकर उससे ऊपर अतिस्थापनावलि से पूर्वतक विशेष-हीन क्रमसे एक गोपुच्छ श्रेणिरूप से दिया जाता है, यह तीसरा पर्व है । इसप्रकार यहां पर दीयमान द्रव्यकी तीन श्रेणिया हो गई[1] । इसप्रकार स्थितिकाण्डकके उत्कीरण कालके द्विचरम समय तक अर्थात् द्विचरम फालि तक जानना चाहिए ।

साम्प्रतिकगुणश्रेणिके स्वरूप निर्देशपूर्वक चरमफालिके पतनकालका निर्देश करते हैं ।

उदयादिगलिदसेसा चरिमे खंडे हवेज्ज गुणसेढी ।
फाडेदि चरिमफालिं अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥१४३॥

---

१. ज. ध पु १३ पृ. ७४-७७ ।

अन्य स्थितियो को भी ग्रहण करता है।" इस कथन द्वारा अन्तिम स्थितिकाण्डकका प्रमाण पृथक् दिखलाया गया जानना चाहिये। इसलिए अवस्थित गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम सर्व गोपुच्छाये और अवस्थितरूपसे किया गया समस्त गुणश्रेणिशीर्षस्थान इन सबको ग्रहणकर तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे विशेष अधिकरूपसे रचित पुराने गुणश्रेणिशीर्षके उपरिम भागमे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियोको ग्रहणकर अन्तिम स्थितिकाण्डकको घात के लिए ग्रहण करता है'[1]।

सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी प्रथमफालीके प्रथम समयसे लेकर उसके द्विचरमफालीके पतनसमय पर्यन्त उस काण्डकोत्कीरणकालमें फालिद्रव्य व अपकृष्टद्रव्य के निक्षेप विशेषका विधान कहते हैं—

सम्मत्तचरिमखंडे दुचरिमफालित्ति तिण्णि पव्वाओ।
संपहियपुव्वगुणसेढीसीसे सीसे य चरिमम्हि ॥१४०॥
तत्थ असंखेज्जगुणं असंखगुणहीणयं विसेसूणं।
संखातीदगुणूणं विसेसहीणं च दत्तिकमो ॥१४१॥
ओक्कड्डिद बहुभागे पढमे सेसेक्कभागबहुभागे।
बिदिए पव्वेवि सेसिगभागं तदिये जहा देदि ॥१४२॥

अर्थ—सम्यक्त्व प्रकृतिके अन्तिम स्थितिकाण्डककी द्विचरमफालि तक दीयमान द्रव्यके तीन पर्व (श्रेणिया) है। वर्तमान इस समयकी गुणश्रेणिशीर्ष तक, प्राचीन गुणश्रणिशीर्ष तक, अन्तिम स्थिति काण्डक के अन्त तक। प्रथम पर्व मे अपकर्षित द्रव्यका असख्यात बहुभाग असख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है, उससे अनन्तर स्थितिमे असख्यातगुणा हीन द्रव्य दिया जाता है। दूसरे पर्वमे शेष असख्यातवे भागका असख्यातबहुभाग द्रव्य विशेष हीन क्रमसे दिया जाता है, उससे अनन्तर स्थितिमे असख्यातगुणा हीन द्रव्य दिया जाता है। तृतीय पर्व मे शेष एकभाग प्रमाण द्रव्य विशेष हीन क्रमसे दिया जाता है।

---

१. ज ध पु १३ पृ ७१-७२-७३।

द्विचरम स्थितिमें जो प्रदेशपुञ्ज निक्षिप्त होता है उससे देखते हुए गुणश्रेणि की अन्तिम अग्र स्थितिमें निक्षिप्त होने वाले द्रव्यका जो गुणाकार है वह न तो पल्योपमके प्रथम वर्गमूलका असख्यातवा भाग है और न अन्य ही है, किन्तु पल्योपमके असख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण है; क्योकि नीचे निक्षिप्त किया गया द्रव्य अन्तिम फालिके द्रव्य को पल्योपमके असंख्यात प्रथम वर्गमूलोसे भाजितकर जो एक भाग लब्ध आवे तत्प्रमाण स्वीकार किया गया है। इस कथन द्वारा अधस्तन समस्त गुणकारो को पल्योपमके तत्प्रायोग्य असख्यातवेभागप्रमाण सूचित किया गया जानना चाहिए, क्योंकि उन गुणकारों को पल्योपमके असख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण होनेपर कर्मस्थितिके भीतर सचित हुए द्रव्यके अंगुलके असख्यातवे भाग समय प्रबद्ध प्रमाण होनेका अतिप्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसलिये अन्तिम गुणकार ही पल्योपमके असख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण है, किन्तु अधस्तन समस्त गुणकार पल्योपमके तत्प्रायोग्य असख्यातवे भागप्रमाण है यह सिद्ध हुआ।[1]

अब दो गाथाओंमें कृतकृत्यवेदकसम्यक्त्वके प्रारम्भसमयके निर्देशपूर्वक उसकी अवस्था विशेषकी प्ररूपणा करते हैं—

चरिमे फालि दिण्णे कदकरणिज्जेत्ति वेदगो होदि।
सो वा मरणं पावइ चउगइगमणं च तट्ठाणे ॥१४५॥
देवेसु देवमणुए सुरणरतिरिए चउग्गईसुंपि।
कदकरणिज्जुप्पत्ती कमेण अंतोमुहुत्तेण ॥१४६॥

अर्थ—अन्तिमफालि द्रव्य के दिये जाने पर कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है। वहा मरण होवे तो चारो गतियोमें जा सकता है। यदि अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथम भाग मे मरे तो देवगतिमे ही उत्पन्न होता है। तत्प्रमाण दूसरे भागमे मरण हो तो देव या मनुष्यो मे उत्पन्न होता है। तत्प्रमाण तृतीय भागमे मरण हो तो देव, मनुष्य या तिर्यञ्च (इन तीनो मे से किसी भी गति) मे उत्पन्न होता है। तत्प्रमाण चतुर्थभागमे मरण हो तो चारो गतियोमे उत्पन्न हो सकता है।

---

१ क पा. सुत्त. पृ. ६५३ चूर्णिसूत्र ७९-८०; ज. ध. पु. १३ पृ. ७८ आदि।

अर्थ—सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी प्रथम फालिके पतन समयसे लेकर द्विचरमफालिके पतन समय पर्यन्त उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम जानना। अवशिष्ट अनिवृत्तिकरणकालके अन्तिम समयमे अन्तिम काण्डककी चरमफालिका पतन होता है।

विशेषार्थ—उदयादि वर्तमान समयसे लेकर यहा गुणश्रेणि आयाम पाया जाता है इसलिये उदयादि कहते है और एक-एक व्यतीत होते हुए एक एक समय गुणश्रेणि आयाममें घटता जाता है इसलिए गलितावशेष कहा है। इसप्रकार उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम जानना। पूर्वोक्त विधानसे अन्तिमकाण्डककी द्विचरमफालि का पतन होने पर काण्डकोत्कीरण कालका अनिवृत्तिकरणकालमे एक समय अवशिष्ट रहता है।

चरिम फालिं देदि दु पढमे पव्वे असंखगुणिदकमा।
अंतिमसमयम्हि पुणो पल्लासंखेज्जमूलाणि ॥१४४॥

अर्थ—अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिका द्रव्य प्रथम पर्व (गलितावशेष गुणश्रेणि) मे असख्यात गुणित क्रमसे दिया जाता है। अन्तिम समयमे पल्यके असख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण द्रव्य दिया जाता है।

विशेषार्थ—यहा अपकर्षित होनेवाले द्रव्य का प्रमाण अन्तिमफालिके माहात्म्यवश कुछकम डेढगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योकि गुणश्रेणिका समस्त द्रव्य अन्तिमफालिको देखते हुए असख्यातगुणा हीन देखा जाता है। इसको ग्रहणकर कृतकृत्यसम्यक्त्वके कालप्रमाण अधस्तन निषेकोमे प्रदेशविन्यास करता हुआ उदयमे अल्पप्रदेशपुंजको देता है, क्योकि यद्यपि वह असख्यात समयप्रबद्धप्रमाण है तथापि उसके उपरिम निषेकोमे सिंचित होने वाले द्रव्यकी अपेक्षा अल्प होनेमे विरोध का अभाव है। तदनन्तर समयकी उपरिम स्थितिमें असख्यातगुणा देता है। गुणकार क्या है ? तत्प्रायोग्य पल्योपमके असंख्यातवे भाग प्रमाण अङ्क गुणकार हैं। इसप्रकार द्विचरम निषेकके प्राप्त होने तक जानना चाहिए। इतनी विशेषता हैं कि अधस्तन अनन्तर निषेकके गुणकारसे उपरिम अनन्तर निषेकका गुणकार सर्वत्र असख्यातगुणी वृद्धिरूपसे ले जाना चाहिये।

पुन उसके मध्यम अंशको प्राप्त कर और अन्तर्मुहूर्त कालतक उस रूप रहकर जघन्य अशमे भी जब अन्तर्मुहूर्त काल तक नही रह लेता तब तक अन्य लेश्यारूप परिवर्तन का होना सम्भव नही है ।

कुछ आचार्य इसप्रकार भी अर्थ करते है कि जिसप्रकार अधःप्रवृत्तकरणके प्रारम्भमे पूर्वोक्त विधिसे तेज, पद्म और शुक्ललेश्यामे से अन्यतर लेश्या के साथ क्षपण-क्रियाका प्रारम्भ करने वाला जो जीव पुन. दर्शनमोहकी क्षपणारूप क्रियाकी समाप्ति होने पर कृतकृत्यरूप से परिणमन करता है उसके नियमसे शुक्ललेश्याके होनेमे विरोध नही है । पुनः उसका विनाश होनेसे आगममें बतलाई गई विधिके अनुसार यदि तेज और पद्मलेश्यारूपसे परिणत होता है तो कृतकृत्य होने के बाद जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नही जाता तब तक वह उक्त लेश्यारूपसे परिवर्तन नही करता । अन्तर्मुहूर्तकाल के पश्चात् कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि जीव पहलेकी अवस्थित लेश्याका परित्यागकर जघन्य कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल इनमे से अन्यतर लेश्यारूप से परिणमता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । इस वचन द्वारा कृष्ण और नीललेश्याका यहा अत्यन्त अभाव कहा गया जानना चाहिये, क्योकि अत्यन्त सक्लिष्ट हुआ भी कृतकृत्य जीव अपने कालके भीतर जघन्य कापोत लेश्याका अतिक्रम नही करता है ।

अब कृतकृत्यवेदक कालमें पायी जाने वाली क्रिया विशेष को कहते हैं—

अणुसमओ वट्टणयं कदकिज्जंतोत्ति पुव्वकिरियादो ।
वट्टदि उदीरणं वा असंखसमयप्पबद्धाणं ॥१४८॥

अर्थ—पूर्व प्रयोग वश कृतकृत्यवेदक कालके अन्त तक प्रतिसमय सम्यक्त्वके अनुभागका अनन्तगुणी हानिरूप से अपवर्तन होता है तथा कृतकृत्य वेदककालमें एक समय अधिक एक आवलिकाल शेष रहने तक असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा भी होती है ।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरणकालका संख्यातवां भाग अवशिष्ट रहने पर जिस प्रकार दर्शनमोहनीयके अनुभागकाण्डकघात को नष्टकर प्रतिसमय अनन्तगुणे घटते क्रम सहित अनुभागका अपवर्तन कहा था उसीप्रकार इस कृतकृत्यवेदककालके अन्तिम समयपर्यन्त पाया जाता है, क्योकि करण परिणामों की विशुद्धता के सस्कार का यहा अवशेष रहना सम्भव है । उस कृतकृत्यवेदककालमें जबतक एक समय अधिक

विशेषार्थ—इसप्रकार अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमे सम्यक्त्व मोहनीयके अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिके द्रव्यका अधस्तनवर्ती निषेको मे निक्षेपण करने के पश्चात् अनन्तरवर्ती समयसे लेकर अनिवृत्तिकरणकालके सख्यातवे भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त पुरातन गलितावशेष गुणश्रेणि आयामके शीर्ष को सख्यातका भाग देने पर बहुभागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है, क्योकि दर्शनमोहनीयकी क्षपणा योग्य स्थितिकाण्डकादि कार्य तो अनिवृत्तिकरणके चरम समयमे ही समाप्त हो गया इसलिये किया है करने योग्य कार्य जिसने ऐसे कृत-कृत्य नामको प्राप्त जीव भुज्यमान आयुके नाशसे मरण को प्राप्त होवे तो सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले जो आयु बाधी थी उसके वशसे चारो-गतियोमे उत्पन्न होता है। वहा कृतकृत्यवेदकके कालके एक-एक अन्तर्मुहूर्तप्रमाण चार भाग करता है, उनमे से प्रथम-भागमे मरे तो देवो मे ही, द्वितीय भाग मे मरे तो देव या मनुष्यो मे, तृतीयभाग मे मरे तो देव-मनुष्य या तिर्यंचो मे तथा चतुर्थभागमे मरे तो चारो गतियो मे उत्पन्न होता है, क्योकि वहा उन ही मे उत्पन्न होने योग्य परिणाम होते है। इस क्रम द्वारा कृतकृत्य वेदककी उत्पत्ति जानना चाहिए।

आगे अध करणके प्रथमसमयसे लेकर कृतकृत्यवेदककालके चरम समयपर्यन्त लेश्या परिवर्तन होने अथवा न होने सम्बन्धी कथन करते हैं—

करणपढमादु जावय किदुकिच्चुवरिं मुहुत्तअंतोत्ति।
ण सुहाण परावत्ती सा धि कओदावरं तु वरिं ॥१४७॥

अर्थ—अध करण से लेकर कृतकृत्यवेदक के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक शुभ लेश्या को वदलता नही अर्थात् शुभ लेश्यामे अवस्थित रहता है। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यदि अन्य लेश्या रूप परिणमता है तो जघन्य कापोतलेश्याका अतिक्रम नही करता है।

विशेषार्थ—अध प्रवृत्तकरणमे विशुद्धिको पूर कर तेज (पीत), पद्म और शुक्ल इनमे से किसी एक शुभ लेश्या मे दर्शनमोहकी क्षपणा का प्रारम्भकर पुन जब जाकर यह जीव कृतकृत्य होता है तब तक उसके पूर्वमे प्रारम्भ की गई वही लेश्या पाई जाती है तथा पुन उसके आगे भी जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नही गया तब तक प्रारब्ध उक्त लेश्याको छोडकर अन्य लेश्यारूप परिवर्तन नही करता है, क्योकि कृतकृत्य भावको प्राप्त होनेवाले जीवके पूर्वमे प्रारब्ध हुई लेश्या का उत्कृष्ट अश होता है।

कृतकृत्य जीवके कालके भीतर जिसप्रकार गुणश्रेणि निक्षेप आदि विशेष असम्भव है उसीप्रकार वहा असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा भी असम्भव है ऐसी आशका नही करना चाहिए, किन्तु यह कृतकृत्यजीव अपने कालके भीतर संक्लेशको प्राप्त हो या विशुद्धिको प्राप्त हो तो भी सक्लेश-विशुद्धिनिरपेक्ष असख्यात समयप्रबद्ध-प्रमाण उदीरणा प्रतिसमय असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे कृतकृत्यके कालमे एकसमय अधिक एक आवलिकाल शेष रहने तक प्रवृत्त होती ही है, प्रतिघातको नही प्राप्त होती।

यद्यपि असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा पूर्व-पूर्व समय सम्बन्धी उदीरणा-द्रव्यसे असंख्यातगुण क्रमयुक्त है तथापि अन्तिमकांण्डककी अन्तिमफालिके द्रव्यको गुण-श्रेणिआयाममें दिया था उस गुणश्रेणिरूप उदयनिषेकके द्रव्यसे यह उदीरणाद्रव्य असंख्यातवां भागमात्र ही है, क्योंकि सर्वद्रव्यमे अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से एकभागको पल्यके असंख्यातवेभागका भाग देने पर उसमें से एक भागप्रमाण यह उदीरणाद्रव्य है और जो गुणश्रेणि का निषेक उदयरूप है, उसका द्रव्य, सर्वद्रव्यमें असख्यात पल्य के प्रथम वर्गमूलका भाग देने पर एक भागमात्र इसलिये कृतकृत्यवेदकके प्रथमादि समयोमे उदीरणाद्रव्य जो कि उस-उस समयमे उदयावलिके निषेकोमे दिया जा रहा है वह उस-उस उदयावलिके निषेकों के सत्त्वद्रव्यसे असख्यातगुणा हीन है। पुन कृतकृत्यवेदक कालमें एकसमय अधिक आवलिप्रमाणकाल अवशेष रहनेपर पूर्वमें अपकर्षित किये गए द्रव्यसें असख्यातगुणे द्रव्यको स्थिति के अन्तिम निषेक अर्थात् उदयावलिसे उपरितनवर्ती एक निषेक से अपकर्षित करके उसके नीचे एक समयकम आवलिके $\frac{2}{3}$ भागप्रमाण निषेकोंको अतिस्थापनारूप रखकर उसके नीचे एक समयअधिक आवलीके त्रिभागमात्र निषेकोमें द्रव्य देता है। वहां उस अपकर्षण किये हुए द्रव्यको पल्यके असख्यातवे भाग से भाजितकर उसमे से एक भागप्रमाण द्रव्य तो उदय समयसे लेकर यथायोग्य असख्यातसमय सम्बन्धी निषेकोंमे असख्यातगुणे क्रमसे देता है और अवशिष्ट बहुभागप्रमाण द्रव्यको अतिस्थापनाके अधस्तन समयको छोडकर उसके नीचे शेष बचे आवलीके त्रिभागप्रमाण निषेकोंमें विशेष हीन क्रमसे निक्षिप्त करता है। यही उत्कृष्ट उदीरणा है, इससे अधिक उदीरणाका द्रव्य नही है। इसप्रकार अनुभागका प्रतिसमय अपवर्तन करके और कर्म परमाणुओंकी उदीरणा करके यह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीयकी शेष रही अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमे उच्छिष्टावलिको छोडकर सर्व प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशो के सर्वथा विनाश पूर्वक (एक-एक निषेक

उच्छिष्टावलि अवशेष रहती है तबतक प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रम सहित असख्यात समय प्रबद्धोंकी उदीरणा पाई जाती है।

उदयवहिं ओक्कट्टिय असंखगुणसमुदयआवलिम्हि खिवे।
उवरिं विसेसहीणं कदकिज्जो जाव अइत्थवणं ॥१४९॥
जदि संकिलेसजुत्तो विसुद्धिसहिदो अतो वि पडिसमयं।
दव्वमसंखेज्जगुणं ओक्कट्टदि णत्थि गुणसेढी ॥१५०॥
जदि वि असंखेज्जाणं समयपबद्धाणुदीरणा तोवि।
उदयगुणसेढिठिदिए असंखभागो दु पडिसमयं ॥१५१॥

अर्थ—उदयावलिसे बाहरके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिमे असख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है उससे ऊपर कृतकृत्यवेदककाल मे अतिस्थापना शेष रहने तक विशेषहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है ॥१४९॥

कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि चाहे सक्लेशको प्राप्त हो चाहे विशुद्धिको तो भी उसके एक समय अधिक आवलिकाल शेष रहने तक प्रतिसमय असख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षण होता है, किन्तु गुणश्रेणि नही होती ॥१५०॥

यद्यपि असख्यात समयप्रवद्धोकी उदीरणा होती है तथापि प्रतिसमय उदय क्रमसे उत्कृष्ट उदीरणा द्रव्य असख्यातवेंभाग मात्र है ॥१५१॥

विशेषार्थ—कृतकृत्यवेदककालप्रमाण सम्यक्त्वमोहनीयके निषेकों का द्रव्य किंचित् ऊन द्व्यर्धगुणहानि गुणित समयप्रवद्ध प्रमाण है उसको अपकर्षणभागहार का भाग देकर उसमे से एकभागप्रमाण द्रव्यको उदयावलिसे बाहर उपरितनवर्ती निषेको से ग्रहण करके उसको पल्यके असख्यातवे भागका भाग देकर उसमे से एक भाग तो उदयावलिमें "प्रक्षेपयोगोद्धृत" इत्यादि विधानके द्वारा प्रथम समय से लेकर अन्तिम निषेक पर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है। तथा अवशिष्ट बहुभाग प्रमाण द्रव्य उस उदयावलिसे उपरितनवर्ती अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उपरितन स्थितिके अन्तमें समय अधिक अतिस्थापनावलि छोडकर सर्वनिषेकोमे "अद्धाणेण सव्वधणे" इत्यादि विधान द्वारा विशेष हीन क्रमसे निक्षिप्त करता है। इसप्रकार उपरितन स्थितिका जो द्रव्य उदयावलिमें दिया जाता है उसको उदीरणा कहते है।

सम्मे असंखवस्सिय चरिमट्ठिदिखंडओ असंखगुणो ।
मिस्से चरिमे खंडियमहियं अडवस्समेत्तेण ॥१५६॥
मिच्छे खवदे सम्मदुगाणं ताणं च मिच्छसत्तं हि ।
पढमंतिमठिदिखंडा असंखगुणिदा हु दुट्ठाणे ॥१५७॥
मिच्छंतिमठिदिखंडो पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।
हेट्ठिमठिदिप्पमाणेणब्भहियो होदि णियमेण ॥१५८॥
दूरावकिट्टिपढमं ठिदिखंडं संखसंगुणं तिण्णं ।
दूरावकिट्टिहेट्ठठिदिखंडं संखसंगुणियं ॥१५९॥
पलिदोवमसंतादो विदियो पल्लस्स हेट्ठगो जादु ।
अवरो अपुव्वपढमे ठिदिखंडो संखगुणिदकमा ॥१६०॥
पलिदोवमसंतादो पढमो ठिदिखंडओ दु संखगुणो ।
पलिदोवमठिदिसंतं होदि विसेसाहियं तत्तो ॥१६१॥
बिदियकरणस्स पढमे ठिदिखंडविसेसयं तु तदियस्स ।
करणस्स पढमसमये दंसणमोहस्स ठिदिसंतं ॥१६२॥
दंसणमोहूणाणं बंधो संतो य अवर वरगो य ।
संखेये गुणिदकमा तेत्तीसा एत्थ पदसंखा ॥१६३॥

गाथार्थ व विशेषार्थ—सर्वप्रथम दर्शनमोहनीयका आठवर्ष प्रमाण स्थिति सत्कर्म रहने पर जो पहले का अनुभागकाण्डक है उसका उत्कीरण काल सबसे स्तोक है। ऊपर कहे जाने वाले सभी पदों से स्तोकतर है, किन्तु कृतकृत्यवेदक होनेके प्रथम मे ज्ञानावरणादि शेष कर्मोका जो पहलेका अनुभागकाण्डक, अनिवृत्तिकरणकी अन्तिम अवस्थामे उसका उत्कीरणकाल सबसे जघन्य (स्तोक) है, क्योकि उससे आगे कृतकृत्य-वेदककालके भीतर स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात आदि क्रियाओकी प्रवृत्ति नही होती। अतः सबसे उत्कृष्ट विशुद्धि निमित्तक यह सबसे जघन्य है, यह सिद्ध हुआ[1]। (१)

---

१ ज ध पु १३ पृ ६१।

का एक-एक समयमे उदयरूप होकर) नष्ट होता है। तदनन्तर समयमे उच्छिष्टावलि-प्रमाण स्थिति अवशिष्ट रहनेपर उदीरणाका भी अभाव हुआ, केवल अनुभागका अपवर्तन (पूर्वमे कहे गए अपवर्तनसे यहा अपवर्तनका भिन्न लक्षण है) अनुभागका अपवर्तन उदयरूप प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय अनन्तगुणे क्रमसे प्रवर्तता है उससे (अपवर्तन से) प्रकृति-स्थिति-अनुभाग प्रदेशोके सर्वथा नाशपूर्वक प्रतिसमय उच्छिष्टा-वलि के एक-एक निषेकको गलाकर निर्जीण करता है और अनन्तरसमयमे ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

आगे कहे जाने वाली अल्पबहुत्वके कथनकी प्रतिज्ञारूप गाथा कहते हैं—

विदियकरणादिमादो कदकरणिज्जस्स पढमसमओत्ति ।
वोच्छं रसखंडुक्कीरणकालादीणमप्पबहु ॥१५२॥

अर्थ—द्वितीय करण (अपूर्वकरण) के प्रथमसमय से लेकर कृतकृत्यवेदक के प्रथम समयपर्यन्त अनुभागकाण्डकोत्कीरण कालादिक के अल्पबहुत्वसम्बन्धी ३३ स्थानों का कथन आगे करेंगे।

विशेषार्थ— दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले जीवके अपूर्वकरणके प्रथम-समय से लेकर कृतकृत्यवेदक होनेके प्रथम समयतक इस अन्तरालमें जघन्य और उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल तथा स्थितिकाण्डकोत्कीरण कालो के जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक, स्थितिबन्ध, स्थिति सत्कर्मोके जघन्य व उत्कृष्ट आबाधाओ का तथा अन्य पदोके अल्पबहुत्वका कथन किया जावेगा।

अब ११ गाथाओं के द्वारा अल्पबहुत्वके ३३ स्थानोंका कथन करते हैं—

रसठिदिखंडुक्कीरणअद्धा अवरं वरं च अवरवरं ।
सव्वत्थोवं अहियं संखेज्जगुणं विसेसहियं ॥१५३॥
कदकरणसम्मखवणाणियट्टिअपुव्वद्ध संखगुणिदकमं ।
तत्तो गुणसेढिस्स य णिक्खेओ साहियो होदि ॥१५४॥
सम्मदुचरिमे चरिमे अडवस्सस्सादिमे य ठिदिखंडा ।
अवरवरावाहावि य अडवस्सं संखगुणिदकमा ॥१५५॥

उत्कृष्ट आबाधा सख्यातगुणी है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमे होनेवाले सख्यातगुणे स्थितिबन्धकी आबाधाका ग्रहण है। ये सब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।।१४।। उससे सम्यक्त्वप्रकृतिकी आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणा है, क्योकि अन्तर्मुहूर्तकालसे आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणा सिद्ध है ।।१५।। (गाथा १५५)

उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका असख्यातवर्षप्रमाण अन्तिम स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है, क्योकि वह पल्यके असख्यातवेभागप्रमाण है ।।१६।। उससे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका असख्यातवर्षप्रमाण अन्तिम स्थितिकाँडक विशेष अधिक है। एक आवलिकम आठवर्ष विशेषका प्रमाण है, इसका कारण सुगम है ।।११७।। (गाथा १५६)

उससे मिथ्यात्वका क्षय होनेपर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका प्रथम स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है, क्योकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वके अन्तिम स्थितिकाण्डकसे द्विचरम स्थितिकाडक असंख्यातगुणा है। इसप्रकार त्रिचरम और चतुश्चरम आदि क्रमसे सख्यातहजार स्थितिकाण्डक नीचे जाकर मिथ्यात्व का क्षय होने पर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका तत्सम्बन्धी यह प्रथम स्थितिकाडक है। इसलिये यह स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है ।।१८।। उससे मिथ्यात्व सत्कर्मवालेके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है, क्योकि मिथ्यात्व सत्कर्मवालेके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका जो अन्तिम स्थितिकाण्डक है, वह पूर्वके स्थितिकाडकसे अनन्तर अधस्तनवर्ती होनेसे पूर्वके स्थितिकाण्डकसे असख्यातगुणा है ।। १९ ।। (गाथा १५७)

उससे मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक विशेष अधिक है, क्योकि मिथ्यात्वके उदयावलि बाह्य समस्त स्थितिसत्कर्मका ग्रहण होता है, परन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उस समय अधस्तन पल्योपमके असख्यातवेभागप्रमाण स्थितियोको छोड़कर उपरिम बहुभागप्रमाण स्थितियोंका ग्रहण होता है। इस कारण अधस्तन असख्यातवेभाग मात्रका प्रवेश होकर मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक विशेष अधिक हो गया है ।।२०।। (गाथा १५८)

उससे मिथ्यात्व सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वके असंख्यातगुण हानिवाले स्थितिकाण्डकोमें से प्रथम स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है, क्योकि पूर्वके स्थितिकाडकसे सख्यातहजार स्थितिकाण्डक असख्यातगुणे क्रमसे नीचे उतरकर दूरापकृष्टि सज्ञक स्थितिके असख्यात बहुभागके द्वारा इस स्थितिकाण्डककी प्रवृत्ति होती है ।।२१।। उससे

उससे उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकका उत्कीरणकाल विशेष अधिक है, क्योकि सभी कर्मोके अपूर्वकरणके प्रथमसमय मे प्राप्त अनुभागकाण्डक सम्बन्धी उत्कीरणकाल यहा ग्रहण किया गया है। (२) उससे स्थितिकाण्डकका जघन्य उत्कीरणकाल और जघन्य स्थितिबन्धकाल ये दोनो तुल्य होकर भी सख्यातगुणे है, क्योकि एक स्थिति-काण्डक उत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल के भीतर आगमोक्त संख्यातहजार अनुभाग-काण्डक उत्कीरणकाल होते है। यहा सम्यक्त्वप्रकृतिका अन्तिम स्थितिकाण्डक उत्कीरण-काल तथा वही पर शेष कर्मोके भी स्थितिकाण्डक-उत्कीरणकाल और स्थितिबन्धकाल ग्रहण करने चाहिये। (३)

उनसे, उत्कृष्ट ये दोनो परस्पर तुल्य होकर भी, विशेष अधिक हैं, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समय सम्बन्धी स्थितिकाण्डक उत्कीरण व स्थितिबन्धकाल ये दोनो उत्कृष्टरूप से ग्रहण किये गये है ॥४॥ (गाथा १५३)

उनसे कृतकृत्यसम्यग्दृष्टिका काल सख्यातगुणा है, क्योकि कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि के कालमे सख्यातहजार स्थितिबन्ध होते है ॥५॥ उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षपणाकाल सख्यातगुणा है, क्योकि मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोका क्षयकर पुन आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्कर्मका क्षय करनेवाले जीवका काल ग्रहण किया गया है ॥६॥ उससे अनिवृत्तिकरणका काल सख्यातगुणा है, क्योकि करणके सख्यात बहुभाग जाकर सख्यातवे भाग शेष रहने पर सम्यक्त्वप्रकृतिकी क्षपणाके कालका प्रारम्भ होता है ॥७॥ उससे अपूर्वकरणकाल सख्यातगुणा है, क्योकि अनिवृत्तिकरणके कालसे अपूर्वकरणके कालका सर्वत्र सख्यातगुणे रूपसे अवस्थान होनेका नियम है ॥८॥ उससे गुणश्रेणि निक्षेप विशेष अधिक है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालसे विशेष अधिक प्रमाण गुणश्रेणिआयामका निक्षेप विवक्षित है ॥९॥ (गाथा १५४)

उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका द्विचरम स्थितिकांडक संख्यातगुणा है। यह भी मात्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होकर पिछले पदसे सख्यातगुणा है ॥१०॥ उससे उसका अन्तिम स्थितिकाण्डक सख्यातगुणा है ॥११॥ उससे आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहने पर जो प्रथमस्थितिकाण्डक होता है वह सख्यातगुणा है। यहां संख्यात समय गुणकार है ॥१२॥ उससे जघन्य आबाधा सख्यातगुणी है। यहां पर कृतकृत्य सम्यग्दृष्टिके प्रथमसमयमे ज्ञानावरणादि कर्मसम्बन्धी जघन्य आबाधाका ग्रहण है ॥१३॥ उससे

दर्शनमोहका क्षय होनेपर उसी भवमे अथवा तृतीय भवमें अथवा मनुष्य या तिर्यचायु का पूर्वमे (दर्शनमोहका क्षय होने से पहले) बन्ध हो जानेके कारण भोगभूमि की अपेक्षा चौथे भवमे सिद्ध पद प्राप्त करता है। चतुर्थभवका उल्लघन नही करता। औपशमिक–क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके समान यह नाशको प्राप्त नही होता है।

उक्त सात प्रकृतियोके क्षयसे असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायिकसम्यक्त्वरूप जघन्य क्षायिकलब्धि होती है तथा चार घातिया कर्मोंके क्षयसे परमात्माके केवलज्ञानादिरूप उत्कृष्ट क्षायिकलब्धि होती है।

उवणेउ मंगलं वो भवियजणा जिणवरस्स कमकमलजुयं।
जसकुलिसकलससत्थियससंकसंखंकुसादिलक्खणभरियं ॥१६७॥

अर्थ—मत्स्य, वज्र, कलश, शक्थिक चन्द्रमा, अकुश[1] शख आदि नाना शुभ-लक्षणोसे सुशोभित जिनेन्द्र भगवानके चरण कमल भव्य लोगोको मगल प्रदान करे।

॥ इति क्षायिकसम्यक्त्वप्ररूपणा समाप्त ॥

१. भगवानके शरीरमे शख आदि १०८ एव मसूरिका आदि ९०० व्यंजन, इसप्रकार कुल १००८ लक्षण विद्यमान थे (महापुराण अ. १५।३७)

सख्यातगुणहानिवाले स्थितिकाण्डको मे से जो अन्तिम स्थितिकाण्डक है वह सख्यात-गुणा है, क्योकि दूरापकृष्टिप्रमाण स्थितिसत्कर्मो को छोडकर पुन उपरिम संख्यात वहुभागके द्वारा इस स्थितिकाण्डककी प्रवृत्ति होती है ।।२२।। (गाथा १५६)

उससे पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मके रहते हुए दूसरा स्थितिकाण्डक सख्यात-गुणा है, क्योकि पूर्वके स्थितिकाण्डकसे पश्चादनुपूर्वीके अनुसार सख्यातगुणवृद्धिरूप संख्यातहजार स्थितिकाडक पीछे उतरकर यह काण्डक होता है ।।२३।। उससे जिस स्थितिकाण्डकके नष्ट होने पर दर्शनमोहनीयका पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहता है वह स्थितिकाण्डक सख्यातगुणा है । यद्यपि यह भी पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण है, किन्तु पूर्वके स्थितिकाण्डकसे सख्यातगुणा है । गुणकार तत्प्रायोग्य संख्यात अङ्क है ।।२४।। उससे अपूर्वकरणमे प्रथम स्थितिकाण्डक सख्यातगुणा है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमे ग्रहण किये गये स्थितिकाण्डकसे विशेष हीन क्रमसे तत्प्रायोग्य सख्यात अङ्कप्रमाण स्थितिकाण्डक-गुणहानिगर्भ सख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत होनेपर पूर्वका स्थितिकाण्डक उत्पन्न हुआ है और वहा पर स्थितिकाडक गुणहानियोका अस्तित्व असिद्ध भी नही है, क्योकि अपूर्वकरणके भीतर प्रथम स्थितिकाण्डकसे संख्यातगुणा हीन भी स्थितिकाण्डक होता है इसलिए यह सख्यातगुणा है ऐसा सिद्ध हुआ ।।२५।। (गाथा १६०)

उससे पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मके होनेपर उसके बाद होनेवाला प्रथम स्थितिकाण्डक सख्यातगुणा है, क्योकि जब तक पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म प्राप्त नही होता तव तक अपूर्वकरणके कालमे और अनिवृत्तिकरणके कालमे प्राप्त होनेवाले सभी स्थितिकाण्डक पल्योपमके सख्यातवेभाग प्रमाण वाले होते है, परन्तु इस स्थितिकाडकमे पल्योपमके सख्यात बहु भागका घात होता है अत पूर्वके स्थितिकाडकसे यह संख्यात-गुणा है ।।२६।। उससे पल्योपम स्थितिसत्कर्म विशेषाधिक है । अधस्तन शेष संख्यातवा-भाग अधिक है ।।२७।। (गाथा १६१)

उससे अपूर्वकरणमे प्राप्त प्रथम उत्कृष्ट स्थितिकाडक विशेष सख्यातगुणा है । जघन्य स्थितिकाण्डक और उत्कृष्ट स्थितिकाण्डकके बीच विशेषका प्रमाण पल्यो-पमका सख्यातवाभाग हीन पृथक्त्वसागर है जो पल्यसे संख्यातगुणा है ।।२८।। उससे अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे प्रविष्ट जीवके दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म सख्यात-गुणा है, क्योकि वह सागरोपम शतसहस्रपृथक्त्व प्रमाण है ।।२९।। (गाथा १६२)

"अथ चारित्रलब्धि अधिकार"

दर्शनमोहकी क्षपणाविधान की प्ररूपणाके अनन्तर देशसंयम और सकलसंयम-लब्धि प्ररूपणाके लिये आगे का गाथा सूत्र कहते हैं—

दुविहा चरित्तलद्धी देसे सयले य देसचारित्तं ।
मिच्छो अयदो सयलं तेवि व देसो य लब्भेई ॥१६८॥

अर्थ—चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति, सो चारित्र देश और सकल के भेदसे दो प्रकार है । इसमे से देशचारित्रको मिथ्यादृष्टि या असंयतसम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है और सकलचारित्रको मिथ्यादृष्टि या असयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशचारित्री प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—देशचारित्रका घात करनेवाली अप्रत्याख्यानावरणकषायोके उदयाभावसे हिसादिक दोषोके एकदेश विरतिलक्षण अणुव्रतको प्राप्त होनेवाले जीवके विशुद्ध परिणाम होता है उसे देश चारित्र या सयमासयमलब्धि कहते है । सकल सावद्यकी विरतिलक्षण पांच महाव्रत, पांचसमिति और तीनगुप्तियो को प्राप्त होने वाले जीवका जो विशुद्धिरूप परिणाम होता है उसे सयमलब्धि जानना चाहिए, क्योकि क्षायोपशमिकचारित्रलब्धिको सयमलब्धि कहा गया है[1] ।

अब मिथ्यादृष्टिके देशसंयमकी प्राप्तिके पूर्व पाई जानेवाली सामग्रीका कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तकाले देसवदी होहिदित्ति मिच्छो हु ।
सोसरणो सुज्झंतो करणंपि करेदि सगजोग्गं ॥१६९॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् जो देशव्रती होगा ऐसे मिथ्यादृष्टिजीव प्रतिसमय अनन्तगुणीविशुद्धिसे वर्धमान होता हुआ आयु बिना सात कर्मोका बन्ध या सत्त्व अन्तःकोड़ाकोडी मात्र अवशेष करनेके द्वारा स्थितिबधापसरणको तथा अशुभकर्मोके अनुभागको अनन्तवाभाग मात्र करने के द्वारा अनुभागबधापसरणको करता हुआ अपने करणयोग्य परिणामको करता है ।

---

१. ज ध. पु १३ पृ १०७ । इतना विशेष है कि यह संयमलब्धि १२ कषायो के अनुदयरूप उपशम से तथा चारसज्वलन और ९ नोकषायो के देशोपशम से उत्पन्न होती है । ज ध. १३।१०६

उनसे संख्यातगुणा कृतकृत्यवेदकका प्रथम समयमें दर्शनमोहनीयके बिना शेष कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध है, क्योंकि कृतकृत्यवेदकके प्रथम समयमे होनेवाला स्थिति-बन्ध अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण है ॥३०॥ उससे उन्हीका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमे होनेवाला उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यहा विवक्षित है ॥३१॥ उससे दर्शनमोहनीयके बिना शेष कर्मोंका जघन्य स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योकि चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके अतिरिक्त अन्यत्र सम्यग्दृष्टियोके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे भी जघन्य स्थितिसत्कर्म नियमसे संख्यातगुणा होता है ॥३२॥ उनसे उन्हीका उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें सभी कर्मोंका अन्तःकोडाकोडीप्रमाण उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म होता है। उसका अभी घात नहीं हुआ है अतः घात होकर शेष बचे हुए पूर्वके जघन्य स्थितिसत्कर्मसे इसके उक्त-प्रकारसे सिद्ध होनेमे कोई बाधा नही आती है ॥३३॥ (गाथा १६३)[1]

अब तीन गाथाओंमें क्षायिकसम्यक्त्वके कारण-गुण-भवसीमा-क्षायिकलब्धित्व आदिका कथन करते हैं—

सत्तण्हं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं ।
मेरु व णिप्पकंपं सुणिम्मलं अक्खयमणंतं ॥१६४॥
दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे ।
णादिक्कदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥१६५॥
सत्तण्हं पयडीणं खयादु अवरं तु खइयलद्धी दु ।
उक्कस्सखइयलद्धी घाइचउक्कखएण हवे ॥१६६॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीय त्रिक इन सात प्रकृतियो के क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व होता है सो मेरुके समान निष्कम्प अर्थात् निश्चल है, सुनिर्मल अर्थात् शंकादि मलसे रहित है, अक्षय अर्थात् नाश से रहित है तथा अनन्त अर्थात् अन्तसे रहित है[2]।

---

1. क. पा. सुत्त पृ. ६५५ से ६५७, धवल पु. ६ पृ. २६३ से २६६; ज. ध. पु. १३ पृ. ६१ से १००।
2. क. गा. ६४०, ध. पु. १ पृ. १७२ प्रा. प. स. पृ. ३५।

अर्थ—सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदकसम्यक्त्व सहित देशचारित्र को ग्रहण करता है उसके अध:करण और अपूर्वकरण ये दो ही करण होते है, उनमें गुणश्रेणि निर्जरा नही होती है, अन्य स्थितिखडादि सभी कार्य होते है। वह अपूर्वकरणके अतिम समयमे वेदकसम्यक्त्व और देशचारित्रको युगपत् ग्रहण करता है, क्योकि अनिवृत्तिकरण बिना ही इनकी प्राप्ति सम्भव है। वहा प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्तिवत् ही करणो का अल्पबहुत्व है, इसलिए यहा अध:करणकालसे अपूर्वकरणका काल संख्यातवेभाग-प्रमाण है तथा अपूर्वकरणके कालमे सख्यातहजार-स्थितिखण्ड होने पर अपूर्वकरणका काल समाप्त होता है।

विशेषार्थ—इसीप्रकार असयतवेदकसम्यग्दृष्टि भी दो करणो के अन्तसमयमें देशचारित्रको प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टिके कथन से ही सिद्धान्तके अनुसार असयत-सम्यग्दृष्टिका भी ग्रहण करना। यहा उपशम सम्यक्त्वका अभाव होने से उस सम्बन्धी गुणश्रेणि नही है और देशचारित्रको अभी तक प्राप्त नही किया इसकारण उस सम्बन्धी गुणश्रेणि भी नही है तथा वेदकसम्यक्त्व गुणश्रेणिका कारण नही है इसलिये यहां अपूर्वकरणमे गुणश्रेणिका अभाव कहा है। अनिवृत्तिकरण, कर्मों के सर्व उपशम या निर्मूल क्षय होने के समय होता है, क्षयोपशममे नही होता अत यहा अनिवृत्तिकरणका कथन नही किया[1]।

अधः प्रवृत्तकरणका कथन जिसप्रकार दर्शनमोहकी उपशामनामे किया गया है उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए, क्योकि उससे इसमें कोई भेद नही है। अध:-करणके समाप्त होने पर अपूर्वकरणका प्रारम्भ होता है। दर्शनमोहकी उपशामना प्रकरणमे इसका कथन हो चुका है। यहा इतनी विशेषता है कि देशचारित्रलब्धिकी प्रधानतासे वहाके परिणामोंसे यहाके परिणाम अनन्तगुणे होते है[2]। पूर्ववत् जघन्य स्थितिकाण्डक पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण और उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक सागरोपम पृथक्त्वप्रमाण प्रथम समयमें होता है। मध्यमें वह अनेकप्रकारका होता है। अशुभकर्मो के अनन्त बहुभागरूप अनुभागकाण्डकघात होता है, किन्तु शुभकर्मोका अनुभागघात नही

१. जब यह जीव दर्शनमोहनीय की उपशामना, चारित्रमोहनीय की सर्वोपशामना दर्शनमोह की क्षपणा, चारित्रमोहकीक्षपणा, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना (ज ध पु. १३। पृ. १६७-६८) करता है तब अनिवृत्तिकरण होता है। (ज. ध पु. १३ पृ. ११४ व ज. ध. पु. १३ प. २१४)

२. ध. पु ६ , ज. ध पु १३ प. १२०।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टिजीव पहले ही अन्तर्मुहूर्त काल रहने पर स्वस्थानके योग्य प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्धिको प्राप्त हुआ आयुकर्मको छोड़कर सभी कर्मोके स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्मको अन्त कोड़ाकोडीके भीतर करता है, क्योकि उस कालमे होनेवाले विशुद्धिरूप परिणाम उससे उपरिम स्थितिवन्ध और स्थितिसत्कर्मके विरुद्ध स्वभाववाले होते है और उनके उसप्रकारके हुए विना सयमासयमगुणकी प्राप्ति नही बन सकती । प्रकृत विशुद्धके निमित्तसे होनेवाला यह एक फल है । दूसरा फल यह है कि साता आदि शुभ कर्मोके अनुभागबन्ध और अनुभागसत्कर्मको चतु स्थानीय करता है, क्योकि उनका अनुभाग शुभपरिणामनिमित्तक होता है, परन्तु पाच ज्ञानावरणादि अशुभकर्मोके अनुभागबन्ध और अनुभागसत्कर्मको नियमसे द्विस्थानीय करता है, क्योकि विशुद्धिरूप परिणामोके निमित्तसे उन कर्मोके उससे ऊपरके अनुभाग का घात हो जाता है ।

अब उपशमसम्यक्त्वके साथ देशसंयमको ग्रहण करनेवाले जीवका कार्य बतलाते हैं—

मिच्छो देसचरित्तं उवसमसम्मेण गेण्हमाणो हु ।
सम्मत्तुप्पत्तिं वा तिकरण चरिमम्हि गेण्हदि हु ॥१७०॥

अर्थ—अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वसहित देशचारित्र ग्रहण करता है । सो वह दर्शनमोहके उपशम मे जो विधान कहा है उसी विधान द्वारा तीन करणोके अन्तिमसमयमे देशचारित्रको ग्रहण करता है । दर्शनमोहके उपशमकालमें जो प्रकृति–स्थितिवन्धापसरण, स्थितिकाण्डकघात आदि कार्य कहे गये हैं वे सभी कार्य यहा भी करता है कुछ भी विशेषता नही है ।

अथानन्तर दो गाथाओं से मिथ्यादृष्टि जीवके वेदकसम्यक्त्वके साथ देश चारित्रके ग्रहणके समय होनेवाली विशेषता बतलाते हैं—

मिच्छो देसचरित्तं वेदगसम्मेण गेण्हमाणो हु ।
दुकरणचरिमे गेण्हदि गुणसेढी णत्थि तक्करणे ॥१७१॥
सम्मत्तुप्पत्तिं वा थोवबहुत्तं च होदि करणाणं ।
ठिदिखंडसहस्सगदे अपुव्वकरणं समप्पदि हु ॥१७२॥

अर्थ—एकान्तवृद्धिकालमे असख्यातगुणे क्रमसे द्रव्यका अपकर्षण होता है। बहुत स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर स्वस्थान सयतासयत अर्थात् अध प्रवृत्त देशसयत हो जाता है।

विशेषार्थ—देशसयतके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धियुक्त बढता है सो इसे एकान्तवृद्धि कहते हैं। इसके कालमे प्रतिसमय असख्यातगुणे क्रमसे द्रव्यको अपकर्षित करके अवस्थित गुणश्रेणिआयाममे निक्षिप्त करता है। वहा एकान्तवृद्धिकालमे स्थितिकाण्डकादि कार्य होता है तथा बहुत स्थिति-खण्ड होने पर एकान्तवृद्धिका काल समाप्त होने के अनन्तर विशुद्धताकी वृद्धिसे रहित होकर स्वस्थान देशसयत होता है इसको अधाप्रवृत्त देशसयत भी कहते है। इसका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन कोटिपूर्वप्रमाण है[1]।

अब अथाप्रवृत्तसयतके कालमें होने वाले कार्य विशेषका स्पष्टीकरण करते हैं—

ठिदिरसघादो णत्थि हु अधापवत्ताभिधाणदेसस्स।
पडिउट्ठदे मुहुत्तं संते ण हि तस्स करणदुगं ॥१७५॥

अर्थ—अधःप्रवृत्त देशसंयतके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात नही होता। यदि देशसंयतसे गिर गया और फिर भी अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा वापस देश-संयत हो गया उसके भी स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात नही होते तथा दो करण भी नही होते।

विशेषार्थ—करण परिणामोंका अभाव होने पर भी एकान्तानुवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुए संयमासयमके परिणामोकी प्रधानतावश स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाडक-घात होते है, परन्तु एकान्तानुवृद्धिकालकी समाप्ति होनेपर अध प्रवृत्त देशसयतके स्थितिकाडकघात और अनुभागकाण्डकघात नही होते, क्योकि करणसम्बन्धी विशुद्धिके निमित्तसे हुआ प्रयत्न-विशेष एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमें नष्ट हो जाता है। यदि परिणाम-निमित्तके वश सयतासंयतसे च्युत होकर, किन्तु स्थिति और अनुभागमे वृद्धि न कर फिर भी अतिशीघ्र अन्तर्मुहूर्तकालके भीतर ही परिणाम प्रयत्नवश संयमासयम को प्राप्त होता है, उसके भी अधःप्रवृत्त संयतासंयतके समान स्थितिघात और अनुभाग-घात नही होता, क्योकि स्थितिवृद्धि और अनुभागवृद्धिके बिना देशसंयमको प्राप्त होने

१. क.पा. सु प. ६६३।

होता । पिछले समयकी अपेक्षा स्थितिबन्ध पल्योपमका सख्यातवाभाग हीन होता है । सहस्रो अनुभागकाण्डकोके व्यतीत होनेपर स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल स्थितिबन्धकाल व अनुभागकाण्डक-उत्कीरणकाल ये तीनो एक साथ समाप्त होते है । इसप्रकार हजारो स्थितिकाण्डकोके व्यतीत होने पर अपूर्वकरणका काल समाप्त होता है ।

आगे देशसंयमकी प्राप्तिके प्रथमसमयसे गुणश्रेणिरूप कार्यविशेषका निर्देश करते हैं—

से काले देसवदी असंखसमयप्पबद्धमाहरियं ।
उदयावलिस्स बाहिं गुणसेढीमवट्ठिदं कुणदि ॥१७३॥

अर्थ—देशव्रती होनेके कालमे अर्थात् प्रथमसमयमें असंख्यात समयप्रबद्धोंको अपकर्षणकर उदयावलिबाह्य अवस्थित गुणश्रेणिकी रचना होती है[1] ।

विशेषार्थ—संयमासयमगुणको प्राप्त होनेके प्रथमसमयमें ही उपरिम स्थितियों के द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणिनिक्षेप करता हुआ उदयावलिके भीतर (निक्षेपार्थ अपकृष्टद्रव्यको) असंख्याततलोकका भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे उतने द्रव्यको गोपुच्छाकारसे निक्षिप्तकर उसके बाद उदयावलिके बाहर अनन्तर स्थितिमें असंख्यात-समयप्रबद्धोका सिचन करता है । पुन. उससे उपरिम अनन्तर स्थितिमे असंख्यातगुणे द्रव्यका सिंचन करता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होनेतक असख्यातगुणित श्रेणिरूपसे सिंचन करता हुआ जाता है । तदनन्तर उपरिम-स्थितिमे असंख्यातगुणे हीन द्रव्यका सिंचन करता है । इसके पश्चात् अतिस्थापनावलिसे पूर्व अन्तिम स्थितिके प्राप्त होनेतक उत्तरोत्तर विशेषहीन द्रव्यका सिंचन करता हैं, इसप्रकारका गुणश्रेणिनिक्षेप यहांपर प्रारम्भ किया ।

अब देशसंयतके कार्य विशेषका (एकान्तानुवृद्धि-संयत व अथाप्रवृत्त देश-सयतका) कथन करते हैं—

दव्वं असंखगुणिदक्कमेण एयंतवड्ढिकालोत्ति ।
बहुठिदिखंडे तीदे अधापवत्तो हवे देसो ॥१७४॥

---

१ क. पा. सु. पृ ६६२ सूत्र २४, ध पु. ६ पृ. २७२ का दूसरा पेरा ।

का गुणश्रेणिमें निक्षेप करता है[1]। परिणामोंके अनुसार ही गुणश्रेणि निक्षेपको आरम्भ करता है[2]। गुणश्रेणि आयाम सर्वत्र अवस्थित ही होता है[3]।

अथानन्तर सात गाथाओं में आचार्यदेव अल्पबहुत्वकथनकी प्रतिज्ञा पूर्वक अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

विदियकरणादु जावय देसस्सेयंतवड्ढि चरिमेत्ति।
अप्पाबहुगं वोच्छं रसखंडद्धाण पहुदीणं ॥१७७॥
अंतिमरसखंडुक्कीरणकालादो दु पढमओ अहिओ।
चरिमट्ठिदिखंडुक्कीरणकालो खंखगुणिदो हु ॥१७८॥
पढमट्ठिदिखंडुक्कीरणकालो साहियो हवे तत्तो।
एयंतवड्ढिकालो अपुव्वकालो य संखगुणिदकमा ॥१७९॥
अवरा मिच्छतियद्धा अविरद तह देससंजमद्धा य।
छप्पि समा खंखगुणा तत्तो देसस्स गुणसेढी ॥१८०॥
चरिमाबाहा तत्तो पढमाबाहा य संखगुणिदकमा।
तत्तो असंखगुणिदो चरिमट्ठिदिखंडओ णियमा ॥१८१॥
पल्लस्स संखभागं चरिमट्ठिदिखंडयं हवे जम्हा।
तम्हा असंखगुणिदं चरिमट्ठिदिखंडयं होई ॥१८२॥
पढमे अवरो पल्लो पढमुक्कस्सं य चरिमठिदिबंधो।
पढमो चरिमं पढमट्ठिदिसंतं संखगुणिदकमा ॥१८३॥

अर्थ व विशेषार्थ—अपूर्वकरण से लगाकर एकान्तवृद्धिके अन्तसमय पर्यन्त सम्भव अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल आदिका अल्पबहुत्व कहूंगा। एकान्तानुवृद्धिकालके भीतर जो अन्तिम अनुभागका उत्कीरणकाल है वह सबसे स्तोक है ॥१॥ उससे अपूर्व-

---

१. क. पा सुत्त पृ. ६६३ सूत्र ३१।
२. ध. पु. १२ पृ. ७९।
३. ज. ध. पु १३ पृ. १२९-३०।

वाले के तत्प्रायोग्य विशुद्धिके सम्बन्धबिना करण परिणामोका होना असम्भव है । तीव्र विराधनाके कारणभूत बाह्यपदार्थोका सम्पर्क हुए विना तत्प्रायोग्य सक्लेश परिणामोसे युक्त अन्तरङ्ग कारणके द्वारा जीवादि पदार्थोको दूषित न कर अधस्तन गुणस्थानमे जाकर फिर भी बाह्यकारण निरपेक्ष तत्प्रायोग्य विशुद्धिके साथ मन्द सवेगरूप परिणामोके द्वारा देशसंयम को ग्रहण करनेवालेके अनुभागकाण्डक घात, स्थितिकाण्डकघात व करण नही होते ।

यदि कोई जीव संक्लेशकी बहुलता से संयतासंयतसे मिथ्यात्वरूपी पातालमे गिरकर फिर भी अन्तर्मुहूर्तकाल से या 'वेदक प्रायोग्यभाव नष्ट नही हुआ है' ऐसे विप्रकृष्टकालसे विशुद्धिको पूरकर सयमासयम को प्राप्त होता है तो उसके दो करण होते है, अन्यथा बढाई गई स्थिति और अनुभागका घात नही बन सकता[1] ।

आगेको गाथामें अथाप्रवृत्तसंयतके गुणश्रेणि द्रव्यकी प्ररूपणा करते हैं—

देसो समये समये सुज्झंतो संकिलिस्समाणो य ।
चउवड्ढिहाणिदव्वादवट्ठिदं कुणदि गुणसेढिं ॥१७६॥

अर्थ—अध प्रवृत्त देशसयतके सर्वकालमे विशुद्धि या संक्लेशको प्राप्त होने पर भी प्रति समय यथा सम्भव चतु स्थानपतित वृद्धि-हानि को लिये गुणश्रेणि विधान होता है ।

विशेषार्थ—जबतक देशसंयत रहता है तबतक प्रतिसमय असंख्यात समयप्रबद्धोका अपकर्षणकर गुणश्रेणि निर्जरा करता है,[2] क्योकि जबतक सयमासंयम गुण नष्ट नही होता तबतक संयमासयम निमित्तक गुणश्रेणि निर्जराकी प्रवृत्तिमें कोई बाधा नही है । इसलिये सयतासयत गुणश्रेणि निर्जराका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटिप्रमाण है, किन्तु विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ उक्त जीव प्रतिसमय असख्यातगुणे सख्यातगुणे, सख्यातभागअधिक या असंख्यातभाग अधिक प्रदेशपुञ्जका गुणश्रेणिमें निक्षेप करता है तथा सक्लेशको प्राप्त हुआ उक्त जीव इसीप्रकार असख्यातगुणे हीन, सख्यातगुणे हीन, सख्यातभाग हीन या असख्यातभागहीन प्रदेशपुंज

१. ज ध पु. १३ पृ १२४, १२७, १२६, १३१ व १३२ ।
२. ध पु ८ पृ ८२, ज ध पु १३ पृ. १२६, गो जी गा. ४७६, ध. पु. १ पृ. ३७३, प्रा पं. सं अ १ गा. १३० ।

कोडाकोडीप्रमाण जघन्य स्थितिबन्धका ग्रहण है ॥१५॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमें होनेवाला स्थितिबन्ध संख्यातगुणा ॥१६॥ उससे एकान्तानुवृद्धिकालके अन्तिम समयमे होनेवाला जघन्य स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणा है ॥१७॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमे घातके बिना प्राप्त अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण उत्कृष्ट सत्कर्म संख्यातगुणा है[1] ॥ १८ ॥ (गा १८३)

देशसंयमकी जघन्य व उत्कृष्टलब्धिके साथ उसके अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

अवरवरदेसलद्धी सेकाले मिच्छसंजमुव्वरणे ।
अवरादु अणंतगुणा उक्कस्सा देसलद्धी दु ॥१८४॥

अर्थ—मिथ्यात्वके सम्मुख जीवके देशसंयमकी जघन्यलब्धि होती है और संयमके अभिमुख जीवके देशसंयमकी उत्कृष्टलब्धि होती है, जघन्यसे उत्कृष्ट देशसंयम-लब्धि अनन्तगुणी है।

विशेषार्थ—संयतासयतजीव कषायोके तीव्र अनुभागके उदयसे संक्लिष्ट होकर अनन्तर समयमे मिथ्यात्वको प्राप्त होगा, उस अन्तिम समयवर्ती देशसंयतके जघन्य देशसंयमलब्धि होती है,[2] क्योकि कषायोके तीव्र अनुभागोदयसे उत्पन्न हुए सक्लेशसे ओतप्रोत देशसयम लब्धिके सबसे जघन्यपनेके प्रति विरोध नही पाया जाता। जो देश-संयत सर्वविशुद्ध होकर सयमके अभिमुख हुआ है, अन्तिम समयवर्ती उस देशसंयतके उत्कृष्ट देशसयमलब्धि होती है, क्योंकि प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होनेवाले सयमके अभिमुख हुए जीवके द्विचरम समयमे उदीर्ण हुए कषायों सम्बन्धी अनुभाग-स्पर्द्धको से अनन्तगुणे हीन अन्तिम समयसम्बन्धी उदीर्ण हुए स्पर्धकों के द्वारा उत्पन्न हुई अन्तिम विशुद्धि अर्थात् चरमसमयकी देशसयमलब्धिके सर्वोत्कृष्टपनेके प्रति विरोध का अभाव है। जघन्य देशसयमलब्धि से उत्कृष्ट देशसयमलब्धि अनन्तगुणी है, क्योकि पूर्व के जघन्य लब्धिस्थानसे असख्यात लोकप्रमाण छह स्थानों को उल्लंघकर उत्कृष्ट देशसयम लब्धिस्थानकी उत्पत्ति होती है[3]।

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. १३३ से १३७ तक, ध पु. ६ पृ. २७४-२७५, क. पा. सु. ६३४-३५।
२. क. पा सु पृ. ६६६ सूत्र ५८-५९।
३. ज. ध. पु. १३ पृ १४०-१४१।

करणमें प्रथम अनुभागकाण्डकका उत्कीरणकाल विशेष अधिक है ॥२॥ उससे एकान्तानुवृद्धिकालका अन्तिम स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल व जघन्य स्थितिबन्धकाल दोनो तुल्य होकर सख्यातगुणे है, क्योकि एक स्थितिकाण्डकमे हजारों अनुभागकाण्डक होते है ॥ ३ ॥ (गा. १७८)

उससे अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिकाडक व स्थितिबन्धकाल विशेष अधिक है ॥४॥ उससे सख्यातगुणा एकान्तानुवृद्धिकाल है । यद्यपि यह काल भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, तथापि इस एकान्तानुवृद्धिकालमे सख्यातहजार स्थितिकाडक उत्कीरणकाल व स्थितिवन्धकाल होते है इसलिये यह सख्यातगुणा हो जाता है ॥५॥ उससे अपूर्वकरणका काल सख्यातगुणा है । यहा तत्प्रायोग्य सख्यात अक गुणाकार है । यहा पर अनिवृत्तिकरण नही है इसलिये तद्विषयक अल्पबहुत्वका विचार भी नही किया गया है ॥ ६ ॥ (गा. १७९)

उस अपूर्वकरणकालसे जघन्य सम्यक्त्वकाल, मिथ्यात्वकाल, सम्यग्मिथ्यात्वकाल तथा जघन्य असंयत-देशसयतकाल व सकल सयमकाल ये छहो काल परस्पर सदृश होकर भी सख्यातगुणे है ॥७॥ उससे संयमासयम (देशसयम) गुणश्रेणिकाल सख्यातगुणा है ॥ ८ ॥ (गा. १८०)

उससे एकान्तानुवृद्धिकालके अन्तिम बन्धकी जघन्य आबाधा संख्यातगुणी है ॥९॥ उससे अपूर्वकरण के प्रथम समयमे होने वाले बन्धकी आबाधा सख्यातगुणी है । यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होकर भी पूर्व की आबाधासे संख्यातगुणी है ॥१०॥ उससे एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमे होनेवाला पल्योपमके सख्यातवेभाग प्रमाण जघन्य स्थितिकाण्डक असख्यातगुणा है, क्योकि चरम स्थितिकांडक पल्यके सख्यातवेभाग प्रमाण है इसलिये पूर्वके अन्तर्मुहूर्तकालसे यह चरम स्थितिकांडक असख्यातगुणा है ॥ ११ ॥ (गा. १८१–८२)

उससे अपूर्वकरणका प्रथम जघन्य स्थितिकाडक, पल्योपमके सख्यातवेभाग होते हुए भी सख्यातगुणा है, क्योकि पूर्वोक्त चरम स्थितिकांडकसे सख्यात हजार स्थितिकाण्डक गुणहानिया नीचे उतरकर यह अपूर्वकरणके प्रथम समयमें प्राप्त हुआ है ॥१२॥ उससे सख्यातगुणा पल्य है ॥१३॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमे होनेवाला सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण स्वरूप उत्कृष्ट स्थितिकांडक है ॥१४॥ उससे सख्यातगुणा जघन्य स्थितिवन्ध है, क्योकि यहा एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमें होनेवाले अन्तः-

कषायोदय स्थानोके बिना अनन्तगुणस्वरूप देशसयमलब्धिस्थानकी उत्पत्ति नही हो सकती। यह एक षट्स्थान है। इसप्रकार असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान प्रतिपातस्थान है। इन प्रतिपात लब्धिस्थानोका उल्लघनकर असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित प्रतिपद्यमान स्थान है। ये पिछले स्थानोसे असख्यातगुणे स्थानस्वरूप है। उससे भी असख्यातगुणे अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थानोके योग्य असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान-पतितस्थान होते है जो तदनन्तर समयमे सयमको ग्रहण करनेवाले जीवके लब्धिस्थानोके समाप्त होने तक पाये जाते है। प्रतिपात आदि तीनप्रकारके ये सब षट्स्थानपतित देशसयमलब्धिस्थान असख्यातलोकप्रमाण है[1]।

जिस स्थानके होने पर यह जीव मिथ्यात्वको या असयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपातस्थान कहा जाता है। जिस स्थानके होनेपर यह जीव सयमासयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपद्यमान स्थान कहलाता है। स्वस्थानमे अवस्थानके योग्य और उपरिम गुणस्थानके अभिमुख हुए जीवके स्थान ये सब शेष लब्धिस्थान अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान-स्वरूप अनुभय स्थान हैं[2]।

अथानन्तर देशसंयमके जघन्य व उत्कृष्टरूप से उक्त भेद कौन किसमें हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

णरतिरिये तिरियणरे अवरं अवरं वरं वरं तिसुवि।
लोयाणमसंखेज्जा छट्ठाणा होंति तम्मज्झे ॥१८७॥

अर्थ—उन प्रतिपात, प्रतिपद्यमान व अनुभय इन तीनो देशसयम लब्धिस्थानों मे प्रथम मनुष्य योग्य जघन्यस्थान होता है। पुन तिर्यंच योग्य जघन्य स्थान होता है। तत्पश्चात् तिर्यंचयोग्य उत्कृष्टस्थान होता है उसके पश्चात् मनुष्ययोग्य उत्कृष्ट स्थान होता है। उनके मध्यमे असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित स्थान होते है।

---

१ ज. ध. पु १३ पृ १४३-१४६।

२ ज. ध पु १३ पृ. १४२। सयमासंयम से गिरने के अन्तिम समयमे होने वाले स्थानोको प्रतिपात-स्थान कहते हैं। संयमासंयमको धारण करनेके प्रथम समयमे होने वाले स्थानो को प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं। इन दोनो स्थानो को छोडकर मध्यवर्ती समयोमे सम्भव समस्त स्थानोको अप्रतिपात अप्रतिपद्यमान या अनुभयस्थान कहते है। यह उक्त कथन का सरल शब्दोमे तात्पर्य है। (ध पु. ६ पृ. २७७, ज. ध. पु. १३ प. १४८ आदि)

जघन्य देशसंयमके अविभागी प्रतिच्छेदों के प्रमाणका कथन करते हुए देश-संयमके भेदों व उसमें अन्तरका कथन करते हैं—

अवरे देसट्ठाणे होंति अणंताणि फड्ढयाणि तदो ।
छट्ठाणगदा सव्वे लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१८५॥
तत्थ य पडिवायगदा पडिवज्जगदात्ति अणुभयगदात्ति ।
उवरुवरिलद्धिठाणा लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१८६॥

अर्थ—सर्व जघन्य देशसयमलब्धिस्थानमे अनन्त स्पर्धक होते है। षट्स्थानपतित वृद्धियोके द्वारा असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित सर्व लब्धिस्थान होते हैं ॥१८५॥[1]

देशसयमलब्धिस्थान तीन प्रकारके हैं— १. प्रतिपातगत २. प्रतिपाद्यमानगत ३ अनुभयगत। ये लब्धिस्थान उपर्युपरि होते हुए असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित है ॥ १८६ ॥

विशेषार्थ—यह जघन्य देशसयमलब्धिस्थान सब जीवोसे अनन्तगुणे अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोसे निष्पन्न हुआ है। ये ही अनन्त अविभागीप्रतिच्छेद अनन्तस्पर्धक कहे जाते हैं, क्योकि यहां पर स्पर्धक शब्द अविभागप्रतिच्छेदोका वाची स्वीकार किया गया है। अथवा यह जघन्य लब्धिस्थान मिथ्यात्वमे गिरनेके सम्मुख हुए सयतासयतके अन्तिम समयमे कषायोके अनन्त अनुभाग स्पर्धकोके उदयसे उत्पन्न हुआ है, इसप्रकार कार्यमे कारणके उपचारसे "अनन्तस्पर्धक" कहे गये है।

जघन्य लब्धिस्थानको सर्व जीवराशिप्रमाण भागहारसे भाजितकर वहा प्राप्त एक भागको मिलानेपर जघन्य देशसयमलब्धिस्थानसे अनन्तवाभाग अधिक होकर दूसरा लब्धिस्थान उत्पन्न होता है। जघन्य लब्धिस्थानसे अगुलके संख्यातवेभागप्रमाण अनत-भागवृद्धि-काडक जाकर असख्यातभागवृद्धिस्थान होता है। तत्पश्चात् असख्यातभाग-वृद्धिकाण्डक जाकर सख्यातभागवृद्धिस्थान होता है। तत्पश्चात् सख्यातभागवृद्धिकांडक जाकर सख्यातगुणवृद्धिस्थान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् सख्यातगुणवृद्धिकांडक जाकर असख्यातगुणवृद्धिस्थान होता है। तत्पश्चात् असख्यातगुणवृद्धि जाकर अनन्तगुणवृद्धि-स्थान होता है तब कषायोदयस्थान अनन्तगुणा हीन होता है, क्योंकि अनन्तगुणेहीन

---
१. ध पु. ६ पृ २७६ दूसरा पेरा।

प्रतिपातस्थानोका अध्वान (आयाम) स्तोक है, उससे प्रतिपद्यमानस्थानोंका अध्वान असख्यातगुणा है। उससे अनुभयस्थानोका अध्वान असख्यातगुणा है। गुणकार सवत्र असख्यातलोकप्रमाण है।

अब देशसंयमके उक्त भेदों में से किसका कौन स्वामी है इसका निर्देश करते हैं—

पडिवाददुगंवरवरं मिच्छे अयदे अणुभयगजहण्णं।
मिच्छचरविदियसमये तत्तिरियवरं तु सट्ठाणे॥१८८॥

अर्थ—देशसंयतसे मिथ्यात्वको जानेवाले के जघन्य प्रतिपातस्थान और असयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानको जाने वाले के उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान होते है। इसीप्रकार मिथ्यात्वसे देशसयम प्राप्त करनेवालेके जघन्य प्रतिपद्यमानस्थान होता है और असयत चतुर्थगुणस्थानसे देशसंयमको प्राप्त करनेवालेके उत्कृष्ट प्रतिपद्यमानस्थान होता है। "पडिवाद दुग" से प्रतिपातस्थान व प्रतिपद्यमानस्थान इन दोनों स्थानोंका ग्रहण होता है। मिथ्यात्वसे देशसंयमको प्राप्त करनेके दूसरे समयमें जघन्य अनुभयस्थान होता है। तिर्यचोका उत्कृष्ट अनुभयस्थान स्वस्थानमे ही होता है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले सबसे अधिक सक्लेश परिणामसे युक्त देशसयतमनुष्यके सबसे जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान होता है। उससे, मिथ्यात्वमें गिरनेवाले तिर्यचका जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके लब्धिस्थानसे असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर यह स्थान प्राप्त होता है। उससे तत्प्रायोग्य सक्लेश द्वारा असयमको गिरनेवाले देशसंयत तिर्यचके अन्त समयमें होनेवाला तिर्यंच योग्य उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है। यह वेदक-सम्यक्त्वसे युक्त असयमको प्राप्त होनेवाले तिर्यचके होता है। इसका अनन्तगुणा होना असिद्ध नही है, असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लघकर यह स्थान प्राप्त होता है। उससे तत्प्रायोग्य जघन्य सक्लेशसे सम्यक्त्वके साथ असंयमको प्राप्त होनेवाले देशसयत मनुष्यके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि असख्यातलोक-प्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर यह स्थान प्राप्त होता है। तत्प्रायोग्य विशुद्धि से मनुष्य मिथ्यात्वीके सयमासंयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमें प्रतिपद्यमान जघन्य लब्धिस्थान अनन्त गुणा है। तत्प्रायोग्य विशुद्धिके द्वारा मिथ्यात्वसे देशसयमको ग्रहण करनेवाले तिर्यंचके प्रथम समयमें यह तिर्यंच योग्य जघन्य प्रतिपद्यमानस्थान पूर्वके स्थानसे अनंत-

विशेषार्थ—सबसे जघन्य लब्धिस्थानसे लेकर ऊपर असख्यातलोकप्रमाण प्रतिपात स्थान मनुष्योके योग्य ही होकर तबतक जाते है जबकि तत्प्रायोग्य असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोको उल्लघन कर तिर्यंचोंके योग्य जघन्य प्रतिपातस्थान उत्पन्न होता है। वहासे लेकर तिर्यच और मनुष्य दोनोंके साधारणरूपसे पाये जानेवाले असख्यातलोकप्रमाण प्रतिपातस्थानोके जाने पर उस स्थान पर तिर्यंचसम्बन्धी उत्कृष्ट प्रतिपातस्थानकी व्युच्छित्ति हो जाती है। तत्पश्चात् पुन असंख्यातलोकप्रमाण स्थान आगे जाकर इस स्थान पर मनुष्यसम्बन्धी उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान विच्छिन्न होता है। इसके बाद असख्यातलोकप्रमाण अन्तर होकर पुन. मनुष्य संयतासंयत का जघन्य प्रतिपद्यमान स्थान होता है। तत्पश्चात् असख्यातलोकप्रमाण स्थान जाकर तिर्यंच सयतासयतका जघन्य प्रतिपद्यमान स्थान होता है। वहा से लेकर दोनोके ही समानरूपसे असख्यातलोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर वहां तिर्यंच सयतासयत के उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थानकी व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे ऊपर भी असख्यातलोकप्रमाण स्थान जाकर मनुष्योका उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थान विच्छिन्न हो जाता है। तत्पश्चात् असख्यातलोकप्रमाण अन्तर होकर पुन मनुष्य सयतासयतके जघन्य अनुभयस्थान होता है। उसके बाद असख्यातलोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर तिर्यंच सयतासयतके जघन्य अनुभयस्थान होता है। तत्पश्चात् दोनों के ही साधारण असख्यातलोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर तिर्यंच सयतासयतके उत्कृष्ट अनुभयस्थान विच्छिन्न हो जाता है। तत्पश्चात् फिर भी असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर मनुष्य संयतासंयतका उत्कृष्ट अनुभयस्थान उत्पन्न होता है।

यहा पर प्रतिपातस्थान अधस्तन गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले अन्तिमसमय वाले देशसयतके होते हैं। प्रतिपद्यमानस्थान देशसयमको ग्रहण करनेके प्रथमसमयमें होता है। उपर्युक्त अन्तिम और प्रथम समयको छोडकर शेष समस्त मध्यम अवस्थाके योग्य स्वस्थान सम्बन्धी और उपरिम गुणस्थानके अभिमुख हुए स्थान अनुभयस्थान है[1]। इन तीनों स्थानोकी सदृष्टि इसप्रकार है—

oooooooooooooooooooooooooooooooooooooooo प्रतिपात लब्धि स्थान। अन्तर। oooooooooooooooooooooooooooooooooooooooooooo oooo प्रतिपद्यमान लब्धि स्थान। अन्तर। oooooooooooooooooooooooooooooooo oooooooooooooooooooo अनुभय लब्धि स्थान।

१. ध. पु. ६ पृ. २७७; ज. ध. पु १३ पृ. १४८।

अथानन्तर सकलचारित्रकी प्ररूपणा करने हेतु अगला सूत्र कहते हैं—

सयलचरित्तं तिविहं खयउवसमि उवसमं च खइयं च ।
सम्मत्तुप्पत्तिं वा उवसमसम्मेण गिण्हदो पढमं ॥१८९॥

अर्थ—क्षयोपशम, उपशम और क्षायिकके भेदसे सकलचारित्र तीनप्रकारका है। उपशमसम्यक्त्व सहित जो क्षयोपशमचारित्रका ग्रहण होता है, उसका विधान प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समान है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मिथ्यात्व पूर्वक होती है[1]। अतः मिथ्यादृष्टिजीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व सहित सकलचारित्रको ग्रहण करता है तो वह क्षयोपशमचारित्रको ही अप्रमत्तगुणस्थानसहित ग्रहण करता है। क्षायोपशमिकचारित्र प्रमत्त व अप्रमत्तसयत इन दो गुणस्थानोमे ही होता है, क्योकि ऊपरके गुणस्थान उपशम या क्षपकश्रेणिमे ही होते है और उनमे उपशम या क्षायिकचारित्र होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम या क्षपकश्रेणि पर आरोहण नही कर सकता अत उसके अप्रमत्त-गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थान सम्भव नही है। सकलचारित्र सहित प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ग्रहण करनेवाले मनुष्यके करणलब्धिमे इतने अधिक विशुद्ध परिणाम हो जाते है कि वह अप्रमत्तगुणस्थानमे ही जाता है, पुनः गिरकर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त होता है।

आगे वेदकसम्यक्त्वके योग्य मिथ्यात्वो आदि जीवके सकलसंयम ग्रहण करते समय होने वाली प्रक्रिया विशेष को बताते हैं—

वेदगजोग्गो मिच्छो अविरददेसो य दोण्णि करणेण ।
देसवदं वा गिण्हदि गुणसेढी णत्थि तक्करणे ॥१९०॥

अर्थ—वेदकसम्यक्त्वसहित क्षयोपशमचारित्रको मिथ्यादृष्टि या असयत अथवा देशसयतजीव देशचारित्र ग्रहण करनेके सदृश ही अध प्रवृत्तकरण व अपूर्वकरण, इन दो करणोके द्वारा ग्रहण करता है। उन करणोमे गुणश्रेणि नही होती है, किन्तु सकल-संयमके ग्रहण समयसे गुणश्रेणि होती है।

---

१. ध. पु. १ पृ. ४१०, ध. पु ६ पृ २०६-७।

गुणा है, क्योकि जाति विशेष कारण है। असयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचके सर्वविशुद्धिसे देशसयमको ग्रहण करनेके प्रथमसमयमे उत्कृष्ट प्रतिपद्यमानस्थान होता है जो पूर्वस्थान से अनन्तगुणा है। सर्वविशुद्ध असयतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके देशसयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमे पूर्वस्थानसे अनन्तगुणा उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान लब्धिस्थान होता है। जघन्य प्रतिपद्यमान स्थानवाले मनुष्यके दूसरे समयमे जघन्य अनुभयस्थान होता है। इसीप्रकार तिर्यंचके जघन्य अनुभयस्थान होता है। ये दोनो स्थान अपनेसे पूर्व-पूर्व स्थानकी अपेक्षा अनन्तगुणे हैं। सर्वविशुद्धि तिर्यंचके पूर्वस्थानसे अनन्तगुणा उत्कृष्ट अनुभयस्थान स्वस्थानमें ही होता है। सयमके अभिमुख हुए सर्वविशुद्ध देशसंयत मनुष्यके अन्तिम समयमे उत्कृष्ट अनुभयस्थान अनन्तगुणा होता है[1]।

देशसयतजीव अप्रत्याख्यानावरणकषायको नही वेदता, क्योकि वहा उसकी उदयशक्तिका अत्यन्तक्षय पाया जाता है। प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी देशसयमका आवरण नही करती, क्योकि सकलसयमका प्रतिबन्ध करनेवाले कषायका देशसयममे व्यापार नही होता[2] शेष चार सज्वलनकषाय और नौ नोकषाय उदीर्ण होकर देश-सयमको देशघाति करते है। अनन्तानुबन्धीकषायके उदयका विनाश पहले ही हो गया है। ये तेरह कषाये देशघातिरूपसे उदीर्ण होकर देशसयमको क्षायोपशमिक करती हैं[3]। यदि चार सज्वलनकषाय और नौ नोकपायका देशघाति उदय न हो तो देशसंयमकी उत्पत्ति नही हो सकती। यदि प्रत्याख्यानका वेदन करता हुआ शेष चारित्रमोहनीयका वेदन नही करे तो देशसयमलब्धि क्षायिक हो जावे। चार सज्वलन और नौ नोकपायका देशघातिरूपसे उदय अवश्यभावी है[4]।

॥ इति देशचारित्र विधान ॥

---

१. ज. ध. पु १३ पृ १४९-१५३, ध पु. ६ पृ २७८-२८०, क. पा. सु. पृ. ६६६-६७।
२ ध. पु. ५ पृ. २०२, ज ध. पु. १३ पृ १५४।
३. तात्पर्य यह है कि ४ सज्वलन और ९ नोकषायो के सर्वघातिस्पर्धको के उदयक्षय से; और उन्ही के देशघाति-स्पर्धको के उदय से सयमासयम लब्धि अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। इसलिये यह क्षायोपशमिक है। (जयधवलामूल ताम्रपत्र वाली प्रति पृ १७९४, ज ध १३।१५५) अथवा क्षायोपशम नामक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर सयतासयतपना उत्पन्न होता है इसलिये यह (देशसयम) भाव क्षायोपशमिक है। प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, सज्वलन चतुष्क और नवनोकषायो के उदय के सर्वात्मना चारित्रविनाशशक्ति का अभाव होने से; उदय की ही क्षय सज्ञा है। उन्ही प्रकृतियो की उत्पन्न हुए चारित्र का आवरण नही करने के कारण उपशम सज्ञा है। क्षय और उपशम इन दोनो से उत्पन्न देशसयम भाव क्षायोपशमिक है। (ध ५।२०२, ध ७। ...)
४. ज. ध. पु १३ पृ १४९-१५६, क. पा. सु. पृ. ६६७-६८।

अब जघन्य संयतके विशुद्धि सम्बन्धी अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या बताते हैं—

अवरे विरदट्ठाणे होंति अणंताणि फड्डयाणि तदो ।
छट्ठाणगया सव्वे लोयाणमसंख छट्ठाणा ॥१९२॥

अर्थ—सर्व जघन्य संयमलब्धिस्थानमें अनन्तस्पर्धक होते हैं । इसके पश्चात् सर्वोत्कृष्ट स्थान पर्यन्त षट्स्थान पतित वृद्धियोके द्वारा असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान-पतित सर्वस्थान होते है ।

विशेषार्थ—यह जघन्य सकलसंयमलब्धि सर्व जीवोसे अनन्तगुणे अनन्त अवि-भागीप्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न हुआ है । ये ही अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त स्पर्धक कहे जाते है, क्योकि यहां पर स्पर्धक शब्द अविभागप्रतिच्छेदोका वाची स्वीकार किया गया है । अथवा यह जघन्य लब्धिस्थान मिथ्यात्वमे गिरनेके सम्मुख हुए सयतके अन्तिम समयमें कषायोंके अनन्त अनुभागस्पर्धको के उदयसे उत्पन्न हुआ है । इसप्रकार कार्यमें कारणके उपचारसे अनन्त स्पर्द्धक कहे गये है ।

जघन्य लब्धिस्थानको सर्व जीवराशि प्रमाण भागहारसे भाजितकर एक भागको मिलानेपर जघन्य सकलसयम लब्धिस्थानसे अनन्तवाभाग अधिक होकर द्वितीय लब्धिस्थान होता है । जघन्य लब्धिस्थानसे अंगुलके असख्यातवेभागप्रमाण अनन्तभाग-वृद्धिकांडक जाकर असख्यातभागवृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असख्यातभागवृद्धि-काण्डक जाकर सख्यातभाग वृद्धिस्थान उत्पन्न होता है । तत्पश्चात् सख्यातभागवृद्धि-काण्डक जाकर सख्यातगुण वृद्धिस्थान उत्पन्न होता है । उसके बाद सख्यातगुणवृद्धि काण्डक जाकर असंख्यातगुण वृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असख्यातगुणवृद्धि कांडक जाकर अनन्तगुणवृद्धिस्थान होता है, तब उस स्थान की कषाय उदयस्थान अनन्तगुणा-हीन होता है, क्योंकि अनन्तगुणहीन कषायउदयस्थानोके बिना अनन्तगुणस्वरूप सकल-सयम लब्धिस्थान की उत्पत्ति नही हो सकती है । यह एक षट्स्थान है । इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान प्रतिपातस्थान है । प्रतिपात लब्धिस्थानोका उल्लंघनकर असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित प्रतिपद्यमान स्थान है । ये पिछले स्थानोसे असख्यातगुणे है, उससे भी असख्यातगुणे अप्रतिपात व अप्रतिपद्यमानस्थानोके योग्य असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित स्थान होते है[1] । प्रतिपात आदि तीन प्रकार के ये

---
१. ज ध. पु. १३ पृ. १४३-१४४ ।

इससे आगे देशसंयमके समान सकलसंयम में होने वाली प्रक्रिया विशेष का निर्देश करते हैं—

एत्तो उवरिं विरदे देसो वा होदि अप्पबहुगोत्ति ।
देसोत्ति य तट्ठाणे विरदो त्ति य होदि वत्तव्वं ॥१६१॥

अर्थ—यहा से ऊपर (आगे) अल्पबहुत्व पर्यन्त, पहले देशचारित्रमे जैसा कथन किया है वैसा ही सर्वकथन यहा (सकल चारित्रके सम्बन्ध मे) भी जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि उस कथनमें जहा देशचारित्र कहा है उसके स्थान पर सकलचारित्र कहना चाहिए ।

विशेषार्थ—सयम ग्रहणके प्रथम समयसे अन्तर्मुहूर्तकालतक चारित्रलब्धिसे एकान्तानुवृद्धिको प्राप्त होता है, क्योकि अलब्धपूर्व सयमको प्राप्त होनेसे सवेगसम्पन्न मनुष्यके एकान्तानुवृद्धि पाई जाती है । प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे कर्मस्कन्धोकी निर्जरा होती है । जबतक एकातानुवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता है तबतक आयुकर्मको छोडकर शेष सर्व कर्मोके सहस्रो स्थितिकाडको और सहस्रो अनुभागकांडकोका घात होता है । एकान्तानुवृद्धि कालतक इस जीवकी सज्ञा 'अपूर्वकरण' होती है, क्योकि अपूर्व-अपूर्व परिणामोके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होनेवाले जीवके 'अपूर्वकरण' सज्ञाकी सिद्धिमे कोई बाधा नही है अथवा अपूर्वकरणकालके समाप्त हो जानेपर भी अपूर्वकरणके समान प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणामोके द्वारा स्थितिघात आदि कार्य होते हैं[1] ।

एकान्तानुवृद्धिकाल समाप्त होनेपर तत्पश्चात् अध प्रवृत्तसंयत होता है । यहां स्थितिघात और अनुभागघात नही है, परन्तु जबतक सयत है तबतक अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि होती है । इतनी विशेषता है कि विशुद्धिको प्राप्त हुआ असख्यातगुणी, सख्यातगुणी, सख्यातवेभाग अधिक या असख्यातवेभाग अधिक द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है । सक्लेशको प्राप्त हुआ इसीप्रकार गुणहीन या विशेषहीन द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है तथा अवस्थित परिणामवाला अवस्थित द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है । परिणामोके अनुसार[2] होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जराके परिणामोकी वृद्धि व हानि वश ही प्रवृत्ति होती है ।

---

१. ज ध पु १३ पृ १६६ ।
२ ज ध पु. १३ पृ. १३०, ज ध. पु १३ पृ १६७, ध पु १२ पृ. ७६ ।

प्रतिपातस्थान सबसे अल्प है उनसे प्रतिपद्यमानस्थान असख्यातगुणे है। उनसे अनुभयस्थान असख्यातगुणे है। उनसे सभी चारित्रलब्धिस्थान विशेषाधिक है। विशेषाधिक होते हुए भी वे प्रतिपातस्थान और प्रतिपद्यमानस्थानोका जितना प्रमाण है उतने अधिक है। जहा असख्यातगुणा कहा वहा गुणाकार असख्यातलोकप्रमाण है[1]। तीन प्रकारके प्रतिपातस्थानोके जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोका तीव्रता-मन्दताकी अपेक्षा सदृष्टि द्वारा अल्पबहुत्व गाथा २०४ के अन्तमे बतलाया जावेगा।

अथानन्तर प्रतिपद्यमान स्थानों का कथन करते हैं—

तत्तो पडिवज्जगया अज्जमिलिच्छे मिलेच्छअज्जे य।
कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥१९५॥

अर्थ—प्रतिपातस्थानोके ऊपर असख्यातलोकप्रमाण प्रतिपद्यमान स्थान है। वे आर्य मनुष्यका जघन्य, म्लेच्छ मनुष्य का जघन्य, म्लेच्छ मनुष्यका उत्कृष्ट, आर्य मनुष्यका उत्कृष्ट इस क्रमसे है।

विशेषार्थ—भरत, ऐरावत और विदेहमे मध्यम खण्ड आर्यखण्ड है; वहाके निवासी मनुष्य आर्य है। मध्यम खण्डके अतिरिक्त शेष पाचखण्ड मलेच्छखंड है और वहाके निवासी मनुष्य मलेच्छ कहलाते है। उनमे धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति असम्भव होनेसे म्लेच्छपनेकी उत्पत्ति बन जाती है।

दिग्विजयमे प्रवृत्त हुए चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ मध्यम अर्थात् आर्यखण्डमे आये है तथा चक्रवर्ती आदिके साथ जिन्होने वैवाहिक सम्बन्ध किया है ऐसे म्लेच्छ राजाओके सयमकी प्राप्तिमे विरोधका अभाव है। अथवा उनकी जो कन्याए चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही गई उनके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तान मातृपक्षकी अपेक्षा स्वय मलेच्छ है। इनके दीक्षाग्रहण सम्भव है। इसलिये कुछ निषिद्ध नही है, क्योकि इसप्रकारकी जातिवालोके दीक्षाके योग्य होनेमे प्रतिषेध नही है। तीव्रमन्दताकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन गाथा २०४ के अन्तमे किया जावेगा।

---

१. ज. ध. पु १३ पृ. १७९।

सर्वस्थान षट्स्थानपतित सकलसंयमलब्धिस्थान असख्यातलोकप्रमाण हैं[1] ।

सकलसंयमसम्बन्धी प्रतिपातादि भेदोंको बताते हुए प्रतिपाद भेदस्थानोंका कथन करते हैं—

तत्थ य पडिवादगया पडिवज्जगयात्ति अणुभयगयात्ति ।
उवरुवरि लद्धिठाणा लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१६३॥
पडिवादगया मिच्छे अयदे देसे य होंति उवरुवरिं ।
पत्तेयमसंखमिदा लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१६४॥

अर्थ—(१) प्रतिपातगत (२) प्रतिपद्यमानगत (३) अनुभयगत। ये तीनो[2] लब्धिस्थान उपर्युपरि है तथा असख्यातलोक षट्स्थानपतित प्रमाण है ।

सयमसे मिथ्यात्व, असयम व देशसयमको गिरने वाले सयतके ये तीनो प्रतिपातस्थान उपर्युपरि प्रत्येक असख्यातप्रमाण है तथा प्रत्येकमे असख्यातलोक षट्स्थानपतित वृद्धि होती है ।

विशेषार्थ—जिस स्थानसे नीचेके गुणस्थानो में गिरता है, इसप्रकार प्रतिपात शब्दकी व्युत्पत्तिके कारण प्रतिपातस्थान कहा गया है । वे मिथ्यात्व प्रतिपात, असयम सम्यक्त्वप्रतिपात और सयमासयम (देशसयम) प्रतिपातको विषय करनेवाले होनेसे प्रतिपातगत स्थान तीनप्रकारके होकर प्रत्येक जघन्य लब्धिस्थानसे लेकर उत्कृष्ट लब्धिस्थानतक षट्स्थानपतित वृद्धि क्रमसे अवस्थित असख्यातलोकप्रमाण है । उनमे से मिथ्यात्वादिमे गिरनेवाले सर्वोत्कृष्ट सक्लेशयुक्त सयतके जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान होते है तथा तत्प्रायोग्य जघन्य सक्लेश परिणामवालेके उत्कृष्ट प्रतिपात लब्धिस्थान होते है । सयमको उत्पन्न करता है इसलिए उत्पादक अर्थात् प्रतिपद्यमान यह सज्ञा है । मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि व देशसयत (मनुष्य) तत्प्रायोग्य विशुद्धिके साथ सयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमे जघन्यस्थान होता है । तथा सर्वविशुद्ध सयतके उत्कृष्ट होता है । मध्यम भेदरूप प्रतिपद्यमान स्थान तो षट्स्थानपतित वृद्धिरूपसे अवस्थित असख्यातलोकप्रमाण हैं । प्रतिपात और प्रतिपद्यमान स्थानोके अतिरिक्त शेष चारित्रलब्धिस्थान अनुभयस्थान हैं[3] ।

---

१ ज ध पु १३ पृ १७६ ।
२ ध पु. ६ पृ २८३ ।
३ ज ध पु १३ पृ १७६-७७ ।

अब सात गाथाओं में उन प्रतिपातादि स्थानोंका विशेष कथन करते हैं—

पडचरिमे गहणादीसमये पडिवाददुगमणुभयं तु ।
तम्मज्झे उवरिमगुणगहणाहिमुहे य देसं वा ॥१६८॥
पडिवादादीतिदयं उवरुवरिमसंखलोगगुणिदकमा ।
अंतरछक्कपमाणं असंखलोगा हु देसं वा ॥१६६॥
मिच्छयददेसभिण्णे पडिवादट्ठाणगे वरं अवरं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठे तिव्वकिलिट्ठे कमे चरिमे ॥२००॥
पडिवज्जजहण्णदुगं मिच्छे उक्कस्सजुगलमविदेसे ।
उवरिं सामाइयदुगं तम्मज्झे होंति परिहारा ॥२०१॥
परिहारस्स जहण्णं सामायियदुगे पडंत चरिमम्हि ।
तज्जेट्ठ सट्ठाणे सव्वविसुद्धस्स तस्सेव ॥२०२॥
सामयियदुगजहण्णं ओघं अणियट्टिखवगचरिमम्हि ।
चरिमणियट्टिस्सुवरिं पडंत सुहुमस्स सुहुमवरं॥ २०३॥
खवगसुहुमस्स चरिमे वरं जहाखादमोघजेट्ठं तं ।
पडिवाददुगा सव्वे सामाइयछेदपडिबद्धा ॥२०४॥

अर्थ—संयमसे गिरते हुए चरम समयमें और संयम को ग्रहण करते समय प्रथम समयमे क्रमसे प्रतिपात और प्रतिपद्यमान ये दो स्थान होते है तथा इनके मध्यमें अथवा ऊपरके गुणस्थानके सम्मुख होनेवाले जीव के जो अनुभय स्थान होता है वह देशसयतके समान ही यहा भी जानना चाहिये ॥१६८॥

प्रतिपात आदि तीन प्रकारके स्थान अपने-अपने जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त ऊपर-ऊपर असख्यातलोकगुणे क्रम से युक्त है। उन छहो मे प्रत्येकके असख्यातलोकप्रमाण बार षट्स्थानवृद्धि देशसयतके समान जानना ॥१६६॥

प्रतिपातस्थान तो मिथ्यात्व, असयम और देशसयमके सम्मुख होनेकी अपेक्षा तीन भेद वाला है। उसमें भी जघन्यस्थान सयमके चरम समयमे तीव्रसक्लेशवाले के

अथानन्तर अनुभयस्थानोंका कथन करनेके लिये अगला गाथासूत्र कहते हैं—

तत्तोणुभयट्ठाणे सामाइयछेदजुगलपरिहारे ।
पडिबद्धा परिणामा असंखलोगप्पमा होंति ॥१९६॥

अर्थ—प्रतिपद्यमान स्थानोके ऊपर सामायिक-छेदोपस्थापना सम्बन्धी तथा परिहारविशुद्धिसयमसम्बन्धी असख्यातलोकप्रमाण अनुभयस्थान है[1] ।

विशेषार्थ—तत्प्रायोग्य सक्लेशवश सामायिक-छेदोपस्थापनाके अभिमुख हुए परिहारविशुद्धिसयतके अन्तिमसमयमे परिहारविशुद्धसयतका जघन्य अनुभयस्थान है । परिहारविशुद्धिसे छूटकर सकलसयमी रहा इसलिये सकलसयमकी अपेक्षा अनुभयस्थान कहा गया है, प्रतिपातस्थान नही कहा गया । तीव्र-मन्दताकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन गा २०४ के अन्तमे किया गया है ।

आगे सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यातसंयम स्थानोंका कथन करते हैं—

तत्तो य सुहुमसंजम पडिवज्जय संखसमयमेत्ता हु ।
तत्तो दु जहाखादं एयविहं संजमे होदि ॥१९७॥

अर्थ—उस सामायिक-छेदोपस्थापनाके उत्कृष्टस्थान से ऊपर असंख्यातलोक-प्रमाण स्थानोका अन्तराल करके उपशमश्रेणिसे उतरते हुए अनिवृत्तिकरणके सम्मुख जीवके अपने अन्तिम समयमे होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायका जघन्यस्थान होता है । उसके ऊपर असंख्यातसमयप्रमाण स्थान जाकर क्षपकसूक्ष्मसाम्परायके अन्त समयमे होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायका उत्कृष्टस्थान होता है । उससे आगे असख्यातलोकप्रमाण स्थानोका अन्तराल करके यथाख्यातचारित्रका एक स्थान होता है । यथाख्यातचारित्ररूप यह स्थान सभी सयमोसे अनन्तगुणी विशुद्धता युक्त उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोग-केवली व अयोगकेवलीके होता है । इसमे सभी कषायोका सर्वथा उपशम अथवा क्षय है अतः जघन्य, मध्यम व उत्कृष्टरूप भेद नही है[2] ।

---

१. क्रम सक्षिप्ततः इसप्रकार है—सर्वप्रथम सामायिक-छेदोपस्थापना का जघन्यस्थान फिर असख्यात-लोक प्रमित स्थानो के पश्चात् परिहारविशुद्धि का जघन्यस्थान । तत्पश्चात् आगे उतने ही स्थान जाकर परिहारविशुद्धिसयमका उत्कृष्टस्थान, फिर इतने ही स्थान ऊपर जाकर सामायिक-छेदोप-स्थापना का उत्कृष्ट स्थान है ।

२. ध. पु ७ पृ. ५६७, ध. पु ६ पृ २८६ । ज ध. पु १३ पृ. १८७, क. पा सुत्त प ६७५, ल सा गा. २०४ आदि ।

असंख्यातलोकमात्र होते हैं। इनमें सर्वजघन्य प्रतिपातस्थान उत्कृष्ट संक्लेशसे असंयत-सम्यक्त्वको जानेवाले सयतके अन्तिम समयमें होता है। उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान तत्प्रायोग्य संक्लेशसे असयतसम्यक्त्वको जानेवाले संयतके अन्तिम समयमें होता है। ०००००००
०००००००००००० । अन्तर । ये संयमासंयम को जाने वाले सयतके प्रतिपातस्थान है। इनमें जघन्य प्रतिपातस्थान सर्व सक्लेशसे सयमासयमको जानेवाले संयतके अन्तिम समयमे होता है और उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान तत्प्रायोग्य सक्लेशसे संयमासयमको जाने वाले सयतके अन्तिम समयमें होता है। ००००००००००००००००००००००००००००
००००००००००००००००००००००००००००००००००००० । अन्तर । ये संयमको प्राप्त होनेवाले जीवके प्रतिपद्यमान या उत्पादस्थान है। इनमें से जघन्य प्रतिपद्यमान-स्थान भरतक्षेत्रनिवासी मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए सयत (आर्य मनुष्य) के होता है। (अकर्मभूमिज अर्थात् भरतक्षेत्र निवासी म्लेच्छ मनुष्यके मिथ्यात्वसे पीछे आकर संयम ग्रहणके प्रथमसमयमे होनेवाला) जघन्य प्रतिपद्यमान सयमस्थान पूर्व जघन्यसे अनन्त-गुणा है। उक्त (म्लेच्छ) मनुष्यके ही देशविरतिसे पीछे आकर सर्वविशुद्ध संयम ग्रहण के प्रथम समयमे होनेवाला उत्कृष्ट प्रतिपद्यमानस्थान पूर्वोक्त जघन्यसे अनन्तगुणा है। इससे अनन्तगुणा कर्मभूमिमे संयमको प्राप्त करनेवाले देशविरतिसे पीछे आये हुए सर्व-विशुद्धसयत (आर्य मनुष्य) के प्रथम समयमें उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान लब्धिस्थान होता है। यह स्थान पूर्वसे अनन्तगुणा है[1]।

००
००००००००००००। अन्तर । यहां पर उपरिम अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमानस्थान सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धि सयतजीवके है। अधस्तन स्थान परिहारशुद्धिसयत जीवके होते है। उनमेसे परिहारशुद्धिसयत जीवका जघन्य प्रतिपातस्थान पूर्वके स्थानसे अनन्तगुणा है। वह किसके होता है? सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसयमोके अभिमुख हुए तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट परिहार विशुद्धि संयतके अन्तिम समयमें होता है। उससे उसीका उत्कृष्ट अनन्तगुणा है। वह किसके होता है? सर्वविशुद्ध परिहारसंयतके होता है। उससे सामायिक-छेदोपस्थापना यमियों का उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है। यह किसके होता है? तदनन्तर समयमे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि संयमको ग्रहण करनेवाले सर्वविशुद्ध उक्त सयतके होता है।

---

१. ध पु ६ पृ २८४-८५-८६।

एव उत्कृष्टस्थान यथायोग्य मन्दकषायवालेके होता है ॥२००॥

प्रतिपद्यमानस्थान आर्य व म्लेच्छकी अपेक्षा दो प्रकारका है सो उनका जघन्य स्थान तो मिथ्यादृष्टिसे सयमी होनेवाले जीवके और उत्कृष्टस्थानयुगल देशसयतसे सयमी हुए जीवके होता है। प्रतिपद्यमानस्थानोके ऊपर जो अनुभयस्थान है वे सामायिक-छेदोपस्थापना-सयम सम्बन्धी होते है। उन दोनो सयमोके जघन्य व उत्कृष्टस्थानो के मध्य परिहारविशुद्धिसयमके स्थान है ॥२०१॥

परिहारविशुद्धिसयमका जघन्यस्थान सक्लेशवश सामायिक-छेदोपस्थापना सयममे गिरते हुए जीवके चरम समय मे और परिहारविशुद्धिसयमका उत्कृष्टस्थान उनमे ही सर्वविशुद्ध अप्रमत्तजीवके एकान्तवृद्धिके चरमसमयमे होता है ॥२०२॥

सामायिक-छेदोपस्थापनासयमका जघन्यस्थान मिथ्यात्वके सम्मुख हुए जीवके सयमसम्बन्धी चरमसमयमे होता है जो जघन्य सयमका स्थान ही है। सामायिक-छेदोपस्थापनासयमका उत्कृष्टस्थान क्षपकअनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें होता है। सूक्ष्मसाम्परायसयमका जघन्यस्थान सूक्ष्मसाम्परायोपशमकजीव जो उपशमश्रेणिसे गिरते हुए सूक्ष्मसाम्परायके चरम समयमे अनिवृत्तिकरणके सम्मुख है, उसके होता है ॥२०३॥

क्षीणकषायके सम्मुख हुए सूक्ष्मसाम्परायक्षपकके अन्तिम समय में सूक्ष्मसाम्परायसयमका उत्कृष्टस्थान होता है। यथाख्यातचारित्र सर्व सयमसामान्य मे उत्कृष्टस्थान है, क्योकि उसके जघन्य आदि विकल्पो का अभाव है। प्रतिपात और प्रतिपद्यमान सम्बन्धी जितने भी स्थान कहे है वे सभी सामायिक-छेदोपस्थापनासयम सम्बन्धी ही कहे गये हैं, क्योकि सकलसयमसे भ्रष्ट होते हुए चरम समयमें और सकलसयमको ग्रहण करनेके प्रथमसमयमे सामायिक-छेदोपस्थापना सयम ही होता है, अन्य परिहारविशुद्धि आदि सयम नही होते है।

विशेषार्थ—ooooooooooooooooooooo अन्तर। ये असंख्यातलोकप्रमाण सयमके प्रतिपातस्थान मिथ्यात्वको जानेवाले संयतके अन्तिमसमयमें होते है। इनमें सर्वजघन्य प्रतिपातस्थान उत्कृष्ट सक्लेशसे मिथ्यात्वको जानेवाले सयतके अतिम समयमे होता है। जघन्यमे अनन्तगुणीभूत इन्ही का उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान तत्प्रायोग्य सक्लेशसे मिथ्यात्वको जानेवाले सयतके अन्तिम समयमें होता है। ooooooooooo ooooooooooo। अन्तर। असयतसम्यक्त्वको जानेवाले संयतके ये प्रतिपातस्थान

कहनेपर पन्द्रह कर्मभूमियोमे से मध्यम खण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्यका ग्रहण करना चाहिए, क्योकि कर्मभूमियोमे उत्पन्न हुआ कर्मभूमिज है इसप्रकार वह इस संज्ञाके योग्य है। उससे संयमको प्राप्त करनेवाले अकर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके सयमस्थानसे असख्याततलोकमाण षट्स्थान आगे जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति हुई है। उससे सयमको प्राप्त होनेवाले उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असख्याततलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। उससे सयमको प्राप्त होने वाले कर्मभूमिज (आर्य) मनुष्यका उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि क्षेत्रके माहात्म्यवश पूर्वके संयमस्थानसे इसके अनन्तगुणे सिद्ध होनेमे कोई बाधा नही उपलब्ध होती। उससे परिहारविशुद्धिसयतका जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है। यह स्थान तत्प्रायोग्य सक्लेशवश सामायिक-छेदोपस्थापनासयमोके अभिमुख हुए परिहारविशुद्धि संयतके अन्तिम समयमे होता है, परन्तु यह अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान सामायिक-छेदोपस्थापनासम्बन्धी जघन्य सयमलब्धिसे लेकर असख्याततलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर वहा प्राप्त सयमलब्धि स्थानके सदृश होकर उत्पन्न हुआ है। इसलिये इसके प्रतिपातके अभिमुख होकर स्वस्थानमे सबसे जघन्य होनेपर परिहारविशुद्धिसयमके माहात्म्यवश पूर्वके स्थानसे अनन्तगुणापना सिद्ध होता है। उससे उसीका उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा होता है, क्योकि पहले जघन्य स्थानसे असख्यात लोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर सामायिक छेदोपस्थापनासम्बन्धी अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थानोके भीतर यथागम इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है।

उसमे सामायिक-छेदोपस्थापना सयतोका उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि सामायिक-छेदोपस्थापनाके अजघन्य-अनुत्कृष्ट अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमानस्थानके समान पूर्वके उत्कृष्टस्थानका निर्देश करनेपर तत्पश्चात् निरन्तर क्रमसे फिर भी उससे ऊपर असख्याततलोकप्रमाण षट्स्थान जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति अनिवृत्तिकरण क्षपकके अन्तिम समयमें देखी जाती है। उससे सूक्ष्मसाम्परायिक सयतका जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है। बादर कषायके रहते हुए होनेवाली उत्कृष्ट सयमलब्धिसे सूक्ष्मकषायमे होने वाली जघन्य सयमलब्धि भी अनन्तगुणी होती है, इसके सिवाय वहां अन्यप्रकार सम्भव नही है, परन्तु यह जो उपशामक गिरकर सूक्ष्मसाम्परायमे आया है उसके अन्तिम समयकी लेनी चाहिये। उससे उसीका उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है। सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपकके अन्तिम समयमे सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिका इसके पहले के जघन्य

०००००००००००००००००। अन्तर। सूक्ष्मसाम्परायसंयमीके ये सयमस्थान है। उससे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयतका जघन्य प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है। वह किसके होता है? अनिवृत्तिकरणके अभिमुख हुए तत्प्रायोग्य विशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयतके होता है। उससे उसीका उत्कृष्ट अनन्तगुणा है। वह किसके होता है? सर्वविशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत क्षपकके अन्तिम समयमे होता है। उससे वीतरागका अजघन्य-अनुत्कृष्टस्थान अनन्तगुणा है। वह कषायके अभावके कारण एक ही प्रकारका है। परन्तु वह उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगी जिन और अयोगी जिनका ग्रहण करना चाहिए। इसप्रकार इस सदृष्टि द्वारा जिनको प्रतिबोध हुआ है ऐसे शिष्योको इस समय तीव्र-मन्दताविषयक अल्पबहुत्वको सूत्रके अनुसार बतावेगे। यथा—

तीव्र-मन्दताकी अपेक्षा मिथ्यात्वको प्राप्त करनेवाले संयतके जघन्य सयमस्थान सवसे मन्द अनुभागवाला होता है, क्योकि सबसे उत्कृष्ट सक्लेशके साथ मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले सयतके अन्तिमसमयमे इसका ग्रहण किया है। उससे उसीके उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि तत्प्रायोग्य सक्लेशसे मिथ्यात्वमे गिरनेके सम्मुख हुए सयतके अन्तिम समयमे पूर्वके सयमस्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानों को उल्लघकर इसकी उत्पत्ति देखी जाती है। उससे असयत सम्यक्त्वको प्राप्त होने वाले सयतके जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके सयमस्थानसे असख्यात-लोकप्रमाण पट्स्थानोको उल्लघकर यह स्थान उत्पन्न हुआ है। इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वमे प्रतिपातविषयक जघन्य सक्लेश से भी सम्यक्त्वमें प्रतिपातविषयक उत्कृष्ट संक्लेशके अनन्तगुणे हीनपनेको देखते हुए उसके उसप्रकार सिद्ध होनेमे विरोध का अभाव है। उससे उसीके उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोको उल्लघकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। उससे सयमासयमको प्राप्त होनेवाले सयतके जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके उत्कृष्ट स्थानसे असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोको उल्लघकर इस स्थान की उत्पत्ति देखी जाती है। उससे उसीके उत्कृष्ट सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोको उल्लघकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। उससे सयमको प्राप्त करनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य सयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि सक्लेशनिमित्तक पूर्वके प्रतिपातस्थानसे उससे विपरीत स्वरूपवाले इसके जघन्य होनेपर भी अनन्तगुणेपन की सिद्धि न्याययुक्त है। यहांपर 'कर्मभूमिजके' ऐसा

"अथ चारित्रमोहनीय उपशमनाधिकार"

सम्पूर्ण दोषों को उपशान्त किया है जिन्होंने ऐसे उपशान्तकषाय वीतरागियों को नमन करके उमशमचारित्रका विधान कहते हैं—

उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता ।
अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तोऽपमत्तो य ॥२०५॥

अर्थ—उपशमचारित्रके सम्मुख हुआ वेदकसम्यग्दृष्टिजीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधानसे अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त-अप्रमत्त अर्थात् स्वस्थान-अप्रमत्त होता है ।

विशेषार्थ—वेदकसम्यग्दृष्टिजीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना किये बिना कषायोकी उपशामनाके लिये प्रवृत्त नही होता इसीलिये गाथामे "उवसमचरिया-हिमुहो वेदगसम्मो अण विजोयित्ता" यह पूर्वार्ध कहा है । मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोका सत्कर्मवाला वेदकसम्यग्दृष्टिसयत जबतक अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयो-जना नही करता तबतक कषायोको उपशामनाके लिए प्रवृत्त नहीं होता, क्योकि अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना न होनेपर उसके उपशम श्रेणि पर चढने के योग्य परिणाम नही हो सकते । इसलिये अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनामे यह सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है[1] ।

तीन करणो से अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त सयत (अप्रमत्तसयत) होता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयशःकीर्ति आदि प्रकृतियोका बन्ध करता है । अनन्तानुबन्धीकी विसयोजनारूप क्रिया शक्ति समाप्त होनेके बाद ही दूसरी क्रिया प्रारम्भ नही होती, किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करके अन्तर्मुहूर्तकालतक स्वस्थान अप्रमत्तसयत होकर वहा संक्लेश और विशुद्धिवश प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थानो में परिवर्तन करता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयश कीर्ति आदि जिन प्रकृतियोंका पूर्वमे करणरूप विशुद्धिके

---

१ ज. ध. पु. १३ पृ. २०१ ।

परिणामसे अनन्तगुणे सिद्ध होनेमें विरोधका अभाव है।

उससे वीतरागका अजघन्य-अनुत्कृष्ट चारित्रलब्धिस्थान अनन्तगुणा है, क्योकि उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और केवलियोमे जघन्य एव उत्कृष्ट विशेषणसे रहित यथाख्यात-विहारशुद्धि सयमलब्धिकी यहां पर विवक्षा है[1]।

॥ इति क्षायोपशमिक सकल चारित्र प्ररूपणा ॥

---

१. यथाख्यातचारित्रमे जघन्यादि भेद नही होते हैं। ध पु. ६ पृ. २८८, ध पु. ७ पृ. ५६७, ज. ध. पु. १३ पृ. १८७. ध. पु. ६ प. २८६ क. पा. सुत्त पृ. ६७५। ल. सा. गाथा १९७।

कर्मोका प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन द्विस्थानिक अनुभागका बन्ध होता है तथा प्रशस्त-कर्मोका अनन्तगुणी वृद्धिरूपसे चतु:स्थानीय अनुभागका बन्ध होता है । अध प्रवृत्तकरण काल समाप्त होनेके पश्चात् अनन्तर समयमे प्रथम समयवर्ती अपूर्वकरण होता है और तभी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात व गुणश्रेणिका एकसाथ प्रारम्भ हो जाता है । वहा गुणसक्रमण नही है । स्थितिकाण्डकका प्रमाण पल्योपमके संख्यातवेभागप्रमाण है । अनुभागकाण्डकका प्रमाण अप्रशस्तकर्मोंके अनुभागसत्कर्मके अनन्त बहुभाग प्रमाण है । गुणश्रेणिनिक्षेप, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनोके कालसे विशेष अधिक गलितशेष आयामवाला है । स्थिति भी पल्योपमके संख्यातवेभाग हीन बधती है । एक स्थितिकाडककालके भीतर सख्यात हजार अनुभागकाडक होते है[1] । अपूर्वकरणके पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है । इन करणोके द्वारा दर्शनमोहनीयकी उपशामना या क्षय होता है । ऐसा नियम है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि होकर चारित्रमोहनीयकी उपशामनाप्रवृत्ति होती है, अन्यप्रकारसे नही[2] । अनादि मिथ्यादृष्टिसे प्रतिबद्ध दर्शनमोहनीयको प्रथमोपशामनाका पूर्वमे कथन हो चुका है, किन्तु वह यहां उपयोगी नही है, क्योकि वह उपशमश्रेणिके योग्य नही है । वेदकसम्यग्दृष्टि भी उपशम-श्रेणिके योग्य नही है[3] ।

मिथ्यात्वसे उत्पन्न होने वाला उपशमसम्यक्त्व प्रथमोपशमसम्यक्त्व है यह चतुर्थगुणस्थानसे सप्तमगुणस्थानतक होता है । क्षयोपशमसम्यक्त्व अर्थात् वेदकसम्यक्त्व-पूर्वक होनेवाला द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है । इन दोनोंमे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व वाला उपशमश्रेणि चढकर चारित्रमोहनीयकी उपशामना करता है । यद्यपि द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे सप्तमगुणस्थानतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि मनुष्यके हो सकता है,[4] किन्तु विवक्षावश यहापर द्वितीयोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अप्रमत्तसयत सातवे गुणस्थानकी अपेक्षासे कथन किया है ।

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. २०३-४ ।

२. ज. ध. मूल पृ. १९१५, दोण्हं पि उवसमसेडिसमारोहणे विप्पडिसेहाभावादो ।

३. ज. ध. पु १३ पृ. २०२, ध पु. १ ।

४. ध. पु. १ पृ. ११, स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४८४ की टीका, मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२, गा. २०५ की टीका एव धवल पु. १ पृ. २१४-१५ ।

माहात्म्यवश नही बाधता था, उनका अब कितने ही कालतक बन्ध करता हुआ विश्राम करता है[1] ।

तत्पश्चात् कोई जीव दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोका क्षय करके क्षायिक-सम्यग्दृष्टि होकर चारित्रमोहका उपशम प्रारम्भ करता है तथा कोई जीव द्वितोयोपशम सम्यक्त्व सहित उपशमश्रेणि चढता है उसके दर्शनमोहका उपशम विधान कहेगे ।

अब दो गाथाओंमें दर्शनमोहके उपशमका निर्देश तथा उपशमश्रेणिपर चढने की योग्यताके निर्देश पूर्वक वहां (दर्शनमोहोपशममें) गुणसंक्रमणके अभाव का प्रतिपादन करते हैं—

तत्तो तियरणविहिणा दंसणमोहं समं खु उवसमदि ।
सम्मत्तुप्पत्तिं वा अण्णं च गुणसेढिकरणविही ॥२०६॥
दंसणमोहुवसमणं तक्खवणं वा हु होदि णवरिं तु ।
गुणसंकमो ण विज्जदि विज्झदं वाधापवत्तं च ॥२०७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धीकी विसयोजनाके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तीनकरण विधिके द्वारा तीनो दर्शनमोहनीय कर्म प्रकृतियोको एकसाथ उपशमाता है । गुणश्रेणि, करण व अन्य अर्थात् स्थितिकाडक, अनुभागकाण्डक आदि विधि प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिके सदृश करता है । इस विधिके द्वारा दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम या क्षय होता है, किंतु उपशम होनेमे गुणसक्रमण नही होता । विध्यातसक्रमण अथवा अध प्रवृत्तसक्रमण होता है[2] ।

विशेषार्थ—विश्राम करने पश्चात् दर्शनमोहनीयका उपशम अर्थात् द्वितीयोपशम करने वालेके अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण जो पहले प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिके विधानमें कहे गये है, यहा भी जानना चाहिए, क्योकि उनसे इनमे कोई विशेषता नही है । उसीप्रकार स्थितिघात, अनुभागघात व गुणश्रेणी होती है । अध प्रवृत्तकरणकालमे स्थितिघात, अनुभागघात और गुणसक्रमण नही है, केवल अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ सख्यातहजार स्थितिबधापसरण होते है, अप्रशस्त

---

१. ज. ध. पु १३ पृ २०१ ।

२. णवरि एत्थ गुणसकमो णत्थि विज्झदो चेव, अप्पसत्थकम्माण अधापवत्तो वा (धवला पु. ६ पृ २८९)

अर्थ—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयोंके स्थितिसत्कर्मसे उन्हीके अपने-अपने अन्तिम समयमें स्थितिसत्कर्म सख्यातगुणाहीन होता है। अनिवृत्तिकरणके वहुकाल बीत जाने पर दर्शनमोहनीयका उपशम-कार्य प्रारम्भ होता है ॥२०८॥

उस समय[1] सम्यक्त्वके असख्यात समय प्रबद्धोकी उदीरणा होती है। इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर होता है[2] ॥२०६॥

सम्यक्त्वमोहनीयकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व उदयावलिमात्र प्रथमस्थितिको छोडकर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है ॥२१०॥

दर्शनमोहनीयकी तीनो प्रकृतियोके उत्कीरण द्रव्यको सम्यक्त्वमोहनीयकी प्रथम स्थितिमे ही निक्षिप्त करता है, क्योकि मिथ्यात्वके बन्धका अभाव है ॥२११॥

द्वितीय स्थितिके द्रव्यमे से अपकर्षणकर अपकर्षितद्रव्यको सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिमे देता है तथा अन्तरसम्बन्धी निषेकोको छोड़कर शेष अनुकीर्यमाण द्वितीय-स्थितिमे भी देता है ॥२१२॥

उदयावलिके बाहर सम्यक्त्वकी प्रथमस्थितिके समान होकर मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वके प्रदेशपुजको सम्यक्त्वमोहनीयकी समान स्थितियोमें संक्रमित करता है। अन्तर की द्विचरमफालितक यही क्रम चलता रहता है। तीनों दर्शनमोहनीयके चरमफालिसम्बन्धी द्रव्यको सम्यक्त्वमोहनीयकी प्रथमस्थितिमें देता है ॥२१३-२१४॥

द्वितीयस्थितिका द्रव्य भी प्रथमस्थितिमे तभीतक आता है जबतक सम्यक्त्व-प्रकृतिकी प्रथमस्थितिमे आवलि-प्रत्यावलि शेष रह जाती है उसके बाद द्वितीय स्थिति का द्रव्य प्रथमस्थितिमे नही आता है ॥२१५॥

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथमसमय सम्बन्धी स्थितिसत्त्वसे उसका ही अन्तिम समयसम्बन्धी स्थितिसत्त्व सख्यातगुणाहीन है। प्रथमसमयसम्बन्धी अनिवृत्तिकरणके स्थितिसत्त्वसे अन्तिम समयसम्बन्धी स्थितिसत्त्व सख्यातगुणाहीन है। दर्शनमोहनीयके उपशमानेमे अनिवृत्तिकरणकालके सख्यात भागोके व्यतीत होनेपर सम्यक्त्वप्रकृतिके असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा होती है।

---

१. अर्थात् दर्शनमोहकी उपशामना सम्बन्धी अनिवृत्तिकरणकालके सख्यात बहुभाग जाने पर। ज.ध.
२. ध. पु. ६ पृ. २६०

विशेष यह है कि वे ही तीनकरण (अनन्त वियोजना सम्बन्धी) पृथक्-पृथक् कार्यो के उत्पादक कैसे हो सकते है, (यहा उपशामना मे भी कार्यकारी) ऐसी आशका नही करना चाहिये, क्योकि लक्षणकी समानतासे एकत्वको प्राप्त, परन्तु भिन्न-भिन्न कर्मोंके विरोधी होनेसे भेदको भी प्राप्त हुए जीवपरिणामोके पृथक्-पृथक् कार्यके उत्पादनमे कोई विरोध नही है[1]।

उस समय का स्थितिसत्त्व विशेष, अपूर्वकरणादिमें होने वाले कार्य विशेष, अन्तरकरणविधि आदि का कथन आठगाथाओंमें करते हैं—

ठिदिसत्तमपुव्वदुगे संखगुणूणं तु पढमदो चरिमं ।
उवसामण अणियट्टीसंखाभागासु तीदासु ॥२०८॥

सम्मस्स असंखेज्जा समयपबद्धाणुदीरणा होदि ।
तत्तो मुहुत्तअंते दंसणमोहंतरं कुणई ॥२०९॥

अंतोमुहुत्तमेत्तं आवलिमेत्तं य सम्मतियठाणं ।
मोत्तूण य पढमट्ठिदि दंसणमोहंतरं कुणदि ॥२१०॥

सम्मत्तपयडिपढमट्ठिदिम्मि संछुहदि दंसणतियाणं ।
उक्कीरयं तु दव्वं बंधाभावादु मिच्छस्स ॥२११॥

विदियट्ठिदिस्स दव्वं उक्कड्ढिय देदि सम्मपढमम्हि ।
विदियट्ठिदिम्हि तस्स अणुक्कीरिज्जंतमाणम्हि ॥२१२॥

सम्मत्तपयडिपढमट्ठिदीसु सरिसाण मिच्छमिस्साणं ।
ठिदिदव्वं सम्मस्स य सरिसणिसेयम्हि संकमदि ॥२१३॥

जावंतरस्स दुचरिमफालिं पावे इमो कमो ताव ।
चरिमतिदंसणदव्वं छुहेदि सम्मस्स पढमम्हि ॥२१४॥

विदियट्ठिदिस्स दव्वं पढमट्ठिदिमेदि जाव आवलिया ।
पडि आवलिया चिट्ठदि सम्मत्तादिमठिदी ताव ॥२१५॥

१. ध पु. ६ पृ २८९।

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीयकी आदि (प्रथम) स्थितिक्षय होने पर मिथ्यात्वके द्रव्यमेसे सम्यक्त्वप्रकृति व मिश्रप्रकृतिमें गुणसक्रमण द्वारा नही, किन्तु विध्यातसंक्रमण द्वारा दिया जाता है।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें गुणसक्रमण द्वारा मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यक्त्वप्रकृति व मिश्रप्रकृतिमे दिया जाता है, किन्तु द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमे विध्यात-सक्रमणके द्वारा मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिमे दिया जाता है,[1] क्योकि गुणसक्रमके कारणभूत जीवपरिणामोकी विचित्रतावश यहा गुणसक्रम नहीं होता, प्रतिसमय विशेषहीन क्रमसे विध्यातसक्रम ही प्रवृत्त होता है तथा यहासे लेकर ज्ञाना-वरणादि कर्मोका स्थितिकाडकघात व अनुभागकाण्डकघात नही होता, परन्तु सयमरूप परिणामोके निमित्तसे अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि प्रवृत्त रहती है, क्योकि करण-परिणाम-निमित्तक गलितशेष गुणश्रेणिका यहा पर अन्त हो जाता है[2]।

अब द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके विशुद्धिका एकान्तानुवृद्धिकालका प्रमाण कहते हैं—

सम्मत्तुप्पत्तीए गुणसंकमपूरणस्स कालादो।
संखेज्जगुणं कालं विसोहिवड्ढीहिं वड्ढदि हु ॥२१७॥

अर्थ—प्रथमसम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवका गुणसंक्रमद्वारा जो पूरण-काल प्राप्त होता है उससे सख्यातगुणे कालतक यह उपशान्तदर्शनमोहनीय जीव विशुद्धि के द्वारा बढ़ता रहता है।

विशेषार्थ—प्रथमसम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवका जो गुणसक्रमकाल प्राप्त होता है उससे सख्यातगुणे कालतक यह जीव गुणसक्रमके बिना भी प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिकी[3] वृद्धि होनेसे बढता रहता है[4]।

---

१. तात्पर्य यह है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टिके प्रथमसमयसे लेकर गुणसंक्रम न होकर विध्यात-संक्रम होता है। इसलिये उत्तरोत्तर विशेष हीन क्रमसे मिथ्यात्व के द्रव्यका सम्यक्त्व और मिश्र-प्रकृति मे सक्रम होता रहता है, ऐसा ज्ञातव्य है। (ज ध पु १३ पृ. २०८)

२. ज. ध पु १३ पृ. २०७-२०८।

३ और इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

४. क पा सु पृ ६८०, ज. ध. पु १३ पृ २०८।

इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है। वह इस प्रकार है—सम्यक्त्वप्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्तमात्र प्रथमस्थितिको छोड़कर अन्तर करता है तथा मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतियोकी उदयावलिमात्र प्रथमस्थितिको छोडकर अन्तर करता है। इस अन्तरकरणमे उत्कीर्ण किये जानेवाले प्रदेशाग्रको द्वितीयस्थितिमे नही स्थापित करता है, किन्तु बन्धका अभाव होनेसे सबको लाकर सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमे स्थापित करता है। सम्यक्त्वप्रकृतिके प्रदेशाग्रको अपनी प्रथमस्थितिमे ही स्थापित करता है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके द्वितीयस्थिति-सम्बन्धी प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमे देता है और अनुत्कीर्यमाण (द्वितीय स्थितिकी) स्थितियोमे भी देता है। सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम-स्थितिके समान स्थितियोमे स्थित होकर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोके जो प्रदेशाग्र है उन प्रदेशाग्रोको सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितियोमे सक्रमण कराता है। जबतक अन्तरकरणकालकी द्विचरमफालि प्राप्त होती है तबतक यही क्रम रहता है। पुन. अन्तिमफालिके प्राप्त होनेपर[1] मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोके सब अन्तरस्थितिसम्बन्धी प्रदेशाग्रको सम्यक्त्वप्रकृतिको प्रथमस्थितिमे ही स्थापित करता है। इसीप्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तरस्थितिसम्बन्धी प्रदेशको भी अपनी प्रथमस्थितिमे ही देता है। द्वितीयस्थितिके प्रदेशाग्र भी तबतक प्रथमस्थितिको प्राप्त होता है जबतक कि प्रथमस्थितिमे आवली और प्रत्यावलि शेष रहती है[2]।

अब प्रकरण प्राप्त दर्शनमोहके सक्रमसम्बन्धी ऊहापोह विशेष का कथन करते हैं—

सम्मादिठिदिज्झीणे मिच्छद्दव्वादु सम्मसम्मिस्से।
गुणसंकमो ण णियमा विज्झादो संकमो होदि ॥२१६॥

---

१. तात्पर्य यह है कि "चरमफालीका पतन होते समय मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के अन्तरस्थिति सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण-सक्रमणके द्वारा अतिस्थापनावलो को छोड़कर जिसप्रकार पहले स्वस्थानमे भी देता रहा उसप्रकार इससमय नही देता है, किन्तु उनके अन्तर सम्बन्धी अंतिम-फालि के द्रव्यको सम्यक्त्वकी प्रथमस्थिति मे ही गुणश्रेणीरूप से निक्षिप्त करता है।" इसीप्रकार सम्यक्त्व प्रकृतिके चरमफालि सम्बन्धी द्रव्यको अन्यत्र निक्षिप्त नही करता, परन्तु अपनी प्रथम-स्थिति मे ही निक्षिप्त करता है। (ज. ध मूल पृ. १८१३-१४)

२ ध पु ६ पृ २८६-२६१।

चारित्रमोहोपशम विधान में पाये जाने वाले आठ कार्योंका निर्देश करते हैं—

तिकरणबंधोसरणं कमकरणं देसघादिकरणं च ।
अंतरकरणं उवसमकरणं उवसामणे होंति ॥२२०॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उपशम करनेमे आठ करण होते है । 'तिकरण' अर्थात् अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीनकरण तथा बधापसरण, क्रमकरण, देशघातिकरण, अन्तरकरण और उपशमकरण । इसप्रकार आठकरण होते है ।

विशेषार्थ—अध'करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, बधापसरण, अन्तरकरण और उपशमकरणका स्वरूप प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे कहा जा चुका है । अनिवृत्तिकरणकालमे मोहनीयका स्थितिबन्ध स्तोक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनका स्थितिबन्ध तुल्य, किन्तु मोहनीयके स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध तुल्य, परन्तु पूर्वसे असख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है जब इस क्रमसे स्थितिबन्ध होता है इसको पाचवा क्रमकरण कहते है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका बन्ध जब देशघातिरूपसे होने लगता है, सर्वघातिरूपसे बन्ध नही होता उसको छठा देशघातिकरण कहते है ।

आगे अपूर्वकरणमें स्थितिकांडकका कथन करते हैं—

विदियकरणादिसमये उवसंततिदंसणे जहण्णेण ।
पल्लस्स संखभागं उक्कस्सं सायरपुधत्तं ॥२२१॥
ठिदिखंडयं तु खइये वरावरं पल्लसंखभागो दु ।
ठिदिबंधोसरणं पुण वरावरं तत्तियं होदि ॥२२२॥

अर्थ—द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके द्वितीय (अपूर्व) करणके आदि (प्रथम) समयमे स्थितिकाडक जघन्यसे पल्यका सख्यातवाभाग आयामवाला और उत्कृष्टसे पृथक्त्वसागरप्रमाणवाला होता है, किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टिके जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिकाडकआयाम पल्यके असख्यातवेभाग मात्र है । जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिवधापसरण उतना ही अर्थात् पल्यके सख्यातवेभागप्रमाण है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तकरण नामका गुणस्थान न होनेके कारण गाथामे अधः-करणके कार्योंका उल्लेख नही किया, किन्तु गाथा २२० के अनुसार अध.प्रवृत्तकरण

तदनन्तर द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके विशुद्धिमें हानिवृद्धिका कथन करते हैं—

तेण परं हायदि वा वड्ढदि तव्वड्ढिदो विसुद्धीहिं ।
उवसंतदंसणतियो होदि पमत्तापमत्तेसु ॥२१८॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकी तीनो प्रकृतियोका उपशम करनेवाला द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि उसके बाद (अन्तर्मुहूर्त तक विशुद्धि से बढ़ने के बाद) विशुद्धिके द्वारा कभी घटता है, कभी बढता है और कभी अवस्थित रहता है। विशुद्धिको हानि-वृद्धिके प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थान होते रहते हैं।

विशेषार्थ—स्वस्थानको (अप्रमत्तगुणस्थानके) प्राप्त हुए जीवके सक्लेश और विशुद्धिवश परिणामोके वृद्धि हानि और अवस्थामे सचरणके प्रति विरोधका अभाव है[1]।

अथानन्तर उपशमश्रेणिमें होने वाले प्रमुखकार्यो का कथन करते हैं—

एवंपमत्तमियर परावत्तिसहस्सयं तु कादूण ।
इगवीसमोहणीयं उवसमदि ण अण्णपयडीसु ॥२१९॥

अर्थ—इसप्रकार प्रमत्त व अप्रमत्तमे सहस्रोबार परावर्तन करके मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोको उपशमाता है, अन्य कर्मोको नही उपशमाता।

विशेषार्थ—जिसप्रकार अनन्तानुबन्धियोकी विसयोजना करके स्वस्थानको प्राप्त हुआ उक्त जीव असातावेदनीय आदिके बन्धके योग्य होता है उसीप्रकार यह भी उपशान्तदर्शनमोहनीय हो विशुद्धिकालको विताकर प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थानोमें परावर्तन करता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयश कीर्ति आदि अशुभ प्रकृतियोका बन्धक होकर उनके सहस्रो बन्धपरावर्तन करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक विश्राम करके पश्चात् उपशमश्रेणिके योग्य विशुद्धिके अभिमुख होता है।

अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना पहले हो चुकी और दर्शनमोहका उपशम करके द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि हुआ अत चारित्रमोहकी २१ प्रकृतिया शेष रही; जिनके उपशम करनेको उद्यमी हुआ है। मोहनीयकर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोका उपशम नही होता; अत उनके उपशमका निषेध किया गया है।

---

१ ज.ध पु १३ पृ २०९।

उनमें से जो क्षीणदर्शनमोहनीय कषायोका उपशामक होता है, कषायोंका उपशम करने के लिए उद्यत हो अपूर्वकरणमे विद्यमान हुए उसके प्रथम स्थितिकाडकका क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछने पर 'नियमसे पल्योपमका सख्यातवाभाग होता है' इस वचनके द्वारा उसके प्रमाणका निर्देश किया गया है । दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले परिणामोके द्वारा पहले ही अच्छी तरह से घातको प्राप्त हुई स्थितिमे अधिक स्थितिकाण्डककी योग्यता सम्भव नही है,[1] परन्तु जो दर्शनमोहनीयके उपशम द्वारा द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि होकर कषायोका उपशम करता है उसके लिए ऐसा कोई नियम नही है । उसके जघन्य स्थितिकाडक तो पल्योपमके संख्यातवे भाग प्रमाण ही होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थितिकाडक सागरोपम पृथक्त्व प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

उपशान्तदर्शनमोहनीय या क्षीणदर्शनमोहनीय कषायोंका उपशामक जो जीव अपूर्वकरणके प्रथम समयमें स्थितिबन्धरूपसे जिस स्थिति समूहका अपसरण करता है जघन्य और उत्कृष्ट वह समूह भी पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण होता है, वहा अन्य विकल्प नही है[2] ।

आगे अनुभागकाण्डक आदिके प्रमाणका निर्देश करते हैं—

असुहाणं रसखंडमणंतभागा ण खंडमियराणं ।
अंतोकोडाकोडी सत्तं बंधं च तट्ठाणे ॥२२३॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमे अशुभकर्मोंके अनन्तबहुभाग अनुभागका घात करनेके लिए अनुभागकाडक होता है तथा इतर अर्थात् शुभ प्रकृतियोका अनुभाग-काडक नही होता और उसी प्रथम समयमे सर्वकर्मोका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अत:-कोडाकोडीसागर होता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमे स्थितिबन्ध व स्थिति सत्कर्म अन्त:-कोडाकोड़ीसागरसे अधिक सम्भव नही है । तथा शुभ प्रकृतियोका अनुभागकाडकघात

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. २२२-२३ ।

२. ज ध. पु. १३ पृ. २२३-२४ । इस विशेषार्थ मे स्थितिबन्धापसरणका प्रमाण बताया गया है ऐसा जानना चाहिये ।

अवश्य होता है और वह सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानमे होता है। सहस्रोवार प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमे परावर्तनके पश्चात् उपशमश्रेणिके योग्य विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ कषायोंको उपशमानेके लिये अध प्रवृत्तकरण परिणामरूप परिणमता है[1]।

कषायोका उपशम करनेवाले जीवके अध प्रवृत्तकरण होता है उसमे प्रवृत्ति करने वाले जीवके स्थितिघात अनुभागघात आदि सम्भव नही है[2]। केवल उसके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालके भीतर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ सहस्रो स्थितिबन्धापसरण करके अपने प्रथम समयके स्थितिबन्धसे उसके अंतिम समयमे संख्यातगुणे हीन स्थितिबन्धको स्थापित करता है। अप्रशस्तकर्मोका प्रतिसमय अनन्त-गुणी हानिको लिये हुए अनुभागबन्धापसरण भी करता है[3]। यद्यपि इन करणोके लक्षणोके कथनमे वस्तुत कोई भेद नही है तथापि पूर्वके करणोमें विशुद्धि अनन्तगुणी-हीन होती है और आगेके करणोमें विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है। इसप्रकार इन करणोमें जो भेद उपलब्ध होता है[4] उसका आश्रयकर पृथक्-पृथक् कार्योकी सिद्धि हो जाती है इसमें कोई विरोध नही उपलब्ध होता है[5]।

कषायोका उपशामक यह जीव क्षीणदर्शनमोहनीय होवे अथवा उपशान्त-दर्शनमोहनीय होवे, दोनोके उपशम श्रेणिपर आरोहण करनेमे निषेधका अभाव है[6]।

---

१ ज. ध पु १३ पृ २१०। ध. पु. ६ पृ २६२। क पा सु पृ. ६८०।

२ सथमगुणश्रेणी को छोडकर अध प्रवृत्त परिणाम निवन्धन गुणश्रेणि भी नही है। (ध. पु. ६ पृ २६२)

३ ज ध पु १३ पृ २१३, ध पु ६ पृ २६२, क पा. सु पृ ६८०।

४ प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति, अनन्तानुबन्धी की विसयोजना, द्वितीयोपशमकी उत्पत्ति, क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, चारित्रमोहकी उपशामना, चारित्रमोहकी क्षपणा इन कार्यो मे तीन करण होते है, उनमे लक्षण भी सर्वत्र समान है, परन्तु विशेष यह है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति के समय इन तीन करणो मे सबसे कम विशुद्धि होती है तथा चारित्रमोहकी क्षपणा के समय इन तीन करणोमे सबसे अधिक विशुद्धि होती है। मध्यस्थानो मे अधिकारी भेद से यथायोग्य विशुद्धि जान लेना चाहिये [ज ध पु १३ प २१४, ध पु ६ पृ २८६]

५ ज ध. पु १३ पृ २१३-१४, ध. पु ६ पृ २८६।

६ दोण्हपि उवसेडिसमारोहणे विप्पडिसेहाभावादो [ज. ध मूल पृ. १९१५]

विशेषार्थ—अपूर्वकरणगुणस्थानमें प्रविष्ट हुए संयतजीवके जिस कालमें निद्रा और प्रचलाका बन्धविच्छेद होता है वह काल सबसे थोडा है, क्योकि वह अपूर्वकरणके कालका सातवा भाग प्रमाण है[1]। उससे परभव सम्बन्धी नामकर्म की प्रकृतियों का बन्धविच्छेदकाल संख्यातगुणा है, क्योकि वह अपूर्वकरणकालके छह बटे सात भागप्रमाण है। इससे अपूर्वकरणका सम्पूर्णकाल विशेषाधिक है। इस विशेषाधिकताका प्रमाण अपूर्वकरणके कालके सातवे भागरूप है। यह अपूर्वकरण प्रविष्ट जीव पहलेके समान स्थितिघात व अनुभागघात को करता हुआ अपूर्वकरणके अन्तिम समय के प्राप्त होने तक जाता है। तत्पश्चात् इस कालके चरम समयमे स्थितिकाडक, अनुभागकाडक और स्थितिबन्ध एक साथ समाप्त होते है। इसी समय ही हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्धविच्छेद होता है; क्योकि इससे उपरिम विशुद्धिया उनके बन्धके विरुद्ध स्वभाव-वाली है। इसी समय हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह कर्मोका उदयविच्छेद होता है, क्योकि इससे ऊपर इनकी उदयरूप शक्तिका अत्यन्त अभाव होनेसे इनका उदयरूपसे प्रवेश रुक जाता है। यहा पर स्थितिसत्कर्मका प्रमाण अपूर्व-करणके प्रथम समयमे प्राप्त स्थितिसत्कर्मसे संख्यातगुणा हीन अन्तःकोडाकोडीके भीतर है। इसीप्रकार स्थितिबन्धका प्रमाण भी जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि अत.-कोडाकोडीके भीतर लक्षपृथक्त्वप्रमाण है ऐसा कहना चाहिये। इसप्रकार अपूर्वकरणके कालका पालनकर उसके अनन्तर समयमे अनिवृत्तिकरणमे प्रविष्ट होता है[2]।

अब आगे अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें होने वाले कार्योका निर्देश करते हैं—

अणियट्टिस्स य पढमे अण्णट्ठिदिखंडपहुदिमारवई।
उवसामणा णिधत्ती णिकाचणा तत्थ वोच्छिण्णा ॥२२६॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण के प्रथम समयमे अपूर्वकरणके चरमसमय सम्बन्धी स्थितिखण्ड, स्थितिबन्धापसरण, अनुभागखण्डसे अन्य ही (विलक्षण ही) स्थितिखण्ड, स्थितिबन्धापसरण, अनुभागखण्ड आरम्भ करता है। वही (अनिवृत्तिकरणके प्रथम-समयमें) सभी कर्मो के उपशम, निधत्ति और निकाचना इन तीन करणोकी व्युच्छित्ति होती है।

---

१. ज ध. पु १३ पृ. २२७।
२. ज. ध पु. १३ पृ २२८-२९।

नही होता, क्योकि विशुद्धि के द्वारा शुभ प्रकृतियोके अनुभागका खण्डन नही होता[1] ।

अब अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणि निर्जराका प्ररूपण करते हैं—

उदयावलिस्स बाहिं गलिदवसेसा अपुव्वअणियट्टी ।
सुहुमद्धादो अहिया गुणसेढी होदि तट्ठाणे ॥२२४॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमे उदयावलिसे बाह्य गलितावशेष गुणश्रेणि होती है । गुणश्रेणिनिक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अधिक है ।

विशेषार्थ—अधिकका प्रमाण उपशान्तकषायके कालका सख्यातवाभाग है[2] तथा यही पर नपुसकवेद आदि अबध अप्रशस्त प्रकृतियो सम्बन्धी गुणसक्रमणका भी प्रारम्भ होता है[3] ।

अपूर्वकरणमें बन्ध-उदय व्युच्छित्तिको प्राप्त प्रकृतियों को बताने के लिए आगे गाथा सूत्र कहते हैं—

पढमे छट्ठे चरिमे बंधे दुग तीस चदुर वोच्छिण्णा ।
छण्णोकसायउदयो अपुव्वचरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥२२५॥

अर्थ—अपूर्वकरणकालसम्बन्धी सातभागो में से प्रथमभागमे निद्रा व प्रचला ये दो, छठे भागमे तीर्थंकर आदि तीस[4] और सातवे भागमे हास्यादि चार, इसप्रकार ३६ प्रकृतिया बन्धसे व्युच्छिन्न हुई तथा अपूर्वकरणके चरमसमयमे हास्यादि छह नोकषाय उदयसे व्युच्छिन्न हुई है ।

---

१ ज ध पु. १२ पृ २६१ । ज ध पु १३ पृ २२४ व २५१ । ज ध. मूल पृ १९४० । ध पु ६ पृ २०९, ध पु १२ पृ १८ ।

२ परन्तु जयधवलामे गुणश्रेणिका प्रमाण अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणसे साधिक बताया है । ज ध पु. १३ पृ २२४ । परन्तु अल्पबहुत्व के प्रकरण के प्रथम समयमे गुणश्रेणी निक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अन्तर्मुहूर्त से अधिक है ।

३ ज ध पु १३ पृ २२४ ।

४ वन्धसे व्युच्छिन्न ३० प्रकृतिया—देवगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर, समचतुरस्रसस्थान, वैक्रियिक-आहारक शरीरागोपाग, देवगत्यानुपूर्वी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर ।

जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षणके अविरुद्ध पर्यायके योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृतिसक्रमरूप न हो सकनेकी प्रतिज्ञारूपसे स्वीकृत है उस अवस्था विशेषको निधत्तीकरण कहते है, परन्तु जो कर्म उदयादि इन चारोंके अयोग्य होकर अवस्थानकी प्रतिज्ञामें प्रतिबद्ध है उसकी उस अवस्थानलक्षण पर्यायविशेषको निकाचनाकरण कहते है[1]। इसप्रकार ये तीनो ही करण इससे पूर्व सर्वत्र प्रवर्तमान थे, यहा अनिवृत्तिकरण के प्रथम समयमे उनकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इनके व्युच्छिन्न होने पर भी सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और परप्रकृतिसंक्रम इन चारोके योग्य हो जाते है।

आगे अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके प्रथम समयमें कर्मोंके स्थितिबन्ध व स्थिति-सत्त्वके प्रमाणका कथन करते हैं—

अंतोकोडाकोडी अंतोकोडी य सत्त बंधं च।
सत्तण्हं पयडीणं अणियट्टीकरणपढमम्हि ॥२२७॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे आयु बिना सात प्रकृतियोंका स्थिति-सत्त्व यथायोग्य अन्तःकोटाकोटीसागर मात्र है और स्थितिबन्ध अन्त कोडाकोडी मात्र है।

विशेषार्थ—आयुकर्मको छोडकर शेष कर्मोका स्थितिसत्कर्म अन्त कोडाकोडी सागरोपमके भोतर होता है, क्योकि अत्यन्तरूपसे भी घातको प्राप्त हुए शेष कर्मोका उपशमश्रेणिमे सूत्रोक्त प्रमाण का त्याग किये बिना अवस्थानका नियम देखा जाता है। स्थितिबन्ध अन्त कोडाकोडीके भीतर लक्षपृथक्त्व सागरोपमप्रमाण होता है, क्योकि उसका स्थितिबन्धापसरणके माहात्म्यवश पहले बहुत ह्रास हो गया है, इसलिये उसके सूत्रोक्त सिद्ध होने मे विरोधका अभाव हो गया है।

अब तीन गाथाओं में उसी अनिवृत्तिकरणकालमें स्थितिबन्धापसरणके क्रमसे स्थितिबन्धोंके क्रमशः अल्प होनेका कथन करते है—

ठिदिबंधसहस्सगदे संखेज्जा बादरे गदा भागा।
तत्थ असण्णिस्स ठिदीसरिस ट्ठिदिबंधणं होदि ॥२२८॥

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३१। ध. पु ६ पृ. २९९; ध. पु. ९ प २३६, ध. पु १५ पृ. २७६, गो. क. गा. ४४०-४४४ एवं ४५०।

विशेषार्थ—जिसप्रकार अपूर्वकरणमे स्थित सयत पल्योपमके सख्यातवे भाग-प्रमाण आयामवाले स्थितिकाडकको ग्रहणकर आया है उसीप्रकार यह भी अनिवृत्ति-करणके प्रथम समयमे स्थितिकाडकको ग्रहण करता है, वहा नानापन नही है। इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिकांडकसे लेकर विशेषहीन क्रमसे स्थिति-काडकोके अपवर्तित होनेपर सख्यातहजार स्थितिकांडक गुणहानियोका उल्लघनकर उससे (प्रथम समयके स्थितिकाडकसे) अपूर्वकरणके अन्तिम समयमे सख्यातगुणा हीन स्थितिकाडक होता है। तथा अनिवृत्तिकरणमे प्रविष्ट हुए सयतजीवका प्रथम स्थिति-काडक उससे विशेष हीन होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अपूर्व स्थितिबन्ध पल्योपमका सख्यातवांभाग हीन होता है। अनुभागकाण्डक शेषका अनन्त बहुभागप्रमाण होता है, क्योकि सयतजीव अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे अनुभागकाडकके संक्रमको इससे पूर्व घाते गये अनुभागसत्कर्मके अनन्त बहुभागप्रमाण ग्रहण करता है उसमे अन्य प्रकार सम्भव नही है।

गुणश्रेणि प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिक्रमसे होती है जिसका उत्तरोत्तर गलितशेष आयाममे निक्षेप होता है। जिसप्रकार अपूर्वकरणमे प्रतिसमय असख्यात-गुणी श्रेणिक्रमसे उदयावलिके बाहर गलित-शेष-आयाममे गुणश्रेणिका विन्यास होता है उसीप्रकार यहा भी जानना चाहिए। वहा कोई प्ररूपणा भेद नही है। गुणसक्रम भी पूर्वोक्त अप्रशस्त प्रकृतियोका यहा पर बिना रुकावटके प्रवृत्त होता है ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए। इतनी विशेषता है कि हास्य, रति, भय और जुगुप्साका गुणसक्रम भी यहासे प्रारम्भ होता है, क्योकि अपूर्वकरणके अन्तिम समयमें उनका बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिए उनका उसप्रकार परिणमन होनेमे विरोधका अभाव है। इसप्रकार इन क्रियाकलापोमे नानापनका कथन किया गया है।

उसी अनिवृत्तिकरणकालके प्रथम समयमे अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरण व्युच्छिन्न होते है। सभी कर्मोके अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानमे प्रवेश करनेके प्रथम समयमे ही ये तीनो ही करण युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उसमे जो कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमके योग्य होकर पुनः उदीरणाके विरुद्ध स्वभावरूपसे परिणत होनेके कारण उदयस्थितिमे अपकर्षित होनेके अयोग्य है वह उसप्रकारसे स्वीकार की गई अप्रशस्तउपशामनाकी अपेक्षा उपशान्त ऐसा कहलाता है। उसकी उस पर्यायका नाम अप्रशस्तउपशामनाकरण है। इसीप्रकार

एइंदियट्ठिदीदो संखसहस्से गदे दु ठिदिबंधो ।
पल्लेकदिवड्ढदुगे ठिदिबंधो वीसियतियाणं ॥२३०॥

अर्थ—एकेन्द्रियसदृश स्थितिबन्धसे सख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर क्रमसे वीसिया (नाम-गोत्र) का एक-एक पल्य, तीसीया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मो) का डेढपल्य, चालीसिया (चारित्रमोहनीय) का दो पल्य प्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है । उससे चार कर्मोका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण कितना है ? द्वितीयभाग-प्रमाण है । उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण कितना है ? तृतीय भागप्रमाण है[1] ।

अब बन्धापसरण के विषयमें विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

पल्लस्स संखभागं संखगुणूणं असंखगुणहीणं ।
बंधोसरणं पल्लं पल्लासंखंति संखवस्संति ॥२३१॥

अर्थ—पल्यप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्यके सख्यातवेभाग प्रमाण-वाला स्थितिबंधापसरण होता है । उसके पश्चात् पल्यके असख्यातवेभाग स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्यके संख्यात बहुभाग प्रमाणवाला स्थितिबधापसरण होता है । उसके पश्चात् सख्यातहजारवर्ष स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्यका असंख्यात बहुभाग प्रमाण-वाला स्थितिबन्धापसरण होता है ।

विशेषार्थ—पल्योपमका सख्यातवे भागप्रमाण स्थितिबन्धापसरण तबतक होता है जबतक पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्धको नही प्राप्त होता । पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्धके हो जानेपर वहासे लेकर सख्यात बहुभागका स्थितिबन्धापसरण होता है यह नियम है । पल्योपमका संख्यातवांभाग दूरापकृष्ट संज्ञावाला स्थितिवन्वसे लेकर पल्योपमके असंख्यात बहुभागोका स्थितिबन्धापसरणका नियम है[2] । इस गाथामे इन नियमोका उपसहार किया गया है ।

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३४ प ३३ से पृ. २३५ पं. १६ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २३५ व २४० ।

अर्थ—सहस्रो स्थितकाडक व्यतीत हो जाने पर तथा अनिवृत्तिकरणकालका बहुभाग वीत जानेपर असज्ञीके स्थितिबधके समान स्थितिबन्ध होता है[1] ।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक हजारों अनुभागकाडकोके अविनाभावी ऐसे बहुत हजार स्थितिकाडकोके स्थितिबन्धापसरणोके साथ व्यतीत होने पर सातो ही कर्मोका स्थितिबन्ध लक्षपृथक्त्व सागरोपमसे बहुत अधिक घटकर हजारपृथक्त्व सागरोपमप्रमाण हो जाता है । तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरणके सख्यात बहुभाग के व्यतीत होनेपर असज्ञीके समान स्थितिबन्ध होता है । इतनी विशेषता है कि मोहनीयकर्मका हजार सागरोपमके चार बटे सात भागप्रमाण असज्ञीके योग्य स्थितिबन्धके हो जानेपर शेष कर्मोंका अपने-अपने प्रतिभागके अनुसार हजार सागरोपमका तीन वटे सात भागप्रमाण[2] और दो बटे सात भागप्रमाण[3] यहा पर स्थितिबन्धका प्रमाण होता है[4] ।

ठिदिबंधपुधत्तगदे पत्तेयं चदुर तिय वि एएदि ।
ठिदिबंधसमं होदि हु ठिदिबंधमणुक्कमेणेव ॥२२६॥

अर्थ—उसके पश्चात् प्रत्येक स्थानके लिये पृथक्त्व स्थितिबधापसरण बीत जानेपर क्रमसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व एकेन्द्रिय जीवोके स्थितिबन्धके समान स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—इतनी विशेषता है कि अपने-अपने प्रतिभागके अनुसार चतुरिन्द्रिय आदि जीवोमे क्रमसे सौ सागरोपम, पचास सागरोपम, पच्चीस सागरोपम और पूरे एक सागरोपमके चार वटे सात भाग,[5] तीन वटे सात भाग[6] और दो बटे सात[7] भाग-प्रमाण जो स्थितिबन्ध होता है उसके समान स्थितिबन्ध होता है[8] । यहा पर पृथक्त्वका निर्देश विपुलतावाची है अत. हजार पृथक्त्व ग्रहण करना चाहिए[9] ।

---

१. ध पु. ६ पृ २२५ ।
२. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मका
३. नाम-गोत्रका　　४ ज. ध. पु. १३ पृ. २३३ ।
५ चारित्रमोहका स्थितिवन्ध ।
६ ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय व अन्तरायका ।
७. नाम व गोत्रका ।　　८ ज ध. पु. १३ पृ. २३३ ।
९ ज ध पु १३ पृ २२५ ।

सख्यातवेभागप्रमाण होता है। तब स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है— नाम और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक होता है, उससे चार कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा होता है। तथा उससे मोहका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है।

तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वके व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मका भी स्थितिबध पल्योपमप्रमाण होता है। उसके पश्चात् जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह स्थितिबन्ध आयुकर्मके अतिरिक्त शेष कर्मोका पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण होता है, क्योकि मोहनीयकर्मका भी संख्यात बहुभागोंसे हीन तत्काल होनेवाला स्थितिबन्ध पल्योपमके सख्यातवे भागमात्र होता है। उस समय स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है– नाम और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर सख्यातगुणा है, उससे मोहनीयकर्मका स्थितिवध सख्यातगुणा है। जब तक नाम और गोत्रकर्मका दूरापकृष्टि सज्ञावाला अन्तिम पल्योपमका सख्यातवाभागप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होता है, तबतक अल्पबहुत्वका यह क्रम विच्छिन्न नही होता। तत्पश्चात् नाम व गोत्र कर्मका अन्य स्थितिबन्ध पल्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण है, क्योकि दूरापकृष्टि स्थितिबन्धसे लेकर असख्यात बहुभागोका स्थितिबन्धापसरणका नियम है। इससे ज्ञानावरणादिकर्मोका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, क्योकि अभी दूरापकृष्टिसज्ञक बन्ध प्राप्त नही हुआ है। उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है।

इस अल्पबहुत्वविधिसे बहुत हजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने पर ज्ञानावरण आदि चार कर्मोका दूरापकृष्टिविषयक स्थितिबन्ध प्राप्त होता है। उसके बाद इन कर्मोका असख्यात बहुभागवाला स्थितिबन्धापसरण होता है। उस समय नाम व गोत्र कर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है। उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोका स्थितिवन्ध असख्यातगुणा है। उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, क्योकि अभी भी पल्योपमके सख्यातवे भागप्रमाण स्थितिबन्ध है, दूरापकृष्टिको नही प्राप्त हुआ है।

इसी क्रमसे बहुत हजार स्थितिबन्ध बीत जाने पर मोहनीयकर्मका दूरापकृष्टि-सज्ञक स्थितिबन्ध होता है। आगे भी सख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण इसी अल्पवहुत्व क्रमसे व्यतीत होते है, किन्तु इन बन्धापसरणोमे सभी कर्मोके पल्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण स्थितिबन्धोमे असख्यातगुणा हानिरूपसे अपसरण करता है[1]।

१ ज ध. पु १३ पृ. २३५-२४२।

आगे स्थितिबन्धके क्रमकरणकालमें स्थितिबन्धोंका प्रमाण बताने के लिए कहते हैं—

एवं पल्ले जादे बीसीया तीसिया य मोहो य ।
पल्लासंखं च कमे बंधेण य वीसियतियाओ ॥२३२॥

अर्थ—वीसिया (नाम व गोत्र कर्म), तीसिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय) और मोहनीय कर्मके स्थितिबन्धका जो क्रम पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्धके समय है वही क्रम पल्यके असख्यातवेभाग स्थितिबन्धमे भी रहता है ।

विशेषार्थ—नाम व गोत्रकर्मके पल्योपमप्रमाण स्थितिवाले बन्धसे आगे अन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है, क्योकि पल्योपमप्रमाण स्थितिवालेवन्धके हो जानेपर वहासे लेकर सख्यात बहुभागोका स्थितिबन्धापसरण होता है, यह नियम है । यहा से लेकर नाम और गोत्रकर्मके स्थितिबन्धके पूर्ण होनेपर सख्यातगुणाहीन अन्य स्थितिवन्ध होता है तथा शेष कर्मोका जबतक पल्योपम स्थितिवाला वन्ध नहीं प्राप्त होता, तब तक प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर पल्योपमका सख्यातवाभाग हीन अन्य स्थितिवन्ध होता है । इसप्रकार हजारो स्थितिबन्धोके वीत जाने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मोका पल्योपमवाला बन्ध होता है, क्योकि डेढ पल्योपमप्रमाण विवक्षितपूर्व स्थितिबन्ध मे से पल्योपमप्रमाण स्थितिवन्ध के घटाने पर शेष बचे अर्धपल्योपममे एक स्थितिबन्धापसरणके आयामका भाग देनेपर सख्यातहजार सख्या (स्थितिबन्धापसरणोकी) प्राप्त होती है । उस समय मोहनीयकर्मका तीसरा भाग अधिक पल्योपम स्थितिवाला बन्ध होता है, क्योकि जहा तीसिय प्रकृतियोका पल्योपमप्रमाण स्थितिवन्ध होता है वहा चालीसिय प्रकृतिका कितना स्थितिबन्ध होगा इसप्रकार त्रैराशिक करके मोहनीयका तीसरा भाग अधिक पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होता है ।

तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि चार कर्मोका भी जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह सख्यातगुणा हीन होता है और मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष हीन होता है, क्योकि चार कर्मोंके पल्योपम स्थितिवाले बन्धके बाद तब पल्योपमके सख्यात बहुभागवाला स्थितिवन्धापसरण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु मोहनीयकर्म पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध नही प्राप्त हुआ है । इसलिये उस समय मोहनीयका स्थितिबन्धापसरण पल्योपमके

विशेषार्थ—अनन्तर पूर्व प्ररूपित अल्पबहुत्व विधिसे बहुत हजार स्थिति-बन्धापसरण व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मकी स्थितिका विशेष घात होनेके कारण बहुत अधिक घटनेवाले मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध एक बारमे सबसे अल्प हो जाता है। उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असंख्यातगुणा होता है[1]।

अब अन्य क्रमका निर्देश करते हैं—

तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वेयणीयहेट्ठादु ।
तीसिय घादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥२३५॥

अर्थ—उतने ही अर्थात् सख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर ज्ञाना-वरणादि तीन घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध, वेदनीयकर्मके स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा हीन हो जाता है।

विशेषार्थ—पहले वेदनीयकर्मके स्थितिबन्ध सदृश ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध था जो विशेष घात होनेके कारण एक बारमें उससे असख्यातगुणा हीन होकर नीचे निपतित हो जाता है। यहां पर अल्प-बहुत्व इसप्रकार है–मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध अल्प है। उससे नाम और गोत्रकर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असख्यातगुणा है उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनो ही कर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असख्यातगुणा होता है। उससे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, क्योकि जिसप्रकार घातिकर्मो का विशुद्धिके वश विशेषघात होता है उस प्रकार इस अघातिकर्मका विशुद्धिके वश बहुत स्थितिबन्धापसरण सम्भव नही है, वेदनीयकर्मके स्थितिबन्धसे तीनो ही कर्मोका घटता हुआ स्थितिबन्ध सख्यातगुणाहीन होता है या विशेष हीन होता है ऐसा कोई विकल्प नही है, किन्तु एकबार मे वह असख्यातगुणा हीन हो जाता है।

पुनरपि क्रमभेद को दिखाते हैं—

तत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठादु ।
तीसिय घादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥२३६॥

---

१. ज ध पु १३ पृ. २४४; क. पा सुत्त पृ. ६८७।

इस स्थल पर अल्पबहुत्वकी प्ररूपणामें पाई जाने वाली विशेषता का कथन अगली गाथामे करते हैं—

मोहगपल्लासंखट्ठिदिबंधसहस्सगेसु तीदेसु ।
मोहो तीसिय हेट्ठा, असंखगुणहीणयं होदि ॥२३३॥

अर्थ—मोहनीयकर्म सम्बन्धी पल्यके असख्यातवेभाग प्रमाणवाले हजारों स्थितिवन्धोके व्यतीत हो जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध ज्ञानावरणादि कर्मोके स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा हीन होता है ।

विशेषार्थ—विशुद्धिरूप परिणामोमें वृद्धि होने पर अतिशय अप्रशस्त मोहनीय-कर्मके स्थितिबन्धका एकबार मे ही विशेष घात होकर ज्ञानावरणादि चार कर्मोके स्थितिबन्धकी अपेक्षा कम स्थितिवाला होता हुआ नियमसे असख्यातगुणा हीन हो जाता है इसलिये यहा पर सख्यातगुणा हीन आदि अन्य विकल्प सम्भव नही है । जवतक मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध ज्ञानावरणादि चार कर्मोके स्थितिवन्धसे अधिक था तवतक वह असख्यातगुणा था । अब असख्यातगुणे स्थानमे असख्यातगुणा हीन हो गया । इसकी अपेक्षा नाम और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सवसे अल्प है, उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा तथा उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोका स्थितिवन्ध असख्यात-गुणा है[1] ।

तदनन्तर दूसरे क्रमका निर्देश करते हैं—

तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठावि ।
[2]एक्कसराहो मोहो असंखगुणहीणयं होदि ॥२३४॥

अर्थ—उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिबन्धोके व्यतीत हो जाने पर वीसिया अर्थात् नाम व गोत्रकर्मके स्थितिबन्धसे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असख्यात-गुणा हीन हो जाता है । यह एक सदृश है अर्थात् असख्यातगुणा हीन ही है, अन्य प्रकार नही है ।

---

१. ज ध पु १३ पृ २४२-२४४ ।

२. एकसदृश एकशराघात इत्यर्थ ।

अर्थ—पल्यके असंख्यातवेंभाग प्रमाणवाले संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत हो जानेपर असख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है[1]।

विशेषार्थ—अनन्तर पूर्व कही गई इस अल्पबहुत्व विधिसे हजारों स्थितिबन्धापसरण क्रियाको करते हुए जीवका जब कितना ही काल निकल जाता है तब पुनः जो कर्म बधते है उन सभी कर्मोका स्थितिबन्ध पल्योपमके असख्यातवेंभागप्रमाण ही होता है, अभी तक किसी भी कर्मका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला बन्ध प्रारम्भ नही हुआ है, क्योकि इससे बहुत दूर ऊपर जाकर अन्तरकरणके पश्चात् संख्यातवर्षकी स्थितिवाले बन्धका प्रारम्भ देखा जाता है, किन्तु इस स्थल पर सभी कर्मोका स्थितिसत्कर्म अन्त - कोडाकोड़ीके भीतर जानना चाहिए, क्योकि उपशमश्रेणिमें अन्य प्रकार सम्भव नही है। यहां ये जितने स्थितिबन्धापसरण हुए है वहां सर्वत्र ही पूर्वोक्त विधिसे स्थिति-काण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात और गुणश्रेणि आदिका अनुगम करना चाहिए, क्योकि इस विषयमे नानात्व नही पाया जाता।

पूर्वमें सर्वत्र ही जो उदीरणा असख्यातलोकप्रमाण प्रतिभागके अनुसार प्रवृत्त होती आ रही थी इससमय वह उदीरणा परिणामोके माहात्म्यवश पूर्वोक्त क्रियाकलापके ऊपर असख्यात समयप्रबद्धोंकी प्रवृत्त होती है, क्योकि अपकर्षण भागहारसे असख्यात-गुणे भागहारके द्वारा डेढ गुणहानिप्रमाण समयप्रबद्धोको भाजितकर जो असख्यातसमय-प्रबद्धप्रमाण एक भाग लब्धरूपसे प्राप्त होता है उसका यहा उदीरणारूपसे उदयमे प्रवेश देखा जाता है, परन्तु यहा सर्वत्र उदीरणाको उदयके असख्यातवे भागप्रमाण ही ग्रहण करना चाहिए, क्योकि उत्कृष्ट उदीरणाद्रव्यका भी ऐसा नियम है कि वह उदयगत गुणश्रेणिकी गोपुच्छाको देखते हुए असख्यातगुणा हीन देखा जाता है[2]।

अथानन्तर दो गाथाओं में देशघातिकरणका कथन करते हैं—

ठिदिबंधसहस्सगदे मणदाणा तत्तियेवि ओहिदुगं।
लाहं व पुणो वि सुदं अचक्खु भोगं पुणोचक्खु ॥२३९॥
पुणरवि मदिपरिभोगं पुणरवि विरयं कमेण अणुभागो।
बधेण देसघादी पल्लासंखं तु ठिदिबंधे ॥२४०॥

---

१. क. पा. सु. पृ. ६८८ सूत्र ११५।
२. ज. ध पु १३ पृ. २४८-४९।

अब क्रमकरणका उपसंहार करते हैं—

तक्काले वेयणियं णामागोदादु साहियं होदि ।
इदि मोहतीसवीसियवेयणियाणं कमो जादो ॥२३७॥

अर्थ—उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जाने पर तीन घातिया तीसिय अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्मोका स्थितिबन्ध वीसिय अर्थात् नाम व गोत्र कर्मोके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा हीन होता है। उसी समय नाम व गोत्रसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है। इसप्रकार मोहनीय, तीसिय, वीसिय और वेदनीयकर्मोका क्रम होता है।

विशेषार्थ—इस अल्पबहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनो ही कर्मोका स्थितिबन्ध एकबार मे ही विशेष घातको प्राप्तकर नाम व गोत्र कर्मोके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा हीन हो गया, क्योकि नाम व गोत्र इन दोनो अघातिया कर्मोका स्थितिबन्ध विशेष घातको प्राप्त नही होता। यद्यपि पहले इन तीनो घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध नाम व गोत्र कर्मोके स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा होता था। उस समय स्थितिबन्धका क्रम इसप्रकार हो जाता है—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनो कर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असख्यातगुणा, उससे नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा, उससे वेदनीय कर्मका स्थितिबन्ध द्वितीयभागमात्र विशेष अधिक है, क्योकि नाम व गोत्रकर्म वीसिया है और वेदनीयकर्म तीसिया है[1]।

आगे क्रम करणके अन्तमें असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा और उसका कारण बताते हैं—

तीदे बंधसहस्से पल्लासंखेज्जयं तु ठिदिबंधो ।
तत्थ असंखेज्जाणं उदीरणा समयपबद्धाणं ॥२३८॥

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २४६-२४८।

घातिकरण नही बन सकता ।

शङ्का—चार सज्वलन और पुरुषवेदके अनुभागबन्धका यहा पर देशघातिकरण क्यों नही कहा ?

समाधान—नही, क्योकि उनका अनुभागबन्ध पहले ही सयतासंयत गुणस्थानसे लेकर देशघाति द्विस्थानरूपसे प्रवर्तमान है अत· इस स्थलपर उनके देशघातिपनेके प्रति विसंवाद उपलब्ध नही होता ।

संसार अवस्थामे सर्वत्र क्षपकश्रेणि और उपशमश्रेणिमें देशघातीकरणके पूर्व सर्व जीव विवक्षित कर्मोके सर्वघाति अनुभागको ही बाधते है । इन कर्मोके देशघाति हो जाने पर भी मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प होता है । उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा होता है । उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है । उससे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है ।

अब चार गाथाओंमें अन्तरकरण का निरुपण करते हैं—

तो देसघादिकरणादुवरिं तु गदेसु तत्तियपदेसु ।
इगिवीसमोहणीयाणंतरकरणं करेदीदि ॥२४१॥

अर्थ—उपर्युक्त देशघातिकरणसे ऊपर उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थिति-बन्धोके व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मकी इक्कीस प्रकृतियोका अन्तरकरण करता है ।

विशेषार्थ—इस देशघातिकरणके पश्चात् इस अल्पबहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर अन्तरकरण करनेके लिये आरम्भ करता है । अप्रत्या-ख्य।न, प्रत्याख्यान, सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ इन बारह कषायोका तथा हास्य-रति, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद इन नव नोकषायोका अन्तरकरण करता है, अन्य कर्मोका अन्तरकरण नही करता ।

संजलणाणं एक्कं वेदाणेक्कं उदेदि तं दोण्हं ।
सेसाणं पढमट्ठिदि ठवेदि अंतोमुहुत्त आवलियं ॥२४२॥

अर्थ—सज्वलन कषायोंमें से जिस एक सज्वलनकषायके उदयसे तथा तीनो वेदोमें से जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उनकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है; शेष प्रकृतियोंकी आवलिमात्र प्रथमस्थिति होती है ।

अर्थ—सख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर मन पर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायका अनुभागबन्ध देशघाति होता है। पश्चात् सख्यातहजार स्थितिवन्ध व्यतीत होने पर अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तराय कर्मोका अनुभागवन्ध देशघाति हो जाता है। पुन इसीप्रकार श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तराय कर्मोंका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है। पुन. चक्षुदर्शनावरणीयकर्मका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है पुनरपि मतिज्ञानावरणीय और परिभोगान्तरायकर्मोका अनुभाग देशघाति हो जाता है पुनरपि वीर्यान्तिराय कर्मोका अनुभागवन्ध देशघाति हो जाता है, किन्तु स्थितिबन्ध पल्यके असख्यातवेभागप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त सन्धिके बाद जिस प्रत्येक स्थितिकाण्डकमे हजारो अनुभागकाण्डक गर्भित हैं ऐसे संख्यात स्थितिकाडकोके व्यतीत होनेपर मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायकर्मका अनुभाग बन्धकी अपेक्षा देशघाति हो जाता है, क्योकि उन कर्मोके सबसे मन्द परिणामरूप अनुभागबन्धका उसप्रकारसे परिणमन होनेमे विरोधका अभाव है। इन कर्मोका पहले जो अनुभागबन्ध सर्वघाति द्विस्थानरूपसे होता रहा है यहा वह एक बारमे सहकारी कारणरूप परिणाम विशेषको प्राप्तकर देशघाति द्विस्थानरूपसे परिणत हो गया है, परन्तु वहां सत्कर्मका अनुभाग तो सर्वघाति द्विस्थानरूप ही होता है, क्योकि उसका देशघातिकरण नही होता।

तत्पश्चात् सख्यात स्थितिबन्धोके व्यतीत होने पर अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तरायकर्मको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है। उसके बाद सख्यात स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तरायकर्मको वन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है। पश्चात् सख्यात स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर चक्षुदर्शनावरणीयको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है। तत्पश्चात् सख्यात स्थितिबन्धोके व्यतीत होने पर आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय और परिभोगान्तरायको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है। उसके बाद संख्यात स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर वीर्यान्तरायकर्मको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है।

शङ्का—इनके इस प्रकार देशघातिकरणका क्रमनियम किस कारणसे है ?

समाधान—ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि जो कर्म अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले हैं और जो कर्म अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले हैं उनका युगपत् देश-

अर्थ—अन्तरकरण करनेके प्रथम समयमें अन्य स्थितिबन्ध, अन्य स्थितिकाडक, अन्य अनुभागकाण्डक होता है। एक काण्डकोत्कीरणकालमें अन्तर कार्यकी समाप्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—जिस समय अन्तरकरण करनेका आरम्भ किया उसी समय पूर्वके स्थितिबन्ध, स्थितिकांडक और अनुभागकाडक समाप्त हो जानेके कारण अन्य स्थिति-बंधको असंख्यातगुणा हीनरूपसे बाधनेके लिए आरम्भ किया, अन्य स्थितिकाडक पल्योपमके संख्यातवे भागप्रमाणवाला ग्रहण किया और शेष अनुभागके अनन्त बहुभाग को ग्रहण किया। हजारों अनुभागकाण्डकोको भीतरकर होनेवाले स्थितिकाण्डककालके समान अंतरकरणका काल होता है। अतः एक स्थितिकांडकोत्कीरणकालके द्वारा अंतरको सम्पन्न करता है[1]।

अब तीन गाथाओं के द्वारा अन्तरकरण करने की विधि बतलाते हैं—

अंतरहेदुक्कीरिदद्व्वं तं अंतरम्हि ण य देदि।
बंधं ताणंतरजं बंधाणं विदियगे देदि ॥२४५॥
उदयिल्लाणंतरजं सगपढमे देदि बंधविदिये च।
उभयाणंतरद्व्वं पढमे विदिये च संछुहदि ॥२४६॥
अणुभयगाणंतरजं बंधं ताणं च विदियगे देदि।
एवं अंतरकरणं सिज्झदि अंतोमुहुत्तेण ॥२४७॥

अर्थ—अन्तरकरण करनेके लिए उत्कीरित द्रव्यको अन्तरायाममे नही देता है, किन्तु जो कर्मप्रकृति मात्र बधती ही है उनके उत्कीरित द्रव्यको द्वितीय स्थितिमें देता है। जो कर्मप्रकृतियां उदय प्राप्त है उनको प्रथमस्थितिमे देता है और द्वितीय स्थितिमें भी देता है। जिन कर्मप्रकृतियोका बध और उदय दोनो है उनके उत्कीरित द्रव्यको प्रथम और द्वितीय दोनो स्थितियोमे देता है। जिन कर्मप्रकृतियोका न तो वध होता है और न उदय है उन प्रकृतियोके उत्कीरित द्रव्यको द्वितीय स्थितिमें देता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अन्तरकरणकी सिद्धि (समाप्ति) होती है।

---

१. ज. ध. पु १३ पृ. २५५-५६।

विशेषार्थ—उदयरूप दोनो प्रकृतियो की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थितिको छोड़कर ऊपरकी कितनी ही स्थितियोको ग्रहणकर अन्तर करता है। अनुदयरूप दो वेदका उपशामनकाल तथा सात नोकषायोका उपशामनकाल, इन कालोका जितना योग होता है उतनी उदयरूप पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिका काल है, किन्तु उदयरूप कषायकी प्रथमस्थितिका काल इससे अधिक है। जिन प्रकृतियोंका उदय नही है उन प्रकृतियोकी उदयावलिप्रमाण स्थितियोको छोड़कर आवलि बाह्य स्थितियोको अन्तरके लिए ग्रहण करता है[1]।

उवरिं समं उक्कीरइ हेट्ठा विसमं तु मज्झिमपमाणं।
तदुपरि पढमठिदीदो संखेज्जगुणं हवे णियमा ॥२४३॥

अर्थ—अन्तरसे ऊपरकी सर्व प्रकृतियोके निषेक सदृश है, किन्तु अन्तरके नीचे उदय व अनुदयरूप प्रकृतियोकी प्रथमस्थितिके निषेक विषम है। प्रथमस्थिति और उपरिम स्थितिके मध्यका प्रमाण अर्थात् अन्तरायाम प्रथम स्थितिसे सख्यातगुणा है ऐसा नियम है।

विशेषार्थ—उदयरूप और अनुदयरूप सभी कषायो तथा नोकषायोके अतरकी अन्तिम स्थिति सदृश ही होती है, क्योकि द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकका सर्वत्र सदृशरूपसे अवस्थान देखा जाता है, इसलिए ऊपर अन्तर समस्थितिवाला है, किन्तु नीचे अन्तर विसदृश होता है, क्योकि अनुदयस्वरूप सभी प्रकृतियोके अन्तरके सदृश होने पर भी उदयस्वरूप अन्यतरवेद और अन्यतर सज्वलनकषायकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथम स्थितिसे परे अन्तर और प्रथमस्थितिका अवस्थान देखा जाता है। इसलिये प्रथम स्थितिके विसदृशपनेका आश्रयकर नीचे विषमस्थिति अन्तर होता है यह कहा है[2]।

अंतरपढमे अण्णो ठिदिबंधो ठिदिरसाण खंडो य।
एयट्ठिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरसमत्ती ॥२४४॥

---

1 ज ध पु १३ पृ २५३-५४, क पा सु. पृ ६८९।

2 अभिप्राय यह है कि उदीयमान की प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, परन्तु अनुदयस्वरूप दो वेद व ग्यारह कषायो की एक आवली प्रमाण प्रथम स्थिति होती है इसलिये इस प्रथम स्थितिके विषम होनेसे अधोभाग मे अन्तरमे विषमता आ जाती है।

स्थितिसम्बन्धी सर्व द्रव्य प्रथम और द्वितीय स्थितियोमे सक्रमित हो जाता है। इस विधिसे किये जाने वाले अन्तरको अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा निर्लेप कर दिया जाता है, यह सिद्ध हुआ[1]।

अन्तरकरण की निष्पत्ति के अनन्तर समयमें होने वाली क्रिया विशेष को बताते हैं—

सत्तकरणाणि यंतरकदपढमे होंति मोहणीयस्स।
इगिठाणिय बंधुदओ ठिदिबंधो संखवस्सं च ॥२४८॥
अणुपुव्वीसंकमणं लोहस्स असंकमं च संढस्स।
पढमोवसामकरणं छावलितीदेसुदीरणदा ॥२४९॥

अर्थ—अतर कर चुकनेके प्रथम समयमे मोहनीयकर्म सम्बन्धी सातप्रकारके करण प्रारम्भ होते है–मोहनीयकर्मका एक स्थानीय बध, एक स्थानोय उदय, मोहनीय-कर्मका सख्यातवर्षका स्थितिबध, मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसक्रम, सज्वलनलोभका असक्रम, नपुसकवेदकी उपशमक्रियाका प्रारम्भ, छह आवलियोके बीत जाने पर मोहनीयकर्मकी उदीरणा।

विशेषार्थ—अन्तर समाप्तिका जो काल है उसी समयसे ही ये सात करण प्रारम्भ हुए है[2]। उनमेसे मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसक्रम यह प्रथम करण है। यथा—स्त्रीवेद और नपुसकवेदके प्रदेशपुजको यहासे लेकर पुरुषवेदमे नियमसे सक्रान्त करता है। पुरुषवेद, छह नोकषाय तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यानके प्रदेशपुञ्जको क्रोध-संज्वलनमें सक्रमित करता है अन्य किसीमे नही। क्रोध सज्वलन और दोनो प्रकारके मान सम्बन्धी प्रदेशपुज को भी मान सज्वलन में नियमसे सक्रमित करता है, अन्य किसीमे नही। मानसज्वलन और दोनो प्रकारकी मायाके प्रदेशपुजको नियमसे माया-सज्वलनमे निक्षिप्त करता है तथा मायासज्वलन और दोनो प्रकारके लोभ सम्बन्धी प्रदेशपुजको नियमसे लोभसज्वलनमे निक्षिप्त करता है, यह आनुपूर्वीसक्रम है। पहले चारित्रमोहनीय प्रकृतियोका आनुपूर्वीके बिना प्रवृत्त होता हुआ सक्रम इस समय इस प्रतिनियत आनुपूर्वीसे प्रवृत्त होता है।

---

१. ज. ध. पु १३ पृ २५९-२६३।
२. ज. ध. पु. १३ पृ. २६३। क. पा. सु पृ ६९०; ध. पु ६ पृ. ३०२।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोका अन्तरकरण करनेके लिए अन्तरायामसे उत्कीरित द्रव्यको अन्तरायाममे नही देता है, किन्तु जो प्रकृतियां बन्ध-उदय की अपेक्षा उभयरूप हैं ऐसी पुरुषवेद व अन्यतर सज्वलनकषायकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोमे से उत्कीरण होने वाले प्रदेशपुञ्जको आगमके अनुसार अपनी प्रथम स्थिति मे निक्षिप्त करता है और आबाधाको छोडकर द्वितीयस्थितिमें भी निक्षिप्त करता है, किन्तु अन्तर सम्बन्धी स्थितियोमे निक्षिप्त नही करता, क्योकि उनके कर्मपुञ्जसे वे स्थितिया रिक्त होनेवाली हैं। जबतक अन्तर सम्बन्धी द्विचरमफाली है तबतक स्वस्थान मे भी अपकर्षण सम्बन्धी अतिस्थापनावलिको छोडकर अन्तर सम्बन्धी स्थितियोमे प्रवृत्त रहता है ऐसा कितने ही आचार्य व्याख्यान करते है। यह अर्थ सर्व विकल्पोमे जानकर वतलाना चाहिए। जो कर्म न बधते है और न वेदे जाते है ऐसी अप्रत्याख्याना-वरणादि आठकषाय और हास्यादि छह नोकषायके उत्कीरण होनेवाले प्रदेश पुञ्जको अपनी स्थितियोमे नही देता है, किन्तु बधनेवाली प्रकृतियोकी द्वितीय स्थितिमे बन्धके प्रथम निषेकसे लेकर उत्कर्षण द्वारा सीचता है। बधनेवाली और नही बधनेवाली जिन प्रकृतियोकी प्रथमस्थिति है उनमे यथासम्भव अपकर्षण परप्रकृति सक्रमद्वारा सीचता है, परन्तु स्वस्थान (अन्तरायाम) निक्षिप्त नही करता। जो कर्मप्रकृतियां बधती नही, किन्तु वेदी जाती हैं ऐसी स्त्रीवेद व नपुसकवेदरूप प्रकृतिकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोके प्रदेश पुजको ग्रहणकर अपनी-अपनी प्रथम स्थितिमे अपकर्षण संक्रमद्वारा देता है। उदयको प्राप्त सज्वलनकषायोंकी प्रथमस्थितिमें अपकर्षण-परप्रकृति सक्रमण द्वारा आगमानुसार निक्षिप्त करता है तथा वन्ध को द्वितीयस्थितिमें उत्कर्षणकर सिंचित करता है। जो कर्म केवल बधते ही हैं, वेदे नही जाते, ऐसे परोदयविवक्षामें पुरुषवेद और अन्यतरसज्वलनकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंमें से उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशपुंजका उत्कर्षणवश अपनी द्वितीयस्थितिमें सञ्चार विरुद्ध नही है। उदय सहित बंधनेवाली प्रकृतियोकी प्रथम और द्वितीय स्थितियोमे तथा अनुदयरूप बधनेवाली प्रकृतियोकी द्वितीयस्थितिमे सचार विरुद्ध नही है[1]।

इस क्रमसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण फालिरूपसे प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिद्वारा उत्कीर्ण होने वाला अन्तर अन्तिमफालिके उत्कीर्ण होनेपर अन्तरकरण करनेका कार्य समाप्त हो जाता है, क्योकि अन्तर सम्बन्धी अन्तिमफालिका पतन हो जानेपर अतर

१. ज. ध पु १३ पृ २६०।

लिए शक्य होते है। बन्ध समयसे लेकर जबतक पूरी छह आवलिया व्यतीत नहीं होती है तबतक उनकी उदीरणा होना शक्य नही है। जिस प्रकार अन्तरकरणके पूर्व सर्वत्र बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद बद्धकर्म उदीरणाके योग्य होता है यह नियम स्वभावसे प्रतिबद्ध है उसीप्रकार इस स्थल पर भी बन्धसमयसे लेकर छह आवलि व्यतीत होनेके बाद बद्धकर्म उदीरणाके योग्य होता है यह नियम स्वभावसे प्रतिबद्ध है[1]।

अन्तर किये जानेके पश्चात् प्रथम समयसे लेकर नपुंसकवेदका आयुक्त (प्रारम्भ) [2]करणद्वारा उपशामक होता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—यहा से लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक नपुंसकवेदका आयुक्त (उद्यत अथवा प्रारम्भ) क्रियाके द्वारा उपशामक होता है, शेष कर्मो को तो किंचिन्मात्र भी नहीं उपशमाता है, क्योकि उनकी उपशामनक्रियाका अभी भी प्रारम्भ नही हुआ है। इसप्रकार आयुक्त (उद्यत) क्रियाके द्वारा नपुंसकवेदके उपशमानेका आरम्भकर उपशमाता है[3]।

अब चारित्रमोहोपशमन का क्रम कहते हैं—

अंतरपढमादु कमे एक्केक्कं सत्त चदुसु तिय पयडिं।
सममुच सामदि णवकं समऊणावलिदुगं वज्जं ॥२५०॥
एयं णउंसयवेदं इत्थीवेदं तहेव एयं च।
सत्तेव णोकसाया कोहादितियं तु पयडीओ ॥२५१॥

अर्थ—अन्तर हो जानेके पश्चात् प्रथम समयसे एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेदको उपशमाते हैं। तत्पश्चात् पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमे स्त्रीवेदको उपशमाता है। पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें सात नोकषाय को, पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें तीन क्रोध को, पुन. एक अन्तर्मुहूर्तमे तीन मान को, पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमे तीन माया को, तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तद्वारा तीन लोभका उपशम करता है। वहा एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक प्रबद्धो को नहीं उपशमाता है।

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. २६५-२६७।

२ आयुक्त करण किसे कहते है? इसका उत्तर—आयुक्तकरण, उद्यतकरण और प्रारम्भकरण ये तीनो एकार्थक हैं। तात्पर्यरूप से यहा से लेकर नपुंसकवेदको उपशमाता है, यह इसका अर्थ है। (ज. ध. पु. १३ पृ. २७२)

३ ज ध. पु १३ पृ २७२।

लोभका असंक्रम यह दूसरा करण है। यहां गाथामें 'लोहस्स' ऐसा सामान्य निर्देश करने पर भी लोभसंज्वलनका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि व्याख्यानसे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा न्याय है। इसलिये पहले आनुपूर्वीके बिना लोभ-सज्वलनका भी शेष सज्वलन और पुरुषवेदमे प्रवृत्त होनेवाला सक्रम यहां आनुपूर्वी-सक्रमका प्रारम्भ होने पर प्रतिलोमसक्रमका अभाव होनेसे रुक गया। यहां से लेकर लोभसज्वलनका सक्रम नही ही होता, ऐसा ग्रहण करना चाहिये। यद्यपि आनुपूर्वी-सक्रमसे ही यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है तथापि मन्दबुद्धिजनोका अनुग्रह करनेके लिए पृथक् निर्देश किया, इसलिए पुनरुक्त दोष प्राप्त नही होता।

मोहनीयका एकस्थानीय बन्ध यह तीसरा करण है। इसका तात्पर्य—इससे पूर्व देशघाति द्विस्थानीयरूपसे मोहनीयका अनुभागबध होता रहा, अब परिणामोके माहात्म्यवश घटकर वह एक स्थानीय हो गया ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए। नपुंसकवेदका प्रथम समय उपशामक यह चौथा करण यहांपर आरम्भ हुआ है, क्योकि प्रथम आयुक्तकरण (उद्यतकरण) के द्वारा नपुंसकवेदकी ही उपशामनक्रियामें यहासे प्रवृत्ति देखी जाती है। छह आवलियोके जाने पर उदीरणा इस पाचवे करण को यहा आरम्भ करता है। मोहनीयका एक स्थानीय उदय यह छठा करण है। इसका अर्थ—पहले द्विस्थानीय देशघातिरूपसे प्रवृत्त हुआ मोहनीयकर्मका अनुभागउदय अन्तरकरणके अनन्तर ही एकस्थानीयरूपसे परिणत हो गया यह उक्त कथनका तात्पर्य है। 'मोहनीय-कर्मका सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध' यह सातवां करण है। इसका अर्थ—पहले मोहनीयकर्मका जो स्थितिबन्ध असख्यातवर्षप्रमाण होता रहा उसका इस समय काफी घटकर सख्यातहजार वर्षप्रमाणरूपसे अवस्थान होता है, परन्तु शेष कर्मोंका असख्यात वर्षप्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, क्योकि उनका अभी भी सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध प्रारम्भ नही हुआ है। इसप्रकार इन सातो करणोका अन्तरकर चुकनेके प्रथम समयसे ही युगपत् प्रारम्भ होता है।

छह आवलियोके व्यतीत होनेपर उदीरणा होती है, इस करणका विशेष कथन इसप्रकार है—जैसे पहले सर्वत्र ही समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद ही नियमसे उदीरणाके लिए शक्य रहता आया है उसप्रकार यहां शक्य नही है, किन्तु अन्तर किये जानेके प्रथम समयसे लेकर जो कर्मबंधते है मोहनीय या मोहनीयके अति-रिक्त अन्य ज्ञानावरणादिक वे कर्म छह आवलियोके व्यतीत होनेके बाद उदीरणाके

उदीरणा और उदयादिरूप द्रव्यके अल्पबहुत्वका निदश करनेके लिए अगली गाथा कहते हैं—

संढादिमउवसमगे इट्ठस्स उदीरणा य उदओ य ।
संढादो संकमिदं उवसमियमसंखगुणियकमा ॥२५३॥

अर्थ—नपुंसकवेदके उपशम सम्बन्धी प्रथम समयमें उदय प्राप्त अन्य प्रकृतियों का उदीरणा द्रव्य, उन्हीका उदयरूप द्रव्य, नपुसकवेदका अन्य प्रकृतियोमे सक्रमित होनेवाला द्रव्य और नपुसकवेदका उपशमित होनेवाला द्रव्य क्रमशः असख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे 'इट्ठस' शब्दके द्वारा नपुंसकवेदके अतिरिक्त अन्य सब उदयरूप प्रकृतियोका ग्रहण होता है। प्रथम समयमे नपुंसकवेदके उपशामक जीवके द्वारा वेदी जाने वाली प्रकृतियोका उदीरणा द्रव्य असख्यात समयप्रबद्धप्रमाण होनेपर भी आगे कहे जानेवाले पदोकी अपेक्षा स्तोक है। वेदी जानेवाली सभी प्रकृतियोके उदीरणा सम्बन्धी द्रव्यसे उदय सम्बन्धी द्रव्य असख्यातगुणा है, क्योकि अन्तर्मुहूर्तकाल-प्रमाण सञ्चित गुणश्रेणिके गोपुच्छाके माहात्म्यसे इसका निर्णय होता है कि प्रकृतमें उदीरणाके द्रव्यसे उदयका द्रव्य असख्यातगुणा है। उदय द्रव्यसे नपुंसकवेदका अन्य प्रकृतियोंमें सक्रमित होनेवाला प्रदेशपुंज (द्रव्य) असंख्यातगुणा है, क्योकि अपकर्षण सम्बन्धी द्रव्यके असखयातवेभागसे प्रतिबद्ध उदय सम्बन्धी द्रव्य है, किन्तु यह पर प्रकृतियोमे सक्रमित होनेवाला द्रव्य गुणसक्रमणरूप है। इसलिए असख्यातगुणा है। इसका भी कारण यह है कि गुणसक्रम सम्बन्धी भागहारसे अपकर्षण सम्बन्धी भागहार असख्यातगुणा होता है। सक्रमित होनेवाले प्रदेशपुंजसे नपुंसकवेदका उपशमित होने वाला प्रदेशपुज (द्रव्य) असख्यातगुणा है, क्योकि उस समय शेष प्रकृतियोके उपशमित होने वाले प्रदेशपुंजका अभाव है। गुणसक्रमण सम्बन्धी भागहारसे असख्यातगुणे हीन भागहारके द्वारा भाजित करने पर जो एक भाग लब्ध प्राप्त हो उतना उपशमित होने वाला प्रदेशपुज है इसलिए सक्रमित होने वाले द्रव्यसे असख्यातगुणा सिद्ध होगा। जिसप्रकार नपुसकवेदके उपशामकके प्रथम समयमे यह अल्पबहुत्व है, उसीप्रकार द्वितीयादि समयोमे भी जानना चाहिए[1]।

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. २७३–७४।

विशेषार्थ—अन्तरकरण कर चुकनेके पश्चात् अनन्तर प्रथम समयमें नपुंसकवेदको उपशमानेकी क्रिया प्रारम्भ कर एक अन्तर्मुहूर्तकालमें नपुंसकवेदको उपशमा देता है। तत्पश्चात् दूसरे अन्तर्मुहूर्तमे स्त्रीवेद को उपशमाता है। पुन. तीसरे अन्तर्मुहूर्तमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पुरुपवेद इन सात नोकपायका उपशम करता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानक्रोध, प्रत्याख्यानक्रोध और सज्वलनक्रोधको अन्तर्मुहूर्तकालद्वारा उपशान्त करता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तकालमे अप्रत्याख्यानमान, प्रत्याख्यानमान व सज्वलनमानका उपशम करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालद्वारा अप्रत्याख्यानमाया, प्रत्याख्यानमाया व सज्वलनमायाका उपशम करता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकालमे अप्रत्याख्यानलोभ, प्रत्याख्यानलोभ और सज्वलनलोभको उपशान्त करता है। इसप्रकार क्रमश सात अन्तर्मुहूर्तकालमे चारित्र मोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोका प्रशस्त उपशम करता है।

आगे सवप्रथम नपुंसकवेदके उपशमका विधान करते हैं—

अंतरकदपढमादो पडिसमयमसंखगुणविहाणकमे।
णुवसामेदि हु संडं उवसंतं जाण ण च अराणं ॥२५२॥

अर्थ—अन्तर किये जानेके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रम विधानसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको उपशमाता है, अन्य कर्मोको नही उपशमाता।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् अनन्तर समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक आयुक्त (उद्यत) करणद्वारा नपुंसकवेदका उपशामक होता है, शेष कर्मोको तो किंचिन्मात्र भी नही उपशमाता, क्योकि उनकी उपशामनक्रियाका अभी भी प्रारम्भ नही हुआ है। इसप्रकार आयुक्तक्रियाके द्वारा नपुंसकवेदके उपशमको प्रारम्भकर उपशमित करता हुआ प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुञ्जको उपशान्त करता है। प्रथमसमयमे जिस प्रदेशपुञ्जको उपशमाता है वह स्तोक है। दूसरे समयमे उससे असख्यातगुणे प्रदेशपुंजको उपशमाता है। इसप्रकार नपुंसकवेदके उपशान्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाता है, क्योकि प्रतिसमय कारणभूत परिणामोकी वृद्धिके माहात्म्यवश प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको उपशमाता है[1]।

---

१ ज. ध. पु. १३ पृ. २७२–७३।

इसलिए तब उसका स्थितिघात प्राप्त होता है। इसी मान्यतामें नपुसकवेदकी स्थितिसे स्त्रीवेदको स्थितिका अधिक घात होनेके कारण स्त्रीवेदकी स्थितिसे नपुसकवेदकी स्थिति सख्यातगुणी हीन होनेका प्रसग आता है। इसी प्रकार स्त्रीवेदके (उपशमनके समय उससे) पश्चात् क्रमश· उपशमाई जानेवाली सात नोकषाय व बारहकषायोकी स्थिति भी स्त्रीवेदकी स्थितिसे सख्यातगुणी-सख्यातगुणी हीन होनेका प्रसग प्राप्त होगा, किन्तु यह इष्ट नही है, क्योंकि उपशान्त अवस्थामे बारहकषाय और नौ नोकषायकी स्थिति सदृश ही होती है, ऐसा परमगुरुके उपदेशसे सिद्ध है। इसलिए अन्तरकरण सम्पन्न होने पर मोहनीयकर्मका स्थितिघात और अनुभागघात नही होता[1]।

पहले जो स्थितिबन्धका प्रमाण असख्यातगुणा हीनरूपसे प्रारम्भ था, अन्तरकरणकी समाप्तिके कालमें ही उस स्थितिबन्धके सख्यातवर्षप्रमाण हो जाने पर अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा एक स्थितिबन्धको निवृत्तकर अन्य स्थितिबन्धको सख्यातगुणा हीन करके आरम्भ करता है। यह मोहनीयकर्म सम्बन्धी बन्धापसरणोकी विधि है। मोहनीयकर्मके अतिरिक्त शेषकर्मोके प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबध असंख्यातगुणा हीन होता है[2]।

अब स्थितिबन्धापसरणके प्रमाणका निर्देश करते हैं—

वस्साणं बत्तीसादुवरिं अंतोमुहुत्तपरिमाणं।
ठिदिबंधाणोसरणं अवरट्ठिदिबंधणं जाव ॥२५६॥

अर्थ—सज्वलनकषायका स्थितिबन्ध बत्तीस वर्षप्रमाण हो जानेपर प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाणवाला होने लगता है। जबतक जघन्य स्थितिबन्ध हो तबतक स्थितिबन्धापसरण अन्तर्मुहूर्त प्रमाणवाला होता है।

विशेषार्थ—सवेदी जीवके अन्तिम समयमें सज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण बत्तीस वर्षप्रमाण होता है। उस स्थितिबन्धका वही पर्यवसान होता है। इसलिए उस स्थितिबन्धके समाप्त होनेपर अपगतवेदी जीव अवेदभागके प्रथम समयमें अन्तर्मुहूर्तकम बत्तीसवर्षका स्थितिबन्ध आरम्भ करता है, क्योकि यहासे लेकर संज्वलन कषायोके स्थितिबन्धका उत्तरोत्तर अपसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है, परन्तु शेष

---

१. ज ध पु. १३ पृ २७५-२७७।
२. ज ध. पु १३ पृ २७५।

यहीं स्थितिकांडकादिके अभावका निर्देश करते हैं—

अंतरकरणादुवरिं ठिदिरसखंडा ण मोहणीयस्स ।
ठिदिबंधोसरणं पुण संखेज्जगुणेण हीणकमं ॥२५४॥
जत्तोपाये होदि हु ठिदिबंधो संखवस्समेत्तं तु ।
तत्तो संखगुणूणं बंधोसरणं तु पयडीणं ॥२५५॥

अर्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् मोहनीयकर्मका स्थितिकाडकघात व अनुभागकाण्डकघात नही होते, किन्तु स्थितिवन्धापसरण क्रमश· सख्यातगुणे हीन होते है । जव से मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध सख्यातवर्ष मात्र होता है तवसे सव प्रकृतियोका स्थितिवन्धापसरण सख्यातगुणा हीन होता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करके नपु सकवेदकी उपशामना प्रारम्भ होनेपर मोहनीयकर्मके स्थितिघात व अनुभागघात नही होते । नपु सकवेदको उपशमानेवाला प्रथमसमयमे सर्व स्थितियोमे स्थित प्रदेशपु जके असख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यको उपशमाता है । इसप्रकार उपशमाकर यदि स्थिति और अनुभागका घात करता है तो उपशमित किये गए प्रदेशपु जका भी स्थितिघात और अनुभागघात प्राप्त होता है, क्योकि उपशमित किये गये प्रदेशपु जको छोडकर शेषके भी घातका कोई उपाय नही पाया जाता । उपशमाए गये प्रदेशपु जका घात सम्भव नही है, क्योकि प्रशस्त उपशामना द्वारा उपशमित किये गये प्रदेशपु जका अपनी स्थिति और अनुभागमे परिवर्तन नही होता । इसप्रकार प्रथम स्थितिकाडकके कालके भीतर प्रतिसमय उपशमित किये गये प्रदेशपु ज के स्थितिघात और अनुभागघातका अतिप्रसग प्राप्त होता है । इसीप्रकार दूसरे स्थिति-काडककालमे उपशमित किये गये द्रव्यके घातका प्रसग प्राप्त होता है । नपु सकवेदको उपशमाकर स्त्रीवेदको उपशमानेवाला यदि नपु सकवेदका स्थितिकांडकघात और अनु-भागकाण्डकघात करता है तो उपशामना निरर्थक प्रसक्त होती है ।

यदि उपशमाई जाने वाली या उपशान्त हुई प्रकृतियोका काण्डकघात नही होता, शेष नही उपशमित की गईं मोहनीयकर्मप्रकृतियोका काण्डकघात होता है ऐसा माना जावे तो नपु सकवेदकी स्थितिसे स्त्रीवेदकी स्थिति सख्यातगुणी हीन प्राप्त होती है, क्योकि नपु सकवेदके उपशमाने सम्बन्धी कालके भीतर उपशमित किये जानेवाले नपु सकवेदका तो स्थितिघात होता नही, किन्तु स्त्रीवेद बादमें उपशमाया जाता है,

अपूर्व अनुभागकांडक प्रारम्भ करता है, परन्तु मोहनीयकर्मका यहां स्थितिघात और अनुभागघात नही है। ज्ञानावरणादिकर्मोके असख्यातगुण हानिरूपसे और बधनेवाली मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोका सख्यातगुण हानिरूपसे अन्य स्थितिबन्ध प्रारम्भ होता है। जिसप्रकार असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुसकवेदको उपशमाया है उसीप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे स्त्रीवेदको उपशमित करता है[1]।

अथानन्तर स्त्रीवेदके उपशमन कालमें होने वाले कार्य विशेष को बताते हैं-

थीयद्धा संखेज्जदिभागेपगदे तिघादिठिदिबंधो।
संखतुवं रसबंधो केवलणाणेगठाणं तु ॥२५६॥

अर्थ—स्त्रीवेदके उपशानेके कालके सख्यातवे भाग व्यतीत हो जाने पर तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातवर्ष प्रमाण होता है और केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरणके अतिरिक्त तीन घातिया कर्मोकी शेष प्रकृतियोका अनुभागबन्ध एक स्थानीय (लता रूप) होता है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदके उपशमानेके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालका सख्यातवांभाग व्यतीत हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका स्थितिबन्ध असख्यातवर्षसे घटकर संख्यात हजार वर्षप्रमाण हो जाता है, परन्तु तीन अघातिया कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातवर्षप्रमाण नही होता, क्योकि घातिया कर्मोके बहुत अधिक स्थितिबन्धापसरणके समान अघातिया कर्मोका बहुत अधिक स्थितिबंधापसरण सम्भव नही है।

जिस समय इन तीन घातियाकर्मोका सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ हुआ उसी समय केवलज्ञानावरणको छोड़कर ज्ञानावरणकी शेष चार प्रकृतियोका, केवलदर्शनावरणके बिना दर्शनावरण की चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मकी सभी पाचो प्रकृतियोका अनुभागबन्ध देशघातिरूप द्विस्थानीयसे घटकर लतारूप एक स्थानीय होने लगता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ होने पर असख्यातगुणी हानि होना असम्भव है। अतः जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह अपने से पूर्व स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा हीन

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २७८-७९।

कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातगुणे हीन क्रमसे बन्धको प्राप्त होता हुआ सख्यातहजार वर्षप्रमाण जानना चाहिए[1] ।

अब स्थितिबन्धापसरण सम्बन्धी विशेष कथन करते हैं—

ठिदिबंधाणोसरणं एयं समयप्पबद्धमहिकिच्चा ।
उत्तं णाणादो पुण ण च उत्तं अणुवत्तीदो ॥२५७॥

अर्थ—एक समयमे जितना स्थितिबन्ध कम होता है उतना स्थितिबधापसरण का प्रमाण कहा गया है । एक स्थितिबन्धापसरण कालतक वही प्रमाण रहता है, क्योकि प्रत्येक समयमे नाना स्थितिबधापसरणकी अप्राप्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व एक स्थितिबन्धापसरणकाल ये दोनो तुल्य होते हुए अन्तर्मुहूर्तप्रमाण हैं । स्थितिबन्धापसरणके प्रथम समयमे जितनी स्थिति कम होकर स्थितबन्ध होता है, अन्तर्मुहूर्तकालतक प्रत्येक समयमे उतना ही स्थितिबन्ध होता रहता है । इसीलिए एक स्थितिबन्धापसरण कालमे नानापनेकी अनुपपत्ति कही गई है ।

नपुंसकवेदकी उपशामना के पश्चात् स्त्रीवेदकी उपशम क्रिया का कथन आगे की गाथामें करते हैं—

एवं संखेज्जेसु ट्ठिदिबंधसहस्सगेसु तीदेसु ।
संढुव समदेतत्तो इत्थिं च तहेव उवसमदि ॥२५८॥

अर्थ—इसप्रकार सख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने पर अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम होता है । तत्पश्चात् उसीप्रकार नपुंसकवेदके उपशम सदृश अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा स्त्रीवेदका उपशम करता है ।

विशेषार्थ—नपुंसकवेद प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाया जाता हुआ क्रमसे उपशान्त होता है । इसप्रकार सख्यातहजार स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर नपुंसकवेदको उपशमितकर तदनन्तर समयसे लेकर स्त्रीवेदका उपशम आरम्भ करता है । उसीसमय मोहनीयकर्मके अतिरिक्त शेष कर्मोके पहले आरम्भ किये गये स्थिति-काण्डक और अनुभागकाण्डकोकी समाप्ति हो जानेके कारण अपूर्व स्थितिकाण्डक और

१. ज ध.पु १३ पृ २८९-२९० ।

स्थितिबन्ध तो सातों ही कर्मोका होता है। सख्यात हजार स्थितिबन्धोंके होने पर सात नोकषायोके उपशामना कालका सख्यातवाभाग व्यतीत होता है। तत्पश्चात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोका स्थितिबन्ध असख्यातवर्षसे घटकर एकबारमें संख्यातवर्ष प्रमाण हो जाता है। अब सभी कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातवर्ष प्रमाण होता है। इस स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मोका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबध सख्यातगुणा है, उससे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है। इससे आगे प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर सख्यातगुणा हीन अन्य स्थितिबन्धका आरम्भ करता है। इस क्रमसे हजारो स्थितिबन्धो के व्यतीत होने पर पुरुषवेदकी प्रथम स्थितिके अन्तिम समयमे सात नोकषाय सर्वात्मना उपशान्त हो जाते है। इतनी विशेषता है कि पुरुष-वेदके एकसमय कम दो आवलिप्रमाण समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहते है, क्योकि जो अन्तिम आवलिमे बधे है उनका बन्धावलिकाल अभी व्यतीत नही हुआ और जो एक समयकम द्विचरमावलिमे बधे है उनका उपशमनावलिकाल अभी पूर्ण नही हुआ[1]।

द्विचरमावलिके प्रथमसमयमे जो समयप्रबद्ध बधा था सो बधावलि बीत जाने पर चरमावलिके प्रथम समयसे लगाकर प्रत्येक समयमें एक-एक फालिके उपशमन द्वारा चरमावलिके अन्तिमसमय तक सर्वद्रव्य उपशमन हो जाता है। द्विचरमावलिके द्वितीय समयमे जो कर्मबन्ध हुआ था उसकी बन्धावलि, चरमावलिके प्रथम समयतक रहती है। अत' चरमावलिके द्वितीय समयसे लगाकर प्रतिसमय एक-एक फालिके उपशमन द्वारा चरमावलिके अन्त समय पर्यन्त अन्य फालि तो उपशान्त हो जाती है, किन्तु एक फालि शेष रह जाती है। इसीप्रकार द्विचरमावलिके तृतीयादि समयोमे बधे कर्मोकी बंधावलि बीत जाने पर चरमावलिके तृतीय आदि समयोसे लगाकर अन्तिम समय पर्यन्त अन्य फालिया तो उपशमित होती है, किन्तु क्रमशः दो-तीन-चार आदि फालिया नही उपशमित होती है। द्विचरमावलिके अन्तिम समयमें बधे समयप्रबद्धकी एक फालि उपशमित होती है, शेष फालियां नही उपशमती। इसप्रकार द्विचरमावलि का एकसमयकम आवलिप्रमाण और चरमावलिका सम्पूर्ण आवलिप्रमाण द्रव्य पुरुष-वेदकी प्रथमस्थितिके अन्तिम समयमें अनुपशान्त रहता है।

---

१. ज. ध. पु १३ पृ. २८२-२८५।

होता है, परन्तु नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोका अभी भी संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध प्रारम्भ नही हुआ, इसलिए उनका असख्यातगुणा हीन ही स्थितिबन्ध प्रवृत्त रहता है। इन स्थितिबन्धोका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तरायका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। उससे नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, उससे वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेषाधिक है। इसक्रम से सख्यात हजार स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर स्त्रीवेद उपशमित हो जाता है[1]।

अब सात नो कषायोंकी उपशामना एवं क्रियाविशेष सम्बन्धो कथन तीन गाथाओं के द्वारा करते हैं—

थीउवसमिदाणंतरसमयादो सत्त णोकसायाणं।
उवसमगो तस्सद्धा संखेज्जदिमे गदे तत्तो ॥२६०॥
णामदुग वेयणियट्ठिदिबंधो संखवस्सयं होदि।
एवं सत्तकसाया उवसंता सेसभागंते ॥२६१॥
णवरि य पुंवेदस्स य णवकं समऊणदोण्णिआवलियं।
मुच्चा सेसं सव्वं उवसंतं होदि तच्चरिमे ॥२६२॥

अर्थ—स्त्रीवेदके उपशान्त होनेपर सात नोकषाय का उपशामक होता है। सात नोकषायसम्बन्धी उपशामना कालके सख्यातवे भाग बीत जानेपर नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मोका सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार शेषभागके अन्त समयमे सात नोकषाय उपशान्त हो जाती है, किन्तु पुरुषवेदके एक समयकम दो आवलिमात्र नवकसमयप्रबद्धको छोड अवशेष सबको उपशमाता है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदके उपशान्त होनेपर अन्य स्थितिकाडक और अन्य अनुभागकाण्डक तथा अन्य स्थितिबन्ध होता है। विशेष यह है कि स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डक तो मोहनीयकर्मको छोडकर शेष कर्मोका होता है, क्योकि इस स्थल पर मोहनीयकर्मका स्थितिघात व अनुभागघात युक्ति व सूत्र दोनोसे निषिद्ध है, किन्तु

१. ज ध. पु. १३ पृ. २८०-८२।

लेकर सद्भावके अन्तिम समयमे उसके अभावका विधान गाथामे किया गया है। उत्पादानुच्छेदके अनुसार विवक्षित वस्तुके सद्भावका जो अन्तिम समय है उस समयमे ही उसके अभावका प्रतिपादन किया जाता है। वहासे लेकर पुरुषवेदकी गुणश्रेणी भी नही होती। प्रत्यावलिमे से ही असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा होती है[1]।

हास्यादि छह नो कषायोंका द्रव्य पुरुषवेदमें सक्रान्त नहीं होता इसका कथन आगे की गाथामें करते हैं—

अंतरकदादु छणोकसायदव्वं ण पुरिसगे देदि।
एदि हु संजलणस्स य कोधे अणुपुव्विसंकमदो ॥२६५॥

अर्थ—अन्तर करनेके पश्चात् हास्यादि छह नोकषायोका द्रव्य पुरुषवेदमे सक्रमित नही होता, सज्वलनक्रोधमे ही सक्रमित होता है, क्योकि यहा आनुपूर्वी सक्रमण पाया जाता है।

पुरुषवेदके नवक बन्ध सम्बन्धी उपशमका विधान कहते हैं—

पुरिसस्स उत्तणवकं असंखगुणियक्कमेण उवसमदि।
संकमदि हु हीणकमेणधापवत्तेण हारेण ॥२६६॥

अर्थ—पुरुषवेदके उक्त (गाथा २६२) नवक समयप्रबद्ध द्रव्यको असख्यात-गुणी श्रेणिके क्रमसे उपशमाता है, परन्तु पर प्रकृतिमे अध प्रवृत्त सक्रम द्वारा हीन क्रमसे सक्रमाता है।

विशेषार्थ—अन्तिम समयवर्ती सवेदी जीवके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है (गा. २६२)। अवेदभागके प्रथम समयमे दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है, क्योकि अन्तिम आवलिका सपूर्ण नवकबन्ध तथा द्विचरमावलिका दो समयकम आवलिप्रमाण नवकबन्ध अनुपशान्त रहता है कारणकि नवक समयप्रबद्धका बन्धावलिके पश्चात् उपशमनकाल एक आवलिप्रमाण होता है। यहा पर प्रत्येक समयमे उनके प्रदेशपुञ्जको असख्यातगुणी श्रेणिसे क्रमसे उपशमाता है। उनके प्रदेशपुञ्जको केवल स्वस्थानमे नही उपशमाता, किन्तु पर प्रकृतिमे अध.प्रवृत्त सक्रमके द्वारा हीन क्रमसे सक्रमाता है। वन्ध रुक जाने पर गुण-

---

1. ज ध. पु. १३ पृ. २८५-८६।

आगे पुरुषवेदके उपशमनकालके अन्तिम समयमें स्थितिबन्धके प्रमाणकी प्ररूपणा करते हैं—

तच्चरिमे पुंबंधो सोलसवस्साणि संजलणगाण।
तद्दुगाणं सेसाणं संखेज्जसहस्सवस्साणि ॥२६३॥

अर्थ—सवेद भागके अन्तिम समयमें पुरुषवेदका स्थितिबन्ध सोलह वर्षप्रमाण होता है और उससे दुगुणा अर्थात् (१६×२) ३२ वर्षप्रमाण सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध होता है। शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—पहले इन कर्मोका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता था। उससे संख्यातगुणी हानिरूपसे घटकर सवेदभागके चरम समयमें पुरुषवेद और चार सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध क्रमशः १६ वर्ष व ३२ वर्ष हो गया, शेष कर्मोका तो अभी भी सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है[1]।

अब पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दो आवलि शेष रहनेपर होनेवाली क्रियान्तरका प्रतिपादन करते हैं—

पुरिसस्स य पढमठिदी आवलिदोसुवरिदासु आगाला।
पडिआगाला छिण्णा पडियावलियादुदीरणदा ॥२६४॥

अर्थ—पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दो आवलि शेष रहने पर आगाल और प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है। प्रत्यावलिमे से ही उदीरणा होती है।

विशेषार्थ—प्रथम और द्वितीय स्थितिके प्रदेशपुंजोके उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषयसक्रमणको आगाल-प्रत्यागाल कहते है। द्वितीय स्थितिके प्रदेशपुंजका प्रथम स्थितिमे आना आगाल है तथा प्रथमस्थितिके प्रदेशपुंजका प्रतिलोमरूपसे द्वितीय स्थितिमे जाना प्रत्यागाल है। पुरुषवेदकी प्रथम स्थितिमे एकसमय अधिक दो-आवलि शेष रहने तक आगाल-प्रत्यागाल होता है। आवलि और प्रत्यावलि शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते है अथवा परिपूर्ण आवलि और प्रत्यावलि शेष रहनेतक आगाल-प्रत्यागाल होकर पुन. तदनन्तर समयमे एक समयकम दो आवलि शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते है, क्योकि उत्पादानुच्छेदका आश्रय

1. ज. ध. पु. १३ पु. २८५।

लिए उस स्थितिबन्धके समाप्त होने पर अपगतवेदी जीव अवेदभागके प्रथम समयमे अन्य स्थितिबन्धको प्रारम्भ करता हुआ सज्वलनोके पूर्वके स्थितिबन्धसे अन्तर्मुहूर्तकम स्थितिबन्धको आरम्भ करता है, क्योकि यहासे लेकर सज्वलनोके स्थितिबन्धका उत्तरोत्तर अपसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है, परन्तु शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातगुणी हानिके क्रमसे बन्धको प्राप्त होता हुआ संख्यातहजार वर्षप्रमाण जानना चाहिए[२]।

अपगतवेदीके अन्य भी कार्य दो गाथाओंमें कहते हैं—

पढमावेदो तिविहं कोहे उवसमदि पुव्वपढमठिदी ।
समयाहिय आवलियं जाव य तक्कालठिदिबंधो ॥२६८॥
संजलणचउक्काणं मासचउक्कं तु सेसपयडीणं ।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति णियमेण ॥२६९॥

अर्थ—प्रथम समयवर्ती अपगतवेदी जीव तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाता है। इनकी वही पुरानी प्रथमस्थिति होती है। (पूर्वस्थितिमें) जब समय अधिक आवलीकाल शेष रह जाता है, उस समय स्थितिबन्ध नियमसे सज्वलन चतुष्कका चार मास और शेष कर्मोका सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है।

विशेषार्थ—पुरुषवेदके पुरातन सत्कर्म उपशान्त होने पर उसके नवकबन्धको यथोक्त क्रमसे उपशमाता हुआ उस अवस्थामे ही तीनप्रकारके क्रोधको यहासे उपशमाना आरम्भ करता है।

पूर्वमे अन्तर करते समय पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिसे विशेष अधिक संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थिति स्थापित की थी, गलित होने से जितनी शेप वची वही यहां र प्रवृत्त रहती है। जिस प्रकार आगे मानादिककी उपशामना करते समय सवेदकके कालसे एक आवलि अधिक अपूर्व प्रथम स्थिति की जाती है उसप्रकार यहा पर तीन प्रकारके क्रोधको उपशमानेके लिए अपूर्व प्रथमस्थिति नही की जाती, किन्तु रची ॰ ॰ वही पुरातन प्रथमस्थिति तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाने तक विना प्रतिवन्धके वृत्त रहती है। प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त हीन होता है शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है।

---

२. क. पा. सुत्त पृ ६९७-९८; ज. ध. पु १३ पृ. २८९-२९०।

सक्रमको छोडकर अध'प्रवृत्तसक्रम कैसे सम्भव है, ऐसी आशंका नही करना चाहिए, क्योकि वन्धके उपरत हो जाने पर भी तीन सज्वलनकषाय और पुरुषवेदके नवकबधका अध प्रवृत्तसक्रम होता है।

अवेद भागके प्रथम समयमे बहुत प्रदेशपुंजको संक्रमाता है, तदनन्तर समयमें विशेष हीन प्रदेशपुंजको सक्रमाता है, क्योकि बन्धावलि व्यतीत होनेके बाद विवक्षित समयप्रबद्धको अधप्रवृत्त भागहारसे भाजितकर जो एकभाग प्राप्त हो उसे प्रथम समयमें सक्रमित करता है। पुन दूसरे समयमे जो कि प्रथम समयमे अपने द्रव्यका असंख्यातवां-भाग उपशान्त और सक्रमित हो गया है, उससे हीन शेष उसी समयप्रबद्धको अध प्रवृत्त भागहारके द्वारा भाजितकर जो एक भाग प्राप्त हो उसे सक्रमित करता है। इसकारण से प्रत्येक समयमे विशेषहीन ही प्रदेशपुज सक्रमित होता हुआ जानना चाहिए। यह क्रम एक समयप्रबद्धका ही है।

चार प्रकारकी वृद्धि और हानिरूपसे परिणत हुए योगोके द्वारा बन्धको प्राप्त हुए नाना समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत हो जाने पर सक्रमभावके योग्य होकर पूर्वके योगके अनुसार ही सक्रमित होते हैं इसलिए वहा विशेष हानिरूपसे सक्रमका नियम नही है, किन्तु सख्यातवे और असख्यातवे भागरूपसे कदाचित् विशेषहीन और कदाचित् विशेष अधिक तथा कदाचित् सख्यातगुणा हीन एव कदाचित् सख्यातगुणा, कदाचित् असख्यातगुणा हीन, कदाचित् असख्यातगुणा नाना समयप्रबद्ध सम्वन्धी सक्रमद्रव्य होता है। अत एक समयप्रबद्धसे सम्वन्धित प्रदेशपुज ही विशेषहीन होकर सक्रमित किया जाता है[1]।

आगे अवगतवेदके प्रथम समयमें स्थिति बन्ध सम्बन्धी कथन करते हैं—

पढमावेदे संजलणाणं अंतोमुहुत्तपरिहीणं ।
वस्साणं बत्तीसं संखसहस्सियरगाणठिदिबंधो ॥२६७॥

अर्थ—अपगतवेदके प्रथम समयमे चार सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम वत्तीस वर्षप्रमाण और शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यात हजारवर्ष है।

विशेषार्थ—सवेदी जीवके अन्तिम समयमे सज्वलनोका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण ३२ वर्षप्रमाण होता है, क्योकि उस स्थितिबन्धका वही पर्यवसान हो जाता है। इस-

१. ज ध पु १३ पृ २८७-२८९।

सज्वलनमें संक्रमण करता है।

विशेषार्थ—गाथामें जो दो प्रकारका क्रोध कहा है उससे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणक्रोधका ग्रहण होता है, क्योंकि अन्यप्रकार सम्भव नही है। ये दोनो क्रोध संज्वलनक्रोधमें गुणसंक्रमणके द्वारा तबतक सक्रमित होते है, जब तक सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थिति तीन आवलिप्रमाण शेष रहती है, क्योंकि इस अवस्थाके भीतर उसमें उन दोनोके सक्रमित होनेमें विरोधका अभाव है। संक्रमणावलिरूपसे प्रथमावलिको व्यतीतकर पुन: दूसरी आवलिके प्रथम समयसे उपशमनावलि कालके द्वारा उस द्रव्यको उपशमाता है। अत तीसरी आवलिको उच्छिष्टावलिरूप से छोड़ देता है इस कारणसे तीन आवलिया शेप रहने तक सज्वलनक्रोधमे दो प्रकारके क्रोधका सक्रम विरोधको नही प्राप्त होता।

क्रोधसज्वलनकी प्रथमस्थितिमें परिपूर्ण तीन आवलियोका अभाव होनेपर अर्थात् एक समयकम तीन आवलियोके शेष रहनेपर दो प्रकारके क्रोधका सज्वलनक्रोध मे सक्रम नही होता, किन्तु मानसज्वलनमे सक्रम होता है, क्योकि दूसराप्रकार सम्भव नही है[1]।

उपशमनावलीके अन्तिम समयमें होने वाले क्रिया विशेषका कथन करते हैं—

कोहस्स पढमठिदी आवलिसेसे तिकोहमुवसंतं ।
ण य णवकं तत्थंतिमबंधुदया होंति कोहस्स ॥२७१॥

अर्थ—सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिमे एक आवलि शेप रहनेपर तीनो प्रकार का क्रोध उपशान्त हो जाता है, किन्तु नवक समयप्रबद्ध उपशान्त नही हुआ उस समय सज्वलनक्रोधका अन्तिम बन्ध व उदय होता है।

विशेषार्थ—प्रत्यावलिके उदयावलिमे प्रविष्ट हो जाने पर सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थिति आवलिमात्र शेष रह जाती है। इसका नाम उच्छिष्टावलि है। उपशामनावलि बीत जाने पर उच्छिष्टावलिके प्रथम समयमे दो समयकम दो आवलि नवक समयप्रबद्धोको छोडकर संज्वलनक्रोधके शेष सभी प्रदेशपुंज प्रशस्त उपशामनारूपसे उपशान्त हो जाते है। प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे उपशमित किये जाते

1. ज. ध. पु १३ पृ. २९३-९४।

इस क्रमसे जब क्रोध संज्वलनकी आवलि-प्रत्यावलि शेष रहती है तब द्वितीय स्थितिमे से आगाल और प्रथमस्थितिमे से प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते है। यहा पर आवलि ऐसा कहनेपर उदयावलिका ग्रहण होता है तथा प्रत्यावलिसे उदयावलिके बाहरकी आवलिका ग्रहण होता है। "सज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिमे आवलि-प्रत्यावलि शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है," यह उत्पादानुच्छेदका आश्रय लेकर कहा गया है, क्योकि प्रथम स्थितिमे दो आवलियोके शेष रहने तक आगालप्रत्यागाल होकर एक समयकम दो आवलियोके शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागाल की व्युच्छित्ति विवक्षित है। आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाने पर सज्वलनक्रोधका गुणश्रेणि निक्षेप नही होता, क्योकि सबसे जघन्य भी गुणश्रेणि आयाम एक आवलिप्रमाण है, उससे कम सम्भव नही है। इसलिए प्रत्यावलिमें से ही प्रदेशपुंजका अपकर्षण करके असख्यात समयप्रवद्धोकी उदीरणा करता है। प्रत्यावलिमे एक समय शेष रहनेपर क्रोध संज्वलनकी जघन्य स्थिति उदीरणा होती है, क्योकि उदयावलिके बाहर जो एक स्थिति शेष है उसमेसे अपकर्षणकर उदयावलिमे प्रवेश कराने पर जघन्यस्थिति उदीरणा होती है। उसी समय अर्थात् संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक समय अधिक आवलिप्रमाण काल शेष रहनेपर चार संज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध क्रमसे ३२ वर्षसे घटकर चार मास प्रमाण हो जाता है। शेष कर्मोका स्थितिबन्ध संख्यात हजार वर्षप्रमाण होता है, क्योकि ज्ञानावरणादि कर्मोके सख्यातवर्षप्रमाण पूर्व स्थितिवन्धसे सख्यातगुणा हीन-सख्यातगुणा हीन ऐसे सख्यातहजार स्थितिबन्धोके व्यतीत हो जानेपर भी यहां पर उनका स्थितिवन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है। यहां पर स्थितिवन्धका अल्पबहुत्व पूर्ववत् है[1]।

अथानन्तर क्रोधद्रव्यके संक्रम विशेषका कथन करते हैं—

कोहदुगं संजलणगकोहे संछुहदि जाव पढमठिदी।
आवलितियं तु उवरिं संछुहदि हु माणसंजलणे ॥२७०॥

अर्थ—सज्वलनक्रोधमे दो प्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) क्रोधका तब तक सक्रमण करता है जब तक क्रोधसज्वलनकी प्रथमस्थितिमें तीन आवलियां (सक्रमावलि, उपशामनावलि, उच्छिष्टावलि) शेष रहती हैं। उसके बाद मान

1. ज ध.पु १३ पृ २९०-२९३।

प्रमाण होकर मानसज्वलनके वेदककालसे एकआवलिप्रमाण अधिक होती है । अपकर्षित द्रव्यका असख्यातवाभाग प्रथमस्थितिमें दिया जाता है, शेष बहुभागको द्वितीय स्थितिमें देता हुआ द्वितीयस्थितिके प्रथम निषेकमे असख्यातगुणे हीन प्रदेशपुंजका सिंचन करता है, क्योकि प्रथमस्थितिके गुणश्रेणिशीर्षरूपसे अवस्थित अन्तिम निषेकमे असंख्यात समयप्रबद्ध निक्षिप्त करता है । परन्तु द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें निक्षिप्त किये जाने वाले द्रव्यका प्रमाण एक समयप्रबद्धके असख्यातवे भागप्रमाण होता है, क्योकि वह अपकर्षितद्रव्यको डेढगुणहानिसे भाजित करने पर प्राप्त हुआ है । इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिप्रमाण स्थितिको छोडकर अन्तिम स्थितितक विशेष (चय) हीन द्रव्यको निक्षिप्त करता है । इसीप्रकार मानवेदकके द्वितीयादि समयोमे प्रथम और द्वितीयस्थितिमे प्रदेशोका विन्यास क्रम होता है । इतनी विशेषता है कि प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे प्रदेशपुजका अपकर्षणकर उदयादि गुणश्रेणिका जितना आयाम गलित हो जावे उससे शेष रहनेवाले आयाममे निक्षेप होता है ।

जिस समय क्रोधसज्वलनके बन्ध-उदय व्युच्छिन्न होते है उस समय तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन) मानका आयुक्त (उद्यत) क्रिया द्वारा उपशामक होता है । उस समय तीन संज्वलन (सज्वलन मान-माया-लोभ) का स्थिति-बन्ध अन्तर्मुहूर्तकम चार मास होता है और शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्ष होता है,[1] क्योकि अनन्तर पूर्व सज्वलनोका स्थितिबन्ध पूर्ण चार माह कहा गया है और बधापसरणका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है । शेष कर्मोका स्थितिबन्ध यद्यपि सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है तथापि अनन्तरपूर्वके स्थितिबन्धसे सख्यातगुणा हीन है । इसप्रकार तीन मानके उपशमको प्रारम्भ करके प्रतिसमय असख्यातगुणी श्रेणिरूप से उपशमाने वालेके सख्यातहजार स्थितिबन्धोके द्वारा सज्वलनमानकी प्रथमस्थिति क्षीण होती जाती है[2] ।

माणदुगं संजलणगमाणे संछुहदि जाव पढमठिदी ।
आवलितियं तु उवरिं माया संजलणगे य संछुहदि ॥२७४॥

---

१. क पा. सु. पृ ६६६ सूत्र २१६-२०; ज. ध. पु. १३ पृ २६७-६८; ज. ध. मूल पृ. १८५४ ।

२. ज ध. पु. १३ पृ. २६५-२६८ ।

हुए क्रमसे उपशान्त होते है। क्रोधसज्वलनके दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्धो को उपशमाने की विधि पुरुषवेदके समान है।

जब क्रोध सज्वलनकी प्रथमस्थितिमे एक समयकम एक आवलि शेष रहती है तभी क्रोध सज्वलनके बन्ध और उदय व्युच्छिन्न हो जाते हैं, क्योकि इस पूर्वके समय मे जब पूर्ण एक आवलि प्रथमस्थितिमे शेष रह जाती है तव सज्वलनक्रोधका अन्तिम बन्ध व उदय होकर बन्ध व उदयकी व्युच्छित्ति हो जाती है। अत. अगले समयमे सज्वलन क्रोधका प्रथम निषेक सज्वलनमानमे स्तिवुकसक्रम द्वारा सक्रामित हुए रहनेसे उसमेसे एक-एक निषेकके कम हो जानेके कारण उच्छिष्टावलिमे से एक समयकम किया है।

अथानन्तर पांच गाथाओं में मान त्रयका उपशम विधान निरुपित करते हैं—

से काले माणस्स य पढमट्ठिदिकारवेदगो होदि।
पढमट्ठिदिम्मि दव्वं असंखगुणियक्कमे देदि ॥२७२॥
पढमट्ठिदिसीसादो विदियादिम्हि य असंखगुणहीणं।
तत्तो विसेसहीणं जाव अइच्छावणमपत्तं ॥२७३॥

अर्थ—उसी कालमे सज्वलमानकी प्रथमस्थितिका कर्त्ता व भोक्ता होता है। प्रथमस्थितिमे द्रव्य असख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है। द्वितीय स्थितिके आदिमे अर्थात् प्रथम निषेकमे द्रव्य प्रथमस्थितिके शीर्षके द्रव्यसे असख्यातगुणा हीन दिया जाता है। उसके पश्चात् अतिस्थापनावलि प्राप्त होने तक विशेषहीन क्रमसे दिया जाता है।

विशेषार्थ—एक समयकम उच्छिष्टावलिके अतिरिक्त सज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिको गलाकर तथा उसके बन्ध व उदयकी व्युच्छित्ति करके उसी समय सज्वलन-मानका वेदक व प्रथमस्थितिका कारक (करनेवाला) होता है। द्वितीयस्थितिमे स्थित सज्वलनमानके प्रदेशपुञ्जको अपकर्षितकर उदयादि गुणश्रेणिरूपसे निक्षिप्त करता हुआ उसी समय प्रथम स्थितिका करने वाला होकर मानका वेदक होता है। द्वितीय स्थितिके प्रदेशपु जको अपकर्षणभागहारका भागदेकर एक भागको अपकर्षितकर मानसज्वलनकी प्रथमस्थितिको करता हुआ उदयमे अल्प प्रदेशपु जको देता है। तदनन्तर समयमे असख्यातगुणे प्रदेशपु जको देता है। इसप्रकार असख्यातगुणे श्रेणिक्रमसे प्रथमस्थितिके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक देता है। यहापर प्रथम स्थितिकी लम्बाई अन्तर्मु हूर्त-

अर्थ—सज्वलनमानकी प्रथमस्थितिमें आवलिकाल शेष रहनेपर नवीन समयप्रबद्धके बिना अन्य तीन मानका सर्व द्रव्य उपशान्त हो चुकता है। उसी समय सज्वलनमानकी बन्ध व उदयव्युच्छित्ति हो चुकती है।

विशेषार्थ—मानसंज्वलनकी प्रथमस्थितिकी प्रत्यावलिके अन्तिम समयमें एक समयकम दो आवलिप्रमाण समयप्रबद्धोको छोडकर तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन) मानका सभी स्थिति-अनुभाग और प्रदेश सत्कर्म सर्वोपशमनारूपसे उपशान्त हो जाता है, क्योकि यथाक्रम उपशमाए जाने वाले मानका उस समय निरवशेष उपशान्तरूपसे परिणमन देखा जाता है। उच्छिष्टावलिको गौण करके मानसज्वलनके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवकबन्धको छोडकर ऐसा कहा गया है तथा इसी समय मानसज्वलनकी जघन्यस्थिति उदीरणा होती है। इसी समय संज्वलनमानके बन्ध व उदय व्युच्छिन्न होते है, क्योकि उत्पादानुच्छेदका आलम्बनकर ऐसा बन जाता है[1]।

माया की प्रथम स्थिति करनेका निर्देश करते हैं—

से काले मायाए पढमट्ठिदिकारवेदगो होदि।
मायाएस्स य आलावो दव्वस्स विभंजणं तत्थ ॥२७७॥

अर्थ—उसी समय (सज्वलनमानकी प्रथमस्थिति एक आवलिमात्र शेष रह जाने पर) सज्वलनमायाकी प्रथमस्थितिका कारक व वेदक होता है। सज्वलनमायाके द्रव्यका विभाजन आदि मानके आलापके समान है।

विशेषार्थ—मानवेदकके अन्तिम समयके बाद तदनन्तर समयमे अथवा प्रत्यावलिके अन्तिम समयके अनन्तर पश्चात् सज्वलनमानकी प्रथमस्थिति एकआवलि (उच्छिष्टावलि) मात्र शेष रह जानेपर माया सज्वलनके प्रदेशपुंजका अपकर्षणकर तथा उदयादि गुणश्रेणिरूपसे उसका निक्षेप करता हुआ मायासज्वलनकी अन्तर्मुहूर्तवाली प्रथमस्थितिको उत्पन्न करके माया सज्वलनका वेदक होता है। मायासज्वलनकी प्रथम स्थिति सम्बन्धी लम्बाई एक आवलि अधिक अपने वेदककाल प्रमाण होती है। माया वेदकसे लेकर यह तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन) मायाका

---

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २९९-३०० ।

अर्थ—मानसज्वलनकी प्रथमस्थितिमे एक समय अधिक एक आवलि शेष रहने पर तीन (मान, माया, लोभ) सज्वलनका स्थितिवन्ध दो मास प्रमाण होता है। शेषकर्मोका स्थितिबन्ध क्रोधके आलाप सदृश (सख्यातहजार वर्षप्रमाण) है।

विशेषार्थ—प्रत्यावलिमे एकसमय शेष रहनेपर सज्वलनमान-माया-लोभका स्थितिबन्ध दो-माहप्रमाण होता है। शेष कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है जो पूर्व स्थितिबन्धसे सख्यातगुणाहीन है[1]।

माणस्स य पढमठिदी सेसे समयाहिया तु आवलियं।
तियसंजलणगबंधो दुमास सेसाण कोह आलावो ॥२७५॥

अर्थ—जब तक प्रथमस्थितिमे तीन आवलि शेष रहती है तब तक दो (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) प्रकार मानको सज्वलनमानमे संक्रमित करता है, उसके बाद सज्वलन माया मे।

विशेषार्थ—मान सज्वलनकी प्रथमस्थितिके तीन आवलि शेष रहने तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणरूप दो प्रकारके मानको सज्वलनमानमे संक्रमित करता है। मान सज्वलनकी प्रथमस्थितिके एक समयकम तीन आवलिप्रमाण शेष रहनेपर इन दो प्रकारके मानको सज्वलनमानमें सक्रात नही करता है, किन्तु माया-सज्वलनमे सक्रान्त करता है। संज्वलनमानको भी सज्वलनमायामें संक्रान्त करता है। विस्तार पूर्वक कथन सज्वलनक्रोधके समान है।

इससे आगे फिरभी एक समयकम एक आवलिप्रमाण प्रथमस्थितिको गलाकर दो आवलि (प्रत्यावलि और उदयावलि) के शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उदयावलिके ऊपरकी जो दूसरी आवलि है वह प्रत्यावलि कही जाती है[2]।

तदनन्तर पुनः एक समयकम एक आवलि अर्थात् प्रत्यावलिमें एक समय शेष रहने पर जो कार्य होता है उसको बतलाते हैं—

माणस्स य पढमठिदी आवलिसेसे तिमाणमुवसंतं।
ण य णवकं तत्थंतिमबंधुदया होंति माणस्स ॥२७६॥

---
१. ज ध पु १३ पृ. २६६।
२. ज ध पु १३ पृ २६८-२६६।

अर्थ—मायाकी प्रथमस्थितिमें एकसमय अधिक आवलिकाल शेष रहनेपर संज्वलनमाया और लोभका तो मासप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तथा शेष कर्मोंका क्रोधवत् कथन जानना ।

मायदुगं संजलणगमायाए छुहदि जाव पढमठिदी ।
आवलितियं तु उवरिं संछुहदि हु लोहसंजलणे ॥२७९॥

अर्थ—सज्वलनमायाका प्रथमस्थितिमे जबतक तीन आवलिया शेष रहती है तबतक मायाद्विक (अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानरूप माया) के द्रव्यको सज्वलन मायामे ही सक्रमित करता है तथा उससे आगे सक्रमणावलीमे उनके द्रव्यका सज्वलनलोभमे सक्रमण करता है ।

विशेषार्थ— मायासज्वलनकी प्रथमस्थितिमे एक समयकम तीन आवलियोके शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरणरूप दो प्रकारकी मायाके द्रव्यको माया सज्वलनमें सक्रान्त नही करता, किन्तु सज्वलन लोभमे सक्रान्त करता है[1] ।

मायाए पढमठिदी आवलिसेसेत्ति मायमुवसंतं ।
ण य णवकं तत्थंतिमबंधुदया होंति मायाए ॥२८०॥

अर्थ—मायाकी प्रथमस्थितिमे आवलिप्रमाण काल अवशिष्ट रहनेपर उपशमनावलिके अन्तिम समयमे नवक समयप्रबद्ध बिना अन्य सर्व मायाका द्रव्य उपशमित होता है । उसी समयमे सज्वलनमायाका बन्ध व उदय व्युच्छिन्न होता है ।

विशेषार्थ—द्वितीय उपशमनावलिके अन्तिम समयमें एक समयकम दो आवलि-प्रमाण नवकबन्धको छोडकर तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और सज्वलन) मायाका अन्तिम उपशामक होता है । उस समय सज्वलनमायाके वन्ध व उदय व्युच्छिन्न होते है, क्योकि उत्पादानुच्छेदमें यह कथन बन जाता है । माया सज्वलन की प्रथम स्थितिका एक समयकम एक आवलिप्रमाण द्रव्य शेष है, वह स्तिवुक सक्रम के द्वारा लोभसज्वलनमे विपाकको प्राप्त होता है[2] ।

---

१ ज. ध पु १३ पृ. ३०३ ।
२. ज ध. पु. १३ पृ. ३०३-३०४ ।

उपशामक होता है। माया और लोभ सज्वलनका स्थितिबन्ध[1] अन्तर्मुहूर्तकम दो माह प्रमाण होता है। अनन्तरपूर्व व्यतीत हुए दो माह प्रमाण स्थितिबन्धसे अन्तर्मुहूर्त घट कर इससमय दो सज्वलनोंका स्थितिबन्ध होता है। शेषकर्मोका स्थितिबन्ध संख्यात-हजार वर्षप्रमाण है जो पूर्व स्थितिबन्धसे सख्यातगुणा हीन है। इन्ही कर्मोका स्थिति-काण्डक पल्योपमके सख्यातवेंभागप्रमाण है और अनुभागकाण्डक अनन्तगुणी हानिरूप है। उससमय मान संज्वलनका जो एक समयकम उदयावलिप्रमाण सत्कर्म शेष रहा वह स्तिवुकसक्रमण द्वारा मायाके उदयमे विपाकको प्राप्त होता है।

उदयरूपसे समान स्थितिमे जो सक्रम होता है वह स्तिवुकसंक्रमण है[2]।

मायावेदकके प्रथम समयमे पूर्वमें कहे गये मानसंज्वलनके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवकबन्धके समयप्रबद्धोके आद्य (प्रथम) समयप्रबद्ध का निर्लेप होता है, इसलिये उसे छोडकर दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध प्रत्येक समयमें असख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाए जाते हुए मायावेदक कालके भीतर एक समयकम दो आवलि कालके द्वारा पूर्णरूपसे उपशमाए जाते है, क्योंकि प्रत्येक समयमें एक-एक समयप्रबद्धके उपशामन क्रियाकी समाप्ति हो जाती है। मानसज्वलनके द्रव्यको विशेष हीन श्रेणिक्रमसे सज्वलन मायामे सक्रमण करता है। ये सर्व क्रिया मायावेदकके प्रथम समयमे होती है[3]।

अब मायात्रयके उपशमविधान के लिए ३ गाथाएं कहते हैं—

मायाए पढमठिदी सेसे समयाहियं तु आवलियं।
मायालोहगवंधो मासं सेसाण कोह आलावो ॥२७८॥

---

१. माया वेदकके प्रथम समय का स्थितिबन्ध है।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०१। उदयरूपसे अर्थात् उदीयमान प्रकृतिके रूपमे अनुदय प्रकृतिका स्तुविक सक्रमण होता है।

समान स्थिति मे अर्थात् जिस उदीयमान निषेकसे ऊपर वाले अनुदय निषेकका भविष्यमे उदय आने वाले निषेकमें सक्रमण होता है वह उस उदयसे ऊपर वाले निषेकमे ही होगा। अर्थात् असमान निषेक स्थितिमे सक्रमण नहीं होगा यह तात्पर्य है।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०० से ३०२; क. पा सु पृ. ७००।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् सख्यातहजार स्थितिबन्धोंके हो जानेपर बादरलोभकी प्रथम स्थितिका अर्धभाग व्यतीत हो जाता है। अर्धभागसे कुछ अधिक अर्धभागका ग्रहण होता है उस अर्धभागके अन्तिम समयमें लोभसज्वलनका स्थितिबन्ध घटकर दिवसपृथक्त्व प्रमाण हो जाता है। शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाणसे घटकर हजारवर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता है, परन्तु उस समय अनुभाग सत्कर्म स्पर्धकगत ही होता है[1]।

अब संज्वलनलोभके अनुभागसत्त्वकी कृष्टिकरण विधि कहते हैं—

विदियद्धे लोभावरफड्डयहेट्ठा करेदि रसकिट्टिं।
इगिफड्डयवग्गणगद संखाणमणंतभागमिदं ॥२८३॥[2]

अर्थ—(बादरलोभसज्वलनकी प्रथमस्थितिके) दूसरे अर्धभागमें लोभके जघन्य-स्पर्धक के नीचे अनुभागकृष्टियोंको करता है। उनका प्रमाण एक स्पर्धककी वर्गणाओके अनन्तवे भागप्रमाण है।

विशेषार्थ—बादरलोभसंज्वलनकी प्रथमस्थितिके प्रथम अर्धभागके व्यतीत हो जाने पर द्वितीय अर्धभागमें लोभसज्वलनके अनुभाग सत्कर्म सम्बन्धी जघन्य स्पर्धकके नीचे अनन्तगुणी हानिरूपसे अपवर्तितकर अनुभागकृष्टियोको करता है। सबसे जघन्य लतासमान स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदोसे अनन्तगुणे हीन अनुभाग युक्त सूक्ष्मकृष्टियोंको करता है। एक स्पर्धककी वर्गणाओके आयाममें तत्प्रायोग्य अनन्तसे भाजितकर वहां एक खण्डमें जितनी वर्गणाए प्राप्त हो तत्प्रमाण कृष्टियां बनती है[3]। इतना विशेष है कि उपशमश्रेणिमे स्पर्द्धकगत लोभका बादरकृष्टिकरण न होकर सीधा सूक्ष्मकृष्टिकरण होता है[4]। यह ज्ञातव्य है कि बादरलोभ स्पर्द्धकगत होता है तथा उसके सूक्ष्मकरणकी प्रक्रिया ही सूक्ष्मकृष्टिकरण कहलाती है।

---

१ क. पा. सु. पृ. ७०१-७०२; ज. ध. पु. १३ पृ. ३०६।

२ से काले विदियतिभागस्स पढमसमये लोभसंजलणाणुभागसंतकम्मस्स जं जहण्णफद्दय तस्स हेट्ठादो अणुभागकिट्टीओ करेदि। तासि पमाणमेयफद्दय वग्गणाणमणतभागो। (ज ध. मू पृ १८५६)

३. ज. ध पु. १३ पृ ३०७-८।

४ क. पा. सुत्त पृ. ७०२।

अब लोभत्रयके उपशमविधानका कथन दो गाथाओं में करते हैं—

से काले लोहस्स य पढमट्ठिदिकारवेदगो होदि ।
ते पुण बादरलोहो माणं वा होदि णिक्खेओ ॥२८१॥

अर्थ—उसी समय सज्वलनलोभकी प्रथमस्थितिका वेदक व कारक होता है। मानकी विधिके अनुसार बादरलोभका निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—उसी समय अर्थात् माया सज्वलनकी प्रथम स्थिति उच्छिष्टावलि शेष रह जाने पर द्वितीय स्थितिसे लोभसज्वलनके प्रदेशपु जका अपकर्षणकर उदयादि गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता हुआ लोभसज्वलनकी प्रथम स्थितिको अन्तर्मु हूर्तप्रमाण स्थापितकर वेदन करता है। यहा से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समय पर्यन्त जो लोभवेदक काल है, उस कालके तीन भाग करके उनमेसे साधिक दो त्रिभाग-प्रमाण बादर लोभसज्वलनकी प्रथमस्थिति इस समय की है, क्योकि यहा से उपरिम समस्त लोभवेदककालके कुछकम तीसरे भागप्रमाण सूक्ष्मलोभ वेदक काल होता है। सूक्ष्मलोभ वेदककालसे साधिक दूने बादरलोभवेदककालको एक आवलिप्रमाण अधिक करके वादरसाम्परायिक जीव प्रथमस्थिति करता है। इसप्रकार इतनी प्रथम स्थितिको करके तीनप्रकारके लोभको उपशमाने वाले जीवके लोभ सज्वलनका स्थितिबन्ध अन्तर्मु हूर्तकम एकमास होता है, क्योकि अन्तिम समयवर्ती माया वेदकके स्थितिबन्ध पूरा एक मास होता है उससे एक अन्तर्मु हूर्त घटाकर इस समय लोभसज्वलनके स्थिति-वन्धको प्रारम्भ करता है। शेषकर्मोका स्थितिबन्ध पूर्वके स्थितिबन्धसे सख्यातगुणा हीनरूपसे प्रवृत्त होता हुआ अभी भी सख्यातहजार वर्षप्रमाण ही होता है क्योकि सख्यात हजारवर्षोके अनेक भेद होते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मोके स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकोका प्रमाण पूर्वोक्त पल्योपमका असख्यातवाभाग व अतन्तगुणी हानि-रूप होता है[1]।

पढमट्ठिदि अद्धंते लोहस्स य होदि दिणपुधत्तं तु ।
वस्ससहस्सपुधत्तं सेसाणं होदि ठिदिबंधो ॥२८२॥

अर्थ—वादरलोभकी प्रथमस्थिति-अर्थ के अन्तमे सज्वलनलोभका स्थितिबन्ध पृथक्त्व दिवस और शेष कर्मोका पृथक्त्व हजार वर्षप्रमाण होता है।

---

१. ज. ध पु. १३ पृ ३०४-३०६ व क. पा सु. पृ ७०१-७०२।

अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद है। इसलिये एककम कृष्टिआयाममात्र बार अनंतसे गुणा करने पर अन्तिमकृष्टिमे पाये जाने वाले वे अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी जघन्यवर्गके अनन्तवेभागप्रमाण है। इसप्रकार प्रथम समयमे की गई सूक्ष्मकृष्टि होती है।

अपकर्षित किये गये द्रव्यमे बहुभागरूप जो द्रव्य पृथक् स्थापित किया था उनके द्रव्यको पूर्वमे सत्तारूप पाये जाने वाले पूर्वस्पर्धक सम्बन्धी नानागुणहानिमे निक्षिप्त करता है। "दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा" इत्यादि करणसूत्र विधानसे उस बहुभागप्रमाण द्रव्यको अनुभाग सम्बन्धी साधिक डेढगुणहानिका भाग देने पर जो लब्धरूप द्रव्य प्राप्त हो उसको प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणामे निक्षिप्त करता है। तथा द्वितीयादि वर्गणाओमे एक चयहीन क्रम सहित द्रव्य निक्षिप्त करता है। द्वितीयादि गुणहानियोकी वर्गणाओके क्रमसे पूर्वगुणहानिसे आधा-आधा द्रव्य निक्षिप्त करता है। इसप्रकार सूक्ष्मकृष्टिकरण कालके प्रथमसमयमे अपकर्षितद्रव्यको निक्षिप्त करता है। यहां अन्तिमकृष्टिमे निक्षिप्त द्रव्यसे पूर्वस्पर्धककी जघन्य वर्गणामे निक्षिप्तद्रव्य अनन्तगुणा हीन जानना।

'कृश' तनुकरणे धातुके आश्रयसे 'कर्षण कृष्टि.' अर्थात् कर्मपरमाणुओकी अनुभागशक्तिका कृश करना—घटाना कृष्टि है। अथवा 'कृश्यत इति कृष्टि.' के अनुसार प्रतिसमय पूर्व स्पर्धककी जघन्य वर्गणासे भी अनन्तगुणी हीन अनुभागरूप वर्गणाको कृष्टि कहते है।

अब द्वितीयादि समयोंमें निक्षेपणका कथन करते हैं—

पडिसमयमसंखगुणा दव्वादु असंखगुणविहीणकमे।
पुव्वगहेट्ठा हेट्ठा करेदि किट्टिं स चरिमोत्ति ॥२८५॥

अर्थ—असख्यातगुणे-असख्यातगुणे अपकर्षित द्रव्यमे से प्रतिसमय की गई कृष्टिका प्रमाण पूर्व-पूर्व कृष्टियोके प्रमाणसे असख्यातगुणा घटता होता है। यह क्रम अन्तिम समय तक जाता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालके प्रथम समयमें जो कृष्टिया की गई वे अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण होकर एक स्पर्धककी वर्गणाओके अनन्तवे भागप्रमाण है तथा वे बहुत है। पुनः तदनन्तर समयमे प्रथम समयवर्ती

आगे संज्वलनलोभ सम्बन्धी कृष्टियोंकी निक्षेपणविधि बताते हैं—

ओक्कड्डिदइगिभागं पल्लासंखेज्जखंडदिगिभागं ।
देदि सुहुमासु किट्टिसु फड्डयगे सेस बहुभागं ॥२८४॥

अर्थ—(सज्वलनलोभके द्रव्यको अपकर्षण भागहारद्वारा भाजितकर उसमें से) एक भाग अपकर्षित द्रव्य है । इसको पल्यके असख्यातवेभागसे खण्डितकर उसमे से एक भागको सूक्ष्मकृष्टियोमे देता है, शेष बहुभागको स्पर्धकोमे देता है ।

विशेषार्थ—सज्वलनलोभके सर्व सत्त्वरूप द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमे से एक भागप्रमाण द्रव्यको पुन पल्यके असख्यातवेभागका भाग दिया । उसमेसे बहुभागप्रमाण द्रव्यको पृथक् रखकर एक भागप्रमाण द्रव्यको सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमाता है । "**अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे**"[1] इत्यादि करणसूत्र विधान द्वारा उस एक भागप्रमाण द्रव्यमे कृष्टियोके प्रमाणरूप कृष्टचायामका भाग देने से मध्यधनका प्रमाण आता है । इस मध्यधनको एक कम कृष्टिआयामके आधेसे हीन दो गुणहानिका भाग देने पर चयका प्रमाण प्राप्त होता है[2] । उस चयप्रमाणको दोगुणहानिसे गुणा करने पर आदिवर्गणाके द्रव्यका प्रमाण आता है । इतने द्रव्यको तो प्रथमकृष्टिमे निक्षिप्त करता है जिससे प्रथमकृष्टि उत्पन्न होती है । यह प्रथमकृष्टि प्रथमसमयमे की गई कृष्टियोंमें जघन्यकृष्टि है । तथा इससे द्वितीयादि कृष्टियोमे एक-एक चयप्रमाण हीन द्रव्य निक्षिप्त करता है । इसप्रकार एककम कृष्टिआयामप्रमाण चयोसे हीन प्रथमकृष्टिप्रमाण द्रव्यको अन्तिम कृष्टिमे निक्षिप्त करता है । अब इन कृष्टियोमे शक्तिका प्रमाण कहते है—

पूर्व स्पर्धकोके जघन्यवर्गमे अनुभागके अविभागप्रतिच्छेदोके प्रमाण को कृष्टिआयामका जो प्रमाण है उतनीबार अनन्तका भाग देने पर प्राप्त लब्धके बराबर प्रथमकृष्टिमे अनुभागके अविभागप्रतिच्छेद है तथा द्वितीयादि कृष्टिमे क्रमसे अनन्तगुणे

---

१. "अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे मज्झिमधणमागच्छदि" यह पूरा करणसूत्र है इसका अभिप्राय यह है कि सर्वधनको अध्वानसे खण्डित करने पर मध्यमधन आता है । अत. विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य ÷ गुणहानि आयाम = मध्यमधन (गो क. गा १५९ की टीका)
या (अध्वान) या (अध्वान)

२ "त रुऊणद्धाणद्धेणूणेण णिसेयभागहारेण मज्झिमधणमवहरिदे पचय" (ल सा. गा ७१-७२) —अर्थात् मध्यधनमे एक कम गच्छका आधा दो गुणहानि (निषेक भागहार) मे से घटाने पर जो आवे उसका भाग देने पर चय आता है । अर्थात् चय=मध्यधन÷[दो गुणहानि−(गच्छ-१)।२]

प्रमाण लिये जो विवक्षित समयमें अपूर्वकृष्टिकी उनमें समान प्रमाण लिये समपट्टिका-रूप द्रव्य देना चाहिए, इसका ही नाम अधस्तनकृष्टिद्रव्य है। इस द्रव्यको देनेपर अपूर्वकृष्टियां प्रथमपूर्वकृष्टिके समान हो जाती है। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्वोक्त पूर्वकृष्टि सम्बन्धी चयको दो गुणहानि से गुणा करने पर पूर्वकृष्टियो में से प्रथमकृष्टिके द्रव्यका प्रमाण आता है सो एक कृष्टिका द्रव्य इतना है तो समस्त अपूर्वकृष्टियोंका कितना होगा? ऐसे त्रैराशिकसे उस प्रथमपूर्वकृष्टिके द्रव्यको समस्त अपूर्वकृष्टिके प्रमाण से गुणा करनेपर अधस्तनकृष्टिका द्रव्यप्रमाण होता है। यहा, प्रथम समयमें की गई कृष्टियोंके प्रमाणको असंख्यातगुणे अपकर्षणभागहारका भाग देने पर द्वितीय समयमे की गई कृष्टियोंका प्रमाण होता है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त अधस्तनशोर्षविशेषद्रव्य और अधस्तनकृष्टि द्रव्य देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि समान प्रमाण लिये हो गईं।

वहां अपूर्वकृष्टिकी प्रथमकृष्टिसे लगाकर ऊपर-ऊपर अपूर्वकृष्टि स्थापित करके फिर उनके ऊपर प्रथमादि पूर्वकृष्टि स्थापित करनी चाहिए। इसप्रकार स्थापित करके चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ करने के लिये[1] सर्वकृष्टि सम्बन्धी सम्भवचयका प्रमाण लाकर अन्तकी पूर्वकृष्टिमे एक चय, उसके नीचे उपान्त्य-पूर्वकृष्टि में दो चय; ऐसे क्रमसे एक-एक चय अधिकाधिक करते हुए प्रथम अपूर्वकृष्टि पर्यन्त देना। इसीका नाम उभयद्रव्यविशेषद्रव्य है। इसे देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि के चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ होता है। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्व समयमें कृष्टिमे जो द्रव्य दिया था और इस विवक्षित समयमे जो कृष्टिमें देने योग्य द्रव्य है, इन दोनोको मिलानेपर जो द्रव्यप्रमाण हुआ उसको पूर्वापूर्व (पूर्व-अपूर्व) कृष्टियोके योगरूप गच्छसे विभक्त करनेपर मध्यमधन प्राप्त होता है। इसको एककम गच्छके आधेसे हीन दोगुण हानिसे विभक्त करनेपर यहाके चयका (विशेषका)

---

१. अब इनकी समान द्रव्यरूप स्थितिको मिटाकर चय घटता क्रमरूप गोपुच्छ को करने के लिए निम्नानुसार द्रव्य मिलाते है—

चयको आदिरूप स्थापित करना, क्योकि द्वितीयकृष्टिमे एक चय देना है। एक चय उत्तर (आगे) स्थापित करना, क्योकि, तृतीयादि कृष्टियोमे क्रमश एक-एक चय अधिक देना है। तथा एककम पूर्वकृष्टि प्रमाण गच्छ स्थापित करना चाहिए, क्योंकि प्रथमकृष्टि में चय नही मिलाना है। ऐसे स्थापित करके "पदमेगेणविहीण" इत्यादि श्रेणिव्यवहाररूप गणितसूत्र से एक कम गच्छको दो का भाग देकर, उसको (लब्धको) उत्तरसे (जो कि एक चयरूप है, उससे) गुणा करके उसमे प्रभव अर्थात् आदिके एक चयको मिलानेपर तथा फिर गच्छसे गुणा करने पर चयधन प्राप्त होता है। अकसदृष्टि की अपेक्षा—जैसे एक कम कृष्टिप्रमाण गच्छ ७, इसमे से एक घटाने पर छः आये। ६ मे २ का भाग देनेपर ३ आये। इसे चय (१६) से गुणा करनेपर ४८ आये। इसमे प्रभव (एक चय यानी १६) को मिलाने पर ६४; पुनः इसको गच्छ (७) से गुणा करने पर ४४८ चयधन होता है। इस विधानसे जो प्रमाण आवे उतना अधस्तन शीर्ष विशेषद्रव्य जानना[1]। अब जो पूर्वकृष्टिमे से प्रथमकृष्टिका प्रमाण था उसीके समान

---

१. अब इसके (पूर्वकृष्टिके) नीचे अपूर्वकृष्टिकी रचना करता है वे ४ हैं तथा वे प्रथमपूर्वकृष्टिके तुल्य-तुल्य ही हैं अर्थात् २५६-२५६ परमाणु प्रमाण हैं अतः द्वितीय समयमे अधस्तन कृष्टिद्रव्य २५६×४=१०२४ हुआ; तब सदृष्टि इसप्रकार होगी—

प्रथमसमयकृत पूर्व कृष्टियां जो अधस्तनशीर्ष विशेष द्रव्यसे युक्त हैं।	२५६ — चरमपूर्वकृष्टि
	२५६
	२५६
	२५६
	२५६
	२५६
	२५६
	२५६ — प्रथमपूर्वकृष्टि
द्वितीय समयकृत अपूर्व कृष्टियां	२५६ — चरम अपूर्वकृष्टि
	२५६
	२५६
	२५६ — प्रथम अपूर्वकृष्टि

अपूर्वसमपट्टिका द्रव्य

ज्यो का त्यो द्रव्य रहता है। इसका प्रमाण बतलाते है'–विवक्षित समयमें अपकृष्टद्रव्यको पल्यके असंख्यातवेभागका भाग देनेपर एक भागमात्र द्रव्य कृष्टिमें देने योग्य है। इसमें से पूर्वोक्त तीन प्रकारका द्रव्य घटाने पर किंचिदून हुआ। (यही किंचिदून द्रव्य मध्यमखंड द्रव्य है।) इतना द्रव्य सकलकृष्टियोमे देना है तो एककृष्टिमें कितना देना होगा? ऐसी त्रैराशिकविधि करके उस द्रव्यमे पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंके प्रमाणका भाग देने पर एककृष्टिमें

---

१ अब द्वितीय समयमे अपकृष्ट द्रव्य ३९२० मे से अधस्तनशीर्षविशेषद्रव्य ४४८, अधस्तनकृष्टिद्रव्य १०२४, उभयद्रव्यविशेषद्रव्य १२४८, इन तीनोको घटानेपर ३९२०–(४४८+१०२४+१२४८) =१२०० शेष रहे। ये शेष बचे १२०० परमाणुप्रमाण द्रव्य ही मध्यमखण्डद्रव्य है : इसे समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियो में (८+४=१२ कृष्टियोमे) समान खण्ड करके देने पर सभी को अर्थात् प्रत्येककृष्टिको १००-१०० द्रव्य प्राप्त होता है। उसे मिलाने पर रचना ऐसी है—

२७२+१००	=	३७२	— चरमपूर्वकृष्टि
२८८+१००	=	३८८	
३०४+१००	=	४०४	
३२०+१००	=	४२०	
३३६+१००	=	४३६	
३५२+१००	=	४५२	
३६८+१००	=	४६८	
३८४+१००	=	४८४	— प्रथमपूर्वकृष्टि
४००+१००	=	५००	— चरमअपूर्वकृष्टि
४१६+१००	=	५१६	
४३२+१००	=	५३२	
४४८+१००	=	५४८	— प्रथमअपूर्वकृष्टि

नोट—यहां इतना स्मरण रखना चाहिये कि उभयद्रव्यविशेषद्रव्य निकालनेके लिए यहा निम्नविधि है—
सकल अपकृष्टद्रव्य = १६०० + ३९२०= ५५२०। सकल अपकृष्टद्रव्य÷सकलकृष्टियां ५५२०÷१२=४६० मध्यमधन

यहा एक गुणहानि=१७½ (गुणहानि वस्तुस्थित्या खण्डरूप नही होती पर सदृष्टि या दृष्टान्त तो सदृष्टि या दृष्टान्त ही ठहरा, वह दार्ष्टान्तिसे सर्वदेश साम्य नही रखता, ऐसा जानना चाहिये) क्योकि ५४८ रूप प्रथमकृष्टि १७½ स्थानो को पार करनेके बाद उसके आगे एकस्थान जाने पर आधी रह जाती है; अत १७½ स्थान, गुणहानिका प्रमाण होगा। यथा ५१२ कर्मपरमाणुरूप प्रथम निषेकसे ८ स्थान के बाद नवमस्थानमे जाकर २५६ रह जाते हैं तो वहा गुणहानिका प्रमाण ८ होता है। वैसे ही यहा पर ५४८ रूप प्रथमकृष्टि चयहीन होती हुई ऐसे जाती है—५४८, ५३२, ५१६ ५००, ४८४, ४६८, ४५२, ४३६, ४२०, ४०४, ३८८, ३७२, ३५६, ३४०, ३२४, ३०८, २९२, २७६.... ... .।

प्रमाण आता है। अब एकचय को स्थापितकर और एक चय उत्तर (आगे) स्थापित कर तथा पूर्व-अपूर्वकृष्टिप्रमाण गच्छ स्थापितकर "पदमेगेणविहीण" इत्यादि सूत्रके अनुसार एककम गच्छके आधेको चयसे गुणित करके उसमे चय मिलाकर उसको चयसे गुणित करने पर सर्व उभय द्रव्य विशेष द्रव्य होता है तथा जो विवक्षित समयमें कृष्टि-रूप परिणमावने योग्य द्रव्य अपकृष्ट किया उसमे से अधस्तनशीर्ष विशेषद्रव्य, अधस्तन-कृष्टिद्रव्य और उभयद्रव्यविशेषद्रव्य घटाने पर; अवशिष्ट रहे द्रव्यको समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियोमे समान भाग करके देना? इसीका नाम मध्यमखण्डद्रव्य है। इसको देने पर उस अपकृष्टद्रव्यकी समाप्ति होती है तथा समस्त पूर्वापूर्वकृष्टियोमें चय घटते क्रमरूप

	पूर्वद्रव्य + मिलाया जानेवाला द्रव्य = गोपुच्छाकारता		
	सर्वत्रसम द्रव्य +	उभयद्रव्य-विशेषद्रव्य =	गोपुच्छाकारता
चरमपूर्वकृष्टि —	२५६ +	एक चय	२७२
द्विचरम पूर्वकृष्टि—	२५६ +	दो चय	२८८
	२५६ +	तीन चय	३०४
	२५६ +	चार चय	३२०
	२५६ +	पाच चय	३३६
	२५६ +	छह चय	३५२
	२५६ +	सात चय	३६८
प्रथमपूर्वकृष्टि —	२५६ +	आठ चय	३८४
	२५६ +	नौ चय	४००
	२५६ +	दस चय	४१६
	२५६ +	ग्यारह चय	४३२
प्रथम अपूर्वकृष्टि—	२५६ +	बारह चय	४४८

उभयद्रव्यविशेषद्रव्य = १ चय + २ चय + ३चय + ४ चय + ५ चय + ६ चय + ७ चय + ८ चय + ९ + १०चय + ११ चय + १२ चय = ७८चय = ७८ × १६ = १२४८ अत: उभयद्रव्यविशेषद्रव्य = १२४८ इसे मिलाने पर सर्वत्र प्रथम अपूर्वकृष्टि से लगाकर चरम पूर्वकृष्टि पर्यन्त गोपुच्छाकार द्रव्य हो जाता है वह नीचे लगी सदृष्टिके अनुसार है →

सर्वगोपुच्छाकारता	
२७२	— चरमपूर्वकृष्टि
२८८	
३०४	
३२०	
३३६	
३५२	
३६८	
३८४	— प्रथमपूर्वकृष्टि
४००	—चरमअपूर्वकृष्टि
४१६	
४३२	
४४८	—प्रथमअपूर्वकृष्टि

जानना चाहिए। जहा विशेष हो वहा विशेष जानना चाहिए। यहां संदृष्टिकी अपेक्षा चयहीन क्रम लिये पूर्वकृष्टि आदि की रचना निम्न प्रकार होती है—

पूर्वकृष्टिरचना

पूर्वकृष्टियोंमे अधस्तनशीर्षद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि की रचना इसप्रकार होती है —
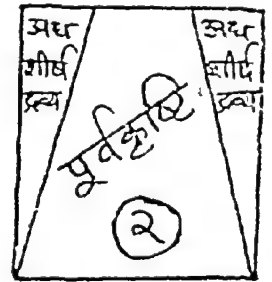
अधस्तनशीर्षद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि रचना के नीचे ही अधस्तनकृष्टिद्रव्यद्वारा अपूर्वकृष्टिकी समपट्टिकारचना निम्नप्रकार होती है—
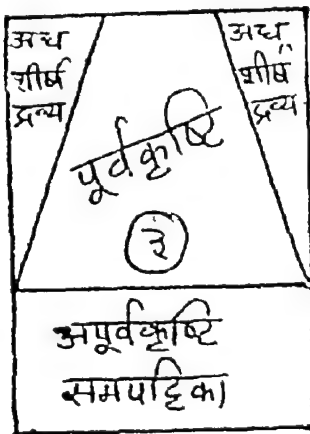
संदृष्टि नं० ३ मे उभयद्रव्यविशेषद्रव्य मिलाने पर सदृष्टिकी आकृति निम्न प्रकार होती है। इसे गुपुच्छाकृति कहते हैं —
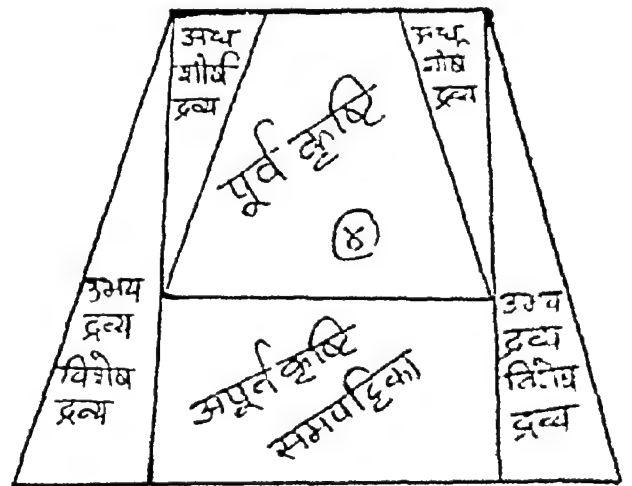
देने योग्य एकखण्डका प्रमाण प्राप्त होता है । इसको सर्वकृष्टिके प्रमाणसे गुणित कर देनेपर सर्व मध्यमखण्ड द्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है । इसप्रकार यहा विवक्षित द्वितीय समयमे कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमे बुद्धिकल्पनासे अधस्तनशीर्षविशेष आदि चार प्रकारके द्रव्य भिन्न-भिन्न स्थापित किये । ऐसे ही यहां पर तृतीयादि समयोमे कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमे विधान जानना । अथवा आगे क्षपकश्रेणिके वर्णनमे अपूर्वस्पर्धकका, वादरकृष्टिका या सूक्ष्मकृष्टिका वर्णन करते हुए ऐसे विधान कहेगे, वहां ऐसा ही अर्थ

अब यहा द्रव्य चयहीन होकर जाता हुआ अठारहवें स्थानमे २७६ होता है। हमे ५४८ का आधा २७४ अभीष्ट है । चू कि एकस्थान आगे पीछे जाने पर (अर्थात् १८ वें से १७ वे या १७ वे से १८ वें को जाने पर) १६ (एक चय) की कमी या वृद्धि होती है, तो २ मात्र परमाणुकी हीनता के लिए कितना स्थान आगे जाना पडेगा ? उत्तर होगा $\frac{१}{१६} \times \frac{२}{१} = \frac{२}{१६} = \frac{१}{८}$ स्थान । अर्थात् २७६ से $\frac{१}{८}$ स्थान आगे जाने पर वही कृष्टिका परमाणु परिमाण २७४ हो जाता है जो कि ५४८ से ठीक आधा है तो २७४ परमाणुवाला स्थान १८$\frac{१}{८}$ वा हुआ, इसलिये इससे एक स्थान पूर्व अर्थात् १७$\frac{१}{८}$ वें स्थान में ही एक गुणहानि पूरी हो गई ऐसा जानना चाहिए, (क्योकि जहा द्रव्य आधा रह जाय उससे एक स्थान (पूरा-पूरा) पहले जाने पर जो निषेक स्थित हो वही प्रथम गुणहानिका चरमस्थान होता है) अतएव दो गुणहानि=१७$\frac{१}{८}$ × २=३४$\frac{१}{४}$

अब मध्यधन—एककम गच्छका आधासे न्यून दो गुणहानि=चय

अर्थात् ४६०—३४$\frac{१}{४}$—$\frac{११}{२}$=चय

,, ४६०—३४$\frac{१}{४}$—५$\frac{१}{२}$=चय

,, ४६०—२८$\frac{३}{४}$=चय

,, $\frac{४६०}{१} \times \frac{४}{१६८१}$=चय

,, $\frac{४६०}{१} \times \frac{४}{१६८१}$=१६ (चय)

अब सूत्रानुसार एककम गच्छ ११ का आधा ५$\frac{१}{२}$ से चय १६ को गुणा करने पर ८८ आये । चय मिलाने पर ८८+१६=१०४ आये । १०४×गच्छ (१२)=१२४८ आये । यही उभयद्रव्यविशेष-द्रव्य है । शेष सुगम है ।

अर्थ—जघन्यकृष्टिमे बहुत द्रव्य दिया जाता है, उससे आगे अन्तिमकृष्टि पर्यन्त विशेष हीनरूपसे द्रव्य दिया जाता है। पूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणामे अनन्तगुणा-हीन द्रव्य दिया जाता है उससे ऊपर विशेषहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है, किन्तु पूर्व-कृष्टिकी प्रथमकृष्टिमे जो द्रव्य दिया जाता है वह अपूर्व अन्तिमकृष्टिमे दिये गये द्रव्यसे असख्यातवे भाग और अनन्तवे भागहीन है, क्योकि एक अधस्तनकृष्टिका द्रव्य व उभयद्रव्य विशेषसे हीन है।

विशेषार्थ—प्रथम समयमें अपकर्षित किये गये समस्त प्रदेशपुञ्जके असंख्यातवे भागको ग्रहणकर कृष्टियोमें निक्षिप्त करता हुआ जघन्यकृष्टिमे बहुत प्रदेशपुंज देता है। उससे अनन्तर उपरिम दूसरी कृष्टिमे प्रदेशपुंज विशेषहीन देता है। दो गुणहानिके प्रतिभागके अनुसार अनन्तवे भागप्रमाण विशेषहीन देता है। इसप्रकार इस प्रतिभागके अनुसार उत्तरोत्तर अनन्तर पूर्वकृष्टिके प्रदेशपुञ्जसे विशेष हीन करके अन्तिमकृष्टिके प्राप्त होने तक विशेष हीन प्रदेशपुंजको देता है। इतनी विशेषता है कि परम्परोप-निधाकी अपेक्षासे भी गणना करनेपर प्रथमकृष्टिमें निक्षिप्त हुए प्रदेशपुञ्जसे अन्तिम कृष्टिमें निक्षिप्त प्रदेशपुञ्ज अनन्तवा भाग हीन ही होता है, क्योकि कृष्टियोका आयाम एक स्पर्धककी वर्गणाओके अनन्तवे भागप्रमाण है। पुनः अन्तिम कृष्टिमे निक्षिप्त हुए प्रदेशपुञ्जसे ऊपर जघन्य स्पर्धक की आदि वर्गणामे अनन्तगुणे हीन प्रदेशपुञ्ज को देता है। (विशेष कथनके लिये ज. ध. पु. १३ पृ. ३११ देखना चाहिए।)

प्रथम समयमें अपकर्षित द्रव्यसे असख्यातगुणे द्रव्यको अपकर्षित कर द्वितीय समयमें पूर्व-अपूर्व कृष्टियोमें सिंचन करता हुआ द्वितीय समयमे तत्काल रची जानेवाली अपूर्व कृष्टियोकी जो आदि जघन्यकृष्टि है उसमें प्रथम समयकी अन्तिम कृष्टिमे निक्षिप्त हुए प्रदेशपुंजसे असख्यातगुणे पुंजको देता है। इस आदि जघन्यकृष्टिकी अपेक्षा दूसरी अपूर्वकृष्टि मे अनन्तवेभाग हीन देता है। इसप्रकार अपूर्वकृष्टियोंमे जो अन्तिमकृष्टि है वहां तक इसी क्रमसे द्रव्य देते हुए ले जाना चाहिए। उसके बाद प्रथम समयमे रची गई पूर्वकृष्टियो मे जो जघन्यकृष्टि है उसमे विशेष हीन अर्थात् असख्यातवेभाग और अनन्तवेभागप्रमाण कम देता है, क्योंकि प्रथम समयमे पूर्व कृष्टियोमे निक्षिप्त द्रव्यसे दूसरे समयमे निक्षिप्त किया जानेवाला द्रव्य अपकर्षित किये गये द्रव्यके माहात्म्यवश असख्यातगुणा होता है। इसलिये पूर्वकृष्टियोकी जघन्यकृष्टिमे पहलेका अवस्थित द्रव्य इस समय सिंचित किये जाने वाले द्रव्यके असंख्यातवेभागप्रमाण होता है। अतः

संदृष्टि न. ४ मे मध्यमखण्डद्रव्य मिलाने पर सदृष्टिकी आकृति निम्न प्रकार हो जाती है —
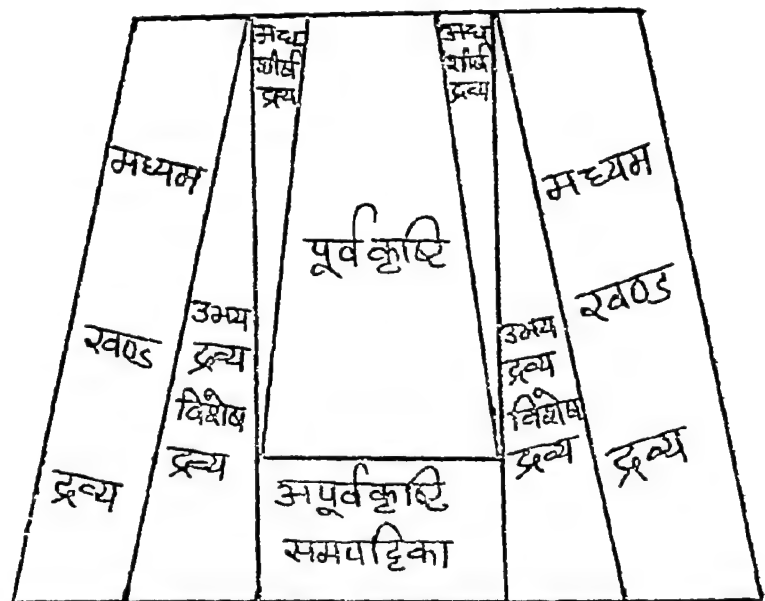
इसप्रकार द्रव्य देनेका विधान जानना चाहिए। यद्यपि द्रव्य तो युगपत् जितना देने योग्य है उतना दिया जाता है; तथापि समझने के लिये पृथक्-पृथक् विभाग करके वर्णन किया है।

हेट्ठासीसं थोवं उभयविसेसे तदो असंखगुणं।
हेट्ठा अणंतगुणिदं मज्झिमखंडं असंखगुणं ॥२८७॥

अर्थ—(पूर्वोक्त गाथा २८६ मे) कहे गये चारप्रकारके द्रव्योमे अधस्तनशीर्ष विशेष द्रव्य सबसे स्तोक है। इससे उभयद्रव्य विशेष असख्यातगुणा है। इससे अधस्तन-कृष्टि द्रव्य अनन्तगुणा है और इससे मध्यमखण्ड द्रव्य असख्यातगुणा है ऐसा जानना।

तृतीयादि समयोंमें कृष्टियों सम्बन्धी विशेष करते हुए निक्षेपद्रव्यके पूर्व और अपूर्वगत संधि विशेष का कथन करते हैं—

अवरे बहुगं देदि हु विसेसहीणक्कमेण चरिमोत्ति।
तत्तो णंतगुणूणं विसेसहीणं तु फड्डयगे ॥२८८॥
णवरि असंखाणंतिमभागूणं पुव्वकिट्टिसंधीसु।
हेट्टिमखंडपमाणेणेव विसेसेण हीणादो ॥२८९॥

चाहिए। अथवा सदृश घनवाले अनन्त परमाणुओंको कृष्टिरूपसे ग्रहणकर यह कथन करना चाहिए, क्योंकि उत्तरोत्तर एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदोंकी क्रम वृद्धि यहा पर नही पाई जाती इसलिये इनकी कृष्टि सज्ञा है। पुन' अन्तिम कृष्टिसे ऊपर जघन्य स्पर्धककी प्रथमवर्गणा अनन्तगुणी है।

लोभवेदककालके द्वितीय त्रिभागकी कृष्टिकरण कालसज्ञा है, क्योंकि यहां पर स्पर्धकगत अनुभागका अपवर्तनकर कृष्टियोंको करता है। जिसप्रकार क्षपकश्रेणिमे कृष्टियोंको करता हुआ सभी पूर्व और अपूर्व स्पर्धकोंका पूर्णरूपेण अपवर्तनकर कृष्टियोको ही स्थापित करता है, उस प्रकार उपशमश्रेणिमे सम्भव नही है, क्योंकि सभी पूर्व-स्पर्धकोंके अपने-अपने स्वरूपको न छोड़कर उसीप्रकार अवस्थित रहते हुए सर्व स्पर्धकोमे से असख्यातवेभागप्रमाण द्रव्यका अपकर्षणकर एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवे-भागप्रमाण सूक्ष्मकृष्टियोंकी रचना होती है[1]।

अब कृष्टिकरणकालमें स्थितिबन्धके प्रमाणकी प्ररूपणा के लिए तीन गाथाओं द्वारा कथन करते हैं—

विदियद्धा संखेज्जाभागेसु गदेसु लोभठिदिबंधो।
अंतोमुहुत्तमेत्तं दिवसपुधत्तं तिघादीणं ॥२९१॥

अर्थ—लोभसज्वलन कालके तीनभागोमे से दूसरे कालके (भागके) सख्यात बहुभाग बीत जानेपर सज्वलनलोभका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है शेष तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध पृथक्त्वदिनप्रमाण होता है[2]।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकाल अर्थात् द्वितीयकालके अन्तिम समयको प्राप्त किये बिना वहासे नीचे सरककर उस कालके सख्यात भागोंके अन्तिम समयमे सज्वलनका तात्कालिक स्थितिबन्ध पूर्वमे होनेवाले दिवस पृथक्त्वप्रमाणसे यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण हो जाता है। इससे पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया

---

१. ज. ध पु. १२ पृ ३१४-१५; ध. पु. ६ पृ. ३१३।

२. क. पा. सुत्त पृ ७०३ चूर्णिसूत्र २९०-९१; ध. पु. ६ पृ ३१४।

उतना[1] (पूर्व अवस्थित द्रव्य) कम करके पुनः एक गोपुच्छ विशेष[2] और कम करके प्रदेश विन्यास होता है, अन्यथा कृष्टियोमे एक गोपुच्छश्रेणिकी उत्पत्ति नही हो सकती। इससे आगे ओघ उत्कृष्ट कष्टिकी अपेक्षा प्रथम समयमे रची गई कृष्टियोमें अन्तिम-कृष्टिके प्राप्त होने तक सर्वत्र अनन्तवांभागप्रमाण विशेषहीन विन्यास होता है। पुन उससे जघन्य स्पर्धककी आदिकी वर्गणामे अनन्तगुणा हीन प्रदेशपुञ्ज दिया जाता है। उससे उत्कृष्ट स्पर्धकसे जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धक नीचे सरककर स्थित हुए वहाके स्पर्धककी उत्कृष्ट वर्गणाके प्राप्त होनेतक अनन्तवांभाग प्रमाण विशेष हीन प्रदेश विन्यास होता है।

प्रदेश विन्यासका जैसा क्रम दूसरे समयमे कहा गया है वैसा शेष समयोमे जानना चाहिए, क्योकि दीयमान द्रव्य अर्थात् दिये जाने वाले द्रव्यकी यह श्रेणिप्ररुपणा है। दृश्यमान द्रव्यकी श्रेणीकी अपेक्षा-प्रथमकृष्टिमे दृश्यमान प्रदेशपु ज बहुत है, उससे दूसरीमे अनन्तवा भागप्रमाण विशेष हीन है। इसप्रकार अन्तिमकृष्टि तक उत्तरोत्तर विशेष हीन है। स्पर्धककी वर्गणाओमे भी दृश्यमान द्रव्य विशेष हीन ही होता है[3]।

अब कृष्टियोंका शक्ति सम्बन्धी अल्पबहुत्व कहते हैं—

अवरादो चरिमेत्ति य अणंतगुणिदक्कमादु सत्तीदो।
इदि किट्टीकरणद्धा बादरलोहस्स बिदियद्धं ॥२६०॥

अर्थ—अनुभागकी अपेक्षा जघन्य अपूर्वकृष्टिके अविभाग प्रतिच्छेदोसे द्वितीय-कृष्टिके अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे है। इसी प्रकार अनन्तगुणित क्रम पूर्वकृष्टिकी अन्तिम कृष्टितक ले जाना चाहिए। इसप्रकार बादरलोभ वेदक कालका द्वितीयार्ध कृष्टिकरणकाल व्यतीत होता है।

विशेषार्थ—जघन्यकृष्टि सदृश घनवाले परमाणुओमे से एक परमाणुके अवि-भाग प्रतिच्छेदो को ग्रहणकर एक कृष्टि होती है, यह स्तोक है। दूसरी कृष्टिके अर्थात् दूसरी कृष्टिके एक परमाणु सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे है। इसप्रकार एक-एक परमाणु को ग्रहणकर अनन्तगुणित क्रमसे अन्तिमकृष्टिके प्राप्त होने तक ले जाना

---

१ अर्थात् अधस्तन कृष्टिद्रव्य।

२ अर्थात् उभय द्रव्यविशेष।

३ ज. ध पु १३ पृ. ३१०-३१४।

वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंके भी सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्धसे घटकर कुछकम दो वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है जो बादरसाम्परायिक क्षपकके अन्तिम स्थितिबन्धसे दूना है, क्योंकि क्षपकश्रेणिमे इस स्थलपर होनेवाला स्थितिबन्ध एक वर्षसे कुछकम होता है[1]।

अव संक्रमणकाल सम्बन्धी अवधि का विचार करते हैं—

विदियद्धा परिसेसे समऊणावलितियेसु लोहदुगं ।
सट्ठाणे उवसमदि हु ण देदि संजलणलोहम्मि ॥२६४॥

अर्थ—दूसरे कृष्टिकरणकालमें एक समयकम तीन आवलियां शेष रहने पर दो प्रकारका लोभ (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ) सज्वलनलोभमें संक्रांत नही होता, स्वस्थानमें ही उपशमाया जाता है[2]।

विशेषार्थ—एक समयकम तीन आवलि शेष रहनेपर सक्रमणावलि और उपशमनावलिका परिपूर्ण होना असम्भव है, इसलिये उस अवस्थामें अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण लोभ संज्वलनलोभमे सक्रमित नही होता, किन्तु स्वस्थानमें ही उपशमित होता है (अपने रूपसे ही उपशमता है)। आवलि और प्रत्यावलिके शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते है। प्रत्यावलिमें एक समय शेष रहनेपर सज्वलन लोभकी जघन्यस्थिति उदीरणा होती है[3]।

अब लोभत्रय को उपशमनविधि का कथन करते हैं—

बादरलोहादिठिदी आवलिसेसे तिलोहमुवसंतं ।
णवकं किट्टिं मुच्चा सो चरिमो थूलसंपराओ य ॥२६५॥

अर्थ—बादरलोभकी प्रथमस्थितिमे आवलि शेष रहनेपर नवक समयप्रवद्ध और कृष्टियोको छोड़कर तीन प्रकारके लोभका द्रव्य उपशान्त हो चुकता है। वह अन्तिम समयवर्ती बादरसाम्पराय होता है।

---

१. ज. ध पु. १३ पृ. ३१७।

२. क पा. सु पृ. ७०३ सूत्र २६६।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ३१७-१८। क. पा सु पृ ७०३ सूत्र २६७; ध. पु. ६ पृ. ३१४।

कर्मोका स्थितिबन्ध सहस्रवर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता रहा जो यथाक्रम संख्यात गुणहानियों के द्वारा घटकर दिवस पृथक्त्वप्रमाण हो जाता है[1]।

किट्टीकरणद्धाए जाव दुचरिमं तु होदि ठिदिबंधो।
वस्साणं संखेज्जसहस्साणि अघादिठिदिबंधो ॥२६२॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके द्विचरम स्थितिबन्धतक नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है[2]

विशेषार्थ—लोभ सज्वलनकालके तीन भागोमे से दूसराभाग कृष्टिकरणकाल के द्विचरम स्थितिबन्ध समाप्त होनेतक नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मो का स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण ही होता है, क्योकि घातिया कर्मोके स्थिति-बधापसरण होनेके समान अघातियाकर्मोके स्थितिबन्धका बहुत अधिक अपसरण होना असम्भव है। इसलिए द्विचरम स्थितिबन्धतक इनका स्थितिबन्ध नियमसे सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है[3]।

किट्टीयद्धाचरिमे लोहस्संतो मुहुत्तियं बंधो।
दिवसंतो घादीणं वेवस्संतो अघादीणं ॥२६३॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालमे अन्तिम स्थितिबन्ध लोभ सज्वलनका अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण, घातियाकर्मोका कुछ कम एकदिनप्रमाण तथा अघातियाकर्मोका कुछकम दो वर्षप्रमाण होता है[4]।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालमे जो अन्तिम स्थितिबन्ध होता है, वह बादर-साम्परायिकका अन्तिम स्थितिबन्ध है। वह स्थितिबन्ध लोभ सज्वलनका अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होता है जो क्षपकश्रेणिमे होनेवाले स्थितिबन्धसे दूना है; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोका कुछकम एकदिन रात्रिप्रमाण है जो क्षपकके बादर-साम्परायिकगुणस्थानमे होनेवाले अन्तिम स्थितिबन्धसे दूना है तथा नाम-गोत्र और

---

१. ज ध. पु. १३ पृ. ३१६।
२ ध पु ६ पृ. ३१४। क पा सुत्त पृ ७०३ चूर्णिसूत्र २६२।
३ ज ध पु १३ पृ. ३१६।
४. ध. पु ६ पृ. ३१४। क पा सु पृ. ७०३ सूत्र २६३-२६५।

प्रथमस्थितिकी रचना सूक्ष्मसाम्परायिकके काल बराबर होती है, परन्तु ज्ञानावरणादिका उस कालमे होने वाला गुणश्रेणिनिक्षेप सूक्ष्मसाम्परायके कालसे विशेष अधिक होकर उदयावलिके बाहर निक्षिप्त हुआ है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमे निक्षिप्त हुआ गुणश्रेणिनिक्षेप गलित शेष होकर इस समय तत्प्रमाण अवशिष्ट रहता है[1]।

आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके प्रथम समयमें उदीयमान कृष्टियोंका निर्देश करते हैं—

पढमे चरिमे समये कदकिट्टीणग्गदो दु आदीदो ।
मुच्चा असंखभागं उदेदि सुहुमादिमे सव्वे ॥२९७॥

अर्थ—प्रथम समयमे जो कृष्टिया की गई उनके अग्राग्र मे से असख्यातवेभाग को छोड़कर और अन्तिम समयमे की गई कृष्टियो की जघन्य (आदि) कृष्टिसे लेकर असंख्यातवे भागको छोडकर अन्य सकल कृष्टियां सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे उदीर्ण होती हैं। [सक्षेपमे १० वे गुणस्थानके प्रथम समयमे कृष्टियो के अधस्तन व उपरिम असख्यातवेभाग को छोडकर शेष असख्यात बहुभाग का वेदन करता है[2]।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालमे से प्रथम और अन्तिम समयमे की गई कृष्टियोको छोडकर शेष समयोमे जो अपूर्वकृष्टियां की गई है वे सभी सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे उदीर्ण हो जाती है, किन्तु यह सदृश धनकी विवक्षासे है, अन्यथा उन सभीका प्रथम समयमें पूर्ण रूपेण उदीर्ण होनेका प्रसङ्ग आ जावेगा, परन्तु ऐसा नही है, क्योकि उनमे से असख्यातवे भागप्रमाण सदृश धनवाले परमाणु प्रदेशपुंजका ही अपकर्ष-प्रतिभागके अनुसार उदय होता है।

प्रथम समयमे जो कृष्टिया रची गई है उनके उपरिम असख्यातवेभागको छोड़कर शेष सर्व कृष्टिया प्रथम समयमे उदीर्ण हो जाती है। यह भी सदृश धनकी विवक्षामे कहा गया है, क्योकि उन सबका एक समयमे पूर्णरूपेण उदयरूप परिणाम नही पाया जाता अतः पल्योपमके असख्यातवेभागसे खण्डित एकभागप्रमाण उपरिम असंख्यातवे भागको छोड़कर प्रथम समयमे की गई कृष्टियोका शेष जो असंख्यात बहुभाग बचता है वह सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे उदीर्ण हो जाता है। कृष्टि-

१. ज. ध पु १३ पृ. २१९-२०, ध पु ६ पृ ३१५।
२. ध. पु. ६ पृ ३१५; क. पा सुत्त पृ ७०४ सूत्र २७४-२७७। ज ध पु १३ पृ ३२०-२१।

विशेषार्थ—बादर लोभको प्रथम स्थितिमें उच्छिष्टावलि शेष रहने पर उपशमनावलिके चरमसमयमे सज्वलनलोभका एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है, कृष्टिया सभी अनुपशान्त रहती है। तथा नवकबन्ध और उच्छिष्टावलिको छोडकर बादर सज्वलनलोभका शेष सर्वद्रव्य व अप्रत्याख्याना-वरण-प्रत्याख्यानावरणका सर्व द्रव्य उपशान्त रहता है। अर्थात् स्पर्धकगत लोभसज्वलन सम्बन्धी सर्व प्रदेशपुंज इस समय उपशान्त हो चुकता है, किन्तु कृष्टिगत प्रदेशपुंज अभी भी अनुपशान्त रहता है, क्योकि सूक्ष्मसाम्परायकालमे कृष्टियोकी उपशामना होती है। परन्तु दोनो प्रकारका लोभ पूरा ही उपशान्त हो चुकता है। नवक बन्धादिकका अनुपशम रहता है। यही अन्तिम समयवर्ती बादरसाम्परायिक सयत है; क्योकि अनि-वृत्तिकरणकालका अन्त देखा जाता है[1]। सार यह है कि जब प्रत्यावलीमे एक समय शेष रहता है उसी समय लोभसज्वलनका सर्व स्पर्धकरूप द्रव्य तथा सकल ही प्रत्या-ख्यान-अप्रत्याख्यान लोभ द्रव्य उपशान्त हो जाता है मात्र (१) नवक समय प्रबद्ध (२) उच्छिष्टावलिमात्र निषेक (३) सूक्ष्मकृष्टि ये उपशान्त नही होते।

अथानन्तर सूक्ष्मसाम्परायमें किये जाने वाले कार्य विशेष का कथन करते हैं—

से काले किट्टिस्स य पढमट्ठिदिकारवेदगो होदि ।
लोहगपढमठिदीदो अद्धं किंचूणयं गत्थ ॥२९६॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणकालके क्षीण होने पर अनन्तर समयमें कृष्टियोंकी प्रथम स्थितिका कारक व वेदक होता है। बादर लोभकी प्रथम स्थितिके कुछकम आधेभाग-प्रमाण कृष्टियोकी प्रथम स्थिति है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण कालके क्षीण होनेपर अनन्तर समयमे ही वह सूक्ष्मकृष्टि वेदकरूपसे परिणमकर सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। प्रथम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक सयतजीव उसी समय दूसरी स्थितिमेसे कृष्टिगत प्रदेशपुंजका अपकर्षण भागहारके द्वारा अपकर्षणकर उदयादि श्रेणिरूपसे अन्तर्मुहूर्त आयामको लिये हुए प्रथमस्थितिका विन्यास करता है। बादर लोभकी प्रथमस्थिति, सज्वलन लोभ वेदककालके साधिक दो बटा तीन ($\frac{2}{3}$) भागप्रमाण होती है। कुछकम उसका अर्धभागप्रमाण सूक्ष्मसाम्परायकी प्रथमस्थितिका विन्यास होता है। यहां की

---

१ ज ध पु १३ पृ ३१८-१६ ।

विशेषार्थ—दूसरे समयमे तो प्रथम समयमे उदीर्ण हुई कृष्टियोके अग्राग्रसे अर्थात् सबसे उपरिम कृष्टिसे लेकर नीचे पल्यके असख्यातवे भागप्रमाण कृष्टियोको छोडता है, क्योकि ऐसा न हो तो प्रथम समयके उदयसे दूसरे समयका उदय अनन्त-गुणा हीन नही बन सकता है। इसलिये पूर्व समयमे उदीर्ण हुई कृष्टियो मे से सबसे उपरिम कृष्टिसे लेकर असख्यातवे भागप्रमाण उपरिम भागको छोड़कर अधस्तन बहु-भागप्रमाण कृष्टियोका दूसरे समयमे वेदन करता है, परन्तु नीचेसे प्रथमसमयमें अनुदीर्ण हुई कृष्टियोके अपूर्व असख्यातवेभागको वेदता है अर्थात् आलम्बनकर ग्रहण करता है। प्रथम समयमें उदीर्ण कृष्टियोसे दूसरे समयमें उदीर्ण हुई कृष्टियां असख्यातवेभाग प्रमाण विशेषहीन है, क्योकि अधस्तन अपूर्व लाभसे उपरिम परित्यक्त भाग बहुत स्वीकार किया गया है। इसीप्रकार सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयों मे भी कथन करना चाहिए।

इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानके कालका पालन करता हुआ आवलि प्रत्यावलिके शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागालका विच्छेद करके पश्चात् एक समयाधिक आवलिकालके शेष रहनेपर जघन्य स्थिति उदीरणा करके पुन. क्रमसे सूक्ष्मसाम्परायका अन्तिम समय प्राप्त हो जाता है[1]।

अथानन्तर सूक्ष्मकृष्टिद्रव्यके उपशम सम्बन्धी विधि एवं सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें कर्मोंके स्थितिबन्धका निर्देश करते हैं—

किट्टिं सुहुमादीदो चरिमोत्ति असंखगुणिदसेढीए।
उवसमदि हु तच्चरिमे अवरट्ठिदिबंधणं छण्हं ॥२६६॥
अंतोमुहुत्तमेत्तं घादितियाणं जहण्णठिदिबंधो।
णामदुग वेयणीये सोलस चउवीस य मुहुत्ता ॥३००॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयसे अन्तिम समयतक कृष्टियोंको असंख्यात-गुणी श्रेणिक्रमसे उपशमाता है। अन्तिम समयमे छहकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है। तीन घातिया कर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, नाम व गोत्रका १६ मुहूर्त और वेदनीयका चौवीस मुहूर्तप्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध होता है।

---

१. ज ध. पु. १३पृ ३२४-२५।

करणकालके अन्तिम समयमे रची गई कृष्टियोंके पल्योपमके असख्यातवेभागरूप प्रति-भाग द्वारा प्राप्त जघन्यकृष्टिसे लेकर अधस्तन असंख्यातवे भागको छोडकर शेष बहुभाग प्रमाण सभी कृष्टियोको उस (प्रथम) समयमे उदयमे प्रविष्ट कराया जाता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे असख्यात बहुभाग कृष्टियोका वेदन होता है। प्रथम और अन्तिम समयमे रचित कृष्टियो मे से उपरिम और अधस्तन असख्यातवे भागप्रमाण कृष्टियोका सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे उदयाभाव है। इतनी विशेषता है कि प्रथम समयमे की गई कृष्टियोमे से नही वेदे जानेवाली उपरिम असख्यातवे भागके भीतरकी कृष्टियां अपकर्षण द्वारा अनन्तगुणी हीन होकर मध्यम-कृष्टिरूपसे वेदी जाती है तथा अन्तिम समयमे रची गई कृष्टियोमे से जघन्य कृष्टिसे लेकर नही वेदी जानेवाली अधस्तन असंख्यातवे भागके भीतरकी कृष्टिया अनन्तगुणी हीन होकर मध्यमकृष्टिरूपसे वेदी जाती है, क्योकि अपने रूपसे ही उनका उदयाभाव है, मध्यमरूपसे उनके उदयाभावका प्रतिषेध नही है। जिसप्रकार मिथ्यात्वके स्पर्धक अपने स्वरूपको छोड़कर अनन्तगुणे हीन होकर सम्यक्त्वप्रकृतिरूपसे उदयको प्राप्त होते है तथा सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके स्पर्धक अपने स्वरूपको छोडकर मिथ्यात्वरूपसे उदयको प्राप्त होते हैं, इसमे कोई विरोध नही है। इसीप्रकार यहां भी उपरिम और अधस्तन असख्यातवे भागप्रमाण कृष्टिया मध्यमरूपसे वेदी जाती है इसमे कुछ निषिद्ध नही है[1]।

द्वितीयादि समयोंमें उदयानुदयकृष्टि सम्बन्धी निर्देश करते हैं—

बिदियादिसु समयेसु हि छंडदि पल्ला असंखभागं तु।
[2]आफुंददि हु अपुव्वा हेट्ठा तु असंखभागं तु ॥२९८॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके द्वितीयादि समयोमे उदीर्ण हुई कृष्टियोके अग्राग्रसे पल्यके असख्यातवे भागप्रमाणको छोड़ता है तथा नीचे से अपूर्व असख्यातवे भागका स्पर्श करता है[3]।

---

१. ज. ध. पु १३ पृ. ३२०-३२३।

२ आफुंददि आस्पृशति वेदयति अवष्टभ्य गृह्णातीत्यर्थः। ज. ध-मूल. पृ. १८६६। ज. ध अ. प. १०३१।

३. क. पा सु. पृ. ७०५ सुत्र २८१।

सम्बन्धी निषेकोके साथ तद्रूप परिणमनकर उदयरूप होगा ।

विशेषार्थ—पुरुषवेदके उच्छिष्टमात्र शेष निषेक तो सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिमें तद्रूप परिणमनकर उदय होते है । इसीप्रकार सज्वलनक्रोधका सज्वलनमानमे इत्यादि क्रमसे बादरलोभके उच्छिष्टावलिसम्बन्धी निषेक सूक्ष्मकृष्टिमे तद्रूप परिणमित होकर उदयरूप होते हैं । इसका कथन पूर्वमें किया हो है ।

पुरिसादो लोहगयं णवकं समऊण दोण्णि आवलियं ।
उवसमदि हू कोहादीकिट्टिअंतेसु ठाणेसु ॥३०२॥

अर्थ—पुरुषवेदसे लोभपर्यन्तके एक समयकम दो आवलिमात्र नवक समयप्रबद्धोका द्रव्य क्रोधादि कृष्टिपर्यन्तकी प्रथमस्थितिके कालोमे उपशमता है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेदका नवक समयप्रबद्ध सज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिके कालमे उपशमित होता है इत्यादि कथन पूर्वमे किया ही है ।

इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें सर्वकृष्टि द्रव्यको उपशान्त करके तदनन्तर समयमें उपशान्तकषाय हो जाता है, इस बात को बताते हैं—

उवसंतपढमसमये उवसंतं सयलमोहणीयं तु ।
मोहस्सुदयाभावा सव्वत्थ समाणपरिणामो ॥३०३॥

अर्थ—उपशान्तकषायके प्रथम समयमे समस्त मोहनीयकर्म उपशमरूप रहता है । मोहनीयकर्मके उदयका अभाव हो जानेसे उपशान्तकषाय गुणस्थानके सम्पूर्ण कालमे समानरूप परिणाम रहते है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानके कालको व्यतीतकर तदनन्तर समय मे मोहनीयकर्मके बन्ध, उदय, सक्रम, उदीरणा, अपकर्षण और उत्कर्षण आदि सभी करणोका पूर्णरूपेण उपशम रहता है । यहासे लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त उपशातकषाय वीतरागछद्मस्थ रहता है । जिसकी सभी कषाये उपशात हो गई है वह उपशांतकषाय कहलाता है तथा कषाय उपशात हो जानेपर वीतराग हो जाता है अत॰ उपशातकपाय वीतराग कहलाता है । समस्त कषायोके उपशात हो जानेसे उपशातकषाय और समस्त राग परिणामोंके नष्ट हो जानेसे वीतराग होकर वह अन्तर्मुहूर्तकाल तक अत्यन्त

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयसे लेकर सभी कृष्टियोके प्रदेशपुंज को गुणश्रेणिरूपसे उपशमाता है अर्थात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे कृष्टियोके प्रदेशपुंजको उपशमाता है। सर्वप्रथम समयमें सर्वकृष्टियोमे पल्योपमके असंख्यातवे-भागका भाग देनेपर जो एक भाग प्राप्त होता है उतने प्रदेशपुंजको उपशमाता है। पुन दूसरे समयमे सर्वकृष्टियोमे पल्यके असख्यातवेभागका भाग देनेपर जो एक भाग लब्ध आवे उतने प्रदेशपुंजको उपशमाता है, किन्तु परिणामोके माहात्म्यसे प्रथम समयमे उपशमाए गये प्रदेशपुंजसे असंख्यातगुणे प्रदेशपुंजको दूसरे समयमे उपशमाता है। इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानके अन्तिम समय होने तक सर्वत्र गुणश्रेणिके क्रमसे उपशमाता है।

केवल कृष्टियो को ही असख्यातगुणित श्रेणिरूपसे नही उपशमाता है, किन्तु जो दो समयकम दो आवलिप्रमाण स्पर्धकगत नवकसमयप्रबद्ध है उन्हेभी असख्यातगुणित श्रेणिरूपसे उपशमाता है। बादरसाम्परायके अन्त समयमें स्पर्धकगत उच्छिष्टावलि शेष रह गई थी वह यहापर कृष्टिरूपसे परिणमकर स्तिवुकसक्रमके द्वारा विपाकको प्राप्त होती है। अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध होता है जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। नाम व गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध सोलहमुहूर्तप्रमाण है, वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध चौवीस मुहूर्तप्रमाण होता है, क्योकि क्षपकके होनेवाले बारह मुहूर्तप्रमाण अन्तिम स्थिति-बन्धसे यह दूने प्रमाण को लिये हुए होता है। यहा सभी कर्मोके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबंध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्धकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इतनी विशेषता है कि वेदनीय-कर्मका प्रकृतिवन्ध उपशान्तकषाय गुणस्थानमे भी होता है, क्योकि प्रकृतिबन्ध योगके निमित्तसे होता है इसलिये सयोगकेवलीके अन्तिम समयतक उक्त बन्ध सम्भव है[1]।

आगे २ गाथाओं में पूर्वोक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

पुरिसादीणुच्छिट्ठं समऊणावलिगदं तु पच्चिहिदि ।
सोदयपढमट्ठिदिणा कोहादीकिट्टियंताणं ॥३०१॥

अर्थ—पुरुषवेदादिका एकसमयकम आवलिप्रमाण निषेकोका द्रव्य उच्छिष्टा-वलिरूप है वह द्रव्य क्रोधादि सूक्ष्मकृष्टि पर्यन्तके उदयरूप निषेकसे लेकर प्रथमस्थिति

[1] ज. ध पु १३ पृ ३२३-३२६। क पा सु पृ ७०५; ध. पु ६ पृ. ३१६।

विशेषार्थ—अवस्थित परिणाम होनेसे अनवस्थित आयामरूपसे तथा अनवस्थित प्रदेशपुंजके अपकर्षणरूपसे गुणश्रेणि विन्यास सम्भव नही है। इसलिये पूरे उपशातकालके भीतर किये जाने वाले गुणश्रेणिनिक्षेपके आयामकी अपेक्षा और अपकर्षित किये जाने वाले प्रदेश पुंजकी अपेक्षा वह (गुणश्रेणि) अवस्थित होती है। अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयतक मोहनीयके अतिरिक्त शेष कर्मोका गुणश्रेणिनिक्षेप उदयावलिके बाहर गलितशेष होता है, परन्तु उपशान्तकषायके प्रथम समयसे लेकर उसीके अन्तिम समयतक गुणश्रेणिनिक्षेप उदयसे लेकर अवस्थित आयामवाला और अवस्थित प्रदेशोंकी रचनाको लिये हुए होता है। प्रथम समयमें गुणश्रेणिका जितने आयाम लिये आरम्भ किया उतने प्रमाण सहित ही द्वितीयादि समयोमें उतना ही आयाम रहता है, क्योकि उदयावलिका एक समय व्यतीत होने पर उपरितन स्थितिका एक समय गुणश्रेणिमे मिल जाता है। उपशान्तमोहके प्रथम समयमें जितना द्रव्य अपकर्षित करके गुणश्रेणिमे दिया उतना ही प्रतिसमय दिया जाता है, इसलिए अपकर्षितद्रव्यका प्रमाण भी अवस्थित है।

उपशान्तकषायके प्रथम समयमें निक्षिप्त गुणश्रेणिनिक्षेपकी अग्रस्थिति, वह प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष है। उस प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके उदयको प्राप्त होने पर ज्ञानावरणादि कर्मोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, क्योकि वहां एक पिण्ड होकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण गुणश्रेणि गोपुच्छाओंका उदय होता है। सरल कथन इसप्रकार है—प्रथम समयवर्ती उपशातकषायको गुणश्रेणिशीर्ष वहां अविनष्टरूपसे उपलब्ध होता है। द्वितीय समयवर्ती उपशातकषायकी भी द्विचरम गुणश्रेणि गोपुच्छा वहां पर है। तृतीय समयवर्ती उपशातकषायकी त्रिचरम गुणश्रेणि गोपुच्छा वहापर उपलब्ध है। इसप्रकार क्रमसे प्रथम समयमें किये गये गुणश्रेणिनिक्षेपके आयाम प्रमाण ही गुणश्रेणि गोपुच्छाए वहां पर (प्रथमगुणश्रेणि शीर्षमे) पाई जाती है। इस कारण दूसरे स्थानको छोडकर यही पर (प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके उदयकाल मे) उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। यद्यपि अगले समयसे लेकर उपशांतकषायके अन्तिम समयतक इतनो ही गुणश्रेणि गोपुच्छाएं प्राप्त होती है, किन्तु वहां पर उन स्थिति विशेषोमे प्रकृति गोपुच्छा की अपेक्षा क्रमसे एक-एक गोपुच्छा-विशेष (चय) की हानि पाई जाती है। इसलिये गोपुच्छा विशेप (चय) के लाभको लक्ष्यकर यथानिर्दिष्टस्थान ही उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व कहा गया है। प्रकृति गोपुच्छा-विशेष लाभकी दृष्टिसे यदि यह कहा जावे कि अपूर्वकरणके

स्वच्छ परिणामवाला होकर अवस्थित रहता है, क्योकि अन्तर्मुहूर्तसे और अधिककाल-तक उपशम पर्यायका अवस्थान असम्भव है[1] ।

समस्त उपशान्तकालमे वह अवस्थित परिणामवाला होता है, क्योकि परिणामो की हानि-वृद्धिकी कारणभूत कषायोके उदयका अभाव होनेसे अवस्थित यथाख्यात-विहारशुद्धिसयमसे युक्त सुविशुद्ध वीतरागपरिणामके साथ प्रतिसमय अभिन्नरूपसे उपशातकषायवीतरागके कालका पालन करता है[2] ।

अथानन्तर उपशांतकषाय गुणस्थानका काल कहते हैं—

अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसंतकसायवीयरायद्धा ।
गुणसेढीदीहत्तं तस्सद्धा संखभागो दु ॥३०४॥

अर्थ—उपशातकषायवीतरागका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है और उसके सख्यातवेभागप्रमाण गुणश्रेणि आयाम है ।

विशेषार्थ—उपशातकषायका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है । इस उपशांतकषाय-कालके सख्यातवेभागप्रमाण आयामवाला[3] इस जीवके ज्ञानावरणादि कर्मोका गुणश्रेणि निक्षेप होता है । ऐसा होता हुआ भी अपूर्वकरणके प्रथम समयमे किये गये गलितशेष गुणश्रेणि निक्षेपके इससमय प्राप्त होने वाले शीर्षसे सख्यातगुणा होता है[4] ।

उक्त कथनका विशेष स्पष्टीकरण आगे करते हैं—

उदयादिअवट्ठिदगा गुणसेढी दव्वमवि अवट्ठिदगं ।
पढमगुणसेढिसीसे उदये जेट्ठं पदेसुदयं ॥३०५॥

अर्थ—उपशातमोह कालमे उदयादि गुणश्रेणिका आयाम अवस्थित है और द्रव्यनिक्षेप भी अवस्थित है । प्रथम गुणश्रेणि (उपशातमोहके प्रथम समयमे की गई गुणश्रेणि) के शीर्षका उदय होनेपर ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

---

१ यद्यपि यह उपशान्त कषाय जीव अवस्थित परिणामवाला होता है तो भी उपशान्तकषायभावसे अवस्यानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है, क्योकि उसके बाद उपशमपर्यायका अवस्थान (टिकाव) असम्भव है । (ज. व मूल पृ १८९२ एव ध पु. ६ पृ ३१७) ज ध. पु १३ पृ ३२५-२७ ।

३ क पा. सु पृ. ७०५, सूत्र २८८, ज ध. मूल पृ १८६६-६७, ध पु. ६ पृ. ३१६ ।

४. ज ध पु १३ पृ ३२७ ।

विशेषार्थ—गाथोक्त २५ प्रकृतियोके उदय होनेके काल में आत्माके विशुद्ध सक्लेश परिणामों मे जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी ही हानि वृद्धि इन २५ प्रकृतियोके अनुभागोदयमे होती है। आत्म परिणामके अनुसार इन २५ प्रकृतियोके अनुभागका उत्कर्षण-अपकर्षण होकर उदय होता है इसलिये ये २५ प्रकृतिया परिणामप्रत्यय है।

समग्र उपशातकालके भीतर केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरणका अवस्थित अनुभागोदय होता है, क्योकि उपशान्तकालमे आत्माके परिणाम अवस्थित होते है। निद्रा और प्रचला अध्रुवोदयी प्रकृतिया है इसलिये इनका कदाचित् उदय नही होता। यदि इनका उदय होता है तो जबतक इनका उदय रहता है तबतक अनुभागवेदन अवस्थित होता है, क्योकि आत्मपरिणाम अवस्थित होते है। आत्मपरिणाम अवस्थित होनेके कारण अन्तरायकर्मकी पाचो प्रकृतियोका अनुभागवेदन भी अवस्थित होता है। यद्यपि इन प्रकृतियोकी क्षयोपशमलब्धि होनेसे छह वृद्धियो और छह हानियों के द्वारा नीचेके गुणस्थानोमे उदय सम्भव है तो भी उपशातकषाय गुणस्थानमें इन प्रकृतियोंका अनुभाग उदय अवस्थित ही होता है, क्योकि अवस्थित एक भेदरूप परिणामके होने पर परिणामके आधीन इनके उदयका द्वितीय प्रकार सम्भव नही है। मति-श्रुत अवधि-मन.पर्यय ये चार ज्ञानावरण, चक्षु-अचक्षु·अवधि ये तीन दर्शनावरण, इन लब्धि कर्माशो का अनुभागोदय अवस्थित ही होता है; यह नियम नही है, किन्तु उनके अनुभागोदयकी वृद्धि-हानि-अवस्थान ये तीन स्थान होते है। जिन प्रकृतियोका क्षयोपशमरूप परिणाम होता है वे लब्धिकर्माश होती है, क्योकि क्षयोपशमलब्धि होकर कर्माशोकी लब्धिकर्माश सज्ञा सिद्ध हो जाती है।

यद्यपि ज्ञानावरण-दर्शनावरणकी उक्त सात प्रकृतियां परिणाम प्रत्यय है तथापि उनकी छह प्रकारकी वृद्धि, छह प्रकारकी हानि और अवस्थान उपशातकषायमे सम्भव है ऐसा उपदेश पाया जाता है। उपशातकषायमे यदि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम नही है तो अवस्थित अनुभागोदय होता है, क्योकि अनवस्थितपनेका कारण नही पाया जाता। यदि क्षयोपशम है तो छहवृद्धियो, छह हानियो और अवस्थितक्रमसे अनुभागका उदय होता है, क्योकि देशावधि और परमावधिज्ञानी जीवोमे असख्यातलोक-प्रमाण भेदरूप अवधिज्ञानावरण सम्बन्धी क्षयोपशमके अवस्थित परिणाम होने पर भी वृद्धि, हानि और अवस्थानके बाह्य और अभ्यन्तर कारणोकी अपेक्षा तीन स्थानोके होनेमे विरोधका अभाव है। इस कारण सबसे उत्कृष्ट क्षयोपशमसे परिणत हुए उत्कृष्ट

प्रथम समयमे किया गया गुणश्रेणीशीर्षके, जो उपशांतकषायके प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके भीतर ही नीचे उपलब्ध होता है, के उदयको प्राप्त होनेपर उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व होता है, क्योकि सचयको प्राप्त हुए गोपुच्छाओके माहात्म्यवश उसके बहुत अधिक प्रदेशोका सचय होता है। तो ऐसा कहना ठीक नही है, सबसे अधिक प्रदेशपुजको अपेक्षा इसको ग्रहण करना शक्य नही है, क्योकि इस सम्बन्धी समस्त द्रव्यसे भी असख्यातगुणा द्रव्य परिणामोके माहात्म्यवश उपशातकषायके प्रथम समयमे किये गये गुणश्रेणिशीर्षमे होता है। इसलिये पूर्वोक्त स्थल पर ही (प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष उदय होने पर) ज्ञानावरणादि छह कर्मोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। यह आदेश उत्कृष्ट है, क्योकि इनका ओघ उत्कृष्ट प्रदेशाग्र क्षपकश्रेणिमे होता है[1]।

अब ११ वें गुणस्थानमें उदययोग्य सर्व ५९ प्रकृतियोंमें से अवस्थित वेदन और अनवस्थित वेदन वाली प्रकृतियों का विभाजन बताते हैं—

णामधुवोदयबारस सुभगति गोदेक्क विग्घपणगं च।
केवल णिद्दाजुयलं चेदे परिणामपच्चया होंति ॥३०६॥
तेसिं रसवेदमवट्ठाणं भवपच्चया हु सेसाओ।
चोत्तीसा[2] उवसंते तेसिं तिट्ठाण रसवेदं ॥३०७॥

अर्थ—उपशातकषायमे उदययोग्य जो ५९ प्रकृतिया पाई जाती है उनमें तैजस-कार्मणशरीर २, वर्णादि ४, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण नामकर्म की ये बारह प्रकृति और सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, अन्तरायकी पांच, केवल-ज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, प्रचला ये सर्व २५ प्रकृतिया परिणामप्रत्यय है। ये २५ प्रकृतिया परिणाम प्रत्यय है इसलिये उपशातकषायमे उनका रसवेदन अवस्थित है। शेष ३४ प्रकृतिया भवप्रत्यय है इसलिए उन शेष ३४ प्रकृतियोके रसवेदन सबधी तीनस्थान है।

१　ज. ध पु १३ पृ ३२८-३३०।

२　३४ प्रकृतिया इसप्रकार हैं—ज्ञानावरण ४, दर्शनावरण ३, वेदनीय २, मनुष्यायु-मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, आदिके ३ सहनन, ६ सस्थान उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति, प्रत्येक, त्रस, बादर, पर्याप्त और दो स्वर।

चारित्रमोहोपशामना परिशिष्ट अधिकार ।

कर्मोका उदय आदि (उदय-उदीरणा) परिणमनके बिना उपशान्तरूपसे अवस्थानको **उपशामना** कहते है । वह उपशामना दो प्रकारकी होती है—१. करणोपशामना २ अकरणोपशामना । प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामोके द्वारा कर्म प्रदेशोका उपशान्तभावसे रहना करणोपशामना है अथवा करणोकी उपशामनाको **करणोपशामना** कहते है । अप्रशस्त निधत्ति, निकाचित आदि [1]आठकरणोको अप्रशस्त उपशामना द्वारा उपशान्त करना या उत्कर्षण आदि करणोका अप्रशस्त उपशामनाके द्वारा उप- **करणोपशामना** है । इससे भिन्न लक्षणावली अकरणोपशामना है । प्रशस्त-अप्रशस्त परिणामोके बिना उदय-अप्राप्तकाल वाले कर्मप्रदेशोके उदयरूप परिणामके बिना अवस्थित रहने को **अकरणोपशामना** कहते हैं । इसीका दूसरा नाम अनुदीरणोपशामना है । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका आश्रय लेकर कर्मोके होने वाले विपाक परिणामको: उदय कहते है । इसप्रकारके उदयसे परिणतकर्मको **उदीर्ण** कहते है । इस उदीर्ण दशासे भिन्न (उदयावस्थाको नहीं प्राप्त हुए कर्मोको) दशाको **अनुदीर्ण** कहते है । अनुदीर्ण कर्मकी उपशामनाको **अनुदीर्णोपशामना** कहते है, क्योकि करणपरिणामकी अपेक्षा नही होती इसलिए इसको **अकरणोपशामना** भी कहते है । इसका विस्तारपूर्वक कथन कर्मप्रवाद नामक आठवे पूर्वमें है ।

करणोपशामनाके दो भेद है—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना । अप्रशस्त उमशमकरणादि (अप्रशस्तउपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरणादि) के द्वारा कर्मप्रदेशोके एकदेश उपशान्त करनेको **देणकरणोपशामना** कहते है, किन्तु कुछ आचार्य कहते है कि देशकरणोपशामनाका इसप्रकार लक्षण करनेपर इसका

---

१ अट्ठविह ताव करणं । जहा—अप्पसत्थउवसामणकरणं, णिधत्तीकरण, णिकाचणाकरण, बंधणकरण, उदीरणाकरण, ओकड्डणाकरण उक्कड्डणाकरण सकमणकरण च ।

(क पा सुत्त पृ ७१२ सूत्र ३५८, ज. ध. मूल पृ. १८८४)

अवधिज्ञानी जीवमे अवधिज्ञानावरणका अनुभागोदय अवस्थित होता है। उससे अन्यत्र अवधिज्ञानावरणका रसोदय छहवृद्धियो, छह हानियो और अवस्थानरूपसे अनवस्थित होता है। इसीप्रकार मन पर्ययज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरणकी अपेक्षा भी कथन करना चाहिए। शेष ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी अपेक्षा भी आगमानुसार कथन करना चाहिए।

जो नामकर्म और गोत्रकर्म परिणाम प्रत्यय होते है उनका अनुभागोदयकी अपेक्षा अवस्थितवेदक होता है। वेदी जाने वाली नामकर्मकी प्रकृतियोको ग्रहण करना चाहिए, क्योकि नही वेदी जाने वाली नामकर्मकी प्रकृतियोंका अधिकार नही है। मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छहसस्थानोमे से कोई एक सस्थान, औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग, तीन सहननमें से कोई एक सहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगतियोमें से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर-दुःस्वरमे से कोई एक, आदेय, यशःकीर्ति, सुभग, निर्माण ये नामकर्मकी वेदी जानेवाली प्रकृतियां हैं। इनमे से तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्ण, गंध, रस, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रुक्ष स्पर्श, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और निर्माण नामकर्म परिणामप्रत्यय है। गोत्रकर्ममे उच्चगोत्र परिणामप्रत्यय है। इसप्रकार परिणामप्रत्यय नाम व गोत्रकर्मकी उक्त प्रकृतियोकी अनुभागोदयकी अपेक्षा अवस्थित वेदना होती है, क्योकि अवस्थित परिणामविषयक होने पर दूसरा प्रकार सम्भव नही है, परन्तु यहां वेदी जानेवाली भवप्रत्यय शेष सातावेदनीय आदि अघाति प्रकृतियोकी छह वृद्धि और छह हानिके क्रमसे अनुभागको यह वेदता है[1]।

इसप्रकार उपशान्तकषाय गुणस्थानके अन्तिमसमयपर्यंन्त चारित्रमोहकी इक्कीस प्रकृतियोका उपशम विधान सम्पूर्ण हुआ।

१. ज. ध पु १३ पृ ३३०-३३४। क पा सु. पृ. ७०७।

समाधान:—यह दोष नही आता, क्योकि अनिवृत्तिकरणमे प्रवेशके प्रथम-समयमे ही अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरण नष्ट हो जाते है और वह सतति अविच्छिन्नरूपसे ऊपर चली जानेसे उनकी प्रवृत्ति सम्भव नही है। अतः सर्वोपशामनामे उन अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण आदिका उपशम सिद्ध हो जाता है। सर्वोपशामना करणमे अपकर्षणादिका अभाव होनेपर भी अप्रशस्त उपशम-करणादिकी उत्पत्ति नही होती। ससार अवस्थामें अपकर्षणादिका अभाव होनेपर भी अप्रशस्त उपशमकरणादिकी उत्पत्ति नही होती। ससार अवस्थामे अपकर्षणादि सम्भव होनेपर भी बन्धके समय अन्तरंग कारणके वशसे कितने ही कर्म परमाणुओका उदीरणा-उदय आदिका न होना अप्रशस्तउपशमकरण आदिका व्यापार है।[1]

श्री यतिवृषभाचार्यने कषायपाहुड़ पर रचित चूर्णि सूत्रोमे देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामनाका कथन इसप्रकार किया है—

देशकरणोपशामनाके दो नाम है—देशकरणोपशामना, अप्रशस्तोपशामना। जयधवलाकारने इसकी व्याख्या इसप्रकार की है—संसार प्रायोग्य अप्रशस्त परिणाम निबन्धन होनेसे इस देशकरणोपशामनाको **अप्रशस्तोपशामना** कहा गया है। अप्रशस्त परिणामोका निबधन असिद्ध भी नही है, क्योकि अतितीव्र सक्लेशके वशसे अप्रशस्तोप-शामनाकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरणकी प्रवृत्ति देखी जाती है। क्षपकश्रेणी व उपशमश्रेणिमे विशुद्ध परिणामोके द्वारा इनका विनाश हो जाता है, इसलिए अप्रशस्त भावकी सिद्धि हो जाती है। इसप्रकार जो अप्रशस्तोपशामना है, वही देशकरणोप-शामना कही जाती है। कर्म प्रकृति प्राभृतमे अर्थात् दूसरापूर्व, पचमवस्तु, उसकी चतुर्थ प्राभृतके कर्मप्रकृति अधिकारमें देशकरणोपशामनाका सविस्तार कथन है।

सर्वकरणोपशामनाके भी दो नाम है—सर्वकरणोपशामना और प्रशस्त-करणोपशामना। प्रथम सर्वकरणोपशामनाका कथन पूर्वमें किया जा चुका है। प्रशस्तकरणोपशामना सज्ञा सुप्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें प्रशस्तकरण परिणाम कारण है। कषायोपशामनाकी प्ररुपणाके अवसरमें सर्वकरणोपशामनाकी विवक्षा है। अकरणोपशामना व देशकरणोपशामनाका यहां प्रयोजन नही है।[2]

---

१. जयधवल मूल पृ० १८७२-७३।
२. जयधवल मूल प० १८७४ एवं क. पा. सुत्त पृ० ७०७-७०९।

अकरणोपशामनामे अन्तर्भाव हो जावेगा इसलिए इसका लक्षण इसप्रकार है—दर्शन-मोहनीय कर्म उपशमित हो जानेपर अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित, बन्धन, उत्कर्षण, उदीरणा और उदय ये सातकरण उपशान्त हो जाते है तथा अपकर्षण और परप्रकृतिसक्रमण ये दो करण अनुपशान्त रहते है। अत कुछ करणो के उपशमित होनेसे और अन्य करणोके अनुपशमित रहनेसे इसे देशकरणोपशामना कहते है। अथवा उपशमश्रेणि चढनेवाले जीवके अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण और निकाचितकरण, ये तीनकरण अपने-अपने स्वरूपसे विनष्ट हो जाते है। ससार अवस्थामे इन तीनोकरणोके कारण उदय, सक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उपशान्त थे अर्थात् होते नही थे, किन्तु इन तीन करणोका नाश होनेपर अपकर्षणादि क्रिया होने लगती है। इनका विनाश होनेपर उपशमका अभाव नही होता, क्योंकि पूर्व संसारावस्थामे अप्रशस्त उपशमकरण आदि तीन करणोके द्वारा गृहीत प्रदेशोका उस स्वरूपसे (अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित स्वरूपसे) जो विनाश होता है वह **देशकरणोपशामना** है। अप्रशस्त उपशम आदि तीन करणोका विनाश होनेपर अप-कर्षणादि क्रिया सम्भव होनेसे अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायमे देशकरणोपशामना होती है। अथवा नपुंसकवेदके प्रदेशाग्रका उपशम करते हुए जबतक उसका सर्वोपशम नही हो जाता तबतक उसका नाम देशकरणोपशामना है। अथवा नपुंसकवेदके उप-शान्त होनेपर और शेष कर्मोके अनुपशान्त रहनेकी अवस्था विशेषको **देशोपकरण-शामना** कहते है, क्योकि करण परिणामोके द्वारा (विवक्षित एक भागरूप) कर्म-प्रदेशोकी उपशान्त अवस्था हुई है।

सर्वकरणोकी उपशामना सर्वकरणोपशामना है। अप्रशस्त उपशम, निधत्ति, निकाचित आदि आठ प्रकारके करणोका अपनी क्रियाको छोड़कर प्रशस्त उपशामनाके द्वारा जो सर्वोपशम होता है वह **सर्वकरणोपशामना** है[1]।

शङ्का:—यदि सर्वकरणोपशामनामे अपकर्षण आदि क्रियाका अभाव है तो अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित करणोमे भी अपकर्षणादिका अभाव सम्भव है। अपकर्षणादि क्रियाके अभावमे अप्रशस्तोपशमकरणादिको उत्पत्तिका प्रसग आ जानेसे इनका उपशम कैसे सम्भव है ?

---

१. क. पा. सुत्त पृ० ७०६ ।

उपशान्तकषायगुणस्थानसे अधःपतनका कथन ।

"उपशान्तकषायतः अधःपतनकथनाधिकारः"

अवस्थित परिणामवाला उपशान्तकषायवीतरागी मोहमें जिन कारणोंसे गिरता है; उसमें सर्वप्रथम भवक्षयरूप कारण को कहते हैं—

उवसंते पडिवडिदे भवक्खये देवपढमसमयम्हि ।
उग्घाडिदाणि सव्ववि करणाणि हवंति णियमेण ॥२०८॥

अर्थः—भवक्षय होनेपर उपशान्तकषायसे गिरकर देवोमे उत्पन्न होनेवालेके प्रथमसमयमें नियमसे समस्तकरण उद्‌घाटित हो जाते हैं ।

विशेषार्थः—अवस्थित परिणामवाले उपशान्तकषायका प्रतिपात दो प्रकार है १. भवक्षय निबन्धन २. उपशमनकाल क्षय निबन्धन । इनमे भवक्षय अर्थात् प्रथमादि किसी भी समयमे आयुक्षयसे प्रतिपातको प्राप्त हुए जीवके देवोमे उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही असंयत हो जानेसे बंध, उदीरणा एव संक्रमणादि सब करण निज स्वरूपसे प्रवृत्त हो जाते है । उपशान्तकषायमे जो करण उपशान्त थे वे सब देव असयतमें उपशम रहित हो जाते है । उपशान्तकषायसे परिणाम हानिके कारण नही गिरता, क्योकि अवस्थित परिणाम होनेके कारण परिणाम हानि सम्भव नही है ।[1]

आगे भवक्षयसे उपशान्तकषायगुणस्थानसे प्रतिपतित देव असयतके प्रथमसमयमें सम्भव कार्यविशेषका कथन करते हैं—

सोदीरणाण दव्वं देदि हु उदयावलिम्हि इयरं तु ।
उदयावलिबाहिरगे गोपुच्छाए देदि सेढीए ॥२०९॥

अर्थः—उदयरूप प्रकृतियोका द्रव्य उदयावलिमें भी दिया जाता है, इतर

---

१. ज. ध. मूल पृ १८९१; क पा सु. पृ ७१४ सूत्र १२१-२२; ध पु ६ पृ ३१७ ।

मोहनीय कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका उपशम नही होता, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मोंके उपशामनारूप परिणाम सम्भव नही है। अकरणोपशामना और देशकरणोपशामना उन कर्मोंमे होती है, किन्तु यहां प्रशस्तकरणोपशामनाका प्रकरण है इसलिए मोहनीयकर्मकी ही प्रशस्त उपशामना के द्वारा उपशम होता है। (अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके प्रथमसमयमे ज्ञानावरणादि सर्व कर्मोंके अप्रशस्त उपशामना, निधत्ति और निकाचित ये तीनोकरण व्युच्छिन्न हो जाते है।[1]

उपशमश्रेणिमे दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम नही होता, क्योंकि दर्शनमोहनीयका उपशम या क्षय पूर्वमे ही हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषायका भी उपशम नही होता, क्योंकि पहले अनन्तानुवन्धीकषायकी विसयोजना करके पश्चात् उपशमश्रेणि चढता है। वारह कपाय और नव नोकषायका उपशम होता है।

❖

---

१ [illegible] दि अप्पसत्थउवसामणाकरणं, णिधत्तीकरण, णिकाचणाकरणं [illegible]।
(ज ध मू पृ १८८५, क पा. सुत्त पृ ७१२ सूत्र ३५६)

क्योकि उपशान्तकषायमें अवस्थित विशुद्धतारूप परिणाम रहता है।

उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थानका काल समाप्त होनेपर नियमसे उपशमकालका क्षय हो जाता है, अतः उपशान्तकषायसे पतन होता है। विशुद्धतामें हीनाधिकताके कारण पतन नही होता है, क्योकि वहां विशुद्धता अवस्थित है, हीनाधिक नही है। कालक्षयके अतिरिक्त अन्य भी कोई कारण पतनका नही है।[1]

उपशान्तकषायसे गिरकर सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें आये जीवका कार्यविशेष ४ गाथाओमें कहते हैं—

सुहुमप्पविट्ठसमयेणद्धुवसामण तिलोहगुणसेढी।
सुहुमद्धादो अहिया अवट्ठिदा मोहगुणसेढी ॥३११॥

अर्थः—उपशान्तकषायके पश्चात् सूक्ष्मसाम्परायमे प्रविष्ट हुआ, वहां प्रथम समयमें नष्ट हो गया है उपशमकरण जिनका ऐसी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनलोभको गुणश्रेणि प्रारम्भ होती है। इस गुणश्रेणिआयामका प्रमाण, अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायकालसे एक आवलि अधिक है यहां मोहकी गुणश्रेणिका आयाम अवस्थितरूप है।

विशेषार्थः—उपशान्तकषाय गुणस्थानसे गिरकर सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान को प्राप्त होनेके प्रथमसमयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन इन तीन प्रकारके लोभका द्वितीय स्थितिसे अपकर्षण करके सज्वलनकी उदयादि गुणश्रेणि की जाती है। कृष्टिगत लोभ वेदककालसे विशेष अधिक कालवाला गुणश्रेणि निक्षेप है। दोप्रकार अर्थात् प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणलोभका भी उतना ही निक्षेप है, किन्तु उदयावलिसे बाहर निक्षेप होता है। तीनप्रकारके लोभका उतना-उतना ही निक्षेप है अर्थात् अवस्थित गुणश्रेणि है। उसी समय अर्थात् प्रथमसमयमें ही तीनप्रकारका लोभ एकसमयमे ही प्रशस्तोपशामनाको छोड अनुपशान्त होजाता है।[2]

उदयाणं उदयादो सेसाणं उदयबाहिरे देदि।
छण्हं बाहिरसेसे पुव्वतिगादहियणिक्खेओ ॥३१२॥

---

१ ज. ध. मूल पृ. १८९१-९२।
२. क पा सु पृ. ७१५, ज. ध मूल पृ १८९२; ध पु ६ पृ. ३१८।

(अनुदय) प्रकृतियोंका द्रव्य उदयावलिके बाहर तथा अन्तरायाममें गोपुच्छाकार श्रेणिरूपसे निक्षिप्त होते हैं।

विशेषार्थः—देवोमे उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषायोमे से किसी एक कषायके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप भेद तथा पुरुषवेद, हास्य, रति इन उदयरूप प्रकृतियोके द्रव्यको और यदि भय व जुगुप्साका उदय हो तो उनके भी द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर एक भागके असख्यातलोकवे भागप्रमाण द्रव्यका उदयावलिमे दिया जाता है। और शेष असख्यातलोक बहुभाग द्रव्य उदयावलिसे बाहर प्रथम निषेकसे लगाकर अवशेष अन्त-रायाममें, और उपरितन द्वितीय स्थितिमें चयहीन गोपुच्छाकार श्रेणिरूपसे देता है। उदयरहित नपुंसकवेदादिक मोहकी प्रकृतिके द्रव्यका अपकर्षण करके उसे उदयावलीमे न देते हुए उदयावलीसे बाह्य अन्तरायाम, उपरितन स्थितिमे विशेषहीन क्रमसे देता है। इसप्रकार अवशिष्टअन्तर पूरा जाता है अर्थात् जो अवशिष्ट अन्तररूप निषेक रहे थे उनमे द्रव्यका निक्षेपण होनेसे उनका सद्भाव हो जाता है।

अब उपशान्त-कालक्षयके कारण उपशान्तकषायगुणस्थानसे गिरनेका कथन करते हैं—

अद्धाखए पडंतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण।
सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो ॥३१०॥

अर्थः—उपशान्तकालका क्षय होनेसे गिरनेपर अध प्रवृत्तातक क्रमसे गिरता है, विशुद्ध परिणामोसे पुन श्रेणिपर चढ़ता है और सक्लेश परिणामोसे उससे भी नीचे गिरता है।

विशेषार्थः—अन्तर्मुहूर्तमात्र अर्थात् दो क्षुद्रभवप्रमाण उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थानका काल है, उसकालमे अवस्थित परिणामवाला रहता है, किन्तु उसकालका अन्त हो जानेपर सूक्ष्मसाम्पराय होकर अनिवृत्तिकरण होता है, पीछे अपूर्वकरण होकर अध प्रवृत्तकरण अप्रमत्त हो जाता है। इसप्रकार अध प्रवृत्तकरण तक क्रमश पतन होता है। तत्पश्चात् प्रमत्त होकर विशुद्ध परिणामोसे पुनः श्रेणिपर चढ़ता है, किन्तु सक्लेश परिणामोके द्वारा अधःप्रवृत्तकरणसे भी गिरता है। उप-शान्तकषायमे चढ़ना या गिरना विशुद्ध व सक्लेश परिणामोके निमित्तसे नही होता,

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका अन्तर्मुहूर्त, नाम व गोत्र कर्मका ३२ मुहूर्त एव वेदनीयका ४८ मुहूर्त मात्र स्थिति बन्ध जानना, क्योकि आरोहक-सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमे जो स्थितिबन्ध होता है उससे अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमे दुगुणा स्थितिबन्ध है। उपशमश्रेणि चढनेवालेको आरोहक और उतरनेवालेको अवरोहक कहते है।[1]

गुणसेढीसत्थेदररसबंधो उवसमादु विवरीयं।
पढमुदओ किट्टीणमसंखभागा विसेसअहियकमा ॥३१४॥

अर्थः—तदनन्तर समयमे (द्वितीयादि समयोमे) अवरोहकके गुणश्रेणि अपकृष्टद्रव्य, प्रशस्त व अप्रशस्तप्रकृतियोका अनुभागबन्ध आरोहकसे विपरीतक्रम लिये होता है। प्रथम समयमे जितनी कृष्टियोका उदय होता है, द्वितीयादि समयोमे उसके असख्यातवेभाग विशेष अधिक क्रमसे उदय होता है।

विशेषार्थ—अवरोहक (उतरनेवाला) सूक्ष्मसाम्परायके द्वितीयादि समयों मे प्रतिसमय प्रथमसमय सम्बन्धी द्रव्यसे असंख्यातगुणा हीन क्रमयुक्त द्रव्य अपकर्षित करके गुणश्रेणि करता है। सातावेदनीयादि प्रशस्त प्रकृतियोका अनन्तगुणा हीन क्रम लीये और ज्ञानावरणादि अप्रशस्त प्रकृतियोका अनन्तगुणा बढता क्रम लीये अनुभागबध होता है, क्योंकि यहा प्रतिसमय विशुद्ध व सक्लेशकी यथाक्रम अनन्तगुणो हानि व वृद्धि होती है। इसलिए उपशमश्रेणि पर आरोहण करते समयसे उतरते समय विपरीतपना कहा है। स्थितिबन्ध तो प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त समान ही है। प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमे आरोहकके स्थितिबन्धसे अवरोहकके यथास्थान दुगुणा स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्परायके अन्तिम समय पर्यन्त जानना। चढते हुए जिस स्थानपर जितना स्थिति-बन्ध होता था उससे दूना स्थितिबन्ध उसी स्थानपर उतरते हुए होता है। जैसे चढ़ते समय स्थितिबन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध घटाकर एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें समान बन्ध करता था वैसे ही यहां स्थितिबन्धोत्सरण द्वारा स्थितबन्ध बढ़ाकर एक-एक अन्तर्मुहूर्त में समानबन्ध करता है। अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें उदयरूप जो निषेक कृष्टि पाई जाती है उसको पल्यके असंख्यातवे भागका भाग दिया उसमेसे बहुभाग-

---

१. ज. ध. मूल पृ. १८९३–९४ सूत्र ३९४; ध. पु. ६ पृ. ३१८–१९।

अर्थः—उदयगत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेप उदय निषेकसे प्रारम्भ होता है, शेष कर्मोका उदयावलिसे बाहर निक्षेप प्रारम्भ होता है। छह कर्मोका गुणश्रेणिनिक्षेप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन तीनसे विशेष अधिक है। उदयावलिके बाहर इन छह कर्मोका गलिताशेषआयामरूप गुणश्रेणिनिक्षेप प्रवृत्त होता है।

विशेषार्थ—उदयरूप सज्वलनलोभकी द्वितीय स्थितिमे स्थित द्रव्यको अपकर्षित करके उसमे पल्यके असख्यातवेभागका भाग देकर एक भागको उदयरूप प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिआयामके अन्तिम निषेकपर्यन्त असख्यातगुणे क्रमसे तव तक निक्षिप्त, करता है, जवतक अन्तर पूरा नही जाता। वहुभागप्रमाण द्रव्यको गुणश्रेणि आयामके अन्तिम निषेकसे ऊपर पाये जाने वाले अन्तरायामको छोडकर उसके ऊपर द्वितीयस्थितिमे चयहीन क्रमसे निक्षिप्त करता है। तथा उदयरहित अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानलोभकी द्वितीय स्थितिमे स्थित द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तपर्यन्त असख्यातगुणे क्रमसे और उसके ऊपर अन्तरायामको छोडकर द्वितीय स्थितिमे चयहीन क्रमसे पूर्ववत् निक्षिप्त करता है। आयु व मोहके बिना छहकर्मोके द्रव्यको अपकर्षित करके उसमे पल्यके असंख्यातवे भागका भागदेकर उसमेसे एक भाग उदयावलिमे देता है और वहुभाग गुणश्रेणि आयाममे देता है। सो इनका यह गुणश्रेणिआयाम उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरणके सम्मिलित कालसे कुछ अधिक प्रमाण युक्त गलितावशेषरूप जानना। इसमे असख्यातगुणा क्रमयुक्त द्रव्य देता है। अपकर्षित द्रव्यमें जो वहुभाग रहा उसको उपरितन स्थितिमे चयहीन क्रमसे देता है।[1]

ओदरसुहुमादीए बंधो अंतोमुहुत्त वत्तीसं।
अडदालं च मुहुत्ता तिघादिणामदुगवेयणीयाणं ॥३१३॥

अर्थ—उपशान्तकषायसे अवतरित हुए जीवके सूक्ष्मसाम्परायके आदिमें तीन घातिया कर्मोका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, नामद्विकका बत्तीस मुहूर्तप्रमाण और वेदनीयका अडतालीस मुहूर्तप्रमाण बन्ध होता है।

विशेषार्थः—उपशान्तकषायसे उतरते हुए सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें

१ जयधवल मूल पृ० १८६२।

अनुदयरूप १६ कम करने पर लब्ध (२४-१६) ८ आया सो इतनी कृष्टिया बढने से द्वितीय समयमे (८००+८) ८०८ कृष्टिया उदय ह.ती है। इसीप्रकार अर्थसदृष्टि द्वारा भी यथार्थ कथना जानना चाहिए।

यहा बहुत अनुभागयुक्त उपरितन कृष्टिके उदय होनेसे और अल्प अनुभागयुक्त अधस्तन कृष्टि न उदय नही होनेसे प्रथम समयापेक्षा द्वितीय समयमे अनुभाग अनन्तगुणा बढता है। ऐसा जानना चाहिए। इसीप्रकार तृतीयादि अन्तिम समय पर्यन्त समयोमे विशेष अधिक कृष्टि उदय होती है।[1] इसीकारण प्रतिसमय कृष्टियों का अनन्तगुणा अनुभाग उदय होता है। इसप्रकार सूक्ष्म साम्परायका काल व्यतीत होता है। चढते हुए सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम स्थितिबन्धसे दुगुणा स्थितिबन्ध गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमे होता है।[2]

अब अवरोहकके नवमगुणस्थानमें क्रियाविशेषका कथन दोगाथाओंमें करते हैं—

बादरपढमे किट्टी मोहस्स य आणुपुव्विसंकमणं।
णट्ठं ण च उच्छिट्ठं फड्डयलोहं तु वेदयदि ॥३१५॥

अर्थः—बादरलोभके प्रथम समय अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायसे गिरकर बादर लोभके उदयके प्रथमसमयमें सूक्ष्मकृष्टियां नष्ट हो जाती है और मोहका आनुपूर्वीसक्रम नष्ट हो जाता है, किन्तु उच्छिष्टावलि अर्थात् उदयावलिप्रमाण कृष्टिया नष्ट नही होती, स्पर्धकगत लोभका वेदन होता है।

विशेषार्थः—अवरोहक अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे पाई जानेवाली सूक्ष्मकृष्टियां उच्छिष्टावलिप्रमाण निषेक बिना अन्य सभी स्वरूपसे नष्ट हुई। सूक्ष्मकृष्टि की अनुभाग शक्तिसे अनन्तगुणी शक्ति युक्त जो स्पर्धक है उसरूप होकर एकही समयमें परिणमित हुई।[3] तथा कृष्टिके उच्छिष्टावलिप्रमाण जो निषेक रहे वे प्रतिसमय

---

१ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे चढते समय विशुद्धि के कारण जैसे विशेष हानिरूपसे कृष्टियोका वेदन करता है वैसे ही उतरते समय सक्लेशके कारण असख्यातभागवृद्धि से कृष्टियोका वेदन करता है; यह सूक्ष्मसाम्पराय के अन्तिमसमयतक जानना चाहिए। (ज. ध. मूल. पृ. १८९५)

२ ज. ध. मूल पृ. १८९४-९५।

३. किट्टिओ सव्वाओ णट्ठाओ। तासि सव्वासिमेगसमएणेव पदयभावेण परिणामदंसणादो। ज० धवल १८९५।

प्रमाण मध्यकी कृष्टि उदयमें आती है तथा अवशिष्ट एकभागको पल्यके असख्यातवे भागकी सहनानी पाचके अकका भाग देनेपर उसमेसे दो भागमात्र तो आदि कृष्टिसे लेकर जो अधस्तनकृष्टि है वे अनुदयरूप हैं और तीनभाग मात्र अन्तिमकृष्टिसे लेकर जो ऊपरितनकृष्टि हैं वे अनुदयरूप कृष्टि कही है, वे अपने स्वरूपको छोड़कर, जो आदिकृष्टिसे लेकर अधस्तनकृष्टि है वे तो अनन्तगुणे अनुभागरूप परिणमित हो मध्यम-कृष्टिरूप होकर उदयमे आती है। तथा अन्तिमकृष्टिसे लेकर जो ऊपरितनकृष्टियां हैं वे अनन्तवेभाग अनुभागरूप परिणमित हो मध्यमकृष्टिरूप होकर उदयमे आती हैं। अंक सदृष्टि—माना कि उदयरूप निषेकमे १००० कृष्टि हैं उनको ५ का भाग देने-पर बहुभागप्रमाण ८०० मध्यकी कृष्टि तो उदयरूप है। अवशिष्ट एकभाग (२००) प्रमाणमे ५ का भाग देकर उसमेसे एक भाग (४०) पृथक् रख, अवशिष्टके (१६०) दो भाग करके उसमे से एकभाग प्रमाण (८०) कृष्टि तो जघन्यकृष्टिसे लेकर अध-स्तनकृष्टिया अनुदयरूप है, वे कृष्टिया अनुभागवृद्धिके कारण मध्यमकृष्टिरूप हो परिणमनकर उदयमे आती हैं। तथा एक भागमे (८०) पृथक रखा हुआ (४०) भाग मिलानेपर (८०+४०) १२० कृष्टि हुईं। वे अन्तिमकृष्टिसे लेकर ऊपरितन कृष्टि अनुदयरूप हैं। वे अनुभाग घटनेके कारण मध्यमकृष्टिरूप होकर उदयमे आती हैं ऐसा जानना चाहिए।

प्रथमसमयमे अनुदयरूप ऐसी आदि कृष्टिको द्वितीयसमयमे पल्यके असंख्यातवे भागका भाग देनेपर एकभागप्रमाण नवीनकृष्टिया अनुदयरूप की और प्रथमसमयमें अनुदयरूप ही अन्तिमकृष्टिको पल्यके असख्यातवेभागका भाग देनेपर एकभागप्रमाण कृष्टियोको नवीन उदयरूप की। यहा उदयरूप की गई कृष्टियोके प्रमाणमें से अनु-दयरूप की गईं कृष्टियोका प्रमाण घटानेपर जितना अवशिष्ट रहे उतने प्रमाणरूप प्रथमसमय सम्बन्धी उदयकृष्टियोसे अधिक द्वितीयसमयमे उदयकृष्टिया होती है। अक-सदृष्टि द्वारा इसप्रकार कथन समझना—

प्रथमसमयमे उदयरूपकृष्टियां ८०० थी, तब द्वितीयसमयमे पहले उदयसे ऊपरितन १२० कृष्टिया अनुदयरूप थी, उनको ५से भाजित करनेपर लब्ध २४ प्रमाण ऊपरितन नवीनकृष्टिया उदयरूप हुईं और अधस्तनकृष्टि (८०) मे ५का भाग देनेपर लब्ध १६ प्रमाणकृष्टिया नवीन उदयरूप नही होती। अतः नवीन उदयरूप २४मे से

घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध दो दिनसे कम, नाम-गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध कुछकम चारवर्षप्रमाण होता है।

विशेषार्थः—अवरोहक बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें संज्वलन लोभका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है जो आरोहक अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमय सम्बन्धी स्थितिबन्ध दोगुणा है। तीन घातियाकर्मोंका कुछकम दो दिन, नाम-गोत्र और वेदनीयकर्मका कुछकम चारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त इसी-प्रकार समानरूपसे वन्ध हुआ। पश्चात् द्वितीय स्थितिबन्ध सज्वलन लोभका तो पहले से विशेष अधिक, तीन घातियाकर्मोका पृथक्त्व दिन प्रमाण, तीन अघातिया कर्मोका संख्यातहजारवर्ष प्रमाण हुआ। इसप्रकार वृद्धिरूप सख्यातहजार स्थितिबन्ध होने पर लोभवेदककाल सम्वन्धी द्वितीय त्रिभागका सख्यातवाभाग व्यतीत हुआ तब सज्वलन-लोभका पृथक्त्वमुहूर्त, तीनघातिया कर्मोका अहोरात्रसे बढकर पृथक्त्व हजारवर्ष और तीन अघातियाकर्मोंका सख्यात हजारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध हो जाता है तथा सहस्रो स्थितिबन्ध व्यतीत हो जानेपर लोभवेदकका काल समाप्त होता है। आरोहकके लोभ-वेदककालसे अवरोहकका लोभवेदककाल किंचित् न्यून है। इसीप्रकार मायावेदक कालादिकमें भी किंचित् न्यूनता जानना। जिस कषायके जितने कालमें उदयका भोगना होता है उतने प्रमाण उसका वेदककाल होता है।[1]

आगे मायावेदकके क्रियाविशेषका कथन दो गाथाओंमें करते हैं—

ओदरमायापढमे मायातिण्हं च लोहतिण्हं च।
ओदरमायावेदगकालादहियो दु गुणसेढी ॥३१७॥

अर्थः—(सज्वलनलोभसे) मायामे अवतरण करनेके प्रथमसमयमें तीन प्रकारकी (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन) माया व तीनप्रकार के लोभकी अवतरिद माया वेदककालसे अधिक आयामवाली गुणश्रेणि करता है।

विशेषार्थः—लोभवेदककालके अनन्तर मायावेदककालके प्रथमसमयमे उतरने वाला अनिवृत्तिकरणजीव अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन मायाके द्रव्यको अपनी-अपनी द्वितीयस्थितिमेसे अपकर्षितकर उदयरूप सज्वलनमायाके द्रव्यको तो

---

१ ज. ध. मूल पृ. १८९७–९८।

एक-एक निषेकरूपसे उदयमान स्पर्धकोके निषेकोमे स्तुविक सक्रमरण द्वारा तद्रूप परि-णमन कर[1] उदय होगे ।[2] उसी प्रथम समयमे मोहका आनुपूर्वी सक्रम भी नष्ट हुआ । इतना विशेष जानना कि यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभका वध्य-मान सज्वलनलोभमे ही सक्रमण होना प्रारम्भ हुआ, तथापि इसमें आनुपूर्वी संक्रमकी विवक्षा नही है । तथा सञ्ज्वलन लोभके कोई वध्यमान स्वजातीय प्रकृति नही है, अत व्यक्ति की अपेक्षा अभी भी आनुपूर्वी सक्रम है ।[3] शक्तिकी अपेक्षा सज्वलनलोभके अनानुपूर्वी से अन्य प्रकृतिमे संक्रम होनेका परिणाप हुआ है । सूक्ष्मसाम्पराय गुण-स्थानमे मोहके बन्धके अभावसे[4] संक्रम सम्भव नही है । स्पर्धकरूप उदित बादरलोभ का वेदन करता हुआ यह प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय मुनि सज्वलन लोभके द्रव्यका अपकर्षण करके उदयरूप समयसे लेकर आवली से अधिक बादरलोभ वेदककाल [अवरोहकके लोभवेदक कालका साधिक दो बटे तीन भाग] प्रमाण गुणश्रेणी आयाममे असख्यातगुणे क्रमसे निक्षिप्त करता है । प्रत्याख्यान तथा अप्रत्याख्यान लोभके द्रव्यको उदयावलीसे बाह्य पूर्वोक्त गुणश्रेणि आयाममे असख्यात-गुणे क्रमसे निक्षिप्त करता है । तथा अनिवृत्तिकरणकालके दितीयादि समयमे असख्यात-गुणा हीन — (घटता) क्रम लिये द्रव्यका अपकर्षण करके अवस्थित गुणश्रेणी-आयाम मे पूर्वोक्त प्रकार निक्षेपण करता है । अन्य कर्मोकी गलितावशेषगुणश्रेणी जाननी चाहिए ।

ओदरबादरपढमे लोहस्संतो मुहुत्तियो बंधो ।
दुदिणंतो घादितियं चउवस्संतो अघादितियं ॥३१६॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायसे उतरने पर बादर लोभके प्रथमसमयमे संज्वलन-लोभका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन

---

१ क्योकि स्पर्धको के वेदन होनेपर उदयावली मे प्रविष्ट कृष्टियोका भी स्पर्धकभावसे उदय-विपाकको छोडकर प्रकारान्तरपने का सम्भव नही पाया जाता है । जयधवल मूल १८९६

२ णवरि जाओ उदयावलियब्भतराओ ताओ थिवुक्कसकमेण फड्डएसु विपच्चहिति । ज.ध १८९६

३. वत्तीए पुण अज्जवि आणुपुव्विसकमो चेव । ज० धवल १८९६

४. लोभ परिवज्ज अन्यासा प्रकृतीना बन्धो अस्मिन्नवसरे नास्ति । जयधवल १८९७

वालोंके ज्ञानावरणादिका प्रत्येक स्थितिबन्ध संख्यातगुणित वृद्धिक्रमसे होता है। चढ़नेवालोके मोहनीयका प्रत्येक स्थितिबन्ध विशेषहीन क्रमसे होता है और गिरनेवालोके मोहनीयका प्रत्येक स्थितिबन्ध विशेष अधिक क्रमसे होता है। इसलिए यहा पर मोहनीयके अतिरिक्त अन्यकर्मोका पुनः पुनः सख्यातगुणा स्थितिबन्ध होता है और मोहनीयका पुनः पुनः विशेष अधिक स्थितिबन्ध होता है। इस क्रमसे सख्यातहजार स्थितिबन्धोके बीतनेपर चरमसमयवर्ती मायावेदक होता है, उससमय माया और लोभ इन दो संज्वलनकषायोका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम चारमाह और ज्ञानावरणादि शेष छह कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है, क्योकि चढनेवालोके स्थितिबन्धसे उतरनेवालोका स्थितिबन्ध दो गुणा होता है।[1]

अथानन्तर दो गाथाओमें मानवेदक जीवके कार्य विशेषको कहते हैं—

ओदरगमाणपढमे तेत्तियमाणादियाण पयडीणं।
ओदरगमाणवेदगकालादहियं दु गुणसेढी ॥३१६॥

अर्थः—उतरनेवाला मायावेदककालके अनन्तर मानवेदकके प्रथमसमयमें मानवेदककालसे अधिक मानादि प्रकृतियोंकी गुणश्रेणि करता है।

विशेषार्थः—उसके अनन्तर मानवेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलनमानके द्रव्यको अपकर्षितकरके उदयावलिके प्रथमसमयसे लेकर तथा दो प्रकारके मान, तीन प्रकारकी माया व तीनप्रकारके लोभ सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर प्रथमसमयसे लेकर आवलिअधिक मानवेदककालप्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि करता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन लोभ, माया व मान इन नौप्रकारकी कषायका गुणश्रेणि निक्षेप होता है और शेष छह कर्मोका गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम पूर्ववत् है। उसीसमय अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलनलोभ-माया-मानरूप नौ कषायोका द्रव्य यहां बध्यमान संज्वलन मान-माया-लोभमें आनुपूर्वी रहित जहां तहां सक्रमण करता है।[2]

ओदरगमाणपढमे चउमासा माणपहुदिठिदिबंधो।

---

१. जय धवल मूल पृ० १८६६–१६००।
२. जय धवल मूल पृ० १६००।

उदयावलीके प्रथम समयसे लेकर और उदयरहित अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानरूप मायाके द्रव्यको उदयावलीसे बाहर[1] प्रथम समयसे लेकर आवलि अधिक मायावेदककालप्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणी करता है। उदयरहित तीनप्रकारके लोभके भी द्वितीय सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहरसाधिक मायावेदक कालप्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि करता है। यहा ज्ञातव्य है कि तीन प्रकारके लोभ व तीनप्रकारकी मायाका गुणश्रेणि निक्षेप तुल्य और अवस्थित है[2] गलितावशेष नही है। अवशिष्ट छह कर्मोकी पूर्वोक्त अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण कालसे विशेष अधिक आयामवाली गुणश्रेणि करता है। तथा उसी मायावेदककालके प्रथमसमयमे तीन प्रकारके लोभ व दो प्रकारकी माया सम्बन्धी द्रव्यको सज्वलन मायामें सक्रमित करता है वैसे ही तीनप्रकारकी माया व दोप्रकारका लोभ लोभसज्वलनमे सक्रमण करता है। क्योकि यहा सज्वलनलोभ एव सज्वलनमायाका ही बन्ध है और बन्धमें ही सक्रमण होता है। आनुपूर्वी सक्रमणके अभावसे इसप्रकारका सक्रमण सभव है।[3]

ओदरमायापढमे मायालोहे दुमासठिदिबंधो।
छण्हं पुण वस्साणं संखेज्जसहस्सवस्साणि ॥३१८॥

अर्थः—उतरने वालेके मायावेदककालके प्रथमसमयमे सज्वलनमाया व लोभका दोमासप्रमाण तथा शेष छहकर्मोका सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थः—उपशम श्रेणि चढनेवाला मायावेदक कालके चरमसमयमे सज्वलनमाया व लोभका स्थितिबन्ध एक मासप्रमाण होता था अब उतरनेवालेके मायावेदककालके प्रथमसमयमे उससे दो गुणा अर्थात् दो मासप्रमाण होता है, क्योकि चढनेवालोके परिणामोसे उतरने वालोके परिणाम कम विशुद्ध होते है। इसीप्रकार गिरनेरूप परिणामोकी विशेषतासे शेष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम व गोत्र) छह कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजारवर्ष प्रमाण होता है। उपशमश्रेणी चढनेवालोके प्रत्येक स्थितिबन्ध सख्यातगुणे हीन क्रमसे होता था, किन्तु उतरने

---

१ कारण यह कि उन नही वेदी जाती हुई प्रकृतियोका, उदयावली के भीतर (प्रदेशनिषेकोका) असम्भवपना है। जयधवल १८९८

२. जयधवल मूल पृ० १८९८।

३ जयधवल मूल पृ० १८९८–९०।

एकबार असंख्यातगुणाहीन निक्षिप्त करता है। उससे आगे अन्तर सम्बन्धी अन्तिम स्थितिके प्राप्त होनेतक विशेषहीन क्रमसे द्रव्यका निक्षेप करता है। उससे आगे द्वितीय स्थितिके आदि निषेकमें असंख्यातगुणेहीन द्रव्यका निक्षेप करता है। उसके आगे तब तक सर्वत्र विशेषहीन क्रमसे द्रव्य देता है जबतक कि अपनी-अपनी अतिस्थापनाको प्राप्त हो जावे। इसप्रकार शेष कषायोके अन्तरको पूरा करता है उनके द्रव्यका उदयावलि के बाहर निक्षेप करता है। इतना विशेष है।

सात नोकषाय, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके अंतरको भी इसी विधानसे यथा अवसर पूर्ण करता है। क्रोध उदयके प्रथमसमयमें बारह कषायोके द्रव्यको तत्काल बध्यमान संज्वलनक्रोधादि चारकषायोंमें आनुपूर्वी क्रमरहित जहा-तहां सक्रमित करता रहता है।
(जयधवल मूल पृ० १६०१-१६०२)
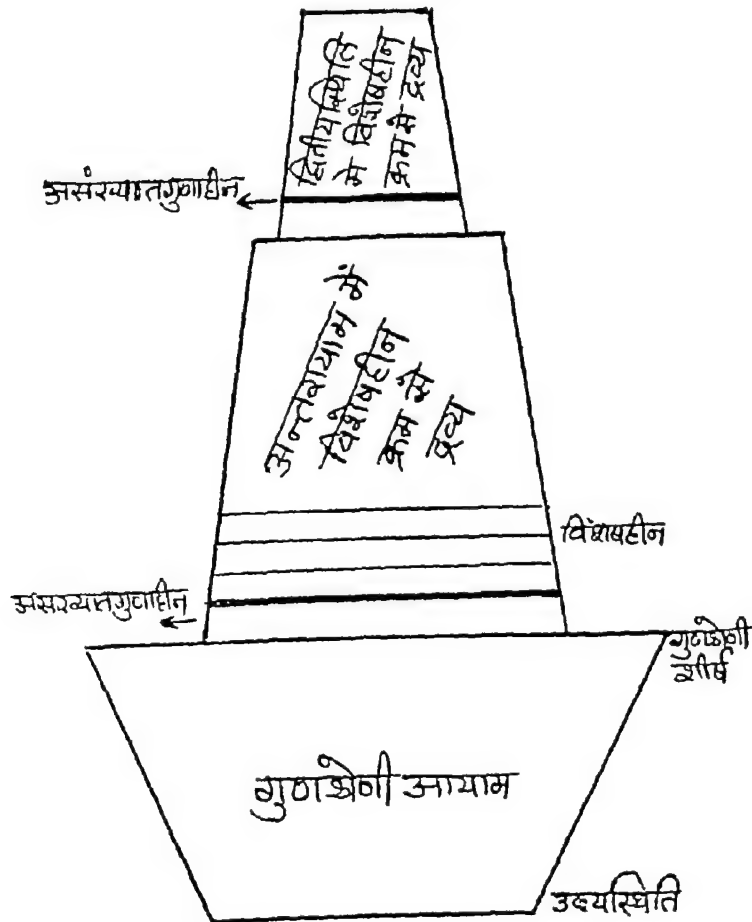
छण्हं पुण वस्साणं संखेज्जसहस्समेत्ताणि ॥३२०॥

अर्थः—उसी उतरनेवाले मानवेदककालके प्रथमसमयमे सज्वलन मान-माया-लोभका चारमास और शेष छह कर्मका सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है (जो चढनेकी अपेक्षा दोगुणा है ।)

विशेषार्थः—इसप्रकार सहस्रो स्थितिबन्ध व्यतीत होते है तब मानवेदकके अन्तिम समयमे तीन (लोभ-माया-मान) सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त-कम आठ मास होता है और शेष छह कर्मोका स्थितिबन्ध सख्यात सहस्रवर्षप्रमाण होता है। इसप्रकार मानवेदककाल समाप्त हो जाता है।[1]

आगे दोगाथाओंमें संज्वलनक्रोधमें होनेवाली क्रिया विशेषका विचार करते हैं—

ओदरगकोहपढमे छक्कम्मसमाणया हु गुणसेढी ।
बादरकसायणं पुण एत्तो गलिदावसेसं तु ॥३२१॥

अर्थः—इसके अनन्तर उतरनेवाले अनिवृत्तिकरण जीवके संज्वलनक्रोधके उदय सम्बन्धी प्रथमसमयमे अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, सज्वलनक्रोध-मान-माया-लाभरूप वारह कषायोकी ज्ञानावरणादि छह कर्मोके समान गलितावशेष गुणश्रेणि करता है।

विशेषार्थ·—गुणश्रेणी आयामका प्रमाण उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अपूर्वकरणके कालकी अपेक्षा कुछ अधिक है। यहासे पहले मोहका गुणश्रेणि आयाम अवस्थित था अब गलितावशेषरूप प्रारम्भ हुआ है।

जिस कषायके उदयसहित उपशमश्रेणि चढ़ा हो तथा उतरते हुए उस कषाय का जिससमय उदय हो उस समयसे लेकर सर्वमोहनीयकी गलितावशेष गुणश्रेणी करता है और अन्तरका पूरना करता है। यहा क्रोधकी विवक्षा है। वह इसप्रकार है—अन्तरपूरण विधान—वारह प्रकारकी कषायोके द्रव्यको अपकर्षित करके उससमय गुणश्रेणि निक्षेप करता हुआ क्रोधसज्वलनके उदयमे स्तोक प्रदेशाग्र देता है। उससे आगे तवतक असख्यातगुणा क्रमसे देता है जबतक कि ज्ञानावरणादि कर्मोके पूर्व निक्षिप्त गुणश्रेणिशीर्षको प्राप्त हो जाय। पुनः तदनन्तर उपरिम अनन्तर समयमें

---

१ ज ध. मूल पृ १९००, ध पु ६ पृ. ३२२ एव क पा सुत्त पृ ७१९ सूत्र ४४१-४२।

है। पुरुषवेद सहित छह नोकषायकी प्रशस्तोपशामना नष्टहो जानेसे अनुपशान्तभावमें संक्रमण, उत्कर्षण आदि होने लगते है। उससमय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पुरुषवेद इन सात नोकषायोके कर्माशोका अपकर्षण करके पुरुषवेदकी तो उदयादि गुणश्रेणिको करता है और छह नोकषायके कर्माशोकी उदयावलिके बाहर गुणश्रेणि करता है। बारहकषाय और सात नोकषायका गुणश्रेणि निक्षेप आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मोके गुणश्रेणिनिक्षेपके तुल्य होता है। शेष-शेषमे निक्षेप होता है अर्थात् गलितावशेष गुणश्रेणि होती है। उदयरूप पुरुषवेद और सज्वलनक्रोधके द्रव्य को अपकर्षित करके उदय समयसे लगाकर और अन्य कषाय व नोकषायके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर समयसे लगाकर गुणश्रेणिआयाम, अन्तरायाम, द्वितीयस्थितिमे निक्षेप होता है और सात नोकषायका अन्तरायाम पूरण होजाता है।[1]

पुंसंजलणिद्राणं वस्सा बत्तीसयं तु चउसट्ठी।
संखेज्जसहस्साणि य तक्काले होदि ठिदिबंधो ॥३२४॥

अर्थः—उतरनेवालेके पुरुषवेदके प्रथमसमयमे पुरुषवेदका ३२ वर्ष, संज्वलन चतुष्कका ६४ वर्ष, तीन घातियाकर्मोका संख्यातहजारवर्ष, उससे नाम व गोत्रका सख्यातगुणा तथा उससे डेढ़गुणा स्थितिबन्ध वेदनीयकर्मका होता है।

पुरिसे दु अणुवसंते इत्थी उवसंतगोत्ति अद्धाए।
संखाभागासु गदे ससंखवस्सं अघादिठिदिबंधो ॥३२५॥
णवरि य णामदुगाणं वीसियपडिभागदो हवे बंधो।
तीसियपडिभागेण य बंधो पुण वेयणीयस्स ॥३२६॥

अर्थ—पुरुषवेदके उदयकालमे स्त्रीवेदका उपशम जबतक नष्ट नही होता उतनेकालके सख्यात बहुभाग व्यतीत होकर एकभाग अवशिष्ट रहनेपर अघातिया कर्मोका स्थितिबन्ध असख्यातहजार वर्षमात्र होता है।

इतनी विशेषता है कि बीसिय नामद्विक (नाम-गोत्र) का जितना स्थिति बन्ध होता है उसके त्रैराशिक क्रमसे अर्थात् ड्योढ़ा तीसिय-वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध

---

१. जयधवल मूल पृ० १६०२ सूत्र ४५३।

ओदरगकोहपढमे संजलणाणं तु अट्ठमासठिदी ।
छण्हं पुण वस्साणं संखेज्जसहस्सवस्साणि ॥३२२॥

अर्थः—उतरनेवालेके क्रोध उदयके प्रथमसमयमे सज्वलन क्रोधादि चार कषायोका आठमास और छहकर्मोका सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिवन्ध होता है।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणि चढनेवालेके क्रोध वेदककालके अन्तिम समयमे स्थितिबन्ध होता था उससे दोगुणा गिरनेवालेके क्रोधवेदकके प्रथमसमयमे होता है। वह स्थितिबन्ध संज्वलन चतुष्कका आठ मास और शेष कर्मोका सख्यातहजार वर्ष-प्रमाण है। संख्यातहजार स्थितिबन्ध होजाने अर्थात् अन्तर्मुहूर्त नीचे उतर जानेपर क्रोध वेदक (अवेदी क्रोधवेदक) के अन्तिमसमयमे मोहनीय अर्थात् चारकषायोका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ६४ वर्ष होता है, क्योकि उपशमश्रेणि चढनेवालेके क्रोध उपशामकके प्रथमसमयमे अन्तर्मुहूर्तकम ३२ वर्ष होता था उसका दोगुणा अन्तर्मुहूर्त-कम ६४ वर्ष होता है। उसी चरमसमयमे शेषकर्मोका स्थितिबन्ध सख्यातहजारवर्ष प्रमाण होता है वही मोहनीयकर्मके चतुर्विधबधका अन्तिमसमय है।[1]

अब अवरोहक नवमगुणस्थानवर्तीके पुरुषवेदोदय कालमें होनेवाली क्रिया-विशेषको ४ गाथाओंमें बताते हैं—

ओदरगपुरिसपढमे सत्तकसाया पणट्ठउवसमणा ।
उणवीसकसायाणं छक्कम्माणं समाणगुणसेढी ॥३२३॥

अर्थः—पुरुषवेदमें उतरनेके प्रथमसमयमे (स्त्री-नपुसकवेदके अतिरिक्त) सात नो कषायकी प्रशस्तोपशामना नष्ट हो जाती है। उन्नीस (१२ कषाय और ७ नोकषाय) कषायोकी गुणश्रेणि ज्ञानावरणादि छहकर्मोकी गुणश्रेणिके समान हो जाती है।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मके चतुर्विधबन्धके अन्तिमसमयमे ही अपगतवेद पर्यायका व्यय हो जानेपर अनन्तरसमयमे सवेदभागका वर्तन हो हानेसे पुरुषवेदका उदय व वन्ध होने लगता है अर्थात् मोहनीयका पाचप्रकृति बन्धका प्रथमसमय होता

---
१. ज ध. मूल पृ. १९०२ सूत्र ४४८-४५२।

तक्काले दुट्ठाणं रसबंधो ताण देसघादीणं ॥३२८॥

अर्थः—स्त्रीवेदके अनुपशान्त होनेके प्रथम समयमें बीस कषायोंकी गुणश्रेणी होती है। यहांसे लेकर नपुंसकवेदके उपशान्त रहनेतक कालके सख्यात बहुभाग बीत जानेपर तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध नियमसे असंख्यातवर्षप्रमाण हो जाता है और उसीसमय उनकी देशघाति प्रकृतियोका अनुभागबन्ध द्विस्थानिक हो जाता है।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त गाथा कथित कालसे आगे सहस्रो स्थितिबन्धोके व्यतीत होनेपर स्त्रीवेदको एकसमयमें अनुपशान्त करता है। उसीसमयसे स्त्रीवेदका द्रव्य उत्कर्षण आदिके योग्य हो जाता है। प्रथमसमयमे ही अनुदयरूप प्रकृति स्त्रीवेदके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिके बाहरसे अन्य १९ प्रकृतियोके समान गलिहावशेष गुणश्रेणि आयाममें, अन्तरायाममें और द्वितीय स्थितिमे निक्षिप्त करता है। मोहनीय कर्मकी पूर्वोक्त १९ प्रकृतियों (१२ कषाय व ७ नो कषाय) के द्रव्यको भी अपकर्षित करके इसीप्रकार निक्षिप्त करता है। इसप्रकार बीस प्रकृतियोको गलितावशेष गुणश्रेणि होती है।

स्त्रीवेद अनुपशान्त होनेपर जबतक नपुसकवेद उपशान्त रहता है तबतक इस मध्यवर्तीकालके सख्यात बहुभागोके बीतनेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका स्थितिबन्ध असख्यातवर्ष हो जाता है। उससमयमे मोहनोयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प, तीन घातियाकर्मोका असख्यातगुणा, इससे असख्यातगुणा नाम व गोत्रका और उससे विशेष अधिक अर्थात् डेढगुणा वेदनोयकर्मका स्थितिबन्ध होता है। जिससमय तीन घातियाकर्मोका असख्यातवर्षकी स्थितिवाला बन्ध होता है उससमय मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यय इन चार ज्ञानावरणीय, चक्षु-अचक्षु-अवधि इन तीनप्रकारके दर्शनावरणीय और पाचो (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) अन्तरायकर्म अनुभागबन्धकी अपेक्षा लता, दारुरूप द्विस्थानीय अनुभागबन्धवाले हो जाते है।[1]

---

१. जयधवल मूल पृ १९०४–५। आरोहकके संख्यातवषप्रमाण स्थितिबन्धके प्रारम्भके समकालमें ही इन कर्मोंका एक स्थानिक बन्ध उत्पन्न हो गया; यहां भी संख्यातवर्ष स्थितिबन्धके अवसान को प्राप्त होनेपर असंख्यातवर्षीय स्थितिबन्धके प्रारम्भके समकालमे ही एक स्थानिकबन्ध समाप्त होगया, यहांसे लेकर उन सकल प्रकृतियोका द्विस्थानीक ही अनुभाग बधता है; इतना विशेष है।
(ज. ध. मूल पृ. १९०५)

होता है। **विशेषता**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षमात्र होता है। मोहनीयका उससे सख्यातगुणाहीन तत्-प्रायोग्य सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है। उपशमश्रेणि चढनेवालेके सात नोकषायके उपशम करनेके कालमें संख्यातवाभाग व्यतीत हो जानेपर (जिस स्थानपर) नाम, गोत्र, वेदनीयका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षप्रमाण होता था, उतरने वालेके पुरुषवेद अनुपशान्त हो जानेपर और जबतक स्त्रीवेद उपशान्त रहता है तबतक इस मध्यवर्ती कालके सख्यात बहुभाग बीत जानेपर (चढ़ने वालेके उस स्थानके नही प्राप्त हुए ही इसके) नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध सख्यातवर्षको उल्लघकर असंख्यात वर्षका होने लगता है। चढनेवालेके स्थितिबन्ध संख्यातवर्षका होता था अत· उतरने-वालेके दोगुणा स्थितिबन्ध होना चाहिए ऐसी आशंका नही करना चाहिए। गिरनेवाले के संक्लेश विशेषके कारण असंख्यातवर्षका स्थितिबन्ध हो जाता है। वीसिय—नाम, गोत्रका पल्यके असख्यातवेभाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है तो तीसिय अघातिकर्म-वेदनीयका कितना स्थितिबन्ध होगा ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध पल्यके असख्यातवें भागका डेढगुणा होगा। उससमय स्थितिवन्धका अल्प-बहुत्व इसप्रकार होगा—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प है। तीन घातियाकर्मोका स्थितिवन्ध सख्यातगुणा है, क्योकि इनका स्थितिबन्ध उतरनेवाले जीवके सूक्ष्मसाम्पराय नामक १०वे गुणस्थानके प्रथमसमयमे प्रारम्भ हो गया था और मोहनीय कर्मका स्थितिबन्ध वादरलोभ अर्थात् ९वे गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ है। नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यात गुणा है और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है। अधिकका प्रमाण द्विभाग है[1]।

आगे स्त्रीवेदके उपशमके विनाशकी प्ररुपणा दो गाथाओंमें करते हैं—

थी अणुवसमे पढमे वीसकसायाण होदि गुणसेढी।
संडुवसमोत्ति मज्झे संखाभागेसु तीदेसु ॥३२७॥
घादितियाणं णियमा असंखवस्सं तु होदि ठिदिबंधो।

१. ज. ध. मूल पृ. १९०३–१९०४; क पा. चू सूत्र ४६१–४६६।

शङ्का:—अन्तरकरण करके आरोहक सम्बन्धी जो काल अतिक्रान्त कर दिया है वह काल उतरते समय लौटकर पुन. प्राप्त नही होता, क्योकि जो काल बीत गया उसके पुनः आगमनमें विरोध है, फिर यह कैसे कहा गया कि नपु सकवेद अनुपशान्त हो जानेपर जबतक अन्तरकरण कालको प्राप्त नही होता, क्योकि इस-प्रकारकी सम्भावना युक्तिसे बाह्य है।

समाधान:—यह सत्य है कि वह काल पुनः नही आने वाला है, यह इष्ट है, किन्तु अन्तरकरण करके और ऊपर चढकर तथा उपशान्तकषाय होकर पुन. नीचे उतरनेवाले जीवके उपशान्तकालसे ऊपर होकर स्थित हुआ यह नपु सकवेदका अनुप-शान्तकाल, उपशामकके नपु सकवेदकी उपशामनाके कालसे, थोडा मिलानेसे सदृश परिणामवाला हो जाता है, ऐसा समझकर इसकालमे उपशामकके उक्तकालका उप-चार करनेसे और यहीपर अन्तरकरणसम्बन्धी स्थानकी बुद्धिसे कल्पना करके यतः यह प्ररूपणा आरम्भ की है इसलिए कुछ विरुद्ध नही होती, क्योकि उपशामकके कालके विपर्याससे गिरनेवालेके कालोको विलोमक्रमसे स्थापितकर यह प्ररूपणा आरम्भ की है। इसलिए नपु सकवेदके अनुपशान्त होनेपर जबतक अन्तरकरण अवस्था प्राप्त नही होती इस मध्यवर्तीकालके सख्यात खण्ड करके उनमें बहुत भाग व्यतीत होकर व सख्यातवाभाग शेष रह जानेपर मोहनीयकर्म संख्यातवर्षवाले स्थितिबन्धको उल्लंघकर असख्यात वर्षवाला स्थितिबन्ध होने लगता है यह सुसम्बद्ध है। उसीसमय अनुभागबन्ध व उदय द्विस्थानिक (लता, दारुरूप) हो जाता है। मोहनीयकर्मका एक स्थानीय (लतारूप) अनुभागबन्ध व उदय सख्यातवर्षीय स्थितिबन्धके सम-कालीन था। संख्यातवर्षवाले स्थितिबन्धका अवसान (समाप्ति) होनेपर एक स्थानीय अनुभागबन्ध व उदय की भी परिसमाप्ति हो जाती है[1]।

अब उतरते समय लोभ संक्रमण, बंधावलि व्यतीत होनेपर उदीरणादिको प्ररुपणा तीन गाथाओंमें करते हैं—

लोहस्स असंकमणं छावलितीदेसुदीरणत्तं च।
णियमेण पडंताणं मोहस्सणुपुव्विसंकमणं ॥३३१॥

---

१. जयधवल मूल पृ० १६०५–६।

अब नपुंसकवेदके उपशमका विनाश व उससमय होनेवाली क्रिया विशेष २ गाथाओंमे कहते हैं—

संढणुवसमे पढमे मोहिगिवीसाण होदि पुणसेढी ।
अंतरकदोत्ति मज्झे संखाभागासु तीदासु ॥३२९॥
मोहस्स असंखेज्जा वस्सपमाणा हवेज्ज ठिदिबंधो ।
ताहे तस्स य जादं बंधं उदयं च दुट्ठाणं ॥३३०॥

अर्थः—नपुंसकवेद अनुपशान्त हो जानेपर २१ प्रकृतियोकी गुणश्रेणी होती है । यहासे अन्तरकरण करनेके स्थानको प्राप्त होनेतक जो मध्यवर्तीकाल है उसकाल के संख्यात बहुभाग बीत जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असख्यातवर्षप्रमाण होने लगता है । उसीसमय मोहनीयकर्मका अनुभागबन्ध व उदय द्विस्थानीय हो जाता है ।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त गाथा कथितकालके पश्चात् सख्यात सहस्र स्थितिबन्धो के बीत जानेपर नपुंसकवेद अनुपशान्त हो जाता है । उसीसमय नपुंसकवेदके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिके बाहर गुणश्रेणि-आयाममे, अन्तरायाममे और द्वितीय-स्थितिमे निक्षिप्त करता है । यह गुणश्रेणि निक्षेप अन्य बीस प्रकृतियोके गलिताव-शेष गुणश्रेणि निक्षेपके सदृश होता है ।

नपुसकवेदके अनुपशान्त हो जानेपर जबतक अन्तर करनेके कालको नही प्राप्त होता इस मध्यवर्तीकालके सख्यात बहुभागप्रमाणकाल व्यतीत हो जानेपर मोह-नीयकर्मका असख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध होने लगता है । उपशमश्रेणि चढनेवाला जिस स्थानपर (अवस्थामे) अन्तरकरण करके मोहनीयकर्मका- सख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध आरम्भ करता है, उतरते समय उस स्थानको अन्तर्मुहूर्त द्वारा नही प्राप्त करता कि इस अवस्थामे वर्तमान इस जीवके प्रतिपातकी प्रधानतासे मोहनीय कर्मका असख्यातवर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ हो जाता है । क्योकि चढनेवालेकी अपेक्षा उतरने वालेका काल स्तोक है, कारण कि चढनेवालेके सर्वकालोकी अपेक्षा उतरनेवाले के सर्वकाल हीन होते हैं जैसे चढनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके कालसे उतरने वालेका सूक्ष्मसाम्परायकाल अन्तर्मुहूर्त हीन होता है । इसप्रकार चढ़ने और उतरने सम्बन्धी सर्वकालोमे परस्पर विशेष अधिकता व हीनता लगा लेनी चाहिए ।

विवरीयं पडिहग्गादि विरयादीणं च देसघादित्तं ।
तह य असंखेज्जाणं उदीरणा समयपबद्धाणं ॥३३२॥
लोयाणमसंखेज्जं समयपबद्धस्स होदि पडिभागो ।
तत्तियमेत्तद्दव्वस्सुदीरणा वट्टदे तत्तो ॥३३३॥

अर्थः—(उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके) वीर्यान्तरायादि कर्मोका देशघाति वन्ध होता था वह विपरोत होकर सर्वघाति होने लगा । असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणाका अभाव होकर एक समयप्रबद्धके[1] असख्यातलोकवे भाग मात्र द्रव्यकी उदीरणा होने लगी ।

विशेषार्थः—गाथा ३३० में कहे गए क्रम अनुसार संख्यातहजार स्थितिबन्धो के व्यतीत हो जानेपर वीर्यान्तरायकर्म अनुभागबन्धकी अपेक्षा सर्वघाती हो जाता है । तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे अभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण और परिभोग-अन्तरायकर्म सर्वघाति हो जाते है । तदनन्तर स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे चक्षुदर्शनावरण कर्म सर्वघाति हो जाता है । उसके पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते है । तदनन्तर स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते है । तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे मन.पर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते है । उपशमश्रेणि चढनेवालेके इन बारहकर्मोका अनुभागबन्ध जिस क्रमसे देशघाती हुआ था, उतरनेवालेके उसी क्रमसे पश्चादनुपूर्वी द्वारा देशघातिकरण नष्ट होनेपर सर्वघाति अनुभागबन्ध हो जाता है ।

तत्पश्चात् सहस्रो स्थितिबन्धोके व्यतीत हो जानेपर असख्यात समय प्रबद्धों की उदीरणा नष्ट हो जाती है । उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके हजारो स्थितिबन्ध बीत जानेपर एक समयप्रबद्धके असख्यातलोकवे भाग उदीरणा असंख्यातगुणो वृद्धिको प्राप्त होकर आयु और वेदनीयकर्मोको छोड़कर शेष सर्वकर्मोकी उदीरणा असंख्यात समय प्रबद्ध होने लगे थी, श्रेणिसे उतरनेवालेके सर्वघाती अनुभागबन्धके पश्चात् पुनः

---

१ एक समयप्रबद्धको असख्यातलोकसे भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतने प्रदेशाग्रकी असख्यातलोकवे भाग संज्ञा जानना ।

अर्थः—लोभका असंक्रमण, छह आवलियां बीत जानेपर उदीरणा, मोहनीय का आनुपूर्वी सक्रमण ये नियम थे, किन्तु अध.पतन होनेपर इनसे विपरीत होने लगता है।

विशेषार्थः—ग्यारहवे उपशान्तमोह गुणस्थानसे गिरनेवाले सभी जीवोके छह आवलियोके बीत जानेपर ही उदीरणा हो ऐसा नियम नही रहा, किन्तु बन्धावलि व्यतीत होनेपर उदीरणा होने लगती है। उपशमश्रेणि चढनेवालोके यह नियम बतलाया गया था कि नवीन बधनेवाले कर्मोकी उदीरणा बन्धके छह आवलि पश्चात् ही हो सकती है, उससे पूर्व नही, किन्तु श्रेणिसे उतरने वालेके लिए यह नियम नही रहा। उनके एक आवलिके पश्चात् ही बधे हुए कर्मोकी उदीरणा होने लगती है। कुछ आचार्य ऐसा व्याख्यान करते है कि ग्यारहवे गुणस्थानसे गिरते समय भी जबतक मोहनीयकर्मका सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तबतक छह आवलियोके व्यतीत होनेपर ही उदीरणाका नियम रहता है, किन्तु जहासे मोहनीय कर्मका स्थितिबंध असख्यातवर्षप्रमाण होने लगता है वहासे छह आवलि पश्चात् उदीरणाका नियम नही रहता। परन्तु यह व्याख्यान चूर्णिसूत्र ४८१ के अनुरूप नही है। उपशामकके अंतरक्रिया समाप्तिकालमे जो यह मोहनीयका आनुपूर्वी सक्रमण व संज्वलन लोभके असक्रमणका नियम हो गया था वह नियमभी श्रेणिसे उतरने वालेके अनिवृत्तिकरणकालसे लेकर नष्ट हो गया अब मोहनीयकर्मका अनानुपूर्वीसक्रमण तथा लोभका भी सक्रमण होने लगा।

शङ्का—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके प्रथमसमयसे ही मोहनीयकर्मका अनानुपूर्वी सक्रमण क्यो नही कहा गया ?

समाधान—नही कहा गया, क्योकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मके बन्धका अभाव होनेसे मोहनीयकर्मका सक्रमण सम्भव नही है। इसीलिए सूक्ष्मसाम्परायमे सज्वलनलोभका सक्रमण भी नही होता। जबतक तीन प्रकारकी माया (सज्वलनमाया, प्रत्याख्यानमाया, अप्रत्याख्यानमाया) का अपकर्षण नही होता तब तक मोहनीयकर्मके अनानुपूर्वीसक्रमणकी उत्पत्ति नही होती, क्योकि सज्वलन लोभके प्रतिग्रहका अभाव होनेसे सक्रमणकी प्रवृत्ति सम्भव नही है।[1]

---

१. जयधवल मूल पृ० १९०६-७।

जाता है और नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातियाकर्मोका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है। इससे भी वेदनीयकर्मका स्थितिबंध विशेष-अधिक होता है; क्योकि परिणाम विशेषके कारण इसप्रकारके बन्धकी निर्बाधरूपसे सिद्धि होजाती है। उपशम श्रेणि चढनेवालेके जिस स्थानपर नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातिया (ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय) कर्मोका स्थितिबन्ध एकसाथ असख्यातगुणा हीन हो जाता है उस स्थानसे कुछ पूर्व उतरनेवालेके स्थितिबन्धमें उपर्युक्त परिवर्तन हो जाता है अर्थात् नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातियाकर्मोका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है।

शङ्का—यदि ऐसा है तो नाम-गोत्रकर्मके स्थितिबन्धसे तीन घातिया कर्मोका स्थितिवन्ध विशेष अधिक वृद्धिरूप क्यो होता है; असंख्यातगुणो वृद्धिरूप क्यो नही हो जाता ?

समाधान—श्रेणिसे उतरनेवालेके सर्व स्थितिबन्धोमें विशेष अधिकरूपसे वृद्धिकी प्रवृत्ति होती है ऐसा नियम देखा जाता है। अथवा ऐसे नियमका निर्निबन्धनपना नही है, किन्तु निबन्धनरूपसे यहा चूर्णिसूत्रकी प्रवृत्ति हुई है।

पुनः इसक्रमसे सख्यातहजार स्थितिबन्धोत्सरण होकर अन्तर्मुहूर्तकाल नीचे उतरकर वहा अन्यप्रकारके अल्पवहुत्व वाला स्थितिबन्ध होता है। अर्थात् इसप्रकार सख्यातहजार स्थितिबन्ध करके तत्पश्चात् एक साथ मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे कम होता है इससे नाम गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है। इससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होते हुए विशेष अधिक होता है।

शङ्का—पूर्वमे ज्ञानावरणादि कर्मोके स्थितिबन्धसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता था, पुन. एक साथ वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध तीन घातियाकर्मों के स्थितिबन्धके सदृश कैसे हो गया ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नही है, क्योंकि अन्तरङ्ग परिणाम विशेपके आश्रयसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध तीन घातियाकर्मोके स्थितिवन्धके सदृश होनेमे विरोधका अभाव है। श्रेणि चढ़नेवाला जिसस्थानपर ज्ञानावरणादिके स्थिति

असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा नष्ट होकर समयप्रबद्धके असख्यातलोक भागी (असख्यात लोकसे समयप्रबद्धको भाजित करनेपर एकभाग मात्र) उदीरणा प्रवृत्त होती है। उसीसमय मोहनीयका स्थितिबन्ध स्तोक, घातिया कर्मोका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा नाम और गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा, वेदनीयकर्मका स्थितिबंध विशेष अधिक। स्थितिबन्धका जैसा अल्पबहुत्व गाथा ३३० मे कहा था वैसा ही अल्पबहुत्व यहां भी कहा गया है। विशेषता यह है कि पूर्व स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा स्थितिबन्ध बढ जाता है।[1]

क्रमकरणके नाशका विधान ७ गाथाओंमें कहते हैं—

तक्काले मोहणियं तीसीयं वीसियं च वेयणियं।
मोहं वीसिय तीसिय वेयणीय कमं हवे तत्तो ॥३३४॥
मोहं वीसिय तीसिय तो वीसिय मोहतीसयाण कमं।
वीसिय तीसिय मोहं अप्पाबहुगं तु अविरुद्धं ॥३३५॥

अर्थः—उसी काल (समय) मे मोहनीय, तीसिया (ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय), वीसिया (नाम-गोत्र) और वेदनीय इस क्रमसे उसके पश्चात् मोहनीय वीसिय, तीसिय और वेदनीय इस क्रमसे; उसके पश्चात् मोहनीय वीसिय और तीसिय इस क्रमसे; उसके पश्चात् वीसिय मोहनीय और तीसिय इस क्रमसे; उसके पश्चात् वीसिय, तीसिय, मोहनीय इन अल्पबहुत्व क्रमसे स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थः—जिसकालमें समयप्रबद्धकी असख्यातलोक प्रतिभागी उदीरणा प्रवृत्त होती है, उससमय मोहनीयका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, शेष घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, इससे नाम-गोत्र का स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है। इस अल्पबहुत्व विधिसे सख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जानेपर और उपशमश्रेणिसे उतरनेवाला अन्तर्मुहूर्त नीचे उतर जाता है तब एक साथ मोहनीयका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक, नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध असख्यातगुणा हो जाता है और इससे तीन घातियाकर्मोका स्थितिबन्ध विशेष अधिक और वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है। अर्थात् एक वारमे ही नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध तीन घातिया कर्मोसे नीचे आ

१. जयधवल मूल पृ० १९०७–८।

नीचे उतरकर जब पल्यके असंख्यातवेभाग स्थितिबन्ध नही होता अर्थात् जबतक सख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तबतक एक स्थितिबन्धसे दूसरा स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है[1] ।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त स्थितिबन्धोके द्वारा क्रमकरणका विनाश हो जानेके पश्चात् स्थितिबन्धोमे जो नाम-गोत्र कर्मकी स्थितिसे ज्ञानावरणादिकी स्थिति विशेष अधिक बधती है वहापर विशेष अधिक प्रमाण नाम-गोत्रकी स्थितिका द्वितीयभाग है, क्योकि नाम-गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है और ज्ञानावरणादिकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ीसागर है। ज्ञानावरणादिकी स्थितिसे मोहनीयकी स्थिति विशेष अधिक बधती है वहां विशेष अधिकका प्रमाण ज्ञानावरणादिकी स्थिति का तृतीयभाग है, क्योकि उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ीसागर व चालीस कोडाकोडीसागरमें यह अनुपात है। नीचे उतरते-उतरते श्रेणिसे गिरनेवालेके जबतक स्थितिबन्ध सख्यातहजार वर्ष रहता है असख्यातवर्ष नही होता अर्थात् पल्यका असख्यातवा भाग नही होता तब तक पूर्ण स्थितिबन्धसे अगला स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है गुणाकाररूप नही होता ।

जत्तोपाये होदि हु असंखवस्सप्पमाणठिदिबंधो ।
तत्तोपाये अण्णं ठिदिबंधमसंखगुणियकमं ॥३३७॥
एवं पल्लासंखं संखं भागं च होइ बंधेण ।
तत्तोपाये अण्णं ठिदिबंधो संखगुणियकमं ॥३३८॥

अर्थः—जिस स्थल पर स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षप्रमाण होता है उस स्थलसे लेकर अन्य स्थितिबंध असख्यातगुणित क्रमसे होते है। इसक्रमसे पल्यके असंख्यातवेभाग व पल्यके संख्यातवेभाग स्थितिबन्ध होता है। उस स्थलके (पल्यके सख्यातवेभाग) पश्चात् अन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणित क्रमसे होते है।

---

१ तदो एव विहट्ठिदिबधपरावत्तणाए जहाकमं कादूण हेट्ठा ओदरमाणस्स पुणो वि सखेज्जसहस्समेत्ताणि ट्ठिदिबधब्भुस्सरणाणि एदेणेव कमेण णेदव्वाणि जाव सव्व पच्छिमो पलिदो असखभागिजो ट्ठिदि बधोत्ति । (ज० ध० मूल पृ० १९१० प १–२)

वन्धसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा अधिक करता है, उस स्थानसे कुछ पूर्व गिरनेवाला इसप्रकारका स्थितिबन्ध करता है। पुन इस अल्पवहुत्व विधिसे सख्यातहजार स्थितिबन्धोत्सरणके द्वारा अन्तर्मुहूर्तकाल अतिक्रान्त करके नीचे उतरनेवालेके अन्यप्रकारका स्थितिबन्ध होता है।

इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर अन्य स्थितिवन्ध प्रारम्भ होता है। एक साथ नाम-गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सवसे स्तोक हो जाता है, इससे मोहनीयका स्थितिबन्ध विशेष-अधिक होता है। इससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अतरायकर्मोका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होते हुए विशेप अधिक होता है।

शंका—मोहनीयकर्मके स्थितिबन्धसे नाम-गोत्रकर्मका स्थितिवन्ध एकसाथ असंख्यातगुणपनाके परित्यागके साथ विशेष हीन भावसे नीचे हो गया। यहां ऐसा क्यो ?

समाधान—परिणाम विशेषके आश्रयसे विशेषहीन होता है। ऐसा पूर्वमें वहुतबार कहा जा चुका है। इस क्रमसे बहुतसे स्थितिवन्धोत्सरण-सहस्र बीतनेपर एक साथ नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक, इससे चारकर्मो (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) का स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक होता है, इससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है। परिणाम विशेपके कारण मोहनीयके स्थितिबन्धसे चारकर्मोका स्थितिबन्ध विशेष हीन हो जाता है।[1] यहापर क्रमकरण नष्ट हो जाता है।

कमकरणविणट्ठादो उवरिट्ठिदा विसेसअहियाओ।
सव्वासिं तण्णद्धे हेट्ठा सव्वासु अहियकमं ॥३३६॥

अर्थः—क्रमकरण नष्ट होनेके पश्चात् (पूर्वोक्त अल्पवहुत्वके अनुसार कर्मों का परस्पर विशेष अधिक क्रमसे) जो स्थितिबन्ध होते है उनमे विशेष अधिकका प्रमाण अपनी-अपनी उत्कृष्टस्थितिके अनुपातसे होता है।[2] उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके

१ जयधवल मूल पृ० १९०८–१९०९ सूत्र ४९४–५१२।
२ एत्तो पहुडि सव्वत्थेव अप्पप्पणो उक्कस्स ठिदिवध पडिभागेण विसेसाहियत्तमुवगतव्व (ज ध. मू पृ. १९०९)

वेदनीय व अन्तरायका तीन बटे सात ($\frac{3}{7}$) तथा मोहनीयकर्मका चार बटे सात ($\frac{4}{7}$) भाग स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ:—इसप्रकार सख्यातगुणवृद्धिके क्रमसे बढता हुआ सभी कर्मोंके पल्यके संख्यातवेभागप्रमाण संख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर वृद्धिगत अपूर्व-स्थितिबन्ध पल्यके सख्यातवेभागप्रमाण होता है। पल्यके असंख्यातवेभागप्रमाण स्थिति-बन्धोंमें संख्यातगुणी वृद्धि होते हुए जिस कालमे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण पल्यप्रमाण हो जाता है उससमय पल्यके सख्यातवेभागप्रमाणवाले पूर्व स्थितिबन्धमें पल्यके संख्यातबहुभागप्रमाण अपूर्ववृद्धि होती है, अन्यथा पल्यप्रमाण स्थितिबन्धकी उत्पत्ति सम्भव नही है। उससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंके स्थितिबन्धमे अपूर्ववृद्धि होकर कुछअधिक चतुर्थभागकम पल्यप्रमाण अर्थात् कुछकम $\frac{3}{4}$ अथवा देशोन तीन चौथाई पल्यप्रमाण ज्ञानावरणादिके स्थितिबन्धकी वृद्धि होती है। पल्योपमके चारभाग करके उनमेसे एक चतुर्थभागको निकालकर शेष तीन चतुर्थभागको ग्रहण करनेपर ज्ञानावरणादि चारकर्मोंके तात्कालिक स्थिति-बन्धका प्रमाण होता है। इसका कारण यह है कि चालीस (४०) कोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थितिवाले मोहनीयकर्मका यदि एक पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तो तीस कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिवाले ज्ञानावरणादि कर्मोका कितना स्थितिबन्ध होगा |४० | १ | ३०| इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर उसका प्रमाण $\frac{3}{4}$ पल्य प्राप्त होता है। इस तीन चतुर्थभागमे से पूर्व स्थितिबन्धके प्रमाण पल्यके सख्यातवेभागको घटानेपर कुछ कम पल्यका तीन बटा चार ($\frac{3}{4}$) शेष रहता है, यही यहाकी वृद्धिका प्रमाण है। इसीप्रकार त्रैराशिक क्रमसे नाम व गोत्रका तत्कालिक स्थितिबन्ध अर्धपल्यप्रमाण होता है। इसमेंसे पल्यके सख्यातवेभागप्रमाण पूर्व स्थितिबन्धको घटानेपर कुछकम अर्धपल्यप्रमाण वृद्धिका प्रमाण प्राप्त होता है। जिससमय यह अपूर्ववृद्धि होती है उस समय मोहनीयकर्मका ज-स्थितिबध पल्योपमप्रमाण, ज्ञानावरणादि चार कर्मोका ज-स्थितिबन्ध चतुर्थभागसे हीन पल्योपमप्रमाण, नाम व गोत्रका ज-स्थितिबन्ध अर्धपल्यो-पमप्रमाण होता है।[1]

शङ्का—ज-स्थितिबन्ध किसे कहते है ?

---

१. ज. ध. मूल पृ. १९१०-११ सूत्र ५१६-५२२।

विशेषार्थ—जहांसे लेकर नाम-गोत्र आदि कर्मोका स्थितिबन्ध प्रथमवार असख्यातवर्षका होता है वहासे लेकर जबतक पल्यके असख्यातवेभाग स्थितिबन्ध नही होता इस अन्तरालमे अन्य-अन्य स्थितिबन्ध पुन. पुन. असख्यातगुणवृद्धिसे बढता है, क्योकि वहापर पर्यायान्तर असम्भव है। इस क्रमसे सातो ही कर्मोका स्थितिबन्ध एक साथ पल्यके असख्यातवेभागप्रमाण होकर पल्यके सख्यातवेभागप्रमाण हो जाता है।

शंका—श्रेणि चढनेवालेके सातोकर्मोका दूरापकृष्ट स्थितिबन्ध क्रमसे हुआ था, किन्तु उतरनेवालेके सातोकर्मोका स्थितिबन्ध पल्यके असंख्यातवेभागसे सख्यातवेभागप्रमाण होना एक साथ कैसे सम्भव है।

समाधान—ऐसी शका नही करनी चाहिए, क्योकि श्रेणिसे उतरनेवालेके परिणाम-माहत्म्यसे सातकर्मोका एकसाथ पल्यके असख्यातवेभागसे पल्यके सख्यातवेभाग होनेमे विरोधका अभाव है। इस स्थलसे लेकर आगे प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होनेपर अन्य-अन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणित क्रमसे होते है, क्योकि पल्यके संख्यातवेभाग स्थितिबन्ध होनेके पश्चात् सख्यातगुणवृद्धिके अतिरिक्त पर्यायान्तर असम्भव है।[1]

मोहस्स य ठिदिबंधो पल्ले जादे तदा दु परिवड्ढी।
पल्लस्स संखभागं इगिविगलासण्णिबंधसमं ॥३३९॥
मोहस्स पल्लबंधे तीसदुगे तत्तिपादमद्धं च।
दुतिचदुसत्तमभागा वीसतिये एयवियलठिदी ॥३४०॥

अर्थः—मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध पल्यप्रमाण हो जानेपर स्थितिबन्धमें पल्यके सख्यातवेभाग वृद्धि होती है। पुन क्रमसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान स्थितिबन्ध होजाता है। मोहनीयकर्मका पल्यप्रमाण स्थितिबन्ध होनेपर तीसिय (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) कर्मोका स्थितिबन्ध $\frac{3}{4}$ पल्य अर्थात् पौन पल्य और दोकर्म (नाम-गोत्र) का स्थितिवन्ध अर्ध पल्यप्रमाण होता है। एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियकी स्थितिके समान स्थितिवन्ध होनेपर नाम-गोत्रका दो बटे सात ($\frac{2}{7}$) भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण,

---

१ जय धवल मूल पृ० १९१० सूत्र ५१३-५१५।

विशेषार्थः—तत्पश्चात् असंज्ञीके समान बंधसे आगे संख्यातहजार स्थिति-बन्धोत्सरण होनेपर उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयको प्राप्त हुआ वहां मोहनीय, तीसिय (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) वोसीय (नामगोत्र) कर्मोका क्रमसे अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमपृथक्त्वलक्ष सागरोका $\frac{४}{७}$, $\frac{३}{७}$ और $\frac{२}{७}$ भागप्रमाण स्थितिबन्ध होता । उसके अनन्तरवर्ती समयमे उतरनेवाले अपूर्वकरणको प्राप्त होता है ।

अपूर्वकरणमें होनेवाले कार्य विशेषको कहते हैं—

उवसामणा णिधत्ती णिकाचणुग्घाडिदाणि तत्थेव ।
चदुतीसदुगाणं च य बंधो अद्धापवत्तो य ॥३४२॥

अर्थः—श्रेणिसे उतरते हुए अपूर्वकरणगुणस्थानको प्राप्त होनेपर अप्रशस्तोपशामना, निधत्ति एव निकाचना उद्घाटित-प्रगट हो जाते है और वहा पर क्रमशः चार, तीस व दो प्रकृतियोका बन्ध होने लगता है । वहासे गिरकर अधःप्रवृत्तकरणको प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरणका काल समाप्त हो जानेपर गिरकर अनन्तर समयमें अपूर्वकरणमें प्रवेश करता है, उसीसमय अप्रशस्तोपशामनाकरण, निधत्तिकरण व निकाचनाकरण उद्घाटित हो जाते हैं, क्योंकि जो पूर्वमें अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोके कारण उपशान्तभावसे परिणत थे अब अपूर्वकरणमें प्रवेश होनेपर पुनः उद्भव हो जाता है । उस समय हास्य-रति, भय व जुगुप्साका बन्ध प्रारम्भ होनेसे मोहनीयकी नव प्रकृतियोका बन्ध होने लगता है, उसीसमय हास्य-रति, अरति-शोकमें से किसी एक युगलका उदय होनेसे तथा भय व जुगुप्साका वैकल्पिक (भजनीय) उदय होनेसे इन छह नोकषायकी आगमसे अविरुद्ध पुनः प्रवृत्ति हो जाती है ।[1] श्रेणिसे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथम सप्तमभागके चरमसमयमे पूर्वोक्त परभविक नामकर्म की देवगति, पंचेन्द्रियजाति आदि प्रकृतियोका बन्ध परिणाम विशेषके कारण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु आहारकद्विक व तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध भजनीय है । उसके पश्चात् हजारों स्थितिबन्धोके हो जानेपर अपूर्वकरणके सात भागोमे अन्य पाच भाग व्यतीत

---

१. ध. पु. ६ पृ. ३३०; क. पा. सु पृ. ७२५; जयधवल मूल पृ १९१३ ।

समाधान—आबाधा सहित स्थितिको ज-स्थिति[1] कहते है ।[2] इस स्थलसे अर्थात् मोहनीयकर्मका पल्यप्रमाण स्थितिबन्ध होनेके पश्चात् प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर तबतक पल्योपमके सख्यातवेभागसे वृद्धि होती है जबतक जितना अनिवृत्तिकरणकाल शेष है और सर्व अपूर्वकरणकाल है । अर्थात् अनिवृत्तिकरणका संख्यातबहुभागप्रमाण काल और अपूर्वकरणका सर्वकाल शेष है । पल्यके स्थितिबन्धके पश्चात् सख्यातहजार स्थितिबन्धोके द्वारा वृद्धिको प्राप्त, अनिवृत्तिकरणकालमे, मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध एकसागरके चार बटे सात ($\frac{४}{७}$) एकेन्द्रियके स्थितिबन्ध सदृश हो जाता है । शेष कर्मोका अपने-अपने प्रतिभागसे एकेन्द्रियके समान बन्ध होता है । अर्थात् ज्ञानावरणादि चारकर्मोका एकसागरके सात भागमे से तीनभाग प्रमाण ($\frac{३}{७}$ सागर) तथा नाम व गोत्रकर्मका एकसागरके सातभागोमेसे दोभाग प्रमाण ($\frac{२}{७}$ सागर) स्थितिबध होता है । इसी क्रमसे स्थितिबध पुन बढ़ता हुआ यथाक्रम द्वीन्द्रियके समान, त्रीन्द्रियके समान, चतुरिन्द्रियके समान और असज्ञीपचेन्द्रियके समान २५, ५०, १००, १००० सागरके $\frac{४}{७}$, $\frac{३}{७}$, $\frac{२}{७}$ प्रमाण हो जाता है । यह सब अनिवृत्तिकरणकालके भीतर ही हो जाता है ।[3]

अब अवरोहक अनिवृत्तिकरणके चरमसमयका स्थितिबन्ध कहते हैं—

तत्तो अणियट्टिस्स य अंतं पत्तो हु तत्थ उदधीणं ।
लक्खपुधत्तं बंधो से काले पुव्वकरणो हु ॥३४१॥

अर्थ—उसके पश्चात् श्रेणिसे गिरता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके अत को प्राप्त हो जाता है उससमय लक्षपृथक्त्वसागरका स्थितिबन्ध होता है पुनः अनन्तरसमयमे अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है ।

---

१ अर्थात् वृद्धिसहित पूरा स्थितिबन्ध । अथवा सवृद्धि, मूलस्थितिबन्ध=ज-स्थितिबन्ध (जयधवल मूल पृ १९१२)

२ "आबाधा उक्कस्सओ ट्ठिदिबधो विसेसाहिओ ॥ २२७ ॥ जट्ठिदिबधो विसेसाहिओ ॥ २२८ ॥ केत्तियमेत्तेण ? सग-आबाधामेत्तेण । असादस्स उक्कस्साट्ठिदिबधो विसेसाहिओ ॥ २३१ ॥ जट्ठिदिबधो विसेसाहिओ ॥२३२॥ केत्तियमेत्तेण ? तिण्णिवाससहस्समेत्तेण । जट्ठिदिबधो णाम आबाधाए सहिद" (ध० पु० ११ पृ० ३३९-३४०-३४१)

३ जयधवल मूल पृ० १९१२ सूत्र ५२३–५२५ ।

गलितावशेष गुणश्रेणि

६ निषेकोंकी गलितावशेष गुणश्रेणि

नं० १ का निषेक गल जानेपर ८ निषेककी गुणश्रेणि

अवस्थित गुणश्रेणि

नं० १ का निषेक गल जानेसे उपरितन स्थिति का
नं० ९ का निषेक गुणश्रेणि मे आ गया ।
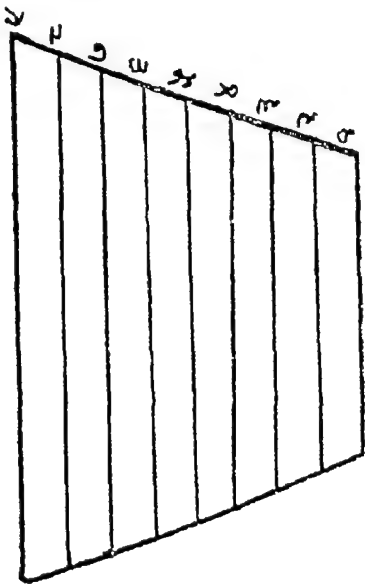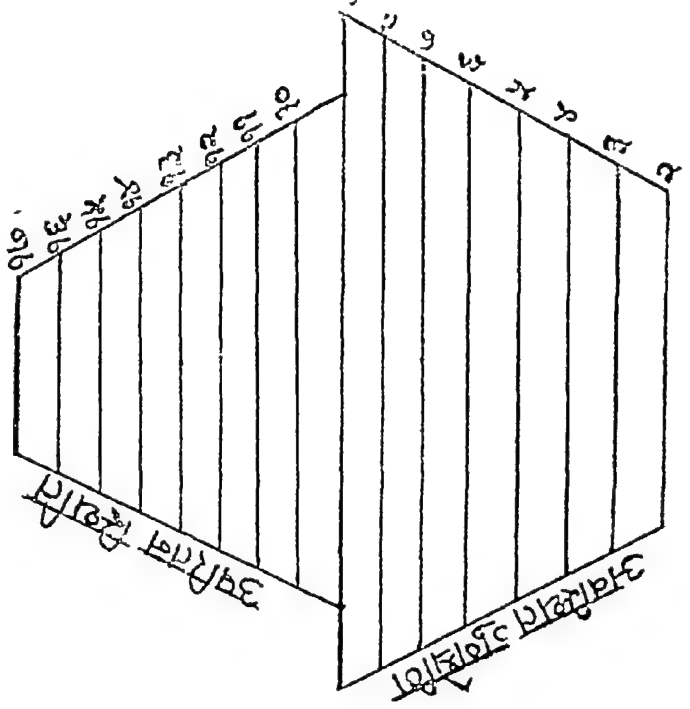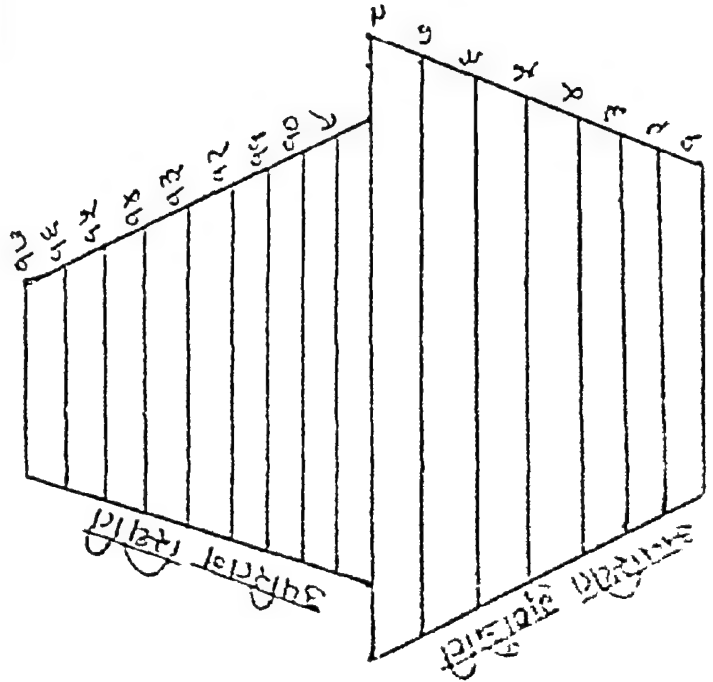
हो जानेपर छठे भागके अन्तिमसमयमे निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियोका वन्ध प्रारम्भ हो जाता है। निद्रा-प्रचलाका बन्ध प्रारम्भ हो जानेके पश्चात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जानेपर अपूर्वकरणके अन्तिम सप्तमभागको बिताकर श्रेणिसे उतरनेवाला अपूर्वकरणके चरमसमयको प्राप्त हो जाता है, उससमय पृथक्त्वलक्षकरोडसागर अर्थात् अन्तकोडाकोडीसागर स्थितिबन्ध हो जाता है। श्रेणिसे उतरनेवाले सभीके स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात नही होते।[1] मात्र गलितावशेप आयामवाली गुणश्रेणि होती है, प्रतिसमय असंख्यातगुणाहीन द्रव्य अपकर्षित होता है। तदनन्तर समयमे अनन्तगुणोहीन विशुद्धिके कारण गिरकर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त हो प्रथम समयवर्ती अध प्रवृत्त हो जाता है।[2]

अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें अवस्थित गुणश्रेणिका निर्देश करते हैं—

पढमो अधापवत्तो गुणसेढिमवट्ठिदं पुराणादो।
संखगुणं तच्चंतोमुहुत्तमेत्तं करेदी हु ॥३४३॥

अर्थः—अध प्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमे अवस्थित गुणश्रेणिको करता है जिसका आयाम पुरातन गुणश्रेणिआयामसे सख्यातगुणा होते हुए भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है।

विशेषार्थः—श्रेणिसे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमे जितने प्रदेशाग्रका अपवर्तन हुआ था उससे असख्यातगुणेहीन प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके प्रथमसमयवर्ती अध प्रवृत्तसंयत गुणश्रेणि करता है। जो प्रथमसमय सूक्ष्मसाम्परायके द्वारा अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरणके कालसे विशेष अधिक आयाममे पुरातन गुणश्रेणि निक्षेप द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मोंका निक्षेप हुआ था। अब उससे सख्यातगुणे आयामके द्वारा गुणश्रेणि विन्यास करता है, क्योकि मन्दतर विशुद्धिके कारण सर्वत्र गुणश्रेणि-आयाम फैल जाता है अर्थात् बढ जाता है।[3]

---

१ सव्वस्सेव ओदरमाणयस्स णत्थि ट्ठिदिघादो अणुभागघादो वा। जय धवल मूल पृ० १९२६ एव १९१३।

२ ज. ध मूल पृ. १९१३ सूत्र ५२९–५३३।

३ ज ध मूल पृ १९१४ सूत्र ५३६। ध पु १२ पृ. ७८, त सू अ. ९ सू ४५। क. पा सु प ७२६, ध. पु ६ पृ ३३०।

अथानन्तर स्वस्थानसंयमीके गुणश्रेणि आयाम सम्बन्धी तीन स्थानों का कथन करते हैं—

सट्ठाणे तावदियं संखगुणूणं तु उवरि चडमाणे ।
विरदाविरदाहिमुहे संखेज्जगुणं तदो तिविहं ॥३४५॥

अर्थः—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके स्वस्थान संयत होनेपर भी गुणश्रेणि आयाम उतना ही रहता है। पुन ऊपर चढनेपर गुणश्रेणि-आयाम संख्यातगुणाहीन हो जाता है। विरताविरतके अभिमुख होनेपर गुणश्रेणिआयाम सख्यातगुणा हो जाता है।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमे जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण वाला गुणश्रेणि निक्षेप (आयाम) था वह अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थित रहता है, क्योकि वृद्धि-हानिके कारणोका अभाव है, किन्तु प्रदेशाग्रकी अपेक्षा नियमसे हीयमान है कारण कि विशुद्धिमें अनन्तगुणी हानिके कारण परिणाम हीयमान होते है। अन्तर्मुहूर्तकाल बीत जानेके पश्चात् गुणश्रेणिआयाम कथचित् वृद्धिको प्राप्त होता है, कथचित् घटता है और कथचित् अवस्थित रहता है। अधः-प्रवृत्ताकरणके प्रथमसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थित गुणश्रेणिआयाममे गुण-श्रेणि निक्षेप करके उसके पश्चात् गुणश्रेणिनिक्षेपके आयाममे वृद्धि-हानि और अव-स्थान इन तीनमे से कोई एक अवस्था होती है। स्वस्थान अप्रमत्तसयत होकर प्रमत्त-संयत-अप्रमत्तसंयत्त गुणस्थानोमे झूलनेवालेके अवस्थित आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप होता है। संयमासयम गुणस्थानको गिरकर प्राप्त होनेवालेके गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम संख्यातगुणवृद्धिके द्वारा बढ जाता है। नीचे गिरकर आगम-अविरोधसे पुन. उपशम या क्षपकश्रेणि चढनेवालेके पूर्व गुणश्रेणिशीर्षसे नीचे सख्यातगुणहानिके द्वारा हीन होकर गुणश्रेणि निक्षेपका आयाम होता है। इसीप्रकार सभी गुणश्रेणिनिक्षेपोके आयामके विषयमे समझना चाहिए।

प्रदेशोकी अपेक्षा वृद्धि हानि और अवस्थान विषय विभागको जानकर लगा लेना चाहिए। अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालको छोड़कर उसके आगे स्वस्थान सयत भावसे वर्तन नही करनेवालेके संक्लिष्ट विशुद्ध परिणामोके वशसे वृद्धि-हानि और अवस्थान

आगे प्राचीन गुणश्रेणिके विशेष निर्देश करते हैं—

ओदरसुहुमादीदो अपुव्वचरिमोत्ति गलिदसेसे व ।
गुणसेढी णिक्खेवो सट्ठाणे होदि तिट्ठाणं ॥३४४॥

अर्थः—श्रेणिसे उतरते हुए सूक्ष्मसाम्परायकी आदिसे लेकर अपूर्वकरणके अन्त पर्यन्त गलितावशेष गुणश्रेणि निक्षेप होता है, किन्तु स्वस्थानसयमीके गुणश्रेणिके तीन स्थान होते है ।

विशेषार्थ—उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयसे लेकर अपर्वकरणके चरमसमयपर्यन्त ज्ञानावरणादिकर्मोका गुणश्रेणि-आयाम गलितावशेष है, क्योकि शेष शेषमे निक्षेप होता है । इतनी विशेषता है कि सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयसे लेकर कितने ही काल पर्यन्त गुणश्रेणिआयाम अवस्थित होता है । पश्चात् अन्य कर्मोका गुणश्रेणि आयामके समान मोहनीयकर्मका गुणश्रेणी आयाम गलितावशेष होता है, क्योकि तीन स्थानोमे वृद्धिको प्राप्त होकर अवस्थित गुणश्रेणि आयाम होता है ।

यथा—उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयसे लेकर अवस्थित गुणश्रेणि आयाम ही है । तथा स्पर्धकरूप बादरलोभके द्रव्यके अपकर्षणमे एकबार गुणश्रेणि आयाम वृद्धिगत होकर बादरलोभ वेदककाल पर्यन्त अवस्थित रहता है । मायाके द्रव्य का अपकर्षणमे दूसरीबार वृद्धिको प्राप्त होकर मायाके वेदककाल पर्यन्त अवस्थित गुणश्रेणि आयाम रहता है । मानके द्रव्यका अपकर्षणमे तीसरीबार बढकर मानके वेदककाल पर्यन्त अवस्थित गुणश्रेणि आयाम रहता है । इसप्रकार तीनबार अवस्थित गुणश्रेणि-आयाम होता है । पुन चौथीबार क्रोधके अपकर्षणमे बढकर अपूर्वकरणके अत-पर्यन्त अन्यकर्मोके समान मोहनीयकर्मका भी गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम होता है । अध प्रवृत्तकरणके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पुराने गुणश्रेणि आयामसे संख्यातगुणा ज्ञानावरणादिकर्मोका अवस्थित गुणश्रेणि-आयाम होता है । अध प्रवृत्त-करणका जितना अन्तर्मुहूर्तप्रमाणकाल है उतने कालमे प्रतिसमय एकान्तरूपसे अनत-गुणीहीन विशुद्धतासे उतरकर पश्चात स्वस्थान अप्रमत्त होता है । उससमय गुणश्रेणि के तीन स्थान होते है जिनका कथन आगे करते हैं ।[1]

---

१. ज. ध. मूल पत्र १६१४ सूत्र ५३७ की टीका ।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणि पर आरोहण करते हुए अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमसमयसे लेकर चारित्रमोहकी २१ प्रकृतियोका सर्वोपशम करके उतरते हुए पुनः प्राप्त अपूर्वकरणगुणस्थानके अन्तिमसमयतक जो कालका प्रमाण, उसकालसे संख्यात गुणित कालतक लौटता हुआ अध प्रवृत्तकरणके साथ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको पालता है। अर्थात् उपशमश्रेणि चढने और उतरनेमें जितना काल लगता है उससे भी सख्यातगुणाकाल अप्रमत्तासयत नामक सातवे गुणस्थानका काल है। इस गाथाके द्वारा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालका महत्त्व बताया गया है।[1]

तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देससंजमं वापि।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ॥३४८॥

अर्थ—इस द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें गिरकर असंयमको प्राप्त हो जावे अथवा देशसयमको प्राप्त हो जावे अथवा छह आवलियोके शेष रहनेपर सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त हो जावे।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणिसे उतरनेके पश्चात् अप्रमत्त-प्रमत्त गुणस्थानमें भ्रमण करते हुए यदि अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण दोनोप्रकारकी कषायोका उदय हो जावे तो असयत नामक चतुर्थगुणस्थानमें तथा यदि मात्र प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होजावे तो देशसयम नामक पंचमगुणस्थानमे अथवा देशसयमसे असंयम को या असयमसे देशसयमको अर्थात् दोनों गुणस्थानोको प्राप्त हो जावे। अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालमे उत्कृष्ट छह आवलिया और जघन्य एकसमय शेष रहने पर यदि परिणामोके कारण अनन्तानुबन्धी कषायकी सयोजना होकर उदय हो जावे तो सासादनगुणस्थानमें आ जावे।[2] जिसने विसंयोजनाके द्वारा अनन्तानुबन्धी चतुष्क को नि सत्त्व कर दिया है उसके भी परिणाम विशेषके कारण शेष कषायोका द्रव्य उसीसमय अनन्तानुबन्धी कषायरूपसे परिणमनकर अनन्तानुबन्धीकषायका उदय हो जाता है और वह सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो जाता है।[3] यह श्री यतिवृषभाचार्यका

---

१. ज. ध मू. पृ. १६१५ सूत्र ५४१। ध. पु ६ पृ ३३१। ध. पु ५ पृ १४ पर अप्रमत्तगुणस्थानके अन्तरके कथनसे इस गाथाकी पुष्टि होती है।

२. जयधवल मूल पृ १६१६ सूत्र ५४२–४३।

३. ज. ध. पु. ४ पृ. २४, ज. ध पु १० पृ १२४।

सम्भव है, क्योकि विप्रतिपेधका अभाव है।[1]

अथानन्तर अवरोहक अप्रमत्तके अधःप्रवृत्ताकरणमें संक्रम विशेषका कथन करते हैं—

करणे अधापवत्ते अधापवत्तो दु संकमो जादो ।
विज्झादमबंधाणे णट्ठो गुणसंकमो तत्थ ॥३४६॥

अर्थ—गिरते हुए अध प्रवृत्ताकरणमे गुणसक्रमण नष्ट हो जाता है और अधःप्रवृत्तसक्रमण होने लगता है। अवन्ध प्रकृतियोका विध्यातसक्रमण होता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणसे उतरकर अध प्रवृत्तकरणमे प्रवेश करनेपर प्रथम समयमे गुणसक्रमण व्युच्छिन्न हो जाता है और वधनेवाली प्रकृतियोका अध-प्रवृत्त-सक्रमण प्रारम्भ हो जाता है। जिन प्रकृतियोंका वन्ध नही होता ऐसी नपुंसकवेद आदि अप्रशस्त प्रकृतियोका विध्यातसंक्रमण होता है। अपूर्वकरणमे गुणसंक्रमण होता है। परिणामोमे विशुद्धिकी हानि होनेके कारण अध प्रवृत्तकरणमे गुणसक्रमण अर्थात् प्रत्येक समयमे द्रव्यका गुणाकाररूपसे सक्रमण होना रुक जाता है और अधःप्रवृत्त-भागहारके द्वारा भाजित द्रव्यका अध प्रवृत्त सक्रमण प्रारम्भ हो जाता है। संज्वलन-कषाय, पुरुषवेद आदि वंधनेवाली प्रकृतियोका अध-प्रवृत्तसंक्रमण होने लगता है। अबन्ध प्रकृतियोके द्रव्यको विध्यातभागहारका भाग देनेपर जो एकभागप्रमाण द्रव्य प्राप्त हो उतने द्रव्यका विध्यात संक्रमण होता है।[2]

अब दो गाथाओंमें द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालका प्रमाण कहते हैं—

चडणोदरकालादो पुव्वादो पुव्वगोत्ति संखगुणं ।
कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं ॥३४७॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसहित जीव चढते हुए अपूर्वकरणके प्रथमसमय से लेकर उतरते हुए अपूर्वकरणके अन्तिमसमयपर्यन्त जितनाकाल हुआ उससे सख्यात-गुणाकाल अध-प्रवृत्तकरणसहित इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको पालता है।

---

१ जयधवल मूल पृ० १९१४ सूत्र ५३८–५३९।

२ जयधवल मूल पृ० १९१४, ध० पु० ६ पृ० ३३०–३३१; क० पा० सुत्त पृ० ७२६ एवं ध० पु० ६ पृ० ४०९।

स्थानको प्राप्त मनुष्य नरकगति, तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नही होता, किन्तु नियमसे देवगतिको प्राप्त होता है। पूर्वमें जिसने आयुका बन्ध नही किया उसका यहापर मरण सम्भव नही है[1]।

अब उपशमश्रेणिसे उतरते हुए जीवके सासादनकी प्राप्तिके अभावका कथन करते हैं—

उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥

अर्थः—उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ सासादनगुणस्थानको प्राप्त नही होता ऐसा श्री भूतबलीमुनिनाथ द्वारा विरचित निर्मलसूत्रका प्रगट उपदेश है।[2]

विशेषार्थः—श्री गुणधराचार्यने गाथाओं द्वारा कषाय पाहुड़की रचना की है जिसपर यतिवृषभाचार्यने चूर्णिसूत्रकी रचना की। उस [3]चूर्णिसूत्रके अनुसार उपशम श्रेणिसे उतरता हुआ सासादनगुणस्थानको प्राप्त होता है और श्री वीरसेन आचार्यने भी कषायपाहुड़ पर लिखी गई अपनी जयधवला टीकामे पूर्ण समर्थन किया है जैसा कि जयधवल पु० ४ पृ० २४ व पु० १० पृ० १२४ से स्पष्ट है। श्री धरसेनाचार्यको द्वादशांगका एकदेश ज्ञान था। श्री पुष्पदन्त-भूतबलो आचार्योको द्वादशागके सूत्र श्री-धरसेनाचार्यसे प्राप्त हुए, जिनको उन्होने षट्खण्डागमरूपसे लिपिबद्ध किया उसपर भी वीरसेनाचार्यने ही धवला टीका रची। उस षट्खण्डागमका प्रथमखण्ड जीवस्थान है। तत्सम्बन्धी सत् प्ररुपणासूत्रोको तो श्री पुष्पदन्ताचार्यने लिपिवद्ध किया और शेष सूत्रोको श्री भूतबली आचार्यने लिपिबद्ध किया। जीवस्थान सम्बन्धी अन्तरानुगमका ७वां सूत्र इसप्रकार है—"सासणसम्मादिट्ठिणमतरं केवचिर कालादो होदि ? एगजीवं पडुच्च जहण्णेण पलिदोवमस्स असखेज्जदि भागो।" सासादन सम्यग्दृष्टि जीवका अन्तर कितने कालतक होता है ? एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपमके

---

१. जयधवल मूल पृ० १६१६–१७। क० पा० सुत्त पृ० ७२७ सूत्र ५४४–४६।

२. ध० पु० ५ पृ० ११।

३. जइसो कसाय उवसामणादोपरि वदिदो दंसणमोहणीय उवसंतद्धाए अचरिमेसु समएसु आसाणं गच्छइ तदो आसाणगमणादो से काले पणवीसं पयडीओ पविसंति। (ज. ध. पु. १० पृ. १२३)

मत उनके कषायपाहुड़के चूर्णिसूत्रमें प्रतिपादित है, किन्तु षट्खण्डागमके कर्त्ता श्री पुष्पदन्त-भूतबलीका यह मत नही है ।[1]

अब द्वितीयोपशमसम्यक्त्वसे सासादन प्राप्त जीवके मरणका कथन करते हुए उस सासादनगुणस्थानवर्ती जीवका अन्य गतित्रयमें मरण नहीं होनेके कारणका निर्देश करते हैं—

जदि मरदि सासणो सो णिरयतिरिक्खं णरं ण गच्छेदि ।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण[2] ॥३४९॥
णरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं ।
तम्हा तिसुवि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥३५०॥

अर्थः—उपशमश्रेणिसे उतरा हुआ जो सासादन जीव है वह आयु नाशसे मरण करे तो नरक, तिर्यंच व मनुष्यगतिको प्राप्त नही होता नियमसे देवगतिको ही प्राप्त होता है। इसप्रकार उपशमश्रेणीसे उतरनेवाले जीवके सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति और उसके मरण होनेका विशेष कथन कषायप्राभृतग्रन्थके चूर्णिसूत्रोमे यतिवृषभाचार्यने प्रतिपादित किया है उसीके अनुसार यहा कथन किया गया है।

बध्यमान नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुके सत्त्ववाले मनुष्यके मोहनीयकर्मका उपशम होना शक्य नही है इसलिए इन तीन गतियोमे उसका उत्पाद नही होता।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणिसे गिरनेवाला जीव सासादनगुणस्थानको प्राप्त होकर मरता है तो नरकगति, तिर्यचगति अथवा मनुष्यगतिको नही प्राप्त कर सकता, क्योकि ऐसा नियम है कि नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु इन तीनो आयुमेसे किसी भी एक आयुको बांधनेवाला मनुष्य अणुव्रत-महाव्रत ग्रहण तथा कषायोका उपशम करनेमे समर्थ नहीं हो सकता।[3] इसकारण उपशमश्रेणिसे उतरकर सासादनगुण-

---

१ "उवसमसेढीदो ओदिण्णाण सासणगमणाभावादो। त वि कुदो णव्वदे? एदम्हादो चेव भूदबली वयणादो। (ध० पु० ५ पृ० ११)

२ आसाण पुणगदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं। णियमा देवगदिं गच्छदि। (क पा सुत्त पृ ७२७ सूत्र ५४५)

३ "अणुव्वदमहव्वदाइ ण लहइ देवाउगं मोत्तु" (गो क गा ३३४), गो जी. गा ६५३; ध पु ६ पृ ३२६, प्रा प स अ. ६ गा. २०६, देवायुके बन्ध बिना अन्य तीन आयुके बन्धवाला अणुव्रत-महाव्रत धारण नही कर सकता।

जस्सुदयेणारूढो सेढिं तस्सेव ठविदि पढमठिदिं ।
सेसाणावलिमेत्तं मोत्तूण करेदि अंतरं णियमा ॥३५४॥

जस्सुदयेणारूढो सेढिं तक्कालपरिसमत्तीए ।
पढमट्ठिदिं करेदि हु अणंतरुवरुदयमोहस्स ॥३५५॥

माणोदएण चडिदो कोहं उवसमदि कोह अद्धाए।
मायोदएण चडिदो कोहं माणं सगद्धाए ॥३५६॥

लोहोदएण चडिदो कोहं माणं च मायमुवसमदि ।
अप्पप्पण अद्धाणे ताणं पढमट्ठिदी णत्थि ॥३५७॥

माणोदयचडपडिदो कोहोदयमाणमेत्तमाणुदओ ।
माणतियाणं सेसे सेससमं कुणदि गुणसेढी ॥३५८॥

माणादितियाणुदये चडपडिदे सगसगुदयसंपत्ते ।
णवछत्तिकसायाणं गलिदवसेसं करेदि गुणसेढी ॥३५९॥

जस्सुदएण य चडिदो तम्हि य उक्कट्टियम्हि पडिऊण ।
अंतरमाऊरेदि हु एवं पुरिसोदए चडिदो ॥३६०॥

अर्थ—पुरुषवेद सहित क्रोधोदयसे श्रेणि चढनेवालेके क्रोध-मान-माया-लोभकी पृथक्-पृथक् प्रथमस्थिति होती है। मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोधका उदय न होनेसे क्रोध और मान इन दोनोकी प्रथमस्थितिप्रमाण मानकी प्रथमस्थिति होती है। मायोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध मानका उदय नही अतः क्रोध-मान-माया इन तीन प्रथमस्थितिप्रमाण मायाकी प्रथमस्थिति होती है। लोभोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध-मान-मायाका उदय नही अतः लोभकी प्रथमस्थितिका प्रमाण क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारकी प्रथमस्थितिके तुल्य है ॥३५३॥ जिस कषायके या वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थितिको छोड़कर और शेष अनुदयरूप वेद व कषायोकी आवलिमात्र स्थितिको छोड़कर 'अन्तर' करता है[1] ॥३५४॥ जिस

---

१. देखो गाथा २४२ (यही भाव है); जयधवल पु० १३ पृ० २५३।

असख्यातवेभागमात्र है। इस सूत्र पर शङ्का व समाधान इसप्रकार है—"सासण-पच्छायदमिच्छाइट्ठिं सजमं गेण्हाविय दसणतियमुवसामिय पुणो चरित्तमोहमुवसामेदूण हेट्ठा ओयरिय आसाण गदस्स अतोमुहुत्तातरं किण्ण परूविद ? ण, उवसमसेढीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो। तं वि कुदो णव्वदे ? एदम्हादो चेव भूदबली वयणादो[1]।"

शङ्का—सासादनगुणस्थानसे पीछे लौटे हुए मिथ्यादृष्टिजीवको सयम ग्रहण कराकर और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोका उपशामन कराकर पुन चारित्रमोहका उपशम कराकर नीचे उतारकर सासादनगुणस्थानको प्राप्त हुए जीवके अतर्मुहूर्तप्रमाण अन्तर क्यो नही बताया ?

समाधान.—नही, क्योकि उपशमश्रेणिसे उतरनेवाले जीवोके सासादनगुण-स्थानमें गमन करनेका अभाव है।

शङ्का—यह कैसे जाना ?

समाधानः—भूतबली आचार्यके इसी वचनसे जाना जाता है।

इसप्रकार अवरोहकके सासादनाभावका निर्णय किया गया।

अथानन्तर उपशमश्रेणि चढ़नेवाले १२ प्रकारके जीवोंकी क्रियामें पाये जाने वाले भेदका कथन १२ गाथाओंमें करते हैं—

पुंकोधोदयचलियस्सेसाह परूवणा हु पुंमाणे।
मायालोहे चलिदस्सत्थि विसेसं तु पत्तेयं ॥३५२॥

अर्थ—पूर्वमें कही सर्व प्ररुपणा पुरुषवेद और क्रोधोदय सहित उपशमश्रेणी चढनेवाले जीवकी कही गई है। पुरुषवेद और सज्वलन मान, माया या लोभ सहित उपशमश्रेणि चढनेवाले जीवोमें से प्रत्येक की क्रिया विशेष है। उसीका कथन आगे करते हैं—

दोण्हं तिण्हं चउण्हं कोहादीणं तु पढमठिदिमित्तं।
माणस्स य मायाए बादरलोहस्स पढमठिदी ॥३५३॥

---
१ ध.पु ५ पृ १०–११।

क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेसे मानकी प्रथमस्थितिमें विभिन्नता क्यों हुई ?

समाधान—मानकी इतनी लम्बी प्रथमस्थितिके बिना नव नोकषाय, तीनप्रकारके क्रोध और तीनप्रकारके मानकी उपशामनाक्रियामें समानता नही हो सकती थी। इसलिए मानोदयसे श्रेणि चढनेवालेके मानकी प्रथमस्थिति, क्रोधोदयसे श्रेणि चढनेवालेके क्रोध और मानकी प्रथमस्थितिके सदृश; जहांकी तहा होती है। मानोदयसे श्रेणि चढनेवालेके इससे ऊपर शेष कषाय अर्थात् माया व लोभकी उपशामना विधि वही है।

अब उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके विषयमे विचार किया जाता है—मानकषायके उदयसे उपशमश्रेणि चढकर उपशान्तकषाय नामक ११वे गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तकालतक ठहरकर गिरनेवाले जीवके जब कृष्टिगत व स्पर्धकगत तथा मायाका अपने-अपने स्थानपर वेदन करता है तबतक किंचित् भी नानापना (विभिन्नता) नहीं है, क्योकि वहांपर वही पूर्वोक्त अवस्थित आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप व दोनों कषायोका अपने-अपने पूर्व वेदककालमें वेदन करता है।[1]

उसके आगे मानका वेदन करनेवालेके विभिन्नता है। क्रोधोदयसे चढनेवाले व चढ़कर पुनः उतरनेवाले मानवेदकके अपने वेदककालसे कुछ अधिक अवस्थित गुणश्रेणि आयाममें निक्षेपणा होता है। क्रोधका अपकर्षण होनेपर बारह कषायोकी ज्ञानावरणादि कर्मोका गुणश्रेणिके सदृश प्रमाणवाले गलितावशेष गुणश्रेणि-आयाममे विन्यास होता है, किन्तु मानोदयसे चढ़नेवाले व चढकर पुन उतरनेवालेके तीनप्रकारके मानका अपकर्षण होनेके अनन्तर ही नवकषायोका, ज्ञानावरणादि कर्मोंकी गुणश्रेणिके सदृश आयामवाली गलितावशेष गुणश्रेणिमें निक्षेप होकर अन्तरको पूरा जाता है, इतनी विभिन्नता है।

जिस कषायोदयसे श्रेण्यारोह करता है उसी कषायको अपकर्षित करनेपर अन्तरको भरना व ज्ञानावरणादिकी गुणश्रेणिके तुल्य उदयावलिसे बाहर गलितावशेप गुणश्रेणि निक्षेपका आरम्भ करता है।[2]

---

१. जयधवल मूल पृ० १९१७–१८ सूत्र ५४८–५५७।

२. ज. घ. मूल पृ. १९१६ सूत्र ५६० की टीका।

कषायोदयसे श्रेणि चढता है उसका (प्रथमस्थिति) काल समाप्त होनेपर उपरि अनन्तरवर्ती उदयमे आनेवाली मोह (कषाय) की प्रथमस्थिति करता है ।।३५५।। मानोदयसे श्रेणि चढनेवाला उदयरहित क्रोधको उसके काल में उपशमाता है, और मायासे श्रेणि चढनेवाला उदयरहित क्रोध और मानको उनके कालमे उपशमाता है ।।३५६।। लोभोदयसे श्रेणि चढनेवाला अनुदय स्वरूप क्रोध-मान-मायाको अपने-अपने कालमे उपशमाता है, उदयरहित कषायोकी प्रथमस्थिति नही होती ।।३५७।। मानोदयसे श्रेणि चढकर गिरनेवालेके क्रोध व मानके उदयकालप्रमाण मानोदयकाल होता है । त्रिविध मानकी गलितावशेष गुणश्रेणि होती है ।।३५८।। मान या माया अथवा लोभके उदयसे श्रेणि चढकर गिरनेवालेके अपनी-अपनी कषायके उदय होनेपर नव, छह, तीन कषायोकी गलितावशेष गुणश्रेणि होती है ।।३५९।। जिस कषायोदयसहित चढकर गिरा हुआ जीव उस कषायको अपकर्षित कर अन्तरको पूरता है । यह पुरुष-वेदोदयसहित जीवका कथन है ।।३६०।।

विशेषार्थः—पुरुषवेदोदयसहित क्रोध, मान, माया या लोभके उदयके साथ उपशमश्रेणि चढनेवालेके अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर अन्तरकरण करके नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके उपशमानेके अनन्तर सात नोकषायकी उपशामनाके अन्ततक कोई क्रोधसे श्रेणि चढ़नेवालेकी प्ररुपणा और अन्य कषायसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाले की प्ररुपणामे कोई अन्तर नही है । क्रोधका वेदन (अनुभव) करते हुए उपशम-श्रेणि चढनेवाला तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाता है, किन्तु मानोदयसे उपशमश्रेणि चढनेवाला मानका वेदन करते हुए तीन प्रकारके क्रोधको उपशमाता है । दोनोके क्रोधके उपशमानेका काल सदृश है नानापन नही है । क्रोधोदयवालेके जहांपर क्रोध का उपशमनकाल है वहीपर मानवालेके क्रोधका उपशामना काल है । क्रोधसे चढ़ने-वालेके जिसप्रकार क्रोधकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण थी उसप्रकार मानोदयसे श्रेणि चढनेवालेके क्रोधकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाणवाली प्रथमस्थिति नही होती, किन्तु अन्तर करनेपर मानकी प्रथम स्थिति होती है । क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके जितनी क्रोव और मान दोनोकी प्रथमस्थिति थी उतनी मानोदय श्रेणि चढनेवालेकी मानकी प्रथमस्थिति होती है ।

शंका—मानोदयसे श्रेणि चढनेवालेके मानकी प्रथमस्थितिमें वृद्धि होकर

किन्तु मायोदयसे श्रेणि चढ़कर उतरनेवालेके तीनप्रकारकी मायाका और तीनप्रकारके लोभका गुणश्रेणि निक्षेप ज्ञानावरणादि कर्मोंके सदृश होकर गुणश्रेणिआयाम गलितावशेष होता है, यह यहापर विभिन्नता है। तथा मायाका वेदन करते हुए ही शेष (मान-क्रोध) कषायोंका अपकर्षण करते है, किन्तु उनका गुणश्रेणिनिक्षेप उदयावलिसे बाहर होता है।

लोभके उदयसे श्रेणि चढनेवालेकी विभिन्नता इसप्रकार है—अन्तरकरणके प्रथमसमयमें लोभकी प्रथमस्थितिको करता है। क्रोधसे श्रेणि चढनेवालेके जितनी क्रोधकी, मानकी, मायाकी और लोभकी प्रथमस्थिति होती है लोभोदयसे श्रेणि चढनेवालेके उतनी सज्वलनलोभकी प्रथमस्थिति होती है। शेष संज्वलन कषायोकी प्रथमस्थिति नही होती, क्योकि उनका उदय नही है। सूक्ष्मसाम्पर यिक लोभके प्राप्त होने मे और उतरनेमे कोई विभिन्नता नही है, किन्तु गिरकर अनिवृत्तिकरणप्रवेशके प्रथमसमयमें विभिन्नता है। अनिवृत्तिकरणमे प्रवेश करते ही लोभका अपकर्षणकर ज्ञानावरणादिकर्मोंकी गुणश्रेणिके तुल्य आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप करता है। जिस कषायोदयके साथ श्रेणि चढता है गिरनेपर जब उस कषायका अपकर्षण करता है तो गुणश्रेणिनिक्षेप-आयाम ज्ञानावरणादिकी गुणश्रेणिके तुल्य होकर अन्तर पूरा जाता है। लोभका वेदन करते हुए शेष कषायोंका अपकर्षण करता है। सर्वकषायोका गुणश्रेणि निक्षेप ज्ञानावरणादि कर्मोके गुणश्रेणिनिक्षेपके तुल्य है। शेष शेषमें निक्षेपण होता है अर्थात् गलितावशेष गुणश्रेणि होती है। क्रोध कषायके उदयके साथ श्रेणि चढनेवाले और उतरनेवालेसे शेष कषायोके साथ श्रेणि चढनेवाले व उतरनेवालेके यह विभिन्नता है।

थी उदयस्स य एवं अवगदवेदो हु सत्त कम्मंसे।
सममुवसामदि संढस्सुदए चडिदस्स वोच्छामि ॥३६१॥

अर्थः—स्त्रीवेदोदयसे श्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव अपगतवेदी होकर सात नोकषायोंको एकसाथ उपशमाता है। नपुंसक वेदोदयसे श्रेणि चढनेवालेका आगे कथन किया जावेगा।

विशेषार्थः—स्त्रीवेदोदयसे चारोंकषायो सहित चढ़नेवालेकी प्ररूपणा पुरुष-

क्रोधोदयसे श्रेणि चढे हुए उपशामकके पुनः गिरनेपर जितना मानवेदककाल है उतने प्रमाणकालसे मानोदयसे श्रेणि चढकर गिरनेपर मानको वेदनकर अनतर समयमें मानका वेदन करता हुआ एकसमयके द्वारा क्रोधको अनुपशांतकर अपकर्षण करता है। क्रोध से चढकर गिरनेवाला क्रोधोदयमे तीनप्रकारके क्रोधका अपकर्षणकर संज्वलनक्रोधकी उदयादिगलितावशेष गुणश्रेणि करता है, किंतु मानसे श्रेणि चढ़कर गिरनेवाला मानवेदन कालमे क्रोधका अपकर्षणकर संज्वलनक्रोधकी उदयावलि बाहर गलितावशेष गुणश्रेणि है। इन दोनोमे यह विभिन्नता है।[1] अर्थात् मानके साथ चढनेवालेके प्रथमसमय करता अवेदीसे लेकर जबतक क्रोधका उपशामनाकाल है तबतक विभिन्नता है[2] तथा मानके साथ श्रेणि चढकर उतरनेवालेके मानको वेदन करते हुए तबतक विभिन्नता है जब-तक क्रोधका अपकर्षण नही करता।[3] क्रोधके अपकर्षण करनेपर क्रोधकी उदयादि गुणश्रेणी नही होती। मान ही वेदा जाता है। क्रोधकी उदयादि गुणश्रेणि नही है व मानका ही वेदन होता है ये दो नानात्व है। क्रोधके अपकर्षणसे लगाकार जबतक अध प्रवृत्त सयत होता है तबतक ये विभिन्नताएं होती है।

क्रोधकषायके साथ उपशमश्रेणि चढनेवालेके क्रोध, मान व मायाकी जितनी प्रथमस्थितिया होती हैं वे तीनो प्रथमस्थितिया यदि सम्मिलित कर दी जावे तो उतनी माया कषायके साथ उपशमश्रेणि चढनेवालेके माया कषायकी प्रथमस्थिति होती है व अन्तरकरण करनेके प्रथमसमयमें मायाकी प्रथमस्थितिको करता है इस प्रथमस्थिति के अभ्यन्तर तीनप्रकारके क्रोधको और तीनप्रकारके मानको और तीनप्रकारकी माया को यथाक्रम उपशमाता है।[4] तदनन्तर लोभको उपशमाता है उसमें कोई अन्तर नही है। मायाके साथ उपशमश्रेणि चढकर उतरनेवालेके लोभके वेदनकालतक कोई विभिन्नता नही है। उसके पश्चात् विभिन्नता है। क्रोधके साथ श्रेणि चढकर उतरनेवालेके मायाकी प्रथमस्थिति मायावेदककालसे आवलिप्रमाण अधिक ही होती है,

---

१ ज. ध. मूल पृ० १९१९ सूत्र ५६१-६२।

२. सूत्र ५६७।

३. ज ध. मूल पृ १९२१ सूत्र ५७२।

४. ज. ध. मूल १९२१। क पा सुत्त पृ ७२९-३०, ध पु ६ पृ ३३३। ज ध. मूल पृ. १९२४। ध पु ६ पृ ३३४; क. पा सुत्त पृ ७३०।

वहांसे स्त्रीवेदकी भी उपशामना प्रारम्भ कर देता है। दोनोंका उपशम करता हुआ प्रथमस्थितिका चरमसमय अर्थात् स्त्रीवेदका उपशामनाकाल पूर्ण होनेपर नपुंसकवेद व स्त्रीवेद दोनोंको एक साथ उपशमा देता है, यह एक विभिन्नता है। इसके पश्चात् अपगतवेदी होकर युगपत सात नोकषायोको उपशमाता है। सातो नोकषायोका उपशामनाकाल तुल्य है। यह दूसरी विभिन्नता है इसीसे उतरनेवालेकी विभिन्नता जान लेनी चाहिए।[1]

आगे उपशमश्रेणीमें अल्पबहुत्वके कथनकी प्रतिज्ञारूप गाथा कहते हैं—

पुंकोहस्स य उदए चडपलिदेऽपुव्वदो अपुव्वोत्ति।
एदिस्से अद्धाणं अप्पाबहुगं तु वोच्छामि ॥३६४॥

अर्थः—पुरुषवेद और क्रोधकषायोदय सहित श्रेणि चढकर गिरनेवाला जीवके आरोहक अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अवरोहक अपूर्वकरणके चरमसमयपर्यंत इस मध्यवर्ती कालमें जो काल संयुक्त पद हैं, उनके अल्पबहुत्व स्थानोका आगे कथन करेंगे।

विशेषार्थः—यहां श्रेणि चढनेवालेको आरोहक और उतरनेवालेको अवरोहक जानना। तथा अल्पबहुत्वमें जहां विशेष अधिक कहा है वहा पूर्वसे कुछ अधिक जानना।[2]

अथानन्तर २७ गाथाओं द्वारा अल्पबहुत्व स्थानोंका कथन करते हैं—

अवरादो वरमहियं खंडुक्कीरणस्स अद्धाणं।
संखगुणं अवरट्ठिदिखंडस्सुक्कीरणो कालो ॥३६५॥

अर्थः—जघन्य अनुभाग काण्डोत्कीरण कालसे (१) उत्कृष्ट अनुभागकाण्डोत्कीरणकाल विशेष अधिक है (२) इससे जघन्य स्थितिकाण्डोत्कीरण काल संख्यातगुणा है। (३)

विशेषार्थः—सबसे स्तोक जघन्य अनुभाग कांडोत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है सो यही ज्ञानावरणादि कर्मोंका तो आरोहक-सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम अनुभाग-

---

१ जयधवल मूल पृ० १९२५।
२. जयधवल मूल पृ० १९२५।

वेदोदयसे चढनेवालेके समान जानना, किन्तु पुरुषवेदोदयवालेके[1] छह नो कषायके उपशामनाकालसे पुरुषवेदका उपशामनाकाल एकसमयकम दो आवलि अधिक है,[2] क्योकि एक समयकम दोआवलिकालमें पुरुषवेदके नवकबन्धको उपशमाता है। स्त्री वेदोदयसे श्रेणि चढ़नेवाला स्त्रीवेदकी प्रथमस्थितिको गलाकर तदनन्तर समयमें अपगत-वेदी हो पुरुपवेदका अबन्ध होकर अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा सात नो कषायोको एक साथ उपशमाता है तथा सातो ही का उपशमनकाल तुल्य है। यह विभिन्नता है। इसीप्रकार स्त्रीवेदके उतरते समय भी कुछ विशेषता है सो जानकर कहना चाहिए।[3]

संढुदयंतरकरणो संढद्धाणम्हि अणुवसंत्तं से।
इत्थिस्स य अद्धाए संढं इत्थिं च समगमुवसमदि ॥३६२॥
ताहे चरिमसवेदो अवगदवेदो हु सत्तकम्मंसे।
सममुवसामदि सेसा पुरिसोदयचडिदभंगा हु ॥३६३॥

अर्थः—नपुंसकवेदोदयसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाला अन्तरकरणके पश्चात् नपुसकवेदको उपशमाता हुआ भी पुरुषवेदोदयवालेके नपुंसक-उपशान्तकालमें पूर्ण नही उपशमाता अत जो अनुपशांत अंश रह जाता है उसको स्त्रीवेद उपशांतकालमें स्त्रीवेद के साथ उपशमाता हुआ सवेदभागके चरम समयको प्राप्त हो जाता है। अनन्तर अपगतवेदी होकर सातकर्मोंको एक साथ उपशमाता है। शेष पुरुषवेदोदय सहित श्रेणि चढनेवालेके समान भङ्ग है।

विशेषार्थ—पुरुषवेदोदयसे उपशमश्रेणि चढनेवाला पूर्वमे नपुंसकवेदको उपशमाकर तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा स्त्रीवेदको उपशमाता है। नपुंसक-वेदोदयसे चढनेवाला प्रथमस्थितिको करता है। जितना नपुसकवेद व स्त्रीवेद दोनोंका उपशामनाकाल है उतना प्रथमस्थितिका प्रमाण है। प्रथमस्थितिमें नपुंसकवेदको उपशमाना प्रारम्भ करता है। पुरुषवेदवालेके जितना नपुंसकवेदका जितना उपशामना-काल है उतनाकाल वीत जाता है तोभी नपुंसकवेदकी उपशामना समाप्त नही होती।

---

१ पुरुपवेदी सवेदी होता हुआ ही सात कषायोको उपशमाता है। (ज. ध. मूल पृ. १९२४)

२ दृश्यताम् ज. ध. मूल पत्र १९३०।

३. जयधवल मूल पृ. १९२४।

तुल्य होकर विशेष अधिक है, क्योंकि उपरिम स्थितिबन्धकालसे नीचेका स्थितिबन्धकाल यथाक्रम विशेष अधिक होता है (५)। इससे आरोहकके अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिका उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट काण्डकोत्कीरणकाल विशेष अधिक है।[1]

सुहमंतिमगुणसेढी उवसंतकसायगस्स गुणसेढी।
पडिवदसुहुमद्धावि य तिण्णिवि संखेज्जगुणिदकमा ॥३६७॥

अर्थ—(इससे) चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकका गुणश्रेणि निक्षेप संख्यातगुणा है (७)। इससे उपशान्तकषायका गुण-श्रेणिनिक्षेप संख्यातगुणा है (८)। इससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायका काल संख्यातगुणा है (९)। ये तीनो क्रमसे संख्यातगुण है।

विशेषार्थः—उससे सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिमसमयमे पाया जानेवाला गलितावशेष गुणश्रेणी-आयाम संख्यातगुणा है, क्योकि अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणिनिक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायसे विशेष अधिक या वह गलकर सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तप्रमाण रह गया। इसको गुणश्रेणिशीर्ष भी कहा गया है, क्योकि नीचे गलकर शेष गुणश्रेणिनिक्षेप शीर्ष भावसे देखे जाते है (७)। इससे उपशान्तकषायका गुणश्रेणि-आयाम संख्यातगुणा है। यद्यपि यह काल उपशांतकषाय कालके संख्यातवेभाग है, किन्तु पूर्व गुणश्रेणिशीर्षसे संख्यातगुणा है (८)। उससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायकाकाल संख्यातगुणा है, क्योकि पूर्वमे सूक्ष्मसाम्परायका संख्यातवांभाग काल था (९)।[2]

तग्गुणसेढी अहिया चलसुहुमो किट्टिउवसमद्धा य।
सुहुमस्स य पढमठिदी तिण्णिवि सरिसा विसेसाहिया ॥३६८॥

अर्थः—इससे उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिककी गुणश्रेणि विशेष अधिक है (१०)। इससे चढनेवालेका सूक्ष्मसाम्परायकाल, कृष्टि उपशमानेका काल और

---

१ ज. ध. मूल. पृ० १९२६-२७।
२. ज. ध. पृ. १९२७।

कांडकोत्कीरण जानना और मोहनीयकर्मका अन्तर करते हुए अन्तिम अनुभाग काण्डकोत्कीरणकाल जानना (१)। इससे उत्कृष्ट अनुभाग काण्डकोत्कीरणकाल विशेष अधिक है सो यह भी सर्व कर्मोंके आरोहक-अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें सम्भव है (२)। इससे सूक्ष्मसाम्परायकी अन्तिम अवस्थामें पाया जानेवाला ज्ञानावरणादि कर्मोंका जघन्य स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल और अनिवृत्तिकरणकी अन्तिम अवस्थामे मोहनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्धकाल सख्यातगुणा[1] है तथा दोनों परस्पर समान हैं (३)। अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमयके पश्चात् मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध नही होता।[2]

पडणजहण्णट्ठिदिबंधद्धा तह अंतरस्स करणद्धा।
जेट्ठट्ठिदिबंधठिदीउक्कीरद्धा य अहियकमा ॥३६६॥

अर्थः—इससे गिरते हुएका जघन्य स्थितिबन्धकाल विशेष अधिक है (४)। इससे अन्तर करनेका विशेष अधिक है (५)। इससे उत्कृष्ट स्थितिबन्धकाल व उत्कृष्ट स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल दो तुल्य होकर विशेष अधिक है (६)।

विशेषार्थः—उससे अवरोहकके सूक्ष्मसाम्परायमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका प्रथमस्थितिवन्ध और अवरोहकके अनिवृत्तिकरणमे मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि चढनेवालेके स्थितिबन्ध कालसे उतरनेवालेका स्थितिबन्ध-काल विशेष अधिक होता है, इसमे कारण सक्लेश परिणाम हैं। अवरोहकके सभी अवस्थाओमे स्थितिघात व अनुभागघात नही होता।[3] यदि होता है तो स्थितिबन्ध-कालके साथ स्थितिकाण्डोत्कीरणकालको भी कहना चाहिए और ऐसा नही, क्योंकि ऐसा अनुपदिष्ट है (४)। उससे अन्तरकरणका काल अर्थात् अन्तरकी फालियोका उत्कीरणकाल तथा वहापर होने वाला स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल

---

१. इनका पूर्व वाले से अर्थात् उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकोत्कीरण कालसे संख्यातगुणत्व असिद्ध भी नही है, क्योंकि सर्वजघन्य एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालमें भी संख्यात सहस्र प्रमाण अनुभागखण्ड के अस्तित्वके उपदेशके बलसे इसकी सिद्धि हो जाती है। (ज ध मूल पृ. १९२६)

२. जयधवल मूल पृ० १९२६।

३. जयधवल मूल पृ० १९२६, १९१३, १९३७ आदि।

प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (१६)। उतरनेवालेके लोभवेदककाल विशेष अधिक है (१७)। उसीके लोभकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (१८)।[1]

विशेषार्थ—इससे आरोहक बादरसाम्परायिकके बादरलोभ वेदककाल विशेष अधिक है। यद्यपि पूर्वका स्थान भी लोभवेदककालका द्वि त्रिभाग ($\frac{2}{3}$) है और वर्तमानकाल भी लोभवेदककालका द्वि त्रिभाग ($\frac{2}{3}$) है तथापि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें उतरनेवालेकी अपेक्षा चढनेवालेका काल विशेष अधिक होता है (१५)। उससे आरोहक अनिवृत्तिकरणके बादरलोभका प्रथमस्थिति सम्बन्धी आयाम विशेष अधिक है, विशेषाधिकका प्रमाण आवलीमात्र है। इसका कारण यह है कि आरोहक अनिवृत्तिकरण चारों सज्वलनोके अपने-अपने वेदककालसे उच्छिष्टावलिमात्र अधिक प्रथमस्थिति विन्यास करता है (१६)। उससे गिरनेवालेके लोभका वेदककाल विशेष अधिक है, क्योकि इसमे सूक्ष्मसाम्परायकाल भी सम्मिलित है (१७)। उससे उतरने वालेके लोभकी प्रथमस्थितिका आयाम आवलीमात्र अधिक है (१८)।[2]

तम्मायावेदद्धा पडिवडछण्हंपि खित्तगुणसेढी।
तम्माणवेदगद्धा तस्स णवण्हंपि गुणसेढी ॥३७१॥

अर्थः—उतरनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है (१९)। उतरने वालेके छह कर्मोका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (२०)। उतरनेवालेका मान वेदककाल विशेष अधिक है (२१)। उन्हींके नौ कर्मोका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (२२)।

विशेषार्थ—उससे उतरनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है, क्योकि

---

१. १८वे नं० का स्थान कषायपाहुड सुत्तमे नही कहा गया है। लब्धिसारके कर्त्ताने भी गिरनेवालेके माया, मान और क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नही किया है। सम्भव है उतरनेवालेके कषायका अपकर्षण होकर उदय आनेसे उस कषाय सम्बन्धी अन्तर नही रहता हो इसीलिए चूर्णिसूत्रकार ने उतरनेवालेके लोभ, माया, मान व क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नही किया है। स्वय नेमिचन्द्राचार्य ने भी उतरनेवालेके माया, मान व क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नही किया। इस गाथाका मिलान मूड़बिद्री स्थित ताड़पत्रीय प्रतिसे होना अत्यन्त अपेक्षित है।

२. जयधवल मूल पृ. १९२८। १८वे नं० का स्थान जयधवलमें नही है।

सूक्ष्मसाम्परायिककी प्रथमस्थिति ये तीनो परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक (११)।

विशेषार्थः—इससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके लोभका गुणश्रेणि-आयाम आवलीमात्र विशेष अधिक है, क्योकि सूक्ष्मसाम्परायके कालसे आवलिमात्र ज्यादा लोभका गुणश्रेणिनिक्षेप होता है (१०)। उससे आरोहक सूक्ष्मसाम्परायका काल, सूक्ष्मकृष्टि उपशमावनेका काल और सूक्ष्मसाम्परायका प्रथमस्थितिआयाम यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तमात्र विशेष अधिक है। ये तीनो परस्पर तुल्य हैं। अधिकताका कारण यह है कि अवरोहकसे आरोहकका प्रत्येककाल अधिक है (११)।[1]

किट्टीकरणद्धहिया पडबादरलोहवेदगद्धा हु।
संखगुणा तस्सेव य तिलोहगुणसेढिणिक्खेओ ॥३६९॥

अर्थ—कृष्टिकरणकाल विशेष अधिक है (१२)। उतरनेवालेका बादरलोभ वेदककाल सख्यातगुणा है (१३)। उसीके तीनो लोभका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (१४)।

विशेषार्थः—उससे सूक्ष्मकृष्टिकरनेका काल विशेष अधिक है। यद्यपि यह काल लोभवेदककालका विभाग है तथापि उपरिम तिहाई काल (सूक्ष्मसाम्परायकाल) से निचला (कृष्टिकरणकाल) विशेष अधिक है (१२)। उससे गिरनेवाले बादर साम्परायके बादरलोभका वेदककाल संख्यातगुणा है, क्योकि बादरलोभ वेदककाल, लोभवेदककालका द्वि त्रिभाग ($\frac{२}{३}$) है। अतः पूर्वके त्रिभागसे दो गुणा है (१३)। उससे गिरनेवालेके लोभवेदककालसे तीन लोभकी गुणश्रेणि-आयाम आवलिमात्र अधिक है, क्योकि वेदक कालसे आवलिप्रमाण अधिक कालसे गुणश्रेणि निक्षेप होता है (१४)।[2]

चडबादरलोहस्स य वेदगकालो य तस्स पढमठिदी।
पडलोहवेदगद्धा तस्सेव य लोहपढमठिदी ॥३७०॥

अर्थ—चढनेवालेके बादरलोभ वेदककाल विशेष अधिक है (१५)। उसीको

१. ज ध मूल पृ १९२८-२९।
२ ज. ध मूल पृ० १९२८।

(हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) का उपशामनकाल विशेष अधिक है (३०)। पुरुषवेदका उपशामनकाल विशेष अधिक है (३१)। स्त्रीवेदका उपशामन-काल विशेष अधिक है (३२)। नपुंसकवेदका उपशामनकाल विशेषअधिक है (३३)। क्षुद्रभव विशेष अधिक है (३४)। इसप्रकार २१ पद विशेष अधिक क्रमसे है।

विशेषार्थ—उससे क्रोधके उपशमानेका काल अन्तर्मुहूर्त अधिक है, क्योकि ऊपरके कालसे नीचेका काल अधिक होता है (२९)। उससे छह नोकषायके उपशमानेका काल अन्तर्मुहूर्त अधिक है, क्योकि यह पूर्वसे नीचेका स्थान है (३०)। इससे पुरुषवेदके उपशमानेका काल नवकसमयप्रबद्धकी अपेक्षा एकसमयकम दोआवलि अधिक है (३१) इससे स्त्रीवेद उपशमानेका काल विशेष अधिक है (३२) इससे नपुंसक-वेद उपशमानेका काल विशेष अधिक है, क्योकि ये दोनो ही स्थान अधस्तन (निचरले) स्थान है, इसलिए विशेषाधिक हो गए है (३३)। इससे क्षुद्रभवकाकाल विशेष अधिक है (३४)।

शङ्का—क्षुद्रभवग्रहण क्या है ?

समाधान—सबसे छोटे भवग्रहणको क्षुद्रभव कहते हैं और यह एक उच्छ्-वास (सख्यात आवलि समूह निष्पन्न) के साधिक अठारहवेभागप्रमाण होता हुआ सख्यात आवली सहस्रप्रमाण होता है ऐसा जानना चाहिए। तद्यथा—

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्समेव मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा॥[1]
तिण्णिसहस्सा सत्तायसदाणि तेवत्तरिं च उस्सासा।
एसो हवइ मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुआण॥[2]

—एक अन्तर्मुहूर्तकालमें ६६३३६ क्षुद्रमरण होते है और उतने ही क्षुद्रभव होते हैं। "सभी मनुष्योके ३७७३ उच्छ्वासोका एक मुहूर्त होता है" इस वचनके अनुसार एक मुहूर्तके भीतर ६६३३६ क्षुल्लक (क्षुद्र) भव होते है।[3] एकमुहूर्तके

---

१ ध. पु १४ पृ. ३६२ गाथा २०; गो जी. गा. १२३; भावपाहुड़गाथा २९।
२. धवल पु. १४ पृ. ३६२ गा १९।
३. "इदिवयणादो एगमुहुत्तब्भंतरे एत्तियाणि खुद्दाभवग्गहणाणि होंति ६६३३६।" (ध पु १४ पृ. ३६३)

ऊपरितन स्थानसे नीचेका स्थान यथाक्रम विशेष अधिक होता है (१९)। उससे उतरनेवाले मायावेदकके छह (३लोभ, ३माया) कषायोका गुणश्रेणि आयाम आवलिसे अधिक है (२०)। उससे पड़ने (गिरने) वालेके मानवेदककाल विशेष अधिक है (२१)। उससे उसीके नव (३ लोभ, ३ माया, ३ मान) कषायोंका गुणश्रेणि-आयाम आवलिसे अधिक है (२२)।[1]

चडमायावेदद्धा पढमट्ठिदिमायउवसमद्धा य।
चडमाणवेदगद्धा पढमट्ठिदिमाणउवसमद्धा य ॥३७२॥

अर्थः—चढनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है (२३)। मायाकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (२४)। मायाका उपशामनकाल विशेषअधिक है (२५)। चढनेवालेका मानवेदककाल विशेषअधिक है (२६)। मानकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (२७)। मानका उपशामनकाल विशेष अधिक है (२८)।

विशेषार्थः—उससे चढनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है, क्योकि चढ़नेवालेका काल विशेष अधिक होता है (२३)। उससे उसके प्रथमस्थितिका आयाम उच्छिष्टावलिसे अधिक है (२४)। उससे मायाके उपशमानेका काल एक समयकम आवलिमात्र अधिक है, क्योकि नवक समयप्रबद्धकी अपेक्षा है (२५)। उससे चढनेवालेके मानवेदककाल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक है (२६)। उससे उसकी प्रथमस्थिति का आयाम उच्छिष्टावलिमात्र अधिक है (२७)। उससे उसके मान उपशमावनेका काल एकसमयकम आवलिमात्र अधिक है, क्योकि नवकसमयप्रबद्धकी अपेक्षा है। (नवकसमयप्रवद्ध=एक समयकम दो आवलि) (समयकम दो आवलि — उच्छिष्टा-वलि = समयकम आवलि) ॥२८॥[2]

कोहोवसामणद्धा छप्पुरिसित्थीण उवसमाणं च।
खुद्दभवगहणं च य अहियकमा एक्कवीसपदा ॥३७३॥

अर्थः—क्रोधका उपशामनकाल विशेष अधिक है (२९)। छह नोकषायो

१. जयधवल मूल पृ. १९२९।
२. ज ध. मूल पृ. १९३०।

उपशमनकालोसे अधिक है (३८)। ३६-३७ व ३८वा ये तीन पद अधिकक्रमसे है[1]।

पडणस्स असंखाणं समयपबद्धाणुदीरणाकालो।
संखगुणो चडणस्स य तक्कालो होदि अहिया य ॥३७५॥

अर्थः—उससे गिरनेवालेके असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होनेका काल सख्यातगुणा है (३९)। उससे चढनेवालेके असख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होनेका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र अधिक है (४०)।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके जबतक असख्यात समय प्रबद्धोकी उदीरणा होती है तबतकका वह काल मोहनीयके उपशामनकालसे सख्यातगुणा है, क्योकि नीचे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायसे लेकर अन्तरकरणके स्थानसे नीचे वीर्यान्तराय आदि बारह कर्मोका सर्वघाति अनुभागबन्ध करके पुन. उसके नीचे सख्यातहजार स्थितिबन्ध होजाने तक इतना काल असंख्यात समयप्रबद्ध उदीरणाका है[2] (३९)। उपशमश्रेणि चढनेवालोके जबतक असख्यात समयप्रबद्धोकी उदीरणा होती है तबतक का वह काल पूर्वकालसे अधिक है, क्योंकि चढनेवाला जहांपर असख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा प्रारम्भ करता है उस स्थानको अन्तर्मुहूर्त द्वारा पाकर उतरते हुएके असख्यात लोक प्रतिभागवाली उदीरणा प्रारम्भ होजाती है इसकारण इसका पूर्वस्थानसे विशेषाधिकत्व विरुद्ध नही है।[3]

पडणाणियट्टियद्धा संखगुणा चडणगा विसेसहिया।
पडमाणा पुव्वद्धा संखगुणा चडणगा अहिया ॥३७६॥

अथ—उससे गिरनेवालेके अनिवृत्तिकरणकाकाल सख्यातगुणा है, क्योकि पूर्वोक्त सर्वपद अनिवृत्तिकरणके सख्यातवेभाग है (४१)। उससे चढनेवालेके अनिवृत्तिकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्रसे अधिक है (४२)। उससे गिरनेवालेके अपूर्व-

---

१. ज घ. मूल पृ १९३१।

२ ज. घ. मूल पृ० १९३१। क्योकि अन्तरकरणादि उपरिम अशेष अध्वानको देखते हुए सख्यातगुणे नीचे के अध्वानका प्रधानभावसे यहा विवक्षितपना है।

३. ज. घ मूल पृ. १९३१।

३७७३ उच्छ्वास स्थापित करके इन्हें पूर्वगाथा निर्दिष्टप्रमाण एक मुहूर्तकी खुद्दाभव-ग्रहण शलाकाओंसे अपवर्तित करनेपर एक उच्छ्वासका साधिक $\frac{1}{18}$ भागप्रमाण क्षुद्र-भवग्रहणका काल जानना चाहिए। इसप्रकार प्राप्त इस क्षुद्रभवग्रहणमें सख्यातआवलि होती है। वह इसप्रकार है—(यदि अन्यमतानुसार) एक उच्छ्वासकालके भीतर जघन्यसे २१६ आवलि मानी जाती है तो क्षुद्रभवग्रहणकाल सासादनके कालसे दुगुना-मात्र प्राप्त होता है, जो अनिष्ट है, क्योकि सासादनगुणस्थानके कालसे सख्यातगुणे नीचेके कालसे इसका बहुत्व अन्यथा नही उत्पन्न होता इस कारण; यहां आवलिका गुणकार बहुत है अत सख्यातहजार कोड़ाकोडीप्रमाण आवलियोसे (जहां कि एक आवलि भी जघन्ययुक्तासख्यात समयप्रमाण होती है) एक उच्छ्वास निष्पन्न होता है एवं उसका कुछकम १८वे भागप्रमाण ($\frac{1}{17\frac{1}{6}}$ वा भाग) क्षुद्रभवग्रहण होता है ऐसा ग्रहण करना चाहिए। इसकारण नपुंसकवेदोपशनकालसे क्षुद्रभवग्रहणकाल विशेषाधिक है ऐसा उचित है।[1]

उवसंतद्धा दुगुणा तत्तो पुरिसस्स कोहपढमठिदी ।
मोहोवसामणद्धा तिण्णिवि अहियक्कमा होंति ॥३७४॥

अर्थः—उपशान्तकाल दुगुणा है (३५)। पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (३६)। क्रोधकी प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (३७) मोहनीयका उपशामन काल विशेष अधिक है (३८)। तीनपद अधिक क्रमसे हैं।

विशेषार्थः—उस क्षुद्रभवसे उपशातकषायका काल दुगुणा है जो एक सेकिण्ड का वारहवां भाग [$\frac{1}{12}$ सेकिण्ड] है [३५]। उससे पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिका आयाम विशेष अधिक है, क्योकि नपु सकवेदके उपशमानेकाकाल, स्त्रीवेदके उपशमानेकाकाल और छह नोकषायोके उपशमानेका काल इनतीनो कालोका समूह पुरुषवेदकी प्रथम-स्थिति है [३६]। उससे सज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिका आयाम किंचित् न्यून त्रि-भागमात्रसे अधिक है, क्योकि क्रोधके उपशामनाकालमे भी पुरुषवेदका प्रवेश देखा जाता है [३७]। उससे सर्वमोहनीयका उपशमावनेका काल है, वह मान-माया-लोभके

१ जयधवल मूल पृ० १९३०।

गुणी है (५०)। दर्शनमोहनीयकी अन्तरस्थितिया सख्यातगुणी हैं (५१)।

विशेषार्थः—अवरोहक अध प्रवृत्तसयमीके प्रथम समयमे जिस गुणश्रेणि आयामका प्रारम्भ होता है वह पूर्वोक्त गुणश्रेणिनिक्षेप आयामसे संख्यातगुणा है, क्योकि स्वसस्थानसंयम परिणामकी प्रधानता है। उससे दर्शनमोहनीयका उपशान्त-काल अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकाकाल संख्यात गुणा है क्योकि श्रेणि चढ़ने और उतरनेके कालसे, श्रेणीसे पूर्व व पश्चात् सख्यातगुणे कालमे भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पाया जाता है। अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व श्रेणि चढनेसे पूर्व उत्पन्न हो जाता है। इस कालका प्रमाण श्रेणीके चढने उतरनेके कालसे सख्यातगुणा है और श्रेणी उतरनेके पश्चात् भी श्रेणीके कालसे सख्यातगुणे कालतक द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है। इसप्रकार द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल, श्रेणी चढने व उतरने के कालसे सख्यातगुणा है। उससे चारित्रमोहकी जिन स्थितिनिषेकोको उत्कीर्ण करके अन्तर किया जाता है वह अन्तरायाम सख्यातगुणा है। उससे दर्शनमोहका अन्तर करते हुए जिन स्थिति निषेकोका आयाम अर्थात् अन्तरायाम संख्यातगुणा है।[1]

नोट—यहाँपर अन्तरायामका काल द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालसे अधिक कहा, किन्तु उस अन्तरायामके कालमे दर्शनमोहकी किसी एक प्रकृतिकी अपकर्षणके द्वारा उदीरणा कर अन्तरायामका काल समाप्त कर दिया जाता है।

अवराजेट्ठाबाहा चडपडमोहस्स अवरठिदिबंधो।
चडपडतिघादि अवरट्ठिदिबंधंतो मुहुत्तो य ॥३७९॥

अर्थ—जघन्य आबाधा सख्यातगुणी है (५२)। उत्कृष्ट आबाधा संख्यात-गुणी है (५३)। चढनेवालेके मोहनीयका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५४)। उतरनेवालेके मोहनीयका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है (५५)। चढनेवालेके तीन घातियाकर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है (५६)। उतरनेवालेके तीन घातियाकर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५७)। अतर्मुहूर्त सख्यातगुणा है।

विशेषार्थ—उससे चढ़नेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमे पाये जाने-वाले ज्ञानावरणादि कर्मोंके और अनिवृत्तिकरण उपशामकके चरमसमयमे पाये जाने-

१. जयधवल मूल पृ० १९३२-३३।

करणका काल संख्यातगुणा है (४३)। उससे चढनेवालेके अपूर्वकरणकाकाल (अन्तमुर्हूर्त) अधिक है।[1]

पडिवडवरगुणसेढी चढमाणापुव्वपढमगुणसेढी ।
अहियकमा उवसामगकोहस्स य वेदगद्धा हु ॥३७७॥

अर्थः—गिरनेवालेका उत्कृष्ट गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (४५)। चढनेवालेका अपूर्वकरणके प्रथम समयमे गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (४६)। उपशामकके क्रोधवेदककाल सख्यातगुणा है (४७)।

विशेषार्थः—उससे गिरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमे प्रारम्भ किया गया उत्कृष्ट गुणश्रेणि आयाम विशेष अधिक है, क्योकि यह अवरोहक सूक्ष्मसाम्पराय-अनिवृत्तिकरण-अपूर्वकरण व उपशमनाकालके सख्यातवेभाग इन कालोका समूहप्रमाण है (४५)। उससे चढनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे प्रारम्भ हुआ उत्कृष्ट गुण-श्रेणि आयाम अन्तर्मुहूर्तसे अधिक है। यह भी अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अधिक है, किन्तु उतरनेवालेके कालसे चढनेवालेके कालका विशेषाधिकपना है ऐसा समझकर पूर्वसे यह अधिक कहा है ॥४६॥ उससे चढनेवालेके क्रोधवेदककाल सख्यातगुणा है, क्योकि श्रेणिपर आरोहण करनेके पूर्व ही अन्तर्मुहूर्तकाल तक अप्रमत्तभावसे वर्तमान जीवके क्रोधवेदककालके साथ अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके प्रति प्रतिबद्धकाल यहापर विवक्षित है। अर्थात् अप्रमत्तगुण-स्थानके साथ यहा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी क्रोधवेदककाल लिया गया है इसलिए वह पूर्वके कालसे संख्यातगुणा हो जाता है।[2]

संजदअधापवत्तगुणसेढी दंसणोवसंतद्धा ।
चारित्तंतरिगठिदी दंसणमोहंतरठिदीओ ॥३७८॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तसयतका गुणश्रेणिनिक्षेप सख्यातगुणा है (४८)। दर्शनमोहनीयका उपशान्तकाल संख्यातगुणा है (४९)। चारित्रकी आन्तरिक स्थितिया सख्यात-

१ ज. ध. मूल पृ० १९३१-३२।
२. ज. ध मूल पृ. १९३२।

चडतदियअवरबंधं पडणामागोदअवरठिदिबंधो ।
पडतदियस्स य अवरं तिण्णि पदा होंति अहियकमा ॥३८१॥

अर्थः—चढनेवालेके तीसरे (वेदनीय) कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६०) । गिरनेवालेके नाम-गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६१) । गिरनेवालेके (वेदनीय) तीसरे कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६२) । ये तीनों पद अधिकक्रम वाले है ।

विशेषार्थः—उससे चढ़नेवालेके वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि यह २४ मुहूर्तमात्र है (६०) । उससे गिरनेवालेके नाम-गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योकि ३२ मुहूर्तमात्र है (६१) । उससे गिरनेवालेके वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि यह ४८ मुहूर्तमात्र है (६२) । इन तीनों पदोमे से प्रत्येक पद पूर्व पदसे विशेष अधिक है ।[1]

चडमायमाणकोहो मासादीदुगुण अवरठिदिबंधो ।
पडणे ताणं दुगुणं सोलसवस्साणि चडणपुरिसस्स ॥३८२॥
पडणस्स तस्स दुगुणं संजलणाणं तु तत्थ दुट्ठाणे ।
बत्तीसं चउसट्ठी वस्सपमाणेण ठिदिबंधो ॥३८३॥

अर्थः—चढनेवालेके माया, मान व क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध एक मासको आदिकरके दुगुणा-दुगुणा है (६३-६४-६५) । गिरते हुए के उनका जघन्य स्थितिबन्ध द्विगुणा है (६६-६७-६८) । चढनेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध सोलहवर्ष है (६६) । गिरनेवालेके पुरुषवेदका जघन्यस्थितिबन्ध द्विगुणा है (७०) । पुरुषवेदके दोनो स्थानोंपर सज्वलनकषायोका स्थितिबन्ध ३२ व ६४ वर्षप्रमाण है (७१-७२) ।

विशेषार्थ—चढनेवालेके मायाका जघन्य स्थितिबंध १ मासप्रमाण है जो पूर्वमे कहे गए वेदनीयके जघन्य स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा है । गिरनेवालेके मायाका जघन्य स्थितिबन्ध और चढनेवालेके मानका जघन्य स्थितिबन्ध द्विगुणा अर्थात् दो मास है । गिरनेवालेके मानका जघन्य स्थितिबन्ध और चढ़नेवालेके क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध

१ जयधवल मूल पृ० १९३४ ।

वाले मोहनीयकर्मके स्थितिबन्धकी जघन्य आबाधा सख्यातगुणी है[1] (५२)। उससे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमे पायी जानेवाली सर्वकर्मोकी अन्त कोटाकोटी-सागरप्रमाण स्थितिबन्धकी तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है (५३)। उससे चढनेवालेके अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमे पाये जानेवाले मोहनीय-कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है (५४)। उससे उतरनेवालेके अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमे पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण सख्यातगुणा है। यहा सख्यातका प्रमाण दो जानना यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही है (५५)। उससे चढनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके अन्तसमयमे पाया जानेवाला ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है (५६)। उससे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमे पाया जानेवाला ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है जो दुगुणा जानना (५७)। उससे उत्कृष्ट अन्त-र्मुहूर्त सख्यातगुणा है जो एक समयकम दो घडी प्रमाण है (५८) यहां अन्तदीपक न्यायसे पूर्वमे जो सर्वकाल कहे वे सभी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही जानना, क्योकि अतर्मुहूर्तके वहुत भेद है।[2]

चडमाणस्स य णामागोदजहण्णट्ठिदीण बंधो य।
तेरसपदासु कमसो संखेण य होंति गुणिदकमा ॥३८०॥

अर्थः—चढनेवालेके नाम व गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है (५९)। ये १३ पद क्रमशः सख्यातगुणे है।

विशेषार्थः—उससे चढनेवालेके नाम व गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है जो सोलह मुहूर्तप्रमाण है (५९)। यह जघन्यबन्ध अपनी व्युच्छित्ति के चरमसमयमे जानना। ४६वे पदसे आगे ५९वे पद तक तेरह पदोमे सख्यातगुणित क्रम है।[3]

---

१ और यह (आबाधा) अन्तरायामसे ऊपर सख्यातगुणे अध्वानको व्यतीत करके स्थित है, इस प्रकार यह वात इसी सूत्रसे जानी जाती है। (ज ध मूल. पृ १९३३)

२. जयधवल मूल पृ. १९३३–३४।

३. ज. ध. मूल पृ. १९३४।

है। उससे उतरनेवालेके वहां संख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यात-गुणा है (७३-७८)

चडपडण मोहचरिमं पढमं तु तहा तिघादियादीणं।
असंखेज्जवस्सबंधोऽसंखेज्जगुणक्कमो छण्हं ॥ ३८५ ॥

अर्थः—चढनेवालेके मोहनीयकर्मका असख्यातवर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध और गिरनेवालेके असख्यातवर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध (७९-८०) तथा चढ़नेवालेके तीन घातियाकर्मोका असंख्यातवर्षवाला अतिम स्थितिबन्ध और उतरनेवालेका असख्यात वर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध (८१-८२) एव चढनेवालेके तीन अघातियाकर्मोंका असख्यात वर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध तथा उतरनेवालेके असंख्यात वर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध (८३-८४) ये छहो स्थान असख्यातगुणे क्रमवाले है।

विशेषार्थः—उससे चढनेवालेके मोहनीयकर्मका असंख्यात वर्षमात्र अतिम-स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है जो कि असंख्यात हजारवर्षप्रमाण है और यह अन्तर-करणकालका समकालभावी स्थितिबन्ध है। उससे उतरनेवालेके मोहनीयकर्मका असख्यातवर्षमात्र प्रथम स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, गिरनेवालेके यहांपर असख्यात-गुणो प्रवृत्ति देखी जाती है। उससे चढनेवालेके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका असख्यात वर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है। यह स्त्रीवेदके उपशमकालके संख्यातवेभाग व्यतीत होजाने पर होता है। उससे उतरने वालेके तीनघातिया कर्मोंका असख्यात वर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध असख्यातगुणा है। उससे चढनेवालेके तीन अघातिया (नाम-गोत्र-वेदनीय) कर्मोका असख्यातवर्ष स्थिति-वाला अन्तिम स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है, यह सात नो कषायोके उपशामनकालमे सख्यातवेभागके व्यतीत होनेपर होता है। उससे उतरनेवालेके तीन अघातिया कर्मोका असख्यातवर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है। यहाँ उतरनेवालेके जो स्थिति-बन्ध कहा है वह चढनेवालेके उस स्थितिबन्ध होनेके काल स्थानको स्तोक अन्तरसे न प्राप्त होकर सभवता है। चढनेवालेके जो प्रथम स्थितिबन्ध होता है उतरनेवालेके उसके निकटवर्ती अवस्थाको पानेपर अन्तिम स्थितिबन्ध होता है।[1]

---

१. जयधवल मूल पृ० १९३५–३६।

दुगुणा अर्थात् चार मासप्रमाण है। गिरनेवालेके क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध दूणा अर्थात् आठमास है। चढनेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध १६ वर्ष है। उसी स्थानपर अर्थात् उसीसमय चारों सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध ३२ वर्ष है। गिरनेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिवन्ध चढनेवालेसे दूणा अर्थात् ३२ वर्ष है। उसी स्थान पर चारो सज्वलन कषायोका स्थितिबन्ध ६४ वर्ष है।

चडपडणमोहपढमं चरिमं चरिमं तु तहा तिघादियादीणं।
संखेज्जवस्स बंधो संखेज्जगुणक्कमो छण्हं ॥३८४॥

अर्थ—चढनेवालेके मोहनीयकर्मका सख्यात वर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध और गिरनेवालेके सख्यातवर्षवाला अंतिम स्थितिबन्ध तथा चढनेवालेके तीन घातियाकर्मोका सख्यातवर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध व उतरनेवालेके सख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिवन्ध एव चढनेवालेके तीन अघातिया कर्मोका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम-स्थितिवन्ध और उतरनेवालेके तीन अघातिया कर्मोका अन्तिम स्थितिबन्ध (७३ से ८) ये छहो स्थान संख्यातगुणे क्रमवाले हैं।

विशेषार्थ—उससे चढनेवालेके अन्तरकरण करनेकी समाप्ति होनेके अनन्तर समयमे पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है जो कि सख्यातहजार वर्षमात्र है। उससे उतरनेवालेके उस समयकी समान अवस्थामे पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम-बन्ध सख्यातगुणा है। इसका प्रमाण भी सख्यातहजार वर्षमात्र है। जिसप्रकार पहले चढनेवाले से उतरनेवालेके दूणा स्थितिबन्ध कहा था वैसा अब नही जानना, किन्तु यथासम्भव सख्यातगुणा जानना। उससे चढनेवालेके तोन घातियाकर्मोका सख्यातवर्ष की स्थितिवाला प्रथम स्थितिवन्ध सख्यातगुणा है।[1] उससे उतरनेवालेके तीनघातिया कर्मोका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। उससे चढनेवालेके सात नोकषायोंके उपशमकालमे उपशामक कालका सख्यातवा भाग बीत जानेपर तीन अघातियाकर्मोका सख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम स्थितिबन्ध सख्यातगुणा

१. क्योंकि मोहनीयके समान इनका अत्यधिक स्थितिवन्धापसरण असम्भव है। (ज. ध. मूल पृ १९८४) जयधवल पृ १९३५। गाथा २४८, २५६ व २६१ देखना चाहिए।

अर्थः—चरम स्थितिकाण्डक सख्यातगुणा है (८८)। स्थितिबन्ध घटाकर पल्यप्रमाण स्थितिबन्ध करनेके लिए जो स्थितिबन्धापसरणरूप पल्यका संख्यातवांभाग है वह संख्यातगुणा है (८९)। पल्य संख्यातगुणा है (९०)। चढ़नेवालेके बादरलोभ के स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (९१)। उतरनेवालेके बादरलोभ (अनिवृत्तिकरण) के अन्तिम स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है (९२)।

विशेषार्थः—उससे चरम स्थितिखण्ड अर्थात् जितनी स्थितियोंकोघातके लिए ग्रहण की गई है वे स्थितिया संख्यातगुणी हैं। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंका अन्तिम स्थितिखण्ड सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें होता है। मोहनीयकर्मका अन्तिम स्थितिखण्ड अन्तरकरणके समकालमे होता है। अर्थात् अन्तरकरणके समकालीन है। यद्यपि यह स्थितिखण्ड भी पल्यके असख्यातवे भागमात्र है तथापि पूर्वसे संख्यातगुणा है। उससे वह स्थिति जिसको बन्धापसरणके द्वारा ग्रहणकर पल्यप्रमाण स्थितिबंध किया गया संख्यातगुणी है। यद्यपि कम की गई स्थितिका प्रमाण भी पल्यके संख्यातवेभागमात्र है, किन्तु पूर्वसे संख्यातगुणा है। उससे पल्य सख्यातगुणा है, क्योंकि घटाई गई स्थितिका प्रमाण पल्यके सख्यातवेंभागमात्र था। उससे अनिवृत्तिकरणके उपशामकके प्रथम समयमे स्थितिबध पृथक्त्व लक्ष सागर प्रमाण होता है। उससे उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें होनेवाला स्थितिबध सख्यातगुणा है (८८-९२)।[1]

चडपडअपुव्वपढमो चरिमो ठिदिबंधओ य पडणस्से।
तच्चरिमं ठिदिसंतं संखेज्जगुणक्कमा अट्ठ ॥३८९॥

अर्थ—चढ़नेवालेके अपूर्वकरणका प्रथम स्थितिबध संख्यातगुणा है (९३)। गिरनेवालेके अपूर्वकरणका अतिम स्थितिबध सख्यातगुणा है (९४)। गिरनेवालेके अपूर्वकरणका अन्तिम स्थितिसत्त्व सख्यातगुणा है (९५)। गाथा ३८८ व ३८९ में कहे गए आठस्थान संख्यातगुणेक्रमवाले है।

विशेषार्थः—उससे चढनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथमसमयमे स्थितिबंध सख्यातगुणा है और वह अन्त कोड़ाकोड़ीसागरमात्र है। उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमे स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है, वह दूणा अथवा यथासम्भव संख्यातगुणा

---

१. जयधवल मूल पृ० १९३६-३७।

चडणे णामदुगाणं पढमो पलिदोवमस्स संखेज्जो ।
भागो ठिदिस्स बंधो हेट्ठिल्लादो असंखगुणो ॥३८६॥

अर्थः—उससे चढनेवालेके नाम-गोत्रकर्मका पल्यके सख्यातवेभागमात्र हुआ प्रथम स्थितिवन्ध नीचेके अघातित्रयके स्थितिबन्धसे असख्यातगुणा है (८५) ।[1]

विशेषार्थः—यहां "नाम गोत्रका पल्यके सख्यातवेभाग मात्र हुआ प्रथम स्थितिवन्ध" ऐसा कहनेपर जहा पल्योपम स्थितिबन्धसे सख्यात बहुभाग घटाकर पल्य के सख्यातवेभागप्रमाण प्रथम स्थितिबन्ध उत्पन्न हुआ वह ग्रहणकरना चाहिए ।

तीसियचउण्ह पढमो पलिदोवम संखभागठिदिबंधो ।
मोहस्सवि दोण्णि पदा विसेस अहियक्कमा होंति ॥३८७॥

अर्थः—चढ़नेवालेके तीसिया चतुष्कका पल्योपमके सख्यातवेभागवाला प्रथम-स्थितिबन्ध (८६) तथा मोहनीयकर्मका पल्योपमके सख्यातवेभागवाला प्रथम स्थितिबध (८७) ये दोनों स्थान विशेष अधिक क्रमवाले है ।

विशेषार्थ—तीसिया चतुष्क अर्थात् तीस कोड़ाकोड़ीसागरकी स्थितिबन्धवाले चार कर्म–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तरायका पल्योपमके सख्यातवेभागप्रमाण प्रथम स्थितिवन्ध नाम गोत्रके पूर्वोक्त बन्धसे विशेष अधिक है विशेषका प्रमाण अपनी स्थितिवन्धके अर्द्धभाग प्रमाण है (८६) । इससे मोहनीयकर्मका पल्योपमके संख्यातवे भागप्रमाण प्रथम स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, विशेषका प्रमाण अपने बन्धके त्रिभाग प्रमाण है (८७) । क्योकि ये दोनो पद विशेष अधिक क्रमवाले है तथा नामगोत्र वीसिया हैं और ज्ञानावरणादि तोसिया है । अत वीसिया से तीसिया विशेष अधिक है गुणाकाररूप नही है । चारित्रमोहनीय चालीसिया है जो ज्ञानावरणादि तीसियासे विशेप अधिक है, क्योकि तीससे चालीस विशेष अधिक है गुणकाररूप नहीं है ।[2]

ठिदिखंडयं तु चरिमं बंधोसरणट्ठिदी य पल्लद्धं ।
पल्लं चडपडबादरपढमो चरिमो य ठिदिबंधो ॥३८८॥

---

१ जयधवल मूल पृ० १९३६ ।

२. जयधवल मूल पृ० १९३६ ।

है, कारण कि चढ़नेवाले अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है। वह अंतःकोटाकोटीप्रमाण है। अपूर्वकरणके कालमे संख्यातहजार स्थितिकाण्डक होता है उससे उसके प्रथमसमयमें जो स्थिति पाई जाती है उसका सख्यात बहुभागमात्र स्थिति घात होता है तथा उसके अतिमसमयमें एकभागमात्र स्थितिसत्त्व रहता है और उस प्रथम समयवर्ती स्थितिसत्त्वसे पहले (पूर्वमें) स्थितिकाण्डकका घात है नही, उससे उसका चरमसमयवर्ती स्थितिसत्त्वसे प्रथम समयवर्ती स्थितिसत्त्व सख्यातगुणा जानना (९९-१००)। इसप्रकार अल्पबहुत्वका कथन पूर्ण हुआ। चारित्रमोहके उपशमावने का विधान समाप्त हुआ।[1]

१. विशेष टिप्पण—लब्धिसार गाथा ३६५ से ३९१ तक १०० पदो के अल्प बहुत्वका कथन किया गया है, किन्तु कषायपाहुड़ सुत्त पृ० ७३२ से ७३७ तक तथा चूर्णिसूत्र ६०६ से ७०५ तक १०० सूत्रों द्वारा ९९ पदोके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है, क्योंकि लब्धिसार गाथा ३७० में "उतरने वाले लोभ की प्रथम स्थितिवाला" जो १८वां पद है उसका कथन चूर्णिसूत्रमे नहीं है। धवल पु. ६ पृ. ६३५ से ६४२ तक ९७ पदो के अल्पबहुत्वका कथन है, इसमें तीन पद कम हैं। लब्धिसार गाथा ३७० मे जो उक्त १८वां पद है वह ध. पु ६ मे नही है तथा गाथा ३७१ मे "गिरनेवालेका मानवेदककाल" वाला २१वां व नोकषायोंका गुणश्रेणि आयामरूप २२वा पद, ये दोनो पद भी ध. पु. ६ मे नही हैं। अन्य जो विशेषताएं हैं वे मिलान करके जानना चाहिए। लब्धिसार गाथा ३७० मे १८वें न० का स्थान जयधवलमे नही है।

जानना। उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके चरमसमयमे स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है। यद्यपि स्थितिसत्त्वका प्रमाण अन्तःकोड़ाकोड़ी है तथापि स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा है। क्योकि सम्यग्दृष्टिके सर्वदा स्थितिबंधसे स्थितिसत्त्व सख्यातगुणा है।

तप्पढमट्ठिदिसत्तं पडिवडअणियट्टिचरिमठिदिसत्तं।
अहियकमा चडबादरपढमट्ठिदिसत्तयं तु संखगुणं ॥३९०॥

अर्थ—उसी गिरनेवाले अपूर्वकरणका स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है (९६)। उससे गिरनेवाले अनिवृत्तिकरणका अंतिम स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है (९७)। उससे चढ़नेवाले बादरलोभ अर्थात् अनिवृत्तिकरणका प्रथम स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है (९८)।

विशेषार्थ—उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथम समयमे जो स्थितिसत्त्व है वह एक समयकम अपूर्वकरणके कालप्रमाण अधिक है, क्योकि उतरनेमें प्रथमसमयवर्ती स्थितिसत्त्वसे अंतिम समयवर्ती स्थितिसत्त्वकी हीनता उतने समयमात्र ही होती है।[1] उससे गिरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अंतिम समयमें स्थितिसत्त्व एकसमय अधिक है। उससे चढ़नेवाले अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है, क्योकि प्रथम समयमें अनिवृत्तिकरणके परिणामोसे स्थितिसत्त्वका खण्ड नही होता है। स्थितिकाण्डककी अंतिम फालिके पतन होनेपर स्थितिघात होता है।[2] (९६-९८)

चडमाणअपुव्वस्स य चरिमट्ठिदिसत्तयं विसेसहियं।
तस्सेव य पढमठिदीसत्तं संखेज्जसंगुणियं ॥३९१॥

अर्थ—चढनेवाले अपूर्वकरणके अंतिम स्थितिसत्त्व विशेषअधिक है (९९)। उसीका प्रथमस्थितिसत्त्व सख्यातगुणा है (१००)।

विशेषार्थ—उससे चढ़नेवाले अपूर्वकरणके अंतिम समयमें स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है, क्योकि अंतिमकाण्डककी अंतिमफालिका प्रमाण पल्यके संख्यातवेंभागमात्र पाया जाता है, सो इतना अधिक जानना, इससे उसीका प्रथम स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा

---

१. क्योंकि नीचे उतरते हुए के स्थितिकाण्डकघात तो है नही (ज. ध मूल पृ. १९३७, १९१३ तथा १९२६ आदि।

२. ज. ध मूल पृ. १९३७।

— लब्धिसार शुद्धिपत्र —

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	६	अध:प्रवृत्तकरण	अध:प्रवृत्तकरण
७	१४	हता	होता
१०	१४	चौंतिस	चौतीस
१०	२२	णग्गोधवज्जणरा ए	णग्गोधवज्जणाराए
१०	२३	चउतीसा	चोतीसा
१२	२५	असप्राप्ता-	असप्राप्त-
१४	११	चोद्स	चोदस
१५	५	व्रज्रर्षभ	वज्रर्षभ
१५	१२-१३	असप्राप्ता	असंप्राप्त
१८	१४	बंधति	बधंति
१८	२७	ज ध पु.पृ २११	ज.ध.पु १२ पृ०२११
२४	६	उद बतलाया	उदय बतलाया
२४	२१	अजहण्णमणुक्कस्स्प्पदे	अजहण्णमणुक्कस्स-प्पदे
२८	१३	अपुव्वमणिट्टिय ॥	अपुव्वमणियट्टि ॥
२८	१७	गुरुपदेश	गुरूपदेश
३३	१६	उर्वांक	उर्वंक
३४	१०	आकर्षमनुकृष्टि:	अनुकर्षणमनुकृष्टि
३६	८	खन्डका	खण्ड का
४१	१३	प्रतिभाव है	प्रतिभाग है ।
४१	१७	प्ररुपणा	प्ररूपणा
४२	१०	अन्तरोपनिधा का	अनन्तरोपनिधा का
४३	२	निरूपण	निरूपित
४८	२४	वद्धद्रव्यावलि	वद्ध द्रव्य आवली
५६	१३	एक भाव को	एक भाग को
५६	१५	अद्ध्वान	अध्वान
५६	१७	निषेकभागाहार	निषेकभागहार
६०	१	चयहान	चयहीन
६०	४	भागाहार	भागहार
६०	६	"	"
६४	२	स्थितिकर्म	स्थितिसत्कर्म
७५	५	प्रगाणवाला	प्रमाण वाला

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	२०	निष्टापक	निष्ठापक
९५	२०	सलिये	इसलिये
९७	१२	सशयिक	साशयिक
९७	१६	"	"
९९	६	प्राप्त हो जो	प्राप्त होकर हो
१०२	१	वन्ध भजनीय	बन्ध के भजनीय
१०३	११	यह विशेप	यहा विशेप
१०३	१६	अनन्तरकाल	अन्तरकाल
१०३	२०	प्रारम्भ	चालू
१०४	८	है । यह	है, यह
१०८	४	स्थितिधता	स्थितिघात
१०८	१८	अनिवृत्तिकरण वाला	अनिवृत्तिकरण परिणाम वाला
११३	२०	आयु कम का	आयु कर्म का
११५	१२	कर्मो की	कर्मों के
११५	१८	स्थितिकर्म	स्थिति सत्कर्म
११५	२३	पल्योप प्रमाण	पल्योपम प्रमाण
११६	७	है, स	है, उस
११८	१७	गुणसेढि	गुणसेढिं
११९	६	अवस्थिति	अवस्थित
१२६	१४	गुणसेढिसखभाग	गुणसेढिसंखभागा
१२७	१	अक्त	उक्त
१३०	७	उदयाद	उदयादि
१३४	३	उदयवहि	उदयवहि
१३७	३	खवदे	खविदे
१४०	५	पश्चादनुपूर्वी	पश्चादानुपूर्वी
१४५	७	तया	प्रमाण उदा
१५०	२६	उससे अपूर्वकरण के प्रथम	उससे संख्यातगुणा अपूर्व करण के प्रथम
१५२	६	२ प्रनिपाद्यनान	२ प्रतिपद्यमान
१५२	२४	असत्यातगुण वृद्धि जाकर	असंख्यात गुणवृद्धि [illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३००	१	विशेष अधिक	विशेष अधिक है।
३००	१४	विभाग है	त्रिभाग हैं
३०४	६-७	सासादनगुणस्थानके काल से सख्यातगुणे नीचे के	संख्यातगुणे अधस्तन कालरूप सासादन गुणस्थानके
३०४	७	इस कारण	क्योकि
३०६	१०	उपशमनकाल के	उपशान्त कालके
३१२	५	पल्यक	पल्य के
३१३	३-४	चढने वाले के बादर लोभ के	चढने वाले अनिवृत्तिकरण जीव के प्रथम समय मे
३१३	५	के अन्तिम स्थितिबन्ध	के अन्तिम समय मे स्थितिबन्ध
३१३	१५	होता है। उससे	होता है, वह सख्यात गुणा है। उससे
३१५	२	होता है	होते है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	२१	(मनुष्य)	(मनुष्य) के
१६३	११	तज्जेट्ठ	तज्जेट्ठ
१६१	१८	पूर्वक होने वाला	पूर्वक होनेवाला
		द्वितीयोपशमसम्यक्त्व	उपशमसम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व
१७१	२५	घ पु १ ......।	घ पु. १ पृ ३९६।
१७३	११	अनुकीर्यमाण	अनुत्कीर्यमाण
१७८	२७	दोण्ह् पि उवसेडि समारोहणे	दोण्ह् पि उवसमसेडि समारोहणे
१८१	१६	मारवई	मारभई।
१८८	३	नीदेसु	तीदेसु
१९७	८	अणुपुव्वीसकमणं	आणुपुव्वी सकमणं
२०४	१७	सदुव समदेतत्तो	सद्दुवसमदे तत्तो
२११	८	तक्कालठिदिवघो	तक्कालठिदिवघो
२१८	२१	स्तुविक	स्तिवुक
२२२	२८	-(गच्छ-१) ।२]	-(गच्छ-१)] / २
२२४	१२	प्रतिभा के	प्रतिभाग के
२२५	१४	३२ अर्थात् दो चय,	१६ अर्थात् एक चय
२२५	१५	४८ अर्थात् तीन चय	३२ अर्थात् दो चय
२२७	१४	चाहिये।	चाहिये। [देखो चित्र २२६ पृष्ठ पर]
२२८	१	एक चय को स्थापित कर	एक चय को "आदि" स्थापित कर
२४०	७	वेदे	वेदी
२४५	२७	यथानिदिष्ट स्थान ही	यथानिर्दिष्ट स्थान पर ही
२४६	१८	यशस्कीर्ति	यश कीर्ति
२५४	७	द्रव्य का	द्रव्य को
२५७	१५	लीये	लिये
२५७	१६	विशुद्ध	विशुद्धि
२५९	५	अधस्तन कृष्टि न	अधस्तन कृष्टि का
२५९	२६	सव्वासिमेगममणाव	सव्वासिमेगसमएणेव
२६०	१	स्तुविक	स्तिवुक
२६०	२६	तोन परिव्यज्य	तोम परित्यज्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६१	५	स्थितिवन्ध दो गुणा	स्थितिवन्ध से दो गुणा
२६३	७	अन्तर्मुहूर्त क्रम	अन्तर्मुहूर्त कम
२६३	१२	आदरग	ओदरग
२६३	२४	ठिदिवघा	ठिदिवघो
२६४	११	वादरकसायरण	वादरकसायाण
२६६	२३	वर्तन हो हाने से	वर्तन हो जाने से
२६६	२४	पाचप्रकृति वन्ध का	पाचप्रकृतिक वन्ध का
२६८	९	गलिहावशेष	गलितावशेष
२७३	१८	पश्चादनुपूर्वी	पश्चादानुपूर्वी
२७४	७	स्थितिवन्ध से असख्यात गुणा	×
२७५	१२	धान—श्रेणी से	समाधान—श्रेणी से
२७५	१३	अथवा	और
२७६	२५	उक्कस्सस	उक्कस्स
२७७	६	विशेष अधिक प्रमाण	विशेष अधिक का प्रमाण
२७७	१३	तवतक पूर्ण	तव तक पूर्व
२७७	२३	तदो एवं विहट्ठिदिवध परावत्ताणण	तदो एवविहट्ठिदिवधपरावत्तणाणि
२७७	२४-२५	पलिदो असख-भागिजो	पलिदो० असखे० भागिओ
२७८	१०	माहत्म्य से	माहात्म्य से
२७९	५	असख्यातवें भाग प्रमाण-स्थिति	सख्यातवे भाग प्रमाण-स्थिति
२८१	२२	के चरम समय मे	उतरने पर
२८४	१	गुणश्रेणि के विशेष	गुण श्रेणि के विषय मे विशेष
२९३	२२	श्रेण्यारोह	श्रेण्यारोहण
२९४	७	प्रथम समय करता	प्रथम समय
२९७	२२	काण्डोत्कीरणकाल	काण्डकोत्कीरणकाल
२९८	१५	प्रथमस्थितिवन्ध	प्रथमस्थितिवन्धकाल
२९८	१५	"	"
२९९	१०	सख्यातगुण	सख्यातगुणे
२९९	१३	अधिक या वह	अधिक था वह

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा

उत्कर्षण मे—अव्याघात दशा मे जघन्य अतिस्थापना एक आवली प्रमाण और अतिस्थापना उत्कृष्ट आबाधा प्रमाण होती है। किन्तु व्याघात दशा मे जघन्य अतिस्थापना आवली के असख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना एक समय कम एक आवली प्रमाण होती है।

ज० घ० ७/२५०

अपकर्षण मे—एक समय कम आवली, उसके दो त्रिभाग प्रमाण जघन्य अतिस्थापना होती है तथा उत्कृष्ट अतिस्थापना एक आवली प्रमाण होती है। यह अव्याघात विषयक कथन है। ल० सा० गा० ५६–५८

व्याघात की अपेक्षा अतिस्थापनाउत्कृष्ट समयाधिक अन्तः कोटाकोटिसागर सागर से हीन उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण होती है।

ल० सा० गा० ५९–६० ज०घ० ८/२५०

अधःप्रवृत्तकरण २९

प्रथम करण मे विद्यमान जीव के करणो [परिणामो] मे, उपरितन समय के परिणाम पूर्व समय के परिणामो के समान प्रवृत्त होते हैं वह अधःप्रवृत्तकरण है। इस करण मे उपरिम समय के परिणाम नीचे के समयो मे भी पाये जाते हैं, क्योकि उपरितनसमयवर्ती परिणाम अधः अर्थात् अधस्तनसमय के परिणामो मे समानता को प्राप्त होते हैं, अतः "अधः प्रवृत्त" यह सज्ञा सार्थक है।

धवल ६/२१७

जिसका कही पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यह एक दोष है। अष्टसहस्री पृ० ४४४ [आ० ज्ञानमतीजी]

कहा भी है—मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम्।
वस्त्वनन्त्येऽप्यशक्तौ च नानवस्था विचार्यते ॥१॥

अर्थात् जो मूल तत्त्व का ही नाश करती है वह अनवस्था कहलाती है, किन्तु जहा वस्तु के अनन्तपने के कारण या बुद्धि की असमर्थता के कारण जानना न हो सके वहा अनवस्था नही मानी जाती है। मतलब जहा पर सिद्ध करने योग्य वस्तु या धर्म को सिद्ध नही कर सके और आगे-आगे अपेक्षा तथा प्रश्न या आकांक्षा बढती ही जाय, कही पर ठहरना नही होवे, वह अनवस्था नामक दोष कहा जाता है। प्र० क० मार्तण्ड पृ० ६४८-४९ [अनु० आ० जिनमतीजी] एव पट्० द० स० ५७/३७१/३९२, प्र० र० माला पृ० १७१

—: लक्षणावलि :—

लब्धिसार

शब्द	ग्रन्थ मे जहां आया वह पृष्ठ	परिभाषा
अकरणोपशामना	२४६	करणोपशामना से भिन्न लक्षणवाली अकरणोपशामना होती है। अर्थात् प्रशस्त-अप्रशस्त परिणामो के बिना ही अप्राप्त काल वाले कर्म प्रदेशो का उदयरूप परिणाम के बिना अवस्थित करने को अकरणोपशामना कहते हैं। इसी का दूसरा नाम अनुदीर्णोपशामना है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर कर्मों के होने वाले विपाक-परिणाम को उदय कहते हैं। इस प्रकार के उदय से परिणत कर्म को "उदीर्ण" कहते हैं। इस उदीर्ण दशा से भिन्न अर्थात् उदयावस्था को नही प्राप्त हुए कर्म को अनुदीर्ण कहते हैं। इस प्रकार के अनुदीर्ण कर्म की उपशामना को अनुदीर्णोपशामना कहते हैं। इस अनुदीर्णोपशामना मे करण परिणामो की अपेक्षा नही होती है, इसलिये इसे अकरणोपशामना भी कहते हैं। इस अकरणोपशामना का विस्तृत वर्णन कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्व मे किया गया है। क० पा० सु० ७०८
अगुरुलघुचतुष्क	१८	अर्थात् अगुरुलघु, उपघात, परघात और उच्छ्वास।
अग्रस्थिति	५०	सत्त्वस्थ कर्म की अन्तिम स्थिति का द्रव्य अग्रस्थिति कहलाता है।
अतिस्थापना	५५	कर्म परमाणुओ उत्कर्षण-अपकर्षण होते समय उनका अपने से ऊपरकी या नीचेकी जितनी स्थितिमे निक्षेप नही होना वह अतिस्थापनारूप स्थिति कहलाती है। अर्थात् कर्म परमाणुओका उत्कर्षण होते समय तो उनका अपने से ऊपर की जितनी स्थिति मे निक्षेप नही होता वह अतिस्थापना रूप स्थिति है। ज० ध० ७/२५० इसी तरह जिन स्थितियो मे अपकर्षित द्रव्य दिया जाता है उनकी निक्षेप सज्ञा है तथा निक्षेपरूप स्थितियो के ऊपर तथा जिस स्थिति के द्रव्य का अपकर्षण होता है उनसे नीचे, जिन मध्य की स्थितियो मे अपकर्षित द्रव्य नही दिया जाता उनकी अतिस्थापना सज्ञा है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		"अनुकर्षणमनुकृष्टिः" अर्थात् उन परिणामो की परस्पर समानता का विचार करना, यह अनुकृष्टि का अर्थ है।
अनुदीर्ण	२४६	देखो अकरणोपशामना की परिभाषा मे।
अनुदीर्णोपशामना	२४६	अकरणोपशामना का दूसरा नाम ही अनुदीर्णोपशामना है।
अनुभागकाण्डक-घात	४४, क्ष सा. ४, १०	पारद्धपढमसमयादो अंतोमुहुत्तेण कालेण जो घादो णिप्पज्जदि सो अणुभागखंडय घादोणाम। धवल १२/३२

अर्थ—प्रारम्भ किये गये प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभाग काण्डकघात है। काण्डक पोर को कहते हैं। कुल अनुभाग के हिस्से करके एक-एक हिस्से का फालि क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डकघात कहलाता है।

[ध० १२/३२ विशे०]

विशुद्धि मे अप्रशस्त प्रकृतियो के अनुभाग का अनन्त बहुभाग अनुभागकाण्डक घात द्वारा घात को प्राप्त होता है। करण परिणामो के द्वारा अनन्त बहुभाग अनुभाग घाते जाने वाले अनुभागकाण्डक के शेष विकल्पो का होना असम्भव है। एक एक अन्तर्मुहूर्त मे एक एक अनुभागकाण्डक होता है। एक एक अनुभागकाण्डकोत्कीरण काल के प्रत्येक समय मे एक-एक फालि का पतन होता है।

कर्म के अनुभाग मे स्पर्धक रचना होती है। प्रथमादि स्पर्धक मे अल्प अनुभाग होता है तथा आगे-आगे अधिक। वहा समस्त स्पर्धको को अनन्त का भाग देने पर बहुभाग मात्र ऊपर के स्पर्धको के परमाणुओ को एक भाग मात्र नीचे के स्पर्धको मे परिणमाते हैं। वहा कुछ परमाणु पहले समय मे परिणत कराये जाते हैं, कुछ दूसरे समय मे, कुछ तीसरे मे, ऐसे अन्तर्मुहूर्त काल मे समस्त परमाणुओ को परिणत करके ऊपर के स्पर्धको का अभाव किया जाता है। यहा प्रत्येक समय मे जो जो परमाणु नीचे के स्पर्धकरूप परिणमाये उनका नाम फालि है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त मे जो कार्य किया, उसका नाम काण्डक है। इस अनुभागकाण्डक द्वारा जिन स्पर्धकों का अभाव किया वह अनुभाग काण्डकायाम है। एक एक स्थिति-काण्डकघात के अन्तर्मुहूर्त काल के सख्यातहजारवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल मे ही एक अनुभागकाण्डकघात हो जाता है। ल० सा० ७६, ८०, ८१

शब्द पृष्ठ **परिभाषा**

वस्तु अनन्तता के कारण यदि अनवस्था है तो उसका वारण नही किया जा सकता, वह तो भूषण है। षड्दर्शनसमुच्चय का० ५७ प्रकरण ३७१ पृष्ठ ३६२ [स० डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य]

कहा भी है—अप्रमाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था।

यानी अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते हुए जो विश्रान्ति का अभाव होता है, इसका नाम अनवस्यादोष है। प्र० र० माला पृ० २७७ टि० १०। अभिधान रा० कोश० १/३०२

जैसे—पुत्र पिता के आधीन है, पिता अपने पिता के अधीन है, वह अपने पिता के आधीन है। इसीप्रकार सत् और परिणाम को पराधीन मानने पर अनवस्था दोष आता है क्योकि पराधीनता रूपी शृंखला का कभी अन्त नही आवेगा।

पं० ध० पू० ३८१-८२

यानी दो मे से कोई एक धर्म, पर के आश्रय है, तो जिस पर के आश्रय है वह भी सब तरह से अपने से पर के आश्रय होने से, अन्य पर के आश्रय की अपेक्षा करेगा और वह भी पर अन्य के आश्रय की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अन्य-अन्य आश्रयो की कल्पना की सम्भावना से अनवस्था प्रसग रूप दोष आता है।

अनिवृत्तिकरण ३१, ६८१, ४३, ६९ क्षप. २४

जिस करण मे विद्यमान जीवो के एक समय मे परिणाम भेद नही है वह अनिवृत्तिकरण है। ज० ध० १२/२३४ अनिवृत्तिकरण मे एक-एक समय मे एक-एक ही परिणाम होता है, क्योकि यहा एक समय मे जघन्य व उत्कृष्ट भेद का अभाव है। एक समय मे वर्तमान जीवो के परिणामो की अपेक्षा निवृत्ति या विभिन्नता जहा नही होती वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। ध०पु० ६ पृ० २२१-२२२ सारतः अनिवृत्तिकरण मे प्रत्येक समय मे नाना जीवो के एक सा ही परिणाम होता है। नाना जीवो के परिणामो मे निवृत्ति [अर्थात् परस्पर भेद] जिसमे नहीं है वह अनिवृत्तिकरण है। धवल १/१८३, क० पा० सु० पृ० ६२४, ज० ध० १२/२५६

अनुकृष्टि ३४

अधः प्रवृत्तकरण के प्रथमसमय से लेकर चरम समयपर्यन्त पृथक्-पृथक् एक एक समय मे छह वृद्धियो के क्रम से अवस्थित और स्थितिबन्धापसरणादि के कारणभूत असख्यातलोक प्रमाण परिणामस्थान होते हैं। परिपाटी क्रम से विरचित इन परिणामो के पुनरुक्त और अपुनरुक्त भाव का अनुसन्धान करना अनुकृष्टि है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
आनुपूर्वी सक्रम	२७२, १९७	अन्तरकरण [नवम गुणस्थान मे] कर चुकने के प्रथम समय मे मोहनीय कर्म सम्बन्धी सात करण प्रारम्भ होते है। उसमे से यह प्रथम करण है। यथा-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद के प्रदेश पुंज पुरुषवेद मे सक्रान्त होते है। पुरुषवेद छ नोकषाय तथा प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान कषाय स० क्रोध मे ही सक्रान्त होते हैं। इसी तरह सज्वलन क्रोध तथा दोनो प्रकार के मान मान सज्वलन मे ही, मान सज्वलन तथा दोनो प्रकार की माया सज्वलन माया मे ही तथा माया सज्वलन और दोनो लोभ लोभ सज्वलन मे ही सक्रान्त होते हैं, यह आनुपूर्वी सक्रम है। [आनुपूर्वी सक्रम यानी एक नियत क्रम मे सक्रम]
आयुक्तकरण	१९९ क्षप० ४७	आयुक्त करण, उद्यत करण और प्रारम्भ करण ये तीनो एकार्थक हैं। तात्पर्यरूप से यहा से लेकर नपुसकवेद को उपशमाता है, यह इसका अर्थ है। ज० ध० १३/२७२ कहा भी है—नपुसक वेद का "आयुक्तकरण सक्रामक" ऐसा कहने पर नपुसक वेद की क्षपणा [या उपशामना] के लिये उद्यत होकर प्रवृत्त होता है यह कहा गया है[1]। जयधवला मूल पृ० .. .. "ताधे चेव णवु सयवेदस्स आजुत्तकरणसकामगो" की जयधवला।
आरोहकअवरोहक	२५७	उपशम श्रेणी चढने वाले को आरोहक तथा उतरने वाले को अवरोहक कहते हैं। धवल ६/३१८-१९
उत्कर्षण	५०	विवक्षित प्राक्तन सत्कर्म से उसी कर्म का नवीन स्थितिबन्ध अधिक होने पर बन्ध के समय उसके निमित्त से सत्कर्म की स्थिति को बढाना उत्कर्षण कहलाता है। कहा भी है–'कम्मप्पदेसट्ठिदिवट्ठावणमुक्कड्डुणा' अर्थात् कर्म प्रदेशो की स्थिति को बढाना उत्कर्षण है। [धवल १०/५२] अन्यत्र भी कहा है 'स्थित्यनुभागयोर्वृद्धि. उत्कर्षणम्" अर्थात् स्थिति व अनुभाग मे वृद्धि का होना उत्कर्षण कहलाता है। [गो० क० गा० ४३८ की टीका]
उत्पादानुच्छेद तथा क्ष० सा०	२०८ २३, ६१	उत्पादानुच्छेद द्रव्यार्थिकनय को कहते हैं। यह सत्त्वावस्था मे ही विनाश को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ-सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान मे अन्तिम समय तक सूक्ष्म लोभ का उदय है। वहा पर उसकी उदयव्युच्छित्ति वतलाई जाती है, सो यह कथन उत्पादानुच्छेद की अपेक्षा से जानना चाहिये। जय धवल ७/३०१-३०२, गो० क० गा० ९४ की बडी टीका (तत्र उत्पादानुच्छेदो नाम द्रव्या-

१ यानी क्षपणा व उपशामना, दोनो के ही अन्दर आयुक्तकरण शब्द प्रारम्भ-करण अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
अन्तरकरण	६६	विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियो को छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियो के निषेको का परिणामविशेष से अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। क० पा० सु० पृ० ६२६; क० पा० सु० पृ० ७५२ टिप्पण १
अपूर्वकरण	३०	जिस करण मे प्रतिसमय अपूर्व अर्थात् असमान व नियम से अनन्तगुणरूप से वृद्धिगत परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण है। इस करण मे होने वाले परिणाम प्रत्येक समय मे असख्यात लोकप्रमाण होकर भी अन्य समय मे स्थित परिणामो के सदृश नही होते, यह उक्त कथन का भावार्थ है। ज० ध० १२/२३४
अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थान	१५३, १६०, १६३	इन्हे अनुभय स्थान भी कहते हैं। स्वस्थान मे अवस्थान के योग्य और उपरिम गुणस्थान के अभिमुख हुए जीव के स्थान ये सब लब्धिस्थान अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्वरूप अनुभय स्थान हैं। अर्थात् सयमासयम से गिरने के अन्तिम समय मे होने वाले स्थानो को प्रतिपात स्थान कहते हैं। सयमासंयम को धारण करने के प्रथम समय मे होने वाले स्थानो को प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं। इन दोनो स्थानो को छोडकर मध्यवर्ती समयो मे सम्भव समस्त स्थानो को अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान या अनुभय स्थान कहते हैं। ध० ६/२७७ ज० ध० १३/१४८ संयम की अपेक्षा भी ऐसे ही लगाना चाहिये। ल० सा० १६८
अप्रशस्तोपशामना		कितने ही कर्म परमाणुओ का वहिरग-अन्तरग कारणवश उदीरणा द्वारा उदय मे अनागमनरूप प्रतिज्ञा को अप्रशस्तोपशामना कहते हैं। धवल १५/२७६ अप्रशस्त उपशामना के द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है वह अपकर्षण के लिये भी शक्य है, उत्कर्षण के लिये भी शक्य है तथा अन्य प्रकृति मे सक्रमण कराने के लिये भी शक्य है। वह केवल उदयावलि मे प्रविष्ट कराने के लिये शक्य नही है। जय धवल १३/२३१ इसे देशकरणोपशामना भी कहते हैं। क० पा० सु० पृ० ७०८
आगाल-प्रत्यागाल	७२, ७३, २०८ क्षप० ६०	द्वितीयस्थिति के द्रव्य का अपकर्षण करके उसके प्रथम स्थिति मे निक्षेपण करने को आगाल कहते हैं। जय ध० अ० प० ६५४ प्रथम स्थिति के प्रदेशो के उत्कर्षणवश द्वितीय स्थिति मे ले जाने को प्रत्यागाल कहते हैं। ज० ध० अ० प. ६५४ प्रथम और द्वितीयस्थिति के कर्म परमाणुओ का उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषय नक्रम का नाम आगाल-प्रत्यागाल है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		आयाम। जहा उदयावलि के ऊपर प्रथम निषेक से अवस्थित गुणश्रेणी रचना हो तो वह उदयावलि वाह्य अवस्थित गुणश्रेणी आयाम कहलाता है तथा वही उदय रूप वर्तमान समय से ही गुण श्रेणी आयाम प्रारम्भ हो जावे तो वह गुणश्रेणी आयाम, उदयादि कहा जाता है। जैसे सम्यक्त्व की ८ वर्ष स्थिति सत्कर्म से पूर्व उदयावलि वाह्य गलितावशेष गुणश्रेणी थी, किन्तु ८ वर्ष स्थिति सत्कर्म से लगाकर ऊपर सर्वत्र उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आयाम है। (पृ० ११९-१२०) ऐसे ही उतरने वाला मायावेदक जीव उदयरहित लोभत्रय का द्वितीयस्थिति से अपकर्षण करके उदयावलि वाह्य अवस्थित गुण श्रेणी करता है। (ल०सा० ३१७) सम्यक्त्व प्रकृति के अन्तिम काण्डक की प्रथम फालि के पतन समय से लेकर द्विचरम फालि के पतन समय पर्यन्त उदयादि गलितावशेष गुण श्रेणी आयाम रहता है। ल० सा० गा० १४३ पृ० १३० इसप्रकार चारो प्रकारो की गुणश्रेणियो के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अन्यत्र भी गुणश्रेणी-विन्यास यथा आगम जानना चाहिए। विशेष इतना कि आयु कर्म का गुणश्रेणी निक्षेप नही होता। शेष सब कर्मों का होता है।
उदीर्ण	२४९	(देखो अकरणोपशामना मे)
उपयोग	३	जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है। अर्थ के ग्रहणरूप आत्म-परिणाम को भी उपयोग कहते हैं। उपयोग के साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार है। इनमे से साकार तो ज्ञानोपयोग और अनाकार दर्शनोपयोग है।
उपशम-उपशामक (दर्शनमोह की अपेक्षा)	७१	करण परिणामो के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते है। उपशम करने वाले को उपशामक कहते हैं। ज० ध० १२/२८०
उपशम चारित्र	१६९	सकल चारित्र मोहनीय के उपशम से जो चारित्र उत्पन्न होता है उसे उपशम-चारित्र कहते हैं। त० सू० २/३
उपशमावली	२०७	जिस आवली मे उपशम करना पाया जाय उसे उपशमावली कहते हैं।
करणोपशामना	२४६	प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामो के द्वारा कर्म प्रदेशो का उपशान्त भाव से रहना करणोपशामना है। अथवा करणो की उपशामना को करणोपशामना कहते हैं। अर्थात् निधत्ति, निकाचित आदि ८ करणो का प्रशस्त उपशामना के द्वारा उपशान्त करने को करणोपशामना कहते हैं। क० पा० सु० पृ० ७०८

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		यिक'), धवल १२/४५७-५८ कहा भी है—विणासविसए दोण्णि णया होंति उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि। यानी विनाश के विषय मे दो नय हैं—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादानुच्छेद का अर्थ द्रव्यार्थिकनय है। अनुत्पादानुच्छेद का अर्थ पर्यायार्थिकनय है। उत्पादानुच्छेद सद्भाव की अवस्था मे ही विनाश को स्वीकार करता है। तथा अनुत्पादानुच्छेद असत् अवस्था मे अभाव सज्ञा को स्वीकार करता है। धवल १२/४५७-४५८
उदयादि अवस्थित	१२०	परिणामो की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्तनाकरण के द्वारा उपरितन स्थिति से हीन करके अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असख्यातगुणित वृद्धि के क्रमसे कर्म प्रदेशो की निर्जरा के लिये जो रचना होती है उसे गुण श्रेणी कहते है। जैन लक्षणावली २/४१३-४१४
गुणश्रेणी आयाम	२४५	
तथा	२८३	
उदयादि गलितावशेष	१३०	
गुणश्रेणी आयाम	२८३	जितने निषेको मे असख्यात गुणश्रेणीरूप से प्रदेशो का निक्षेपण होता है वह गुणश्रेणी आयाम कहलाता है। यह गुणश्रेणी आयाम भी दो प्रकार का होता हैं। १ गलितावशेष २ अवस्थित (देखो चित्र पृ० २८३ ल० सा०) गलितावशेष गुणश्रेणी—गुणश्रेणी प्रारम्भ करने के प्रथम समय मे जो गुणश्रेणी आयाम का प्रमाण था उसमे एक-एक समय के बीतने पर उसके द्वितीयादि समयो मे गुण-श्रेणी- आयाम क्रम से एक एक निषेक प्रमाण घटता हुआ अवशेष रहता है, इसलिये उसे गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम कहते है। उदय समय से लगाकर गुणश्रेणी होने पर उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणी कहलाती है तथा उदयावली से बाहर गुणितक्रम से प्रदेश विन्यास हो तो उदयावलि बाह्य गलितावशेष गुण-श्रेणी कहलाती है।

अवस्थित गुणश्रेणी—प्रथम समय मे गुणश्रेणी का जितने आयाम लिये आरम्भ किया उतने प्रमाण सहित ही द्वितीयादि समयो मे उतना ही आयाम रहता है, क्योकि उदयावलि का एक समय व्यतीत होने पर उपरितन स्थिति का एक समय गुणश्रेणी मे मिल जाता है। (पृ० १२०)

अतः नीचे का एक समय व्यतीत होने पर उपरिम स्थिति का एक समय गुणश्रेणी मे मिल जाने से गुणश्रेणी आयाम जितना था उतना ही रहता है, ऐसा गुण-श्रेणी आयाम अवस्थित स्वरूप होने से अवस्थित गुणश्रेणी आयाम कहलाता है। यह अवस्थित गुणश्रेणी आयाम भी गलितावशेषवत् दो प्रकार का होता है—उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आयाम तथा उदयावलि बाह्य अवस्थित गुणश्रेणी

पृष्ठ **परिभाषा**

श्रेणि और उपशम श्रेणि मे विशुद्ध परिणामो के निमित्त से यह विनाश को प्राप्त हो जाती है, अतः इसका अप्रशस्तपना है, इस बात की सिद्धि मे प्रतिवन्ध का अभाव है। इस कारण इस प्रकार की जो अप्रशस्त उपशामना [अप्रशस्त परिणाम निमित्तक] है वह ही "देशकरणोपशामना" कही जाती है (जयधवल पृष्ठ १८७४) इस प्रकार एक तो अप्रशस्त परिणामो को निमित्त कर होती है, दूसरे कुछ कर्म परमाणुओ मे ही इसका व्यापार होता है। ऐसी देशकरणोपशामना या अप्रशस्त उपशामना सार्थक नाम वाली है। कहा भी है—प्रशस्त उपशामना आदि करणो के द्वारा एक देश कर्म परमाणुओ का उदयादि परिणाम के पर मुखी भाव से उपशान्त भाव को प्राप्त होना देशकरणोपशामना है। [ज० ध० १८७२ चरमपेरा] यहा किन्ही करणो का परिमित कर्म प्रदेशो मे ही उपशान्तपना देखा जाने से इसकी देशकरणोपशामना सज्ञा बन जाती है। इसप्रकार ससार अवस्थामे अप्रशस्त उपशामना, निधत्त और निकाचना आदि करणो के माध्यम से जो परिमित कर्म परमाणुओ का उपशामनारूप होकर उदय के अयोग्य रहना वह देश करणोपशामना है। जबकि सर्वोपशामना मे समस्त कर्मपुंज को अन्तर्मुहूर्त के लिये उदय के अयोग्य करना विवक्षित है। यथा—दर्शनमोह की अपेक्षा अनिवृत्ति-करण के प्रारम्भिक समयमे अप्रशस्त उपशामना, निधत्त, निकाचना की व्युच्छित्ति होने के बाद अनिवृत्ति परिणामो से दर्शनमोहनीय के समस्त कर्म परमाणु को अन्तर्मुहूर्त के लिये उदय के अयोग्य करना सर्वोपशामना है। यद्यपि दर्शनमोह का उपशम होने पर भी उसमे सक्रमकरण और अपकर्षण करण की प्रवृत्ति पाई जाती है, फिर भी समस्त कर्म परमाणु विवक्षित काल के लिये उदय के अयोग्य बने रहते हैं, अतः इसे सर्वोपशामना मानने मे कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार चारित्र मोह की अपेक्षा अनिवृत्ति करण परिणामो के प्रारम्भिक समय मे अप्रशस्त उपशामना, निधत्त और निकाचित की व्युच्छित्ति होकर अनिवृत्तिकरण तथा सूक्ष्म साम्पराय द्वारा सकल चारित्रमोह के कर्म पुंज को अन्तर्मुहूर्त काल के लिये उदयादि के अयोग्य करना सर्वोपशामना [सर्वकरणोपशामना] है। इसप्रकार अकरणोपशामना, देशकरणोपशामना तथा सर्वकरणोपशामना के बारे मे विस्तृत कथन परिभाषा के साथ किया गया। प्रशस्त उपशामना [प्रशस्त करणोपशामना] अर्थात् सर्वोपशामना यानी सर्वकरणोपशामना मोहनीय कर्म की ही होती है।

शब्द पृष्ठ परिभाषा

करणोपशामना के भी दो भेद हैं—देश करणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। अप्रशस्तोपशमनादि करणो के द्वारा कर्म प्रदेशो के एक देश उपशान्त करने को देशकरणोपशामना कहते हैं। सर्व करणो के उपशमन को सर्व करणोपशामना कहते हैं। अर्थात् उदीरणा, निधत्ति, निकाचित आदि आठो करणो का अपनी-अपनी क्रियाओ को छोडकर जो प्रशस्तोपशामना के द्वारा सर्वोपशम होता है, उसे सर्व करणोपशामना कहते है। कषायो के उपशमन का प्रकरण होने से प्रकृत मे यही सर्व करणोपशामना विवक्षित है। क० पा० सु० पृष्ठ ७०६

विस्तार इसप्रकार है—उपशामना दो प्रकार की होती है—करणोपशामना और अकरणोपशामना। उनमे से सर्व प्रथम उपशामना पद की व्याख्या करते हुए जय धवला मे (पृष्ठ १८७१-७२) बताया है कि उदयादि परिणामो के बिना कर्मों का उपशान्त भाव से अवस्थित रहना इसका नाम उपशामना है। यहा "उदयादि परिणामो के बिना" का अर्थ यह कि किसी भी कर्म का बन्ध होने पर विवक्षित काल तक उदयादि के बिना तदवस्थ रहना इसका नाम उपशामना है। यह उपशामना का सामान्य लक्षण है जो यथासम्भव करणोपशामना और अकरणोपशामना दोनो मे घटित होता है। जय धवला मे कहा है कि प्रशस्त अप्रशस्त परिणामो के द्वारा कर्म प्रदेशो का उपशमभाव से सम्पादित होना करणोपशामना है अथवा करणो की उपशामना का नाम करणोपशामना है। उपशामना, निधत्त, निकाचना आदि आठ करणो का प्रशस्त उपशामना द्वारा उपशम होना करणोपशामना है। अथवा अपकर्षण आदि करणो का अप्रशस्त उपशामना द्वारा उपशम होना करणोपशामना है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे भिन्न लक्षण वाली अकरणोपशामना है। प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामो के बिना जिन कर्म प्रदेशो का उदय काल प्राप्त नही हुआ है उनका उदयरूप परिणाम के बिना अवस्थित रहना अकरणोपशामना (अनुदीर्णोपशामना) है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(जयधवला पृष्ठ १८७२ प्रथम पेरा)

परन्तु देशकरणोपशामना मे अप्रशस्त परिणामो की निमित्तता है। कहा भी है—ससार के योग्य अप्रशस्त परिणाम निमित्तक होने से यह (देश करणोपशामना) अप्रशस्त उपशामना कही जाती है। यह ससार प्रायोग्य अप्रशस्त परिणाम निमित्तक होती है यह असिद्ध नही है क्योकि अत्यन्ततीव्र सक्लेश से ही अप्रशस्त उपशामना, निधत्त और निकाचना करणो की प्रवृत्ति देखी जाती है तथा क्षपक

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		दिया जाता है, उन निषेको का नाम गुणश्रेणी निक्षेप है। उन निषेको की सख्या का प्रमाण ही गुणश्रेणी आयाम है।
चतुःस्थानीय अनुभागवन्ध	३१	प्रशस्त प्रकृतियो का गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृतोपम रूप अनुभाग वन्ध चतु:-स्थानीय अनुभाग वन्ध कहलाता है। अप्रशस्त प्रकृतियो मे "चतु:स्थानीय" शब्द से नीम, काजीर, विष और हलाहलोपम लेना चाहिये। अथवा घातिया की अपेक्षा लता–दारु–अस्थि–शैल लेना चाहिये।
चालीसिया	१८५	अर्थात् चारित्र मोहनीय (चालिस कोटा कोटी स्थितिबन्ध वाले कर्म चालीसिया कहलाते हैं)
जस्थिति	२८०, २६७	मूल और वृद्धि दोनो को मिलाकर स्थिति बन्ध के पूरे प्रमाण का निर्देश करना। विवक्षित प्रकरणमे यत्स्थिति वन्ध का यही तात्पर्य है। इसमे आवाधा भी शामिल है। ज० ध० १९१२, (यत्स्थितिबन्ध मे आबाधा भी गिनी जाती है ध० ११/३३९)
तीसिया	१८५	ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तराय को तीसिया कहते हैं।
त्रसचतुष्क	१८	अर्थात् 'त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक।'
दूरापकृष्टि	१०७, ११६, १८७	जिस अवशिष्ट स्थिति सत्कर्म मे से सख्यात बहुभागको ग्रहण कर स्थितिकाण्डकका घात करने पर घात करने से शेष बचा स्थिति सत्कर्म नियम से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण होकर अवशिष्ट रहता है उस सबसे अन्तिम पल्योपम के सख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति सत्कर्म को दूरापकृष्टि कहते हैं। जय धवला पु० १३ पृ० ४५
		तात्पर्य यह है कि जब स्थितिकाण्डकघात होते-होते सत्कर्म स्थिति पल्योपम प्रमाण शेष रह जाती है तब स्थितिकाण्डक का जो प्रमाण पहले था वह वदल कर अवशिष्ट स्थिति-सत्कर्म का सख्यात बहुभाग हो जाता है। और इस प्रकार उत्तरोत्तर उक्त विधि से स्थितिकाण्डकघात होते होते जब सवसे जघन्य पल्योपम के सख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति शेष रह जाती है तव वह "दूरापकृष्टि", इस नाम से पुकारी जाती है। यह घटते घटते अति अल्प रह गई है, इसलिये इसे "दूरापकृष्टि" कहते हैं। अथवा शेष रही इस स्थिति से आगे उत्तरोत्तर अवशिष्ट स्थिति के असख्यात बहुभाग असख्यात बहुभाग प्रमाण स्थिति को ग्रहण कर स्थितिकाण्डकघात होता इसलिये इसे "दूरापकृष्टि" कहते हैं। जय धवला पु० १३ पृष्ठ ४७

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		१ जय धवल मूल पृष्ठ १८७५ तथा क० पा० सुत्त पृ० ७०६
		कषाय की अपेक्षा परिभाषा—
कृष्टि	२३३ क्षप० ६३	जिसके द्वारा सज्वलन कषायो का अनुभाग सत्त्व उत्तरोत्तर कृश अर्थात् अल्पतर किया जाय उसे कृष्टि कहते है। क० पा० सु० पृ० ८०८ योग की अपेक्षा परिभाषा—पूर्व पूर्व स्पर्धक स्वरूप से ईंटो की पक्ति के आकार मे स्थित योग का उपसहार करके जो सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किये जाते हैं उन्हे कृष्टि कहते हैं। ज० ध० अ० प० १२४३, जैन लक्ष० २/३६७
क्रमकरण	१७७	अनिवृत्तिकरण काल मे मोहनीय का स्थितिबन्ध स्तोक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थितिबन्ध तुल्य, किन्तु मोहनीय के स्थितिबन्ध से असख्यात-गुणा तथा नाम-गोत्र का स्थिति बन्ध तुल्य, परन्तु पूर्व से असख्यातगुणा और वेदनीय कर्म का स्थिति बन्ध विशेष अधिक होता है। जब इस क्रम से स्थितिबन्ध होता है तब इसे क्रमकरण कहते हैं।
क्षयोपशमलब्धि	५	पूर्व सचित कर्मो के मलरूप पटल के अर्थात् अप्रशस्त (पाप) कर्मों के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्त गुणे हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होते हैं, उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।
क्षायिक सम्यक्त्व	१०४	चार अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व प्रकृति, इन सात प्रकृतियो के क्षय से होने वाले सम्यक्त्व को क्षायिक सम्यक्त्व कहते है।
क्षुद्रभव ग्रहण	३०३	सबसे छोटे भवग्रहण को क्षुद्र भव कहते हैं और यह एक उच्छ्वास के [सख्यात आवली समूह से निष्पन्न] साधिक अठारहवें भाग प्रमाण होता हुआ सख्यात आवलि-सहस्र प्रमाण होता है। जय धवल मे कहा है कि सख्यात हजार कोडा कोडी प्रमाण आवलियो के द्वारा एक उच्छ्वास निष्पन्न होता है और उसके कुछ कम १८वें भाग प्रमाण ($\frac{१}{१७६}$ वा भाग) यह क्षुल्लकभवग्रहण (क्षुद्रभवग्रहण) होता है। ज० ध० मूल पृष्ठ १६३०
गुणश्रेणिआयाम	४६	जिन निषेको मे गुणाकार क्रम से अपकर्षित द्रव्य निक्षेपित किया जाता है अर्थात्

१. शेष कर्मो की अकरणोपशामना तथा देशकरणोपशामना तो होती है, ऐसा जानो।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		शान्त हो चुका है। उसके जो मोह के उपशम से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। जै० ल० २/५६६ विधि ल० सा० गा २०५ से २१८ मे देखनी चाहिये।
द्विस्थानीय अनुभाग	२८	अप्रशस्त प्रकृतियो की अपेक्षा "लता-दारू" रूप अथवा 'नीम-काजीर' रूप अनुभाग। प्रशस्त प्रकृतियो की अपेक्षा "गुड, खाण्ड" रूप अनुभाग द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है।
नवकसमय प्रबद्ध	३०२	नवक अर्थात् नवीन समयप्रवद्ध। जिनका वन्ध हुए थोडा काल हुआ है; सक्रमणादि करने योग्य जो निषेक नही हुए ऐसे नूतन समयप्रवद्ध के निषेक का नाम नवक समयप्रवद्ध है। (गो० क० ५१४ टीका) दर्शनमोह, १ चारित्रमोहनीय २ की उपशामना आदि के समय विवक्षित कर्म के अतिम समय के वन्ध के समय से लेकर चरम द्विचरम आदि एक समय कम दो आवली प्रमाण समयप्रवद्ध अनुपशमित अथवा अविनष्ट रह जाते है। उन समयप्रवद्धो की नवक समयप्रवद्ध सज्ञा है। जैसे चारित्रमोहनीय उपशामक के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे अन्तिमसमयवर्ती सवेदी के एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक समय प्रवद्ध अनुपशान्त रहते हैं, पुरुषवेद के। जो आगे अपगतवेदी अवस्था मे एक समय कम दो आवली काल मे नष्ट होते हैं। (ज० ध० १३/२८७) इसीतरह जैसे मान का उपशामक है। तो उसके चरम समय बन्ध के समय एक समय कम दो आवली प्रमाण समय प्रवद्ध अनुपशान्त रह जाते हैं। वाकी सव मानद्रव्य उपशान्त हो जाता है (उच्छिष्ठावली गौण है) यह एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक बद्ध द्रव्य मायावेदक काल के भीतर एक समय कम दो आवलीकाल के द्वारा पूर्ण रूप से उपशमाये जाते हैं। क्योकि प्रत्येक समय मे एक-एक समय प्रबद्ध के उपशामन क्रिया की समाप्ति देखी जाती है। ज० ध० १३/३०१-३०२ इसी तरह क्रोध, माया, लोभ आदि के लिये भी आगमानुसार कहना चाहिये। इतना विशेष है कि नवक बन्ध का बन्ध काल से एक आवली तक तो, बन्धावलि सकल करणो के अयोग्य होने से कुछ नही होता तथा बन्धावली के वाद उनका उपशमन काल एक आवली प्रमाण होता है (इसप्रकार एक नवक समय-

---

१ जयधवल १२/२८९-९०

२ ल० सा० गा० २६२, २६६, २७१, २७६, २८०, २९५ आदि

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
देवचतुष्क	१८	देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीर अगोपांग; इन चार प्रकृतियो का समूह "देवचतुष्क" कहलाता है।
देशकरणोपशामना	२४६	देखो—करणोपशामना की परिभाषा मे।
देशघातीकरण	१७७	अनिवृत्तिकरण काल मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का वन्ध जव देश-घातिरूप होने लगता है, सर्वघातीरूप से बन्ध नही होता तव उसको देशघातीकरण कहते हैं।
देशचारित्र	१४३	इसे संयमासंयम भी कहते हैं। देशचारित्र का घात करने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषायो के उदयाभाव से हिंसादिक दोषो के एक देश विरतिलक्षण अणुव्रत को प्राप्त होने वाले जीव के जो विशुद्ध परिणाम होता है उसे "देशचारित्र" अथवा संयमासयमलब्धि कहते हैं।
देशनालब्धि	६	जीवादिक ६ द्रव्य तथा जीव, अजीव, आस्रव आदिक ९ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्यादि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। धवल ६/२०४
द्वितीय स्थिति	७०	जीव दर्शनमोह आदि के उपशम के समय अन्तरकरण करता है। उस समय वह अन्तर के लिये जितनी स्थितियो को ग्रहण करता है उसकी "अन्तरायाम" संज्ञा है। उस अन्तराय के नीचे जितनी स्थिति है वह "प्रथम स्थिति" कहलाती है। तथा अन्तराय से ऊपर जितनी कर्म स्थिति है वह "द्वितीय स्थिति,' कहलाती है।
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	१७०, १७१	मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाला उपशम सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व है। यह चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व अर्थात् वेदकसम्यक्त्व पूर्वक होने वाला उपशम सम्यक्त्व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। यही फिर चारित्रमोह की उपशामना करने के लिये प्रवृत्त होता है, अन्य प्रथमोपशम सम्यक्त्वी या वेदक सम्यक्त्वी नही। यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थान से सप्तमगुणस्थान तक के किसी भी गुण स्थान मे स्थित क्षायोपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य के उत्पन्न होता है। धवल पु० १/११, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८४ की टीका, मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा० २०५ की टीका, धवल १/२१४-१५। अन्यत्र भी कहा है—उपशम श्रेणि के योग से जिसका मोह (दर्शन मोह) उप-

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		अभिप्राय—अध.प्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे जितने परिणाम होते हैं वे अधः-प्रवृत्त करण के काल के सख्यातवें भाग प्रमाण खण्डो मे विभाजित हो जाते हैं। जो उत्तरोत्तर विशेष अधिक प्रमाण को लिये हुए होते हैं। यहा पर उन परिणामो के जितने खण्ड हुए; निर्वर्गणाकाडक भी उतने समय प्रमाण होता है। जिसकी समाप्ति के बाद दूसरा निर्वर्गणाकाण्डक प्रारम्भ होता है। आगे भी इसीप्रकार जानना चाहिये। (ज० ध० १२/२३७ विशे०)
निर्व्याघात	४८	स्थितिकाण्डकघात का अभाव निर्व्याघात कहलाता है। (अपकर्षण मे) ज० ध० ८/२४७ उत्कर्षण मे—आवली प्रमाण अतिस्थापना का प्रतिघात ही यहा व्याघातरूप से विवक्षित है। (ज० ध० ८ पृ० २५३) जहा ' ' अतिस्थापना एक आवली से कम पाई जाती है वहा व्याघात विषयक उत्कर्षण होता है। (ज० ध० ८/२६२) अतः जिस समय आवली प्रमाण अतिस्थापना बन जाती है वह अव्याघात (निर्व्याघात) विषयक उत्कर्षण कहलाता है।
प्रकृतिबन्धापसरण	१०	अर्थात् प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्ति। कहा भी है— 'प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्तिरूप एक बन्धापसरण"। विशेष इतना है कि मिथ्यादृष्टि के प्रायोग्य लब्धि के समय ३४ प्रकृति-बन्धापसरण होते हैं (पृ० १०) जिनमे ४६ प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है। पृष्ठ १४ यह बन्धव्युच्छेद विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि मे साधारण अर्थात् समान है। (धवल ६ पृष्ठ १३५ से १३९) यहा (धवला मे) प्रकृति बन्धापसरण की जगह "प्रकृत्ति बन्ध व्युच्छेद" शब्द ही काम लिया है। प्रकृति बन्ध का क्रम से घटना प्रकृतिबन्धापसरण कहलाता है।
प्रतिपद्यमान स्थान	१५३	देखो—अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थान की परिभाषा मे।
प्रतिपात स्थान	"	" " " "
प्रत्यावली	२१६, २०८	आवली के ऊपर की जो दूसरी आवली है वह प्रत्यावली कही जाती है।[1] ज० ध० १३/२९८-२९९
प्रथमस्थिति	७०	देखो—द्वितीयस्थिति की परिभाषा मे।
प्रथमोपशम सम्यक्त्व	१, २, ३	अनन्तानुबन्धी ४ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियो के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह मिथ्या दृष्टि जीवो को ही होता

१ इसे द्वितीयावली भी कहते है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		प्रवद्ध का दो आवलियो द्वारा उपशम हो जाता है) ज० ध० १३/२८७ चरम पेरा विशेष हेतु ल० सा० पृष्ठ २०७ देखना चाहिये।
निकाचनाकरण	१८३	जो कर्म उदयादि चारो के अयोग्य होकर,(उदय, अपकर्षण, उत्कर्षण व संक्रमण) अवस्थान की प्रतिज्ञा मे प्रतिवद्ध हैं, उनकी उस अवस्थान लक्षण पर्यायविशेष को निकाचना कहते हैं। ज० ध० १३/२३१, ध०,६/२६९, ध० ६/२३६ आदि
निक्षेप	५५	उत्कर्षण अथवा अपकर्षण होकर कर्म परमाणुओ का जिन स्थितिविकल्पो मे पतन होता है उनकी निक्षेप सज्ञा है। उत्कर्षण मे—अव्याघात दशा मे जघन्य निक्षेप का प्रमाण एक समय (क० पा० सु० पृ० २१५) ज० ध० ८/२६२ और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण उत्कृष्ट आवाधा और एक समयाधिक आवली, इन दोनो के योग से हीन ७० कोटा-कोटी सागर है। व्याघात दशा मे जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण आवली के असख्यातवें भाग प्रमाण है। (ल० सा० गा० ६१, ६२ एव ज० ध० ८/२५३, ज० ध० ७/२५० तथा ज० ध० ८/२६२) अपकर्षण मे—अव्याघातदशा मे जघन्य निक्षेप एक समय कम आवली का त्रिभाग और एक समय प्रमाण निषेक रूप होता है। (ल० सा० ५६) तथा उत्कृष्ट निक्षेप "एक समय अधिक दो आवली" से हीन उत्कृष्ट स्थिति (७० कोडा कोडी सागर) प्रमाण होता है। ल० सा० ५८ व्याघात दशा मे उत्कृष्ट निक्षेप अन्त: कोटा कोटीसागर प्रमाण होता है।
निधत्तीकरण	१८३	जो कर्म प्रदेशाग्र उदय मे देने के लिये अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणमाने के लिये शक्य नही वह निधत्त है। (धवल पु० ६ पृ० २३५) अन्यत्र भी कहा है—जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुन उदय और पर प्रकृतिसक्रमरूप न हो सकने की प्रतिज्ञारूप से स्वीकृत है उसकी उस अवस्था को निधत्तीकरण कहते हैं। [(जय धवल १३/२३१) तथा धवल पु० १६ पृष्ठ ५१६]
निर्वर्गणाकाण्डक	३४	अध.प्रवृत्तकरण के प्रथम समय सम्बन्धी परिणामस्थान के अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अध.प्रवृत्तकरण काल के सख्यातवें भाग प्रमाण काल के जितने समय हैं, उतने खण्ड करने चाहिये, वही निर्वर्गणाकाण्डक है। विवक्षित समय के परिणामो का जिसस्थान से आगे अनुकृष्टिविच्छेद होता है वह निर्वर्गणाकाण्डक कहा जाता है। (ज० ध० १२/२३६)

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		यह क्षायोपशमिक सकल चारित्र की अपेक्षा कहा है। क्षायिक सकल चारित्र तथा औपशमिक सकल चारित्र उपशम या क्षपक श्रेणी मे होता है। क्षायोपशमिक चारित्र प्रमत्त व अप्रमत्तसयत इन दो गुण स्थानो मे ही होता है।
सर्वकरणोपशामना	२५०	देखो — करणोपशामना की परिभाषा मे इसकी भी परिभाषा आई है।
सहानवस्थान	६२	पदार्थ का पूर्व मे उपलम्भ (प्राप्ति या सद्भाव) होने पर, पश्चात् अन्य पदार्थ के सद्भाव मे उसके अभाव का ज्ञान होने पर दोनो मे जो विरोध देखा जाता है उसे सहानवस्थानरूप विरोध समझना चाहिये। जैसे शीतोष्ण। प्र०क० मा० परि० ८ सू० ६ पृ० ४६८ [निर्णय सागर मु० बवई से मुद्रित] इस परिभाषा का स्पष्टीकरण राजवार्तिक के निम्न विस्तृत कथन से हो जायगा—अनुपलम्भ अर्थात् अभाव के साध्य को विरोध कहते हैं। विरोध तीन प्रकार का है–वध्यघातक भाव, सहानवस्थान, प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक। १ वध्यघातक भाव विरोध सर्प और नेवले या अग्नि और जल मे होता है। यह दो विद्यमान पदार्थों मे सयोग होने पर होता है। सयोग के पश्चात् जो वलवान होता है वह निर्वल को वाधित करता है। अग्नि से असयुक्त जल अग्नि को नही बुझा सकता है। दूसरा सहानवस्थान विरोध (जो कि प्रकृत है) एक वस्तु की क्रम से होने वाली दो पर्यायो मे होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है। जैसे, आम का हरा रूप नष्ट होता है और पीतरूप उत्पन्न होता है प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धकभाव विरोध—जैसे आम का फल जब तक डाली मे लगा है, तब तक फल और डठल का सयोगरूप प्रतिबन्धक के रहने से गुरुत्व (आम मे) मौजूद रहने पर भी आम को नीचे नही गिराता है। जब सयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फल को नीचे गिरा देता है। सयोग के अभाव मे गुरुत्व पतन का कारण है, यह सिद्धान्त है। [अथवा जैसे दाह के प्रतिवन्धक चन्द्रकान्तमणि के विद्यमान रहते अग्नि से दाह क्रिया नही उत्पन्न होती, इसलिये मणि तथा दाह के प्रति-वन्धक-प्रतिवन्ध्य भाव युक्त है।] रा० वा० पृ० ४२६ [हिन्दी सार] (अ० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) एव षड्दर्शन समुच्चय का० ५७ पृ० ३५६
सागरोपमशत सहस्र पृथक्त्व	१४०	अर्थात् ३ लाख सागरोपम से ६ लाख सागरोपम के मध्य।
स्तिवुक सक्रमण	२१८, २१६ (1)	को त्थिवुक्कसकमो णाम ? उदयसरूवेण समट्ठिदीए जो सकमो सो त्थिवुक्कसकमो त्ति भण्णदे। अर्थ—उदयरूप से समान स्थिति मे जो सक्रम होता है उसे स्तिवुक

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		है। क्योकि उपशम श्रेणी पर चढने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्व का "प्रथमोपशम सम्यक्त्व" यह नाम नही है। क्योकि उस उपशमश्रेणि वाले के उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्यक्त्व से होती है। इसलिये प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिये। (धवल ६/२०६) इसीलिये तो कहा है कि—सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को नही प्राप्त होता है। क्योकि इन जीवो के उस प्रथमोपशमसम्यक्त्व रूप पर्याय के द्वारा परिणमन होने की शक्ति का अभाव है। (धवल ६/२०६-७)
प्रायोग्य लब्धि	७	कर्मों की स्थिति को अन्त.कोडाकोडी तथा अनुभाग को द्विस्थानिक करने को "प्रायोग्य लब्धि" कहते हैं। [ल० सा० गा० ७ पृ० ७]
वीसिया	१८५	नाम-गोत्र को वीसिया कहते हैं। (क्योकि इनकी उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटा कोटी सागर होती है।)
वर्णचतुष्क	१८	"वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श", इन चार नाम कर्मो का जोडा वर्णचतुष्क कहलाता है।
विशुद्धि लब्धि	५	क्षयोपशम लब्धि के होने पर साता आदि प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियो के बन्ध योग्य जो जीव के परिणामो का होना है, वही विशुद्धि लब्धि है।
विसयोजना	१६६	चारो अनन्तानुवन्धी कषायो की युगपत् विसयोजना होती है। विसयोजना अर्थात् "अप्रत्याख्यानावरणादि १२ कषायरूप और ९ नोकषायो मे से ५ कषायरूप परिणमा देना।" कहा भी है—अनन्तानुबन्धिचतुष्क के स्कन्धो के परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसयोजना कहते हैं। ज० ध० २/२१८-१९
शेष शेष मे निक्षेप	२९५, २९७	अर्थात् गलितावशेष गुणश्रेणी।
सकल चारित्र	१५७	सकल सावद्य के विरतिस्वरूप पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्तियो को प्राप्त होने वाले मनुष्य के जो विशुद्धिरूप परिणाम होता है उसे संयम लब्धि या सकल सयम (सकलचारित्र) कहते है। अनन्तानुवन्धी आदि १२ कषायो की उदयाभाव लक्षण उपशामना के होने पर यह उत्पन्न होता है। यद्यपि यहा चार सज्वलन और नौ नो कषायो का उदय है, परन्तु उनके सर्वघाति स्पर्धको का उदय नही रहने से उनका भी देशोपशम पाया जाता है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		पर उत्तरकर्म प्रकृति स्वमुख से उदय मे नही आती, किन्तु स्तिबुक सक्रमण द्वारा उदयरूप स्वातातीय कर्म प्रकृति मे सक्रमण हो जाता है। जैसे क्रोध के उदय के समय अन्य तीन (मान, माया, लोभ) कषायो का स्वमुख उदय न होकर स्तिबुक सक्रमण द्वारा क्रोधरूप सक्रमण हो जाता है और इसप्रकार उन तीन कषायो का द्रव्य क्रोध रूप फल देकर उदय मे आता है।
स्थितिकाण्डकघात	४४, ६२, ६५, क्षप० ४, १०	विवक्षित स्थिति समूह का घात करना स्थिति काण्डकघात है। यह एक अन्तर्मुहूर्त मे निष्पन्न होता है। विवक्षित कर्म की स्थिति मे से ऊपर की कुछ स्थिति समूह के द्रव्य को ग्रहण कर विशुद्धिवश अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा नीचे के स्थिति समूह के परमाणुओ मे मिला देना तथा ऊपर की स्थिति मे स्थित सकल कर्म द्रव्य का अभाव कर देना स्थितिकाण्डक घात है। जितने काल मे यह स्थितिघात का कार्य किया जाता है वह काल स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल कहलाता है तथा जितनी स्थिति का घात करता है स्थितिकाण्डक द्वारा, वह स्थितिकाण्डकायाम कहलाता है। जैसे अपूर्व करण के प्रथम समय मे जीव के स्थितिकाण्डक का आयाम उत्कृष्टतः सागरोपम पृथक्त्व प्रमाण होता है। अर्थात् प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण जीव स्थितिकाण्डक घात के लिये स्थिति समूह को ग्रहण करता हुआ उत्कृष्टत' इतनी स्थिति को घात के लिये ग्रहण करता है। तथा अन्तर्मुहूर्त मे निष्पद्यमान इस स्थितिकाण्डक के प्रत्येक समय मे जितना द्रव्य नीचे [अधस्तन स्थितियो मे; शीघ्र उदय मे आने वाली स्थितियो मे] देता है, उसे फाली कहते है। इतना विशेष है कि आयु कर्म का स्थितिकाण्डक घात नही होता। (ल० सा० गा० ७८; धवल ६/२२४) अपूर्वकरण के काल मे सख्यात हजार स्थितिकाण्डकघात होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र भी यथागम स्थितिकाण्डकघात का अस्तित्व जानना चाहिये। स्थितिकाण्डकघात के बिना कर्मस्थिति का घात असम्भव होता है। (धवल १२/४८६) इतना विशेष है कि केवली समुद्घात के समय, ८ समयो मे से लोकपूरण समुद्घात तक के ४ समयो मे, एक एक समय मे एक एक स्थितिकाण्डक घात होता है। यह माहात्म्य समुद्घातक्रिया का ही है। अन्यत्र एक समय मे यह कार्य नही होता। (क्षपणासार गा० २६५ पृ० २०२)
स्थितिबंधापसरण	१०	स्थितिबन्ध के अपसरण (क्रम से घटना) को स्थितिबन्धापसरण कहते हैं। (अपसरण = घटना) विशेष के लिये देखो लब्धिसार गा० ३९ तथा क्षपणासार गा० ३६५ तथा ज० ध० मूल पृ० १ ५१

शब्द | पृष्ठ | परिभाषा

सक्रमण कहते हैं। ज० ध० १३/३०१, क० पा० सु० पृ० ७०० टिप्पण (यह नियम से उदयावली मे होता है और अनुदय प्रकृति का होता है)

(ii) अन्यत्र भी कहा है—अनुदीर्ण प्रकृति के दलिक का जो उदय प्राप्त प्रकृति मे विलय होता है उसे स्तिवुक सक्रमण कहते हैं। गति, जाति आदि पिण्डप्रकृतियो मे से जो अन्यतम प्रकृति उदय को प्राप्त है उस समान काल स्थिति वाली अन्यतम प्रकृति मे अनुदय प्राप्त प्रकृतियो को सक्रान्त करा कर जो वेदन किया जाता है उसे स्तिवुक सक्रमण कहा जाता है। जैसे—उदय प्राप्त मनुष्यगति मे शेष तीन नरक गति आदि का व उदय प्राप्त पचेन्द्रिय जाति मे शेष चार जातियो का। (जैनलक्षणावली भाग ३ पृ० ११७९ सम्पा० वालचन्द्र सि० शा०)

(iii) कहा भी है—उदयावली के अन्दर ही स्तिवुक सक्रमण होता है। उदयावली से वाह्य स्तिवुक सक्रमण नही होता है। उदयरूप निषेक के अनतर ऊपर के निषेक मे अनुदयरूप प्रकृति के द्रव्य का उदय प्रकृतिरूप सक्रमण हो जाना स्तिवुक संक्रमण है। जैसे नारकी के ४ गतियो मे से नरकगति का तो उदय पाया जाता है, अन्य तीन गतियो का द्रव्य प्रतिसमय स्तिवुक सक्रमण द्वारा नरकगतिरूप सक्रमण होकर उदय मे आ रहा है। कहा भी है—

पिंडपगईण जा उदयसगया तीए अणुदयगयाओ।
सकामिऊण वेयइ ज एसो थिवुगसकामो ॥पचस० स०क्र० ८०

गतिनामकर्म की पिण्ड प्रकृतियो मे से जिस प्रकृति का उदय पाया जाता है उसके अतिरिक्त अन्य तीन गतियो का द्रव्य प्रति समय उदयगति रूप सक्रमण करके उदयरूप निषेक मे प्रवेश करता है।

सप्तम नरक के नारकी के नरक गति के अन्तिम समय मे अनन्तर अगले निषेक मे अनुदयरूप तीन गति के द्रव्य का नरक गति रूप सक्रमण नही होगा, क्योकि अगले समय मे नरक गति का उदय नहीं होगा। किन्तु तियँच गति का उदय होगा। अत गति के अन्तिम समय मे उदयरूप निषेक से अनन्तर ऊपर के निषेक मे जो द्रव्य नरक गति मनुष्यगति-देवगतिरूप है वह स्तिवुक सक्रमण द्वारा तिर्यच गतिरूप सक्रमण कर जायगा और तियँचगति रूप मे उदय मे आयगा। इसीप्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये। (रतनचन्द पत्रावली पत्र ७)

(iv) अन्यत्र कहा भी है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव का अनुकूल सयोग न मिलने

लब्धिसार

—विशेष शब्द सूची—

लब्धिसार

अवतरण सूची

[टीकायामुद्धृतगाथानूचिः]

पृष्ठ	गाथा का प्रारम्भिक अंश :—	अन्यत्र जहां आई हैं :—
३०३	तिण्णिसया छत्तीसा	धवल पु० १४ पृ० ३६२ गा० २०, गो० जी० १२३, भावसंग्रह गा० ३६
३०३	तिण्णिसहस्सा सत्तय-	धवल १४ पृष्ठ ३६२ गा० १९
९७	त मिच्छत्त जमसद्दहण	जय धवल १२ पृ० ३२३, भगवती आराधना ५६, जैन ग्रा० ३/६१६
१०१	मिच्छत्त पच्चयो खलु	कपा०सु० गा० १०१ पृ० ६३३, जयधवला १२/३११
९९	मिच्छत्तवेदणीय कम्म	कपा०सु० गा० ९९, जयधवला १२/ ३०७
१०२	सम्मत्तपढमलभस्स	कपा०सु० गा० १०४ पृ० ६३४, जयधवला १२/३१७; धवला ६/२४२
९९	सम्मत्तपढमलभो	कपा०सु० गा० १०४ पृ० ६३५, जयधवला १२/३१६
९८	सव्वेहिं ट्ठिदिविसेसेहिं	कपा०सु० गा० १०० पृ० ६३३, जयधवला पु० १२ पृ० ३०९—१०

[२८

लब्धिसारस्य गाथानुक्रमणिका

8570